निग्गंथ पावयण

आगम-अनुसधान-ग्रन्थमाला
ग्रन्थ-३

उत्तरज्झयणाणि
(भाग २)

(उत्तराध्ययन-टिप्पण)

वाचना प्रमुख
आचार्य तुलसी

विवेचक सम्पादक
मुनि नथमल
(निकाय सचिव)

प्रकाशक
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
(आगम-साहित्य प्रकाशन समिति)
३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट,
कलकत्ता-१

JAIN SWETAMBAR TERAPANTHI MAHASABHA AGAM-GRANTHAMALA
GRANTHA : 2

UTTARAJJHAYANANI

(THE UTTARADHYAYANA SUTRA)

PART II

Tippana, etymology of words and discussion on variant readings

VACANA PRAMUKH
ACARYA TULASI

EDITED & ANNOTATED
BY
MUNI NATHMAL
Nikaya Saciva

PUBLISHER
JAIN SWETAMBAR TERAPANTHI MAHASABHA
AGAM-SAHITYA PRAKASHAN SAMITI
3 Portuguese Church Street
CALCUTTA 1 (INDIA)

Price . Rs 16 00/-

समर्पण

विलोडिय आगम दुद्ध मेव,
लद्ध सुलद्ध णवणीय मच्छ।
सज्झाय सज्झाण रयस्स निच्च,
जयस्स तस्स प्पणिहाण पुव्व ॥

जिसने आगम-दोहन कर कर,
पाया प्रवर प्रचुर नवनीत।
श्रुत्-सद् ध्यान लीन चिर चिन्तन,
जयाचार्य को विमल भाव से ॥

विनयावनत :
आचार्य तुलसी

अन्तस्तोष

अन्तस्तोष अनिवर्चनीय होता है, उस माली का जो अपने हाथों से उप्त और सिञ्चित द्रुम-निकुञ्ज को पल्लवित, पुष्पित और फलित हुआ देखता है, उस कलाकार का जो अपनी तूलिका से निराकार को साकार हुआ देखता है और उस कल्पनाकार का जो अपनी कल्पना को अपने प्रयत्नो से प्राणवान् बना देखता है। चिरकाल से मेरा मन इस कल्पना से भरा था कि जैन-आगमो का शोध-पूर्ण सम्पादन हो और मेरे जीवन के बहुश्रमी क्षण उसमे लगे। सकल्प फलवान् बना और वैसा ही हुआ। मुझे केन्द्र मान मेरा धर्म-परिवार उस कार्य मे सलग्न हो गया। अत मेरे इस अन्तस्तोप मे मैं उन सबको समभागी बनाना चाहता हूँ, जो इस प्रवृत्ति मे सविभागी रहे है। सक्षेप मे वह सविभाग इस प्रकार है :

विवेचक और सम्पादक : मुनि नथमल
सहयोगी : मुनि मीठालाल
: मुनि दुलहराज

सविभाग हमारा धर्म है। जिन-जिन ने इस गुरुतर प्रवृत्ति मे उन्मुक्त भाव से अपना सविभाग समर्पित किया है, उन सबको मैं आशीर्वाद देता हूँ और कामना करता हूँ कि उनका भविष्य इस महान् कार्य का भविष्य बने।

—आचार्य तुलसी

प्रकाशकीय

'उत्तरज्झयणाणि' (उत्तराध्ययन सूत्र) मूलपाठ, सस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद एव टिप्पण अलकृत होकर दो भागों में आपके हाथों में है।

वाचना प्रमुख आचार्य श्री तुलसी एव उनके इगित और आकार पर सब कुछ न्यौछावर कर देने वाले मुनि-वृन्द की यह समवेत कृति आगमिक कार्य-क्षेत्र में युगान्तरकारी है । इस कथन में अतिशयोक्ति नही, पर सत्य है । बहुमुखी प्रवृत्तियों के केन्द्र प्राणपुञ्ज आचार्य श्री तुलसी ज्ञान-क्षितिज के एक महान् तेजस्वी रवि हैं और उनका मण्डल भी शुभ्र नक्षत्रों का तपोपुञ्ज है। यह इस अत्यन्त श्रम-साध्य कृति से स्वय फलीभूत है।

गुरुदेव के चरणों में मेरा विनम्र सुझाव रहा—आपके तत्त्वावधान में आगमों का सम्पादन और अनुवाद हो—यह भारत के सास्कृतिक अभ्युदय की एक मूल्यवान् कडी के रूप में चिर-अपेक्षित है। यह अत्यन्त स्थायी कार्य होगा, जिसका लाभ एक-दो-तीन नहीं अपितु अचिन्त्य भावी पीढ़ियों को प्राप्त होता रहेगा। मुझे इस बात का अत्यन्त हर्ष है कि मेरी मनोभावना अकुरित ही नही, पर फलवती और रसवती भी हुई है।

प्रस्तुत 'उत्तरज्झयणाणि' आगम-अनुसधान ग्रन्थमाला का द्वितीय ग्रन्थ है। इससे पूर्व प्रकाशित 'दसवेआलिय' (मूल पाठ, सस्कृत-छाया, हिन्दी अनुवाद एव टिप्पण युक्त) को अब अनुसन्धान ग्रन्थमाला का प्रथम ग्रन्थ समझना चाहिए।

'दसवेआलिय' एक जिल्द में प्रकाशित है। उसमें टिप्पण प्रत्येक अध्ययन के बाद में है। 'उत्तरज्झयणाणि' में टिप्पणों की अलग जिल्द इस द्वितीय भाग के रूप में प्रकाशित है।

टिप्पणों के प्रस्तुत करने में निर्युक्ति, चूर्णि, टीकाओं आदि के उपयोग के साथ-साथ अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का भी सहारा लिया गया है, जिनकी सूची परिशिष्ट-३ में दे दी गई है। प्रथम परिशिष्ट में शब्द-विमर्श और द्वितीय परिशिष्ट में पाठान्तर-विमर्श समाहित हैं। इस तरह टिप्पण भाग अपूर्व अध्ययन के साथ पाठकों के सामने उपस्थित हो रहा है। प्रयुक्त ग्रन्थों के सन्दर्भ सहित उद्धरण पाद-टिप्पणियों में दे दिये गये हैं, जिससे जिज्ञासु पाठक की तृप्ति हाथों हाथ हो जाती है और उसे सदर्भ देखने के लिए इधर-उधर दौडना नही पडता।

तेरापथ के आचार्यों के बारे में यह कहा जाता है कि उन्होंने प्राचीन चूर्णि, टीका आदि ग्रथों का बहिष्कार कर दिया। वास्तव में इसके पीछे तथ्य नहीं था। सत्य जहाँ भी हो वह आदरणीय है, यही तेरापथी आचार्यों की दृष्टि रही। चतुर्थ आचार्य जयाचार्य ने पुरानी टीकाओं का कितना उपयोग किया था, यह उनकी भगवती जोड आदि रचनाओं से प्रकट है। 'दसवेआलिय' तथा 'उत्तरज्झयणाणि' तो इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीकाओं आदि का जितना उपयोग प्रथम बार वाचना प्रमुख आचार्य श्री तुलसी एव उनके चरणों में सम्पादन-कार्य में लगे हुए निकाय सचिव मुनि श्री नथमलजी तथा उनके सहयोगी साधुओं ने किया है, उतना किसी भी अद्यावधि प्रकाशित सानुवाद सस्करण में नही हुआ है। सारा अनुवाद एव लेखन-कार्य अभिनव कल्पना को लिए हुए हैं। मौलिक चिन्तन भी उनमें कम नही है। बहुश्रुतता एव गभीर अन्वेषण प्रति पृष्ठ से झलकते हैं। यह भाग पाठकों को अनेक नई सामग्री प्रदान करेगा।

पाण्डुलिपि की प्रतिलिपि

आचार्य श्री के तत्त्वावधान में सन्तों द्वारा प्रस्तुत पाण्डुलिपि को नियमानुसार अवधार कर उसकी प्रतिलिपि करने का कार्य आदर्श साहित्य सघ (चूरू) द्वारा सम्पन्न हुआ है, जिसके लिए हम सघ के सचालकों के प्रति कृतज्ञ हैं।

अर्थ-व्यवस्था

इस ग्रन्थ के प्रकाशन का व्यय विराटनगर (नेपाल) निवासी श्री रामलालजी हँसराजजी गोलछा द्वारा श्री हँसराजजी हुलासचन्दजी गोलछा की स्वर्गीया माता श्री धापीदेवी (धर्मपत्नी श्री रामलालजी गोलछा) की स्मृति में प्रदत्त निधि से हुआ है। एतदर्थ इस अनुकरणीय अनुदान के लिए गोलछा-परिवार हार्दिक धन्यवाद का पात्र है।

सम्पादकीय

प्रस्तुत ग्रन्थ आगम-अनुसन्धान ग्रन्थ-माला का दूसरा ग्रन्थ है। इसमें उत्तराध्ययन के शब्दो तथा शब्दगत हार्दो को स्पष्ट किया गया है। इस स्पष्टीकरण मे उत्तराध्ययन के व्याख्या-ग्रन्थों के अतिरिक्त जैन, बौद्ध, वैदिक व लौकिक (अर्थशास्त्र, आयुर्वेद आदि) साहित्य का उपयोग किया गया है। साहित्य की सभी धाराओं में शब्द-प्रयोग व अर्थाभिव्यक्ति की एकरूपता रहती है। इसलिए किसी शताब्दी के ग्रन्थ को उसके समसामयिक ग्रन्थों के आलोक में ही आलोकित किया जा सकता है। एक युग था, जिसमें प्रत्येक दर्शन के विद्यार्थी की अध्ययन की सीमा सकुचित थी। वह अपनी परम्परा के शास्त्रो को पढता था। दूसरी परम्परा के शास्त्रों को या तो पढता नही था और पढना था तो उनका खण्डन करने के लिए। तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि विकसित नही थी।

आज का युग तुलनात्मक अध्ययन का युग है। इसमे विद्यार्थी के अध्ययन की सीमा व्यापक हो गई है। अध्ययन की दृष्टि में खण्डन की प्रधानता नहीं, किन्तु समन्वय की प्रधानता है। इसलिए आज के विद्यार्थी को सभी धाराओ मे सत्य की एक शृङ्खलात्मक अभिव्यक्ति दिखाई देती है। कोई भी और किसी भी विषय का ग्रन्थ हो समसामयिक भाषा-प्रयोगो और अर्थाभिव्यक्ति के प्रकारों का अपवाद नही हो सकता। धर्मशास्त्र भी इसी दृष्टि से व्याख्यातव्य होते है। हजार-दो हजार वर्ष की लम्बी अवधि में शब्दों के अर्थ में उत्कर्ष और अपकर्ष हो जाता है। इसलिए उस समय के साहित्य के सदर्भ मे ही उनके मूल अर्थ का स्पर्श किया जा सकता है। उदाहरण के लिए यहाँ हम कुछेक शब्दो की चर्चा करेंगे।

जक्ख—तीसरे अध्ययन के चौदहवें श्लोक में आगत 'जक्ख' (यक्ष) शब्द का अर्थ आज के अर्थ-प्रवाह मे करने पर वहाँ अर्थ की सगति नही होती। इसका मूल अर्थ समझने के लिए 'यज्' धातु के उस वातावरण में जाने की अपेक्षा होती है, जिसमें इसी धातु से निष्पन्न यक्ष की एकार्णव प्रतिष्ठा थी। वर्तमान में 'यक्ष' शब्द का अर्थ कुछ निम्न कोटि के असुरो की अभिव्यक्ति देता है और उक्त प्रकरण में इसका प्रयोग उत्तम जाति के देव के अर्थ में हुआ है।

धूमणेत्त—पन्द्रहवें अध्ययन के आठवें श्लोक में 'धूमणेत्त' (धूमनेत्र) शब्द आता है। इसे आयुर्वेदीय साहित्य के सदर्भ में ही समझा जा सकता है। विशेष वर्णन के लिए देखिए—टिप्पण सख्या ८, पृ० १२६-१२७।

धर्म-शास्त्रो का मुख्य प्रतिपाद्य अध्यात्म के विविध स्तरो और धर्म सम्बन्धी विधि-निषेधो का विशदीकरण होता है। किन्तु किसी भी विषय की व्याख्या पारिपार्श्विक वातावरण को छोड कर नहीं की जा सकती। इसलिए धर्म-शास्त्रो में भी प्रसगवश राजनीति, अर्थनीति, शिक्षा, स्वास्थ्य, मन्त्र-विद्या, इतिहास, समाज-विज्ञान, मनोविज्ञान, भूगर्भ-विद्या, वास्तु-विद्या आदि सभी विद्या-शाखाओं की चर्चा आ जाती है। इन प्रासगिक निरूपणो की व्याख्या तद्विषयक शास्त्रो के प्रकाश में ही की जा सकती है।

पन्द्रहवें अध्ययन के सातवें श्लोक (टिप्पण सख्या ७, पृ० १२५-१२६) में दण्ड-विद्या, वास्तु-विद्या और अष्टाग-निमित्त की सात शाखाओ का उल्लेख मिलता है।

कावोया वित्ती—उन्नीसवें अध्ययन के तेती[illegible] श्लोक (टिप्पण सख्या १३, पृ० १४५) में कापोती-वृत्ति का उल्लेख मिलता है। जैन-साहित्य में अधिकाशत भिक्षाचारी के लिए [illegible] [मधु]करी' का प्रयोग हुआ है। कापोती की व्याख्या महाभारत में मिलती है।

पासण्ड—[illegible] अध्ययन के [illegible] 'पासण्ड' शब्द मिलता है। इसका हार्द हम तब तक नहीं पकड सके, जब तक वार्तमानिक अर्थ के आव[illegible] छोड कर [illegible] नहीं [illegible] आवश्यक सूत्र मे 'परपासण्ड' शब्द का प्रयोग है। वह सदा खटकता रहा। '[illegible] साथ [illegible] वह 'स्व' कैसे होगा, 'पर' ही होगा। दशवैकालिक निर्युक्ति (गाथा १६४-१६५) [illegible] स्पष्टता नही हुई। अशोक के शिलालेखो में आत्म-पाषण्डी और

आगम-साहित्य प्रकाशन समिति की ओर से उक्त निधि से होने वाले प्रकाशन-कार्य की देख-रेख के लिए निम्न सज्जनों की एक उपसमिति गठित की गई है —

१—श्रीमान् हुलासचन्दजी गोलछा
२— ,, मोहनलालजी बाँठिया
३— ,, श्रीचन्द रामपुरिया
४— ,, गोपीचन्दजी चोपड़ा
५— ,, केवलचन्दजी नाहटा

सर्व श्री श्रीचन्द रामपुरिया एवं केवलचन्दजी नाहटा उक्त समिति के संयोजक चुने गये हैं।

आगम-साहित्य प्रकाशन-कार्य

महासभा के अन्तर्गत आगम-साहित्य प्रकाशन समिति का प्रकाशन-कार्य ज्यों-ज्यों आगे बढ रहा है, त्यों-त्यों हृदय में आनन्द का पारावार नहीं। मैं तो अपने जीवन की एक साध ही पूरी होते देख रहा हूँ। इस अवसर पर मैं अपने अनन्य बन्धु और साथी सर्व श्री गोविन्दरामजी सरावगी, मोहनलालजी बाँठिया एवं खेमचन्दजी सेठिया को उनकी मुक्त सेवाओं के लिए हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

आभार

आचार्य श्री की सुदीर्घ दृष्टि अत्यन्त भेदिनी है। जहाँ एक ओर जन-मानस को आध्यात्मिक और नैतिक चेतना की जागृति के व्यापक आन्दोलनों में उनके अमूल्य जीवन-क्षण लग रहे हैं, वहाँ दूसरी ओर आगम-साहित्य-गत जैन-संस्कृति के मूल सन्देश को जन-व्यापी बनाने का उनका उपक्रम भी अनन्य और स्तुत्य है। जैन-आगमों को अभिलषित रूप में भारतीय एवं विदेशी विद्वानों के सम्मुख रख देने की आकांक्षा में वाचना प्रमुख के रूप में आचार्य श्री तुलसी ने जो अथक परिश्रम अपने कन्धों पर लिया है, उसके लिए जैन ही नहीं अपितु सारी भारतीय जनता उनके प्रति कृतज्ञ रहेगी।

निकाय सचिव मुनि श्री नथमलजी का सम्पादन-कार्य एवं तेरापथ-संघ के अन्य विद्वान् मुनि-वृन्द के सक्रिय सहयोग भी वस्तुत अभिनन्दनीय है।

हम आचार्य श्री और उनके साधु-परिवार के प्रति इस जन-हितकारी पवित्र प्रवृत्ति के लिए नतमस्तक हैं।

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता-१

श्रीचन्द रामपुरिया
संयोजक
आगम-साहित्य प्रकाशन समिति

सम्पादकीय

प्रस्तुत ग्रन्थ आगम-अनुसन्धान ग्रन्थ-माला का दूसरा ग्रन्थ है। इसमें उत्तराध्ययन के शब्दो तथा शब्दगत हार्दों को स्पष्ट किया गया है। इस स्पष्टीकरण मे उत्तराध्ययन के व्याख्या-ग्रन्थों के अतिरिक्त जैन, बौद्ध, वैदिक व लौकिक (अर्थशास्त्र, आयुर्वेद आदि) साहित्य का उपयोग किया गया है। साहित्य की सभी धाराओं में शब्द-प्रयोग व अर्थाभिव्यक्ति की एकरूपता रहती है। इसलिए किसी शताब्दी के ग्रन्थ को उसके समसामयिक ग्रन्थों के आलोक मे ही आलोकित किया जा सकता है। एक युग था, जिसमें प्रत्येक दर्शन के विद्यार्थी की अध्ययन की सीमा सकुचित थी। वह अपनी परम्परा के शास्त्रों को पढता था। दूसरी परम्परा के शास्त्रों को या तो पढता नही था और पढता था तो उनका खण्डन करने के लिए। तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि विकसित नहीं थी।

आज का युग तुलनात्मक अध्ययन का युग है। इसमे विद्यार्थी के अध्ययन की सीमा व्यापक हो गई है। अध्ययन की दृष्टि में खण्डन की प्रधानता नहीं, किन्तु समन्वय की प्रधानता है। इसलिए आज के विद्यार्थी को सभी धाराओ मे सत्य की एक शृङ्खलात्मक अभिव्यक्ति दिखाई देती है। कोई भी और किसी भी विषय का ग्रन्थ हो समसामयिक भाषा-प्रयोगों और अर्थाभिव्यक्ति के प्रकारों का अपवाद नही हो सकता। धर्मशास्त्र भी इसी दृष्टि से व्याख्यातव्य होते है। हजार-दो हजार वर्ष की लम्बी अवधि में शब्दो के अर्थ में उत्कर्ष और अपकर्ष हो जाता है। इसलिए उस समय के साहित्य के सदर्भ मे ही उनके मूल अर्थ का स्पर्श किया जा सकता है। उदाहरण के लिए यहाँ हम कुछेक शब्दो की चर्चा करेंगे।

जक्ख—तीसरे अध्ययन के चौदहवें श्लोक मे आगत 'जक्ख' (यक्ष) शब्द का अर्थ आज के अर्थ-प्रवाह मे करने पर वहाँ अर्थ की सगति नही होती। इसका मूल अर्थ समझने के लिए 'यज्' धातु के उस वातावरण में जाने की अपेक्षा होती है, जिसमें इसी धातु से निष्पन्न यक्ष की एकार्णव प्रतिष्ठा थी। वर्तमान में 'यक्ष' शब्द का अर्थ कुछ निम्न कोटि के असुरो की अभिव्यक्ति देता है और उक्त प्रकरण में इसका प्रयोग उत्तम जाति के देव के अर्थ में हुआ है।

धूमणेत्त—पन्द्रहवें अध्ययन के आठवें श्लोक में 'धूमणेत्त' (धूमनेत्र) शब्द आता है। इसे आयुर्वेदीय साहित्य के सदर्भ में ही समझा जा सकता है। विशेष वर्णन के लिए देखिए—टिप्पण सख्या ८, पृ० १२६-१२७।

धर्म-शास्त्रो का मुख्य प्रतिपाद्य अध्यात्म के विविध स्तरो और धर्म सम्बन्धी विधि-निषेधो का विशदीकरण होता है। किन्तु किसी भी विषय की व्याख्या पारिपार्श्विक वातावरण को छोड कर नहीं की जा सकती। इसलिए धर्म-शास्त्रों में भी प्रसगवश राजनीति, अर्थनीति, शिक्षा, स्वास्थ्य, मन्त्र-विद्या, इतिहास, समाज-विज्ञान, मनोविज्ञान, भूगर्भ-विद्या, वास्तु-विद्या आदि सभी विद्या-शाखाओं की चर्चा आ जाती है। इन प्रासगिक निरूपणो की व्याख्या तद्विषयक शास्त्रों के प्रकाश में ही की जा सकती है।

पन्द्रहवें अध्ययन के सातवें श्लोक (टिप्पण सख्या ७, पृ० १२५-१२६) में दण्ड-विद्या, वास्तु-विद्या और अष्टाग-निमित्त की सात शाखाओ का उल्लेख मिलता है।

कावोया वित्ती—उन्नीसवें अध्ययन के तेतीसवें श्लोक (टिप्पण सख्या १३, पृ० १४५) में कापोती-वृत्ति का उल्लेख मिलता है। जैन-साहित्य में अधिकाशत भिक्षाचारी के लिए 'गोचरी' या 'माधुकरी' का प्रयोग हुआ है। कापोती की व्याख्या महाभारत में मिलती है।

पासण्ड—तेइसवें अध्ययन के उन्नीसवें श्लोक में 'पासण्ड' शब्द मिलता है। इसका हार्द हम तब तक नहीं पकड सके, जब तक वार्तमानिक अर्थ के आवरण को तोड कर अतीत के आलोक में नहीं पहुँच पाये थे। आवश्यक सूत्र म 'परपासण्ड' शब्द का प्रयोग है। वह सदा खटकता रहा। 'पासण्ड' के साथ 'पर' लगाने की आवश्यकता ही क्या ? वह 'स्व' कैसे होगा, 'पर' ही होगा। दशवैकालिक निर्युक्ति (गाथा १६४-१६५) में मुनि का एक नाम 'पाषण्ड' है। किन्तु इससे अर्थ की स्पष्टता नहीं हुई। अशोक के शिलालेखों में आत्म-पाषण्डी और

अध्ययन १

विणय-सुयं

श्लोक १

१–संयोग से (संजोगा क) :

सयोग का अर्थ है—सम्बन्ध । वह दो प्रकार का होना है—बाह्य और आभ्यन्तर । माता-पिता आदि का पारिवारिक सम्बन्ध 'बाह्य सयोग' है और विषय, कपाय आदि का सम्बन्ध 'आभ्यन्तरिक-सयोग' । भिक्षु को इन दोनों सयोगो से मुक्त होना चाहिए ।[1]

२–अनगार है, भिक्षु है, उसके (अणगारस्स भिक्खुणो ख) :

वृक्ष चलते नही इसलिए उन्हे 'अग' कहा जाता है । प्राय घर वृक्ष की लकडी (काठ) से बनाए जाते थे इसलिए घर का नाम 'अगार' हुआ । जिसके 'अगार' नही होता, वह 'अनगार' है ।[2]

प्रवृत्ति-लभ्य अर्थ की दृष्टि मे 'अनगार और भिक्षु' दोनो एकार्थवाची शब्द है । शान्त्याचार्य ने बताया है कि यहाँ 'अनगार' का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ लेना चाहिए, अन्यथा दो शब्दो की सार्थकता सिद्ध नही होती । 'अगार' का अर्थ है 'घर' । जिसके 'घर' न हो वह अनगार' कहलाता है ।[3]

नेमिचन्द्र के अनुसार भिक्षु दूसरो के लिए बने हुए घरो मे रहते हुए भी उन पर ममत्व नहीं करता इसलिए वह 'अनगार' है ।[4]

शान्त्याचार्य ने वैकल्पिक रूप में 'अणगार' और 'अस्सभिक्खु' ऐसा पदच्छेद किया है । जो भिक्षा लेने के लिए जाति, कुल आदि जता कर दूसरो को आत्मीय न बनाए, उसे 'अ-स्वभिक्षु' (मुधाजीवी) कहा जाता है ।[5]

३–विनय को (विणयं ग) :

शान्त्याचार्य ने इसके सस्कृत रूप दो किए है— विनय और विनत । विनय का अर्थ है आचार और विनत का अर्थ है नम्रता ।[6]

१–सुखबोधा, पत्र १

'सयोगात्' सम्बन्धाद् बाह्याभ्यन्तरभेदभिन्नात्, तत्र मात्रादिविषयाद् बाह्यात् कषायादिविषयाच्चान्तरात् ।

२–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २६

न गच्छतीत्यगा–वृक्षा इत्यर्थः, अगैः कृतमगारं गृहमित्यर्थः नास्य अगारं विद्यत इत्यनगारः ।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र १९

'अनगारस्ये'ति अविद्यमानमगारमस्येत्यनगार इति व्युत्पन्नोऽनगारशब्दो गृह्यते, यस्त्वव्युत्पन्नो रूढिशब्दो यतिवाचकः, यथोक्तम्—

अनगारो मुनिर्मौनी, साधुः प्रव्रजितो व्रती ।
श्रमणः क्षपणश्चैव, यतिश्चैकार्यवाचका ॥१॥

इति, स इह न गृह्यते, भिक्षुशब्देनैव तदर्थस्य गतत्वात् ।

४–सुखबोधा पत्र, १

'अनगारस्य' परकृतगृहनिवासित्वात्तत्रापि ममत्वमुक्तत्वात् नगारहितस्य ।

५–बृहद् वृत्ति पत्र, १९

अथवा—'अणगारस्सभिक्खुणो' त्ति अस्वेषु भिक्षुरस्वभिक्षुः—जात्याद्यनाजीवनादना[illegible] गृहिणोऽनादि निक्षत इति कृत्वा स च यतिरेव, ततोऽनगारश्चासावस्वभिक्षुश्च अनागारस्वभिक्षुः ।

६–वही, पत्र १९

विशिष्टो विविधो वा नयो—नीतिर्विनयः—साधुजनासेवितः समाचारः, विनमनं वा विनतम् ।

सुदर्शन सेठ ने थावच्चा पुत्र से पूछा—"भन्ते ! आपके धर्म का मूल क्या है ?" थावच्चा पुत्र ने कहा—"सुदर्शन ! हमारे धर्म का मूल—विनय है । वह दो प्रकार का है—अगार-विनय और अनगार-विनय । बारह व्रत और ग्यारह उपासक प्रतिमाएँ अगार-विनय है और पाँच महाव्रत, छठा रात्रिभोजन विरमण व्रत, अट्ठारह पापो का विरमण, दस प्रत्याख्यान और बारह भिक्षु प्रतिमाएँ यह 'अनगार-विनय' है ।"[1]

औपपातिक में विनय के सात प्रकार बताए है—ज्ञान-विनय, दर्शन-विनय, चरित्र-विनय, मन-विनय, वचन-विनय, काय-विनय और लोकोपचार-विनय ।[2] प्रस्तुत अध्ययन में विनय के दोनो अर्थो —आचार और नम्रता पर प्रकाश डाला गया है ।

श्लोक २

४–जो गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन करता है (आणानिद्देसकरे [क]) :

चूर्णि के अनुसार 'आज्ञा' और 'निर्देश' समान अर्थवाची है । वैकल्पिक रूप में वहाँ आज्ञा का अर्थ आगम का उपदेश और निर्देश का अर्थ आगम से अविरुद्ध गुरु-वचन किया गया है ।[3]

शान्त्याचार्य ने आज्ञा का मुख्य अर्थ —आगमोक्त विधि और निर्देश का अर्थ—प्रतिपादन किया है। गौण रूप में आज्ञा का अर्थ गुरुवचन और निर्देश का अर्थ—"मैं यह कार्य आपके आदेशानुसार ही करूँगा"—इस प्रकार का निश्चयात्मक विचार प्रगट करना है ।[4]

उनके सामने 'आणानिद्देसयरे' पाठ था । अत उन्होने 'यर' शब्द के 'कर' और 'तर' दोनो रूपो की व्याख्या की है—आज्ञा-निर्देश को करने वाला और आज्ञा-निर्देश के द्वारा ससार-समुद्र को तरने वाला । आगे लिखा है कि भगवद्-वाणी के अनन्त पर्याय होने के कारण अनेक व्याख्या-भेद सभव हो सकते हैं । किन्तु मन्दमतियो के लिए यह व्यामोह का हेतु न बन जाए इसलिए प्रत्येक सूत्र की व्याख्या में अनेक विकल्प करने का प्रयत्न नही किया गया है ।[5]

५–शुश्रूषा करता है (उववायकारए [ख]) :

चूर्णि में इसका अर्थ 'शुश्रूषा करने वाला'[6] और टीका में इसका अर्थ 'समीप रहनेवाला'[7]—जहाँ बैठा हुआ गुरु को दीखे और उनका

१–ज्ञाताधर्मकथा, १।५ । सू० ६१ ।

२–औपपातिक, सूत्र २० ।

३–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २६

आज्ञाप्यतेऽनया यस्य आज्ञा, निर्देशन निर्देश, आज्ञैव निर्देश:, अथवा आज्ञा—सूत्रोपदेश, तया निर्देशस्तु तदविरुद्ध गुरुवचन, आज्ञानिर्देश करोतीति आणाणिद्देसकरो ।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ४४

आङिति स्वस्वभावावस्थानात्मिकया मर्यादयाऽभिव्याप्त्या वा ज्ञायन्तेऽर्था अनयेत्याज्ञा—भगवदभिहितागमरूपा तस्या निर्देश—उत्सर्गापवादाभ्या प्रतिपादनमाज्ञानिर्देश, इदमित्य विधेयमिदमित्य वेत्येवमात्मक तत्करणशीलस्तदनुलोमानुष्ठानो वा आज्ञा-निर्देशकर, यद्वाऽऽज्ञा—सौम्य ! इद कुरु इद च मा कार्षीरिति गुरुवचनमेव, तस्या निर्देश—इदमित्यमेव करोमि इति निश्चया-भिधान तत्कर ।

५–वही, पत्र ४४

आज्ञानिर्देशेन वा तरति भवाम्भोधिमित्याज्ञानिर्देशतर इत्यादयोऽनन्तगमपर्यायत्वाद् भगवद्वचनस्य व्याख्याभेदा सम्भवन्तोऽपि मन्दमतीना व्यामोहहेतुतया बालाबलादिबोधोत्पादनार्थत्वाच्चास्य प्रयासस्य न प्रतिसूत्र प्रदर्शयिष्यन्ते ।

६–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २६

उपपतनमुपपात, शुश्रूषाकरणमित्यर्थ ।

७–बृहद् वृत्ति, पत्र ४४

उप—समीपे पतन—स्थानमुपपात दृग्वचनविषयदेशावस्थान तत्कारक —तदनुष्ठाता, न तु गुर्वादेशादिभीत्या तद्व्यवहितदेश-स्थायीति यावत् ।

शब्द सुन सके वहाँ रहने वाला अर्थात् आदेश के भय से दूर न बैठनेवाला' किया गया है। उपपात, निर्देश, आज्ञा और विनय इन्हें एकार्थक भी माना गया है।[1]

६—इंगित और आकार को (इंगियागार ग) :

इंगित और आकार—ये दोनों शब्द शरीर की चेष्टाओं के वाचक है। किसी कार्य की प्रवृत्ति और निवृत्ति के लिए शिर आदि को थोडा-सा हिलाना इंगित है। यह चेष्टा सूक्ष्म होती है। इसे निपुण-मति वाले लोग ही समझ सकते हैं।

आकार को स्थूल बुद्धिवाले लोग भी पकड सकते हैं। आसन को शिथिल करते हुए देख सहज ही यह जाना जा सकता है कि ये प्रस्थान करना चाहते है। इसी प्रकार दिशाओ को देखना, जम्भाई लेना और चादर ओढना—ये सब प्रस्थान की सूचना देने वाले 'आकार' हैं।[2]

इंगित और आकार पर्यायवाची भी माने गए हैं।[3]

७—जानता है (संपन्ने ग) :

चूर्णि और सुखबोधा मे इसका अर्थ 'युक्त' और बृहद् वृत्ति में 'सम्प्रज्ञ' (जाननेवाला) एव 'युक्त' दोनो अर्थ किए गए है। यहाँ बृहद् वृत्ति का पहला (सम्प्रज्ञ) अर्थ अधिक उपयुक्त लगता है।[4]

श्लोक ५

८—चावलों की भूसी को (कण-कुण्डगं क) :

चूर्णि और टीका में इसके दो अर्थ किए गए हैं—चावलो की भूसी अथवा चावल मिश्रित भूसी। चूर्णिकार ने इसे पुष्टिकारक तथा सूअर का प्रिय भोजन कहा है।[5]

१—व्यवहारभाष्य, ४।३५४
उववाओ निद्देसो आणा विणओ य होंति एगट्ठा।

२—बृहद् वृत्ति, पत्र ४४
इंगित—निपुणमतिगम्य प्रवृत्ति-निवृत्तिसूचकमीषद्भ्रूशिर कम्पादि आकार स्थूलधीसंवेद्य प्रस्थानादि भावाभिव्यजको दिगवलोकनादि आह च—"अवलोयण दिसाण वियभण साडयस्स सठवण।
आसण-सिढिलीकरण पट्ठियलिंगाइ एयाइ॥

३—(क) अभिधानप्पदीपिका, ७६४
आकारो इंगित इगो।
(ख) वही, ९८१ :
आकारो कारणे वुत्तो, सण्ठाने इंगितेपि च।

४—(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ २७
सपन्नवान् सपन्न।
(ख) सुखबोधा, पत्र १
सम्पन्न युक्त।
(ग) बृहद् वृत्ति, पत्र ४४
सम्यक् प्रकर्षेण जानाति इंगिताकारसम्प्रज्ञ, यद्वा-इंगिताकाराभ्या गुरुगतभावपरिज्ञानमेव कारणे कार्योपचारादिङ्गिताकारशब्देनोक्त, तेन सम्पन्नो—युक्त।

५—(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २७
कणा नाम तंदुला, कुडगा कुक्कसा, कणाना कुडगा, कणकुडगा, कणमिस्सो वा कुडक कणकुडक, सो य बुद्धिकरो, सूयराण प्रियश्च।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ४५
कणा—तन्दुलास्तेषा तन्मिश्रो वा कुण्डक—तत्क्षोदनोत्पन्नकुक्कुसः कणकुण्डकस्तम्।

श्रावक धर्म-विधि प्रकरण मे एक कथा आई है, जिसका आशय है कि एक राजा को खाने की तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई। उसने विविध प्रकार के भोजन बनवाए। वह सब कुछ खा गया। यहाँ तक कि 'कण-कुडग, मण्डक आदि भी खा गया।' इस कथानक मे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'कण-कुडग' चावलो का कुटा नही पर कोई खाद्य विशेष था।[1]

कौटिल्य अर्थशास्त्र मे कण-कुण्डक शब्द कई स्थानो मे आया है (२।१५।५२,५६, २।२६।४३)। वहाँ कुण्डक का अर्थ—'लाल चूर्ण जो कि छिलके के अन्दर चावल से चिपटा रहता है'—किया है।[2] जातक मे 'आचामकुण्डक' शब्द आया है। वहाँ आचाम का अर्थ 'चावल का माड' है।[3] आयाम का अर्थ 'चावल मे बना हुआ यूष' भी है।[4]

श्लोक ७

६—बुद्ध-पुत्र (आचार्य का प्रिय शिष्य) और मोक्ष का अर्थी (बुद्ध-पुत्त नियागट्ठी ग):

आचार्य नेमिचन्द्र के अनुसार 'बुद्ध-पुत्त' का अर्थ है—आचार्य आदि का प्रीतिपात्र शिष्य और 'नियागट्ठी' का अर्थ है—मोक्षाभिलाषी।[5]

चूर्णि और बृहद् वृत्ति मे 'बुद्धउत्त' पाठ है। 'बुद्धउत्त' और 'नियागट्ठी' इन दोनो शब्दो को एक मानकर इसका सस्कृत रूप—'बुद्धोक्त निजकार्थी'—तीर्थङ्कर आदि द्वारा उपदिष्ट ज्ञान का अभिलाषी—किया गया है।[6]

बृहद् वृत्ति में ये दो पाठान्तर माने गए है[7]—

(१) 'बुद्धवुत्त'—बुद्धव्युक्त अर्थात् आगम।

(२) 'बुद्धपुत्त'—बुद्धपुत्र अर्थात् आचार्य आदि का प्रीतिपात्र शिष्य।

चूर्णिकार ने इस अध्ययन के बीसवें श्लोक मे भी 'नियागट्ठी' का अर्थ—ज्ञान, दर्शन और चारित्र का अर्थी—किया है।[8]

आगम-साहित्य में 'बुद्ध' शब्द का प्रयोग अनेक स्थानो पर मिलता है। इसका अर्थ है—आचार्य, तीर्थङ्कर, वीतराग, ज्ञानी, गुरु आदि-आदि। बौद्ध-साहित्य में इन अर्थों के साथ-साथ 'शाक्यपुत्र' के अर्थ मे भी इसका प्रयोग हुआ है। महात्मा शाक्य मुनि को जब बोधि-लाभ

१—श्रावक-धर्मविधि प्रकरण, पत्र २४, २५।

२—The red powder which adheres to the rice under the husk (Childers)

३—Jatak 254, gg 1-2
Ācāma is scum of boiling rice

४—Āyāma, "A thin rice porridge" (Leumann Āupapatik S s)

५—सुखबोधा, पत्र ३
बुद्धानाम्—आचार्यादीना पुत्र इव पुत्रो बुद्धपुत्र,—'पुत्ता य सीसा य सम विभत्ता' इतिवचनात, स्वरूपविशेषणमेतत, नियागार्थी मोक्षार्थी ।

६—(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २८
बुद्धैरुक्त बुद्धोक्त ज्ञानमित्यर्थ तदेव च नियाक निजकमात्मीय शेष शरीरादि सर्व परावय।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ४६
बुद्धै —अवगततत्त्वैस्तीर्थकरादिभिरुक्तम्—अभिहित, तच्च तन्निजमेव निजक च—ज्ञानादि तस्यैव बुद्धेरात्मीयत्वेन तत्त्वत उक्तवान, बुद्धोक्तनिजक, तदर्थयते अभिलषतीत्येवशील बुद्धोक्तनिजकार्थी।

७—बृहद् वृत्ति, पत्र ४६
पठन्ति च—'बुद्धवुत्ते णियागट्ठि त्ति' बुद्ध —उक्तरूपैर्व्युक्तो—विशेषेणाभिहित, स च द्वादशागरूप आगमस्तस्मिन् स्थित इति गम्यते, यद्वा बुद्धानाम्—आचार्यादीना पुत्र इव पुत्रो बुद्धपुत्र ।

८—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ३५
णियाग णिदाण नियागमित्यर्थ णाणातितिय वा णियग आत्मीयमित्यर्थ सेस सरीरादि सव्व परायग, णियाएणट्ठो जस्स सो णियागट्ठी।

हुआ तब वे बुद्ध कहलाए[1] और उनका दर्शन भी इसी नाम से अभिहित होने लगा। परन्तु महात्मा बुद्ध बोलते समय अपने लिए विशेषन 'तथागत' शब्द का ही प्रयोग करते थे।

श्लोक ८

१०—(निसन्ते क—अट्ठजुत्ताणि ग—निरट्ठाणि घ) :

निसन्ते—चूर्णि और वृत्ति के आधार पर इसके तीन अर्थ फलित होते है[2]—

(१) जिसका अन्त करण क्रोधयुक्त न हो।

(२) जिसका बाह्याकार प्रशान्त हो।

(३) जिसकी चेष्टाएँ अत्यन्त शान्त हो।

अट्ठजुत्ताणि—इसके तीन अर्थ प्राप्त है—

(१) आगम-वचन[3] (२) मोक्ष के उपाय[4] (३) अर्थ सहित[5]

निरट्ठाणि—चूर्णिकार ने निरर्थक शब्द के तीन उदाहरण दिए हैं—

(१) भारत, रामायण आदि। ये लोकोत्तर अर्थ से शून्य है।

(२) दित्थ, दवित्थ, पाखड आदि। ये अर्थ गा निरुक्त शून्य शब्द है।

(३) स्त्री-कथा आदि। ये मुनि के लिये अनर्थक या अप्रयोजनीय है।[6]

१—बुद्ध और बौद्ध साधक, पृ० १५।

२—(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २८

अहिय शान्तो निशान्त अक्रोधवानित्यर्थः, अत्यन्तशान्तचेष्टो वा।

(ख) सुखबोधा, पत्र ३

निशान्त नितरामुपशमवान् अन्त क्रोधपरिहारेण बहिश्च प्रशान्ताकारतया।

३—(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २८

अर्थेन युक्तानि सूत्राण्युपदेशपदानि।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ४६, ४७

अर्यते—गम्यत इति अर्थ, स च हेय उपादेयश्चोभयस्याप्यर्य्यमाणत्वात्, तेन युक्तानि—अन्वितानि अर्थयुक्तानि, तानि च हेयोपादेयाभिधायकानि, अर्थादागमवचासि।

४—बृहद् वृत्ति, पत्र ४७

मुमुक्षुभिरर्थ्यमानत्वादर्थो—मोक्षस्तत्र युक्तानि—उपायतया सगतानि।

५—बृहद् वृत्ति, पत्र ४७ :

अर्थ वा अभिधेयमाश्रित्य युक्तानि—यतिजनोचितानि।

६—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २८ :

न येषामर्थो विद्यत इति निरत्थाणि 'भारहरामायणादीणि' अथवा दित्थो दवित्थो पाखड इति, अथवा इत्थि कहादीणि।

श्लोक ९

११–क्रीडा (कीडं घ) :

इसका सामान्य अर्थ है—खेल-कूद, किलोल आदि। शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने इसका अर्थ—अन्त्याक्षरी, प्रहेलिका आदि से उत्पन्न कुतूहल किया है।[1] चुर्णिकार ने विकल्प में दोनो शब्दो (हासकीड) का समुच्चयार्थ 'कीडापूर्वक हास्य' किया है।[2]

श्लोक १०

१२–चण्डालोचित कर्म (क्रूर-व्यवहार) (चण्डालिय क) :

चूर्णि में इसका मुख्य अर्थ क्रोध और अनृत दिया है।[3] वृहद् वृत्ति में इसका मुख्य अर्थ क्रोध के वशीभूत हो अनृत भाषण करना और विकल्प में क्रूर-कर्म किया है।[4] शान्त्याचार्य दूसरे विकल्प में 'मा अचण्डालिय' में अचण्ड को शिष्य का सम्बोधन मानकर 'अलीक' का अर्थ अनृत करते हैं।[5] नेमिचन्द्र ने केवल क्रोध के वशीभूत होकर 'अनृत भाषण करना' यही एक अर्थ माना है।[6] किन्तु चण्ड और अलीक इन दो शब्दों को भिन्न मानने की अपेक्षा चाण्डालिक एक शब्द मानना अधिक उपयुक्त है।

१३–अकेला रहकर ध्यान करे (झाएज्ज एगगो घ):

इस शब्द से एक लौकिक प्रतिपत्ति का सकेत मिलता है कि ध्यान अकेला करे, अध्ययन दो व्यक्ति करें और ग्रामान्तर-गमन तीन आदि व्यक्ति करें।[7] भोजन, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय आदि प्रवृत्तियाँ मण्डली में की जाती है।[8] ध्यान मण्डली में नही किन्तु अकेले में किया जाता है। इस प्राचीन परम्परा का ही यहाँ निर्देश है।

१–(क) वृहद् वृत्ति, पत्र ४७
क्रीडा च अन्ताक्षरिकाप्रहेलिकादानादिजनिताम्।
(ख) सुखबोधा, पत्र ३।

२—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २९
अहवा ज कीडपुव्वग हास्य तद्।

३–वही, पत्र २९—चडो नाम क्रोध, ऋत सत्य, न ऋतमनृत, पागते तु तमेव अलिय, चंड च अलिय च चडालिय।

४–वृहद् वृत्ति, पत्र ४७
चण्ड—क्रोधस्तद्वशादलीकम्—अनृतभाषण चण्डालीकम्। यद्वा—चण्डेनाऽऽलमस्य चण्डेन वा कलितश्चण्डाल, स चातिक्रूरत्वाच्चण्डालजातिस्तस्मिन् भव चाण्डालिक कर्मेति गम्यते।

५–वही, पत्र ४७
अथवा अचण्ड। सौम्य! अलीकम्–अन्यथात्वविधानादिभिरसत्य।

६–सुखबोधा, पत्र ३
चण्ड क्रोधस्तद्वशाद् अलीकम्–अनृतभाषण चण्डालिक, लोभाद्यलीकोपलक्षणमेतत्।

७–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २९
उक्त हि—'एकस्य ध्यान द्वयोरध्ययन त्रिप्रभृतिग्राम', एव लौकिका सप्रतिपन्ना।

८–प्रवचन सारोद्धार, गा० ६९२
सुत्ते अत्थे भोयण काले आवस्सए य सज्झाए।
संथारे चेव तहा सत्तेया मण्डली जइणो॥

श्लोक १२

१४–(गलियस्स क—आइण्णे ग) :

गलियस्स—इसका अर्थ है अविनीत घोडा।[1] गंडी, गली और मराली ये तीन शब्द दुष्ट घोडे और बैल के पर्यायवाची हैं।[2] गडी—उछल-कूद करने वाला—पेटू। मराली—वाहन में जोतने पर लात मारने वाला या जमीन पर लेटने वाला।

आइण्णे—इसका अर्थ है विनीत घोडा।[3] आकीर्ण, विनीत और भद्रक ये तीन शब्द विनीत घोडे और बैल के पर्यायवाची है।[4]

श्लोक १८

१५–आचार्यों के (किच्चाण ख) :

कृति का अर्थ है—वन्दना। जो वन्दना के योग्य होते हैं उन्हे कृत्य—आचार्य कहा जाता है।[5]

श्लोक १९

१६–(पल्हत्थियं क–पक्खपिण्डं ख) :

पल्हत्थिय—घुटनो और जघाओ को कपडे से बाधकर बैठने को पर्यस्तिका कहा जाता है।[6]

कुषाणकालीन मूर्तियो में, जो मथुरा से प्राप्त हुई है, यक्षकुबेर या साधु आदि अपनी टाग या पेट के चारो ओर वस्त्र बाधकर बैठे हुए दिखाए जाते है। उसे उस समय की भाषा में 'पल्हत्थिया' (पलौथी) कहते थे। ये दो प्रकार की होती थी समग्र पल्हत्थिया या पूरी पलथी और अर्ध पल्हत्थिया या आधी पलथी।

आधी पलथी दक्षिण और वाम अर्थात् दाहिना पैर या बाया पैर मोडने से दो प्रकार की होती थी। पलथी लगाने के लिए साटक, बाहुपट्ट, चर्मपट्ट, वल्कलपट्ट, सूत्र, रज्जु आदि से बन्धन बाँधा जाता था।—ये पल्हत्थिका पट्ट रङ्गीन, चित्रित अथवा सुवर्ण—रत्न-मणि-मुक्ता खचित भी बनाए जाते थे।[7]

पक्खपिण्ड—दोनो बाहुओ से जघाओ को वेष्टित कर बैठना, पक्ष-पिण्ड कहलाता है।[8]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४८
गलि—अविनीत, स चासावश्वश्च गल्यश्व।

२–उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गा० ६४
गडी गली मराली अस्से गोणे य हुति एगट्ठा।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ४८
आकीर्णो—विनीत, स चेह प्रस्तावादश्व।

४–उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ६४
आइन्ने य विणीए भद्दए वावि एगट्ठा॥

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ५४
कृति—वन्दनक तदर्हन्ति कृत्या 'दण्डादित्वाद् यप्रत्यय' ते चार्थादाचार्यादय

६–वही, पत्र ५४
'पर्यस्तिका' जानुजङ्घोपरिवस्त्रवेष्टनाऽऽत्मिकाम्।

७–अगविज्जा भूमिका, पृ० ५९।

८–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ३५
पक्खपिंडो दोहिंवि बाहाहि उरुगजाणूणि घेत्तूण अच्छण।

श्लोक २०

१७–समीप रहे (उवचिट्ठे घ) :

चूर्णिकार ने इसका अर्थ 'पास में बैठना' किया है।[1] टीकाओं में इसका अर्थ है—'मैं आपका अभिवादन करता हूँ'—ऐसा कहता हुआ सविनय गुरु के पास चला जाय।[2]

श्लोक २५

१८–दोनों के प्रयोजन के लिए अथवा अकारण ही (उभयस्सन्तरेण घ) :

टीकाओं में इसका अर्थ है—दोनों के प्रयोजन के लिए अथवा प्रयोजन के विना।[3] चूर्णि में इसका अर्थ दो या बहुत व्यक्तियों के वीच में बोलना—किया है।[4]

श्लोक २६

१९–(समरेसु अगारेसु क सन्धीसु ख) :

'समरेसु'—चूर्णिकार के अनुसार इसका अर्थ 'लोहार की शाला' है।[5] शान्त्याचार्य इसका अर्थ नाई की दुकान, लोहार की शाला और अन्य नीच-स्थान करते हैं। उन्होंने समर का दूसरा अर्थ युद्ध भी किया है।[6] नेमिचन्द्र के अनुसार इसका अर्थ नाई की दुकान है।[7]

सर मोनियर विलियम्स ने समर का अर्थ 'समूह का एकत्रित होना' किया है।[8] यह भी अर्थ प्रकरण की दृष्टि से ग्राह्य हो सकता है। समर का संस्कृत रूप स्मर भी होता है। इसका अर्थ है कामदेव सम्बन्धी या कामदेव का मंदिर।[9] अनुवाद में हमने यही अर्थ किया है। इस शब्द के द्वारा सन्देहास्पद स्थान का ग्रहण इष्ट है।

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ३५
उपेत्य तिष्ठेत वा चिट्ठेज्जा।

२–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ५५
'उपतिष्ठेत' मस्तकेनाभिवन्द इत्यादि वदन् सविनयमुपसर्प्पेत्।
(ख) सुखबोधा, पत्र ८।

३–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ५७
'उभयस्स' त्ति आत्मनः परस्य च, प्रयोजनमिति गम्यते 'अंतरेण व' त्ति विना वा प्रयोजनमित्युपस्कारः।
(ख) सुखबोधा, पत्र १०।

४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ३६,३७।

५–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ३७
समरं नाम जत्थ हेट्ठा लोहयारा कम्मं करेति।

६–बृहद् वृत्ति, पत्र ५७
समरेषु खरकुटीषु उपलक्षणत्वादस्यान्येष्वपि नीचास्पदेषु अथवा सममरिभिर्वर्तन्त इति समरा।

७–सुखबोधा, पत्र १०
समरेषु-खरकुटीषु।

८–Sanskrit-English Dictionary, 1170 Samara—coming together, meeting, concourse, confluence.

९–(क) पाइअ सद्द-महण्णवो, पृ० १०८५।
(ख) अंगविज्जा भूमिका, पृ० ६३
समर–स्मर–गृह या कामदेव गृह।

'अगारेसु'—चूर्णिकार ने इसका अर्थ शून्यागार[1] और शान्त्याचार्य ने केवल गृह किया है।[2]

'सधीसु'—घरों के बीच की सधि। दो दीवारो के बीच का प्रच्छन्न स्थान।[3]

श्लोक २७

२०–(सीएण फरुसेण ख) :

'सीएण'—प्रकरणवश चूर्णिकार ने 'शीत' का अर्थ 'स्वादु' (मधुर), शान्त्याचार्य ने 'उपचार सहित' और नेमिचन्द्र ने 'आह्लादक' किया है।[4]

'फरुसेण'—चूर्णिकार ने 'परुष' का अर्थ स्नेह-वर्जित या निष्ठुर और बृहद् वृत्तिकार ने कर्कश किया है।[5] गच्छाचार की वृत्ति में सुई के तुल्य चुभने वाले वचन को खर, बाण तुल्य चुभने वाले वचन को परुष और भाले के समान चुभने वाले वचन को कर्कश कहा है।[6]

श्लोक ३०

२१–हाथ-पैर आदि से चपलता न करे (अप्पकुक्कुए घ) :

चूर्णि में 'अप्प' का अर्थ निषेध है।[7] शान्त्याचार्य ने 'अप्प' शब्द के अर्थ 'थोडा' और 'नही'—दोनो किए है।[8] नेमिचन्द्र ने केवल 'थोडा' किया है।[9]

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ३७
अगार नाम सुण्णागार।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ७०
अगारेषु–गृहेषु।

३–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ३७
सधाण सधि, बहूण वा घराण तिण्ह घराण यदतरा।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ५७ :
'गृहसन्धिषु च' गृहद्वयान्तरालेषु च।

४–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ३७ .
शीतेन स्वादुना इत्यर्थ।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ५७
'शीतेन' सोपचारवचसा।

(ग) सुखबोधा, पत्र १०
शीतेन–उपचाराच्छीतलेनाऽह्लादकेनेत्यर्थ।

५–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ३७
परुष–स्नेहवर्जित यत्परोक्ष निष्ठुराभिधानम्।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ५७
'परुषेण' कर्कशेन।

६–गच्छाचार, पत्र ५६
खरा शूचीतुल्या। परुषा बाणतुल्या। कर्कशा कुन्ततुल्या।

७–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ३८
'अप्पकुक्कुए' त्ति न गात्राणी स्पदयती ण वा अबद्धासणो भवति, अन्नत्थुसास-णीससितादौ अत्थस्सेह मुक्त्वा शेषमकुकुचो।

८–बृहद् वृत्ति, पत्र ५८, ५९
'अप्पकुक्कुइ' त्ति अल्पस्पन्दन, करादिभिरल्पमेव चलन्, यद्वा—अल्पशब्दोऽभावाभिधायी, ततश्चाल्पम्—असत् कुक्कुय त्ति कौकुच— कर-चरण-भ्रू भ्रमणाद्यसच्चेष्टात्मकमस्येत्यल्पकौकुच।

९–सुखबोधा, पत्र ११।

श्लोक ३२

२२–प्रति-रूप में (मुनि-वेष में) (पडिरूवेण ग) :

प्रस्तुत श्लोक में प्रतिरूप शब्द है और २९वें अध्ययन के ४३वें सूत्र मे प्रतिरूपता ।

इस श्लोक की व्याख्या में चूर्णिकार ने प्रतिरूप के तीन अर्थ किए है[1]—

(१) प्रतिरूप—शोभन रूप वाला ।

(२) प्रतिरूप—उत्कृष्ट वेश वाला अर्थात् रजोहरण, गोच्छग और पात्रधारी ।

(३) प्रतिरूप—जिन प्रतिरूपक—यानि तीर्थंकर की भाँति हाथ में भोजन करने वाला ।

इनका प्रकरणगत अर्थ यह है कि मुनि—स्थविर कल्पी या जिन कल्पी—जिस वेश में हो उसी वेश में भिक्षा करे ।

वृत्ति-काल में इसका अर्थ—'चिरतन मुनियो के समान वेष वाला'—ही मुख्य रहा है ।[2]

प्रतिरूप का अर्थ प्रतिबिम्ब है । वह तीर्थंकर का भी हो सकता है और चिरतन मुनियो का भी हो सकता है। यहाँ चिरतन मुनियों के समान वेष वाला—यह अर्थ प्रासगिक है और २९।४३ में तीर्थंकर के समान वेष वाला प्रासगिक है । देखें २९।४३ का टिप्पण ।

श्लोक ३३

२३–श्लोक ३३ :

इससे पूर्ववर्ती श्लोक में 'मिय कालेण भक्खए' इस पद द्वारा भोजन-विधि का उल्लेख हो चुका है । फिर भी इस श्लोक में पुन भिक्षाटन करने की जो बात कही है, उसकी सगति इस प्रकार होती है—साधु सामान्यत एक बार ही भिक्षा के लिए जाए परन्तु ग्लान के निमित्त या जो आहार मिला उससे क्षुधा शान्त न होने पर वह साधु पुन भिक्षा के लिए जाए । इसकी पुष्टि में टीकाकार दशवैकालिक (अ०५ उ०२) के निम्न श्लोक उद्धृत करते है—

जइ तेण न सथरे ॥२॥
तओ कारणमुपन्ने, भत्तपाण गवेसए ।
• • ॥३॥

इस ३३वें श्लोक का विस्तार दशवैकालिक ५।२।१०, ११, १२ में मिलता है ।

श्लोक ३४

२४–श्लोक ३४ :

इस श्लोक का प्रथम चरण 'नाइउच्चे व नीए वा'—ऊर्ध्वमालापहृत और अधोमालापहृत नामक भिक्षा के दोषों की ओर सकेत करता है । इनकी विशेष जानकारी के लिए दशवैकालिक ५।१।६७, ६८, ६९ देखें । इसी श्लोक का दूसरा चरण 'नासन्ने नाइदूरओ'—गोचराग्र गए हुए मुनि के गृह-प्रवेश की मर्यादा की ओर सकेत करता है । इसका विस्तार दशवैकालिक ५।१।२४ में मिलता है । तीसरे चरण में आए हुए दो शब्द 'फासुय', 'परकड 'पिण्ड', का विस्तार दशवैकालिक ८।२३ और ८।५१ में मिलता है ।

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ३९
पडिरूव णाम सोभणरूव, जहा पासादीये दरिसणीज्जे अहिरूवे पडिरूवे, रूप रूप च प्रति यदन्यरूप, तत्प्रतिरूप, सर्वधर्मभूतेभ्यो हि तद्रूपमुत्कृष्ट, तत्तद्रयहरण-गोच्छ-पडिग्गह मात्ताए, जे वा पाणिपडिग्गहिया जिणकप्पिता तेसिं गहण, तेसि जिरूवप्रतिरूपक भवति, यतस्तेन प्रतिरूपेन ।

२–(क) बृहद् वृत्ति पत्र, ५९ ·
प्रतिप्रतिबिम्ब चिरन्तनमुनीना यद्रूप तेन, उभयत्र पतद्ग्रहादिधारणात्मकेन सकलान्यधार्मिकविलक्षणेन ।

(ख) सुखबोधा, पत्र ११ ।

श्लोक ३५

२५–(अप्पपाणेऽप्पबीयंमि क) :

'अप्पपाणे'—इसका अर्थ है—प्राणी-रहित स्थान में। दोनों टीकाकार 'पाण' शब्द से द्वीन्द्रिय आदि प्राणियो का ग्रहण करते हैं। परन्तु चूर्णिकार इस शब्द के द्वारा समस्त प्राणियो—स्थावर व त्रस—का ग्रहण करते हैं।[1]

यहाँ शान्त्याचार्य ने यह तर्क उपस्थित किया है कि इस चरण में आए हुए दो शब्दों 'अल्प-प्राण' और 'अल्पबीज' में अल्पबीज शब्द निरर्थक है क्योकि प्राण शब्द से समस्त प्राणियो का ग्रहण हो जाता है। बीज भी प्राण है।

इस तर्क का उन्होने इन शब्दों में समाधान किया है—मुख और नासिका के द्वारा जो वायु निकलती है, उसे प्राण कहते हैं। लोक में 'प्राण' का यही अर्थ रूढ है। प्राण द्वीन्द्रिय आदि में ही होता है। एकेन्द्रिय जीवो में वह नही होता। अत 'अप्पबीज' का निर्देश सप्रयोजन है।[2]

चूर्णिकार का अभिमत है कि यहाँ अर्थ की दृष्टि से 'अप्पाणे' पाठ होना चाहिए, किन्तु उससे श्लोक रचना ठीक नही बैठती। इस दृष्टि से 'अप्पाणे' के स्थान में 'अप्पपाणे' का प्रयोग किया गया है।[3]

टीकाकार की दृष्टि में भी अल्प शब्द अभाववाची है।[4] इससे भी चूर्णिकार का मत समर्थित होता है।

'अप्पबीयमि'—इसका शब्दार्थ है—बीज रहित स्थान में। उपलक्षण से इसका अर्थ समस्त स्थावर जन्तु रहित स्थान में होता है।[5] बीज सहित स्थान वर्जनीय है तो हरियाली सहित स्थान अपने आप वर्जनीय हो जाता है।[6]

२६–(पडिच्छन्नंमि संवुडे ख) :

'पडिच्छन्नमि'—ऊपर से ढके हुए उपाश्रय में।

यहाँ प्रतिपाद्य यह है कि साधु खुले आकाश में भोजन न करें। क्योकि वहाँ से ऊपर से गिरने वाले सूक्ष्म जीवो का उपद्रव हो सकता है। अत ऐसे स्थान में आहार करें जो ऊपर से छाया हुआ हो।[7]

'सवुडे'—पार्श्व मे भित्ति आदि के सवृत उपाश्रय में।

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ४० :
प्राणग्रहणात् सर्वप्राणीना ग्रहणम्।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ६०
ननु चाल्पप्राण इत्युक्ते अल्पबीज इति गतार्थं, बीजानामपि प्राणत्वाद्, उच्यते, मुखनासिकाभ्या यो निर्गच्छति वायु स एवेह-लोके रूढित प्राणो गृह्यते। अय च द्वीन्द्रियादीनामेव समवति, न बीजाद्येकेन्द्रियाणामिति।

३–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ४०
अप्पाणेत्ति वत्तव्वे बधाणुलोमे अप्पपाणे।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ६०
अल्पा—अविद्यमाना प्राणा —प्राणिनो यस्मिस्तदल्पप्राणम्।

५–वही, पत्र ६० :
अल्पानि अविद्यमानानि बीजानि शाल्यादीनि यस्मिस्तदल्पबीज तस्मिन्, उपलक्षणत्वाच्चास्य सकलैकेन्द्रियविरहिते।

६–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ४० :
बीजग्रहणात् तद्भेदा यदिवा बीजान्यपि वर्जयन्ति, किमुत हरितत्रसादय ?

७–सुखबोधा, पत्र १२
प्रतिच्छन्ने—उपरिप्रावरणाऽन्विते, अन्यथा संपातिमसत्त्वसपातसमवात्।

चूर्णिकार ने 'सवुडे' को साधु का विशेषण मानकर इसका अर्थ सयत या सर्वेन्द्रिय गुप्त किया है।[1] शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने इसे स्थान का विशेषण माना है।[2] अनुवाद का आधार यह दूसरा अर्थ रहा है। शान्त्याचार्य ने वैकल्पिक रूप में 'सवुडे' को साधु का विशेषण भी माना है।[3]

मिलाइए दशवैकालिक ५।१।८३, टिप्पण सख्या २०३।

२७–(समयं ग· · · 'जय अपरिसाडियं घ) :

'समय'—इसका अर्थ है—साथ में। इस शब्द के द्वारा गच्छवासी साधुओं की सामाचारी का निर्देश हुआ है। जो मण्डली-भोजी साधु है उनका यह कर्त्तव्य है कि वे अपने सहधर्मी साधुओं को निमन्त्रित कर उनके साथ भोजन करें, एकाकी न खाएँ। इस आशय का स्पष्ट उल्लेख दशवैकालिक ५।१।९५ में मिलता है।

दोनो टीकाकार प्रधानत इसी अर्थ को मान्य करते हैं और दशवैकालिक ५।१ का ९५वाँ श्लोक उद्धृत करते है। शान्त्याचार्य ने विकल्प में इसका अर्थ—'सरस-विरस आहार आदि में अनासक्त होकर'—भी किया है।[4]

चूर्णि में बताया गया है कि अकेला भोजन करे वह समतापूर्वक करे और मण्डली-भोजन करने वाला साधर्मिको को निमन्त्रित कर भोजन करे।[5]

'जय अपरिसाडिय'—यह पद दशवैकालिक ५।१।९६ में ज्यो-का-त्यो आया है।

श्लोक ३६

२८–श्लोक ३६ :

देखिए दशवैकालिक ७।४१ टिप्पण सख्या ६७।

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ४०
सवुडो नाम सव्विदियगुत्तो।

२–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ६०, ६१
'सवृते' पार्श्वत कटकुट्यादिना सकटद्वारे, अटव्या कुडगादिषु वा।

(ख) सुखबोधा, पत्र १२।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ६१
सवृतो वा सकलाश्रवविरमणात्।

४–(क) बृहत् वृत्ति, पत्र ६१
'समकम्' अन्यै सह, न त्वेकाक्येव रसलम्पटतया समुहासहिष्णुतया वा, अत्राह च—

साहवो तो चियत्तेण, निमतेज्ज जहक्कम।
जइ तत्थ केइ इच्छेज्जा, तेहि सद्धि तु भुजए॥

त्ति, गच्छस्थितसामाचारी चेय गच्छस्यैव जिनकल्पिकादीनामपि मूलत्वख्यापनायोक्ता।

(ख) सुखबोधा, पत्र १२।

५–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ४०
समत नाम सम्यग् रागद्वेष वियुत एकाकी भुक्ते, यस्तु मडलीए भुक्ते सोऽविसमग सजएहि भुजेज्ज, सहान्ये साधुभिरिति, अहवा समय जहारातिणिओ लवणे गेण्हइ अण्णे वा, तया अविक्कितवदनो गेण्हति।

श्लोक ४०

२९–आचार्य का उपघात करनेवाला न हो (बुद्धोवघाई न सिया ग) :

बुद्ध या आचार्य की उपघात के तीन प्रकार है—

१—ज्ञान-उपघात— यह आचार्य अल्प-श्रुत है या ज्ञान का गोपन करता है।

२—दर्शन-उपघात— यह आचार्य उन्मार्ग का प्ररूपण करता है या उसमें श्रद्धा करता है।

३—चारित्र-उपघात— यह आचार्य पार्श्वस्थ या कुशील है।

इस प्रकार जो व्यवहार करता है, वह आचार्य का उपघाती होता है।

इसका दूसरा अर्थ यह है— जो शिष्य आचार्य की वृत्ति का उपघात करता है, वह भी 'बुद्धोपघाती' कहलाता है। आचार्य को दीर्घजीवी देख शिष्य सोचते हैं—'हम लोग कब तक इनकी परिचर्या करते रहेंगे, कोई ऐसा प्रयत्न करें, जिससे ये अनशन कर लें।'[१] वे भिक्षा में पूर्ण नीरस आहार लाते हैं और कहते है—'भंते! क्या करें? श्रावक लोग अच्छा आहार देते ही नहीं।' उधर श्रावक लोग यह सोचकर कि आचार्य वृद्ध हैं, सौभाग्य से हमारे यहाँ स्थान-स्थित हैं, अतः हम स्वतः प्राप्त प्रणीत-भोजन उन्हें दें, भिक्षा के लिए आने वाले साधुओ को प्रणीत आहार देना चाहते हैं पर वे साधु उन्हे कहते हैं—'आचार्य प्रणीत-भोजन नहीं लेना चाहते। वे सलेखना कर रहे है—अनशन की तैयारी के लिए काया को कृश कर रहे है।' श्रावक आचार्य को कहते है—'भगवन्! आप महान् उद्योतकारी आचार्य है इसलिए असमय में ही सल्लेखना क्यों करते हैं? आप हमारे भारभूत नहीं हैं। हम शक्तिभर आपकी सेवा करना चाहते है। आपके विनीत साधु भी आपकी सेवा करना चाहते हैं। वे भी आपसे खिन्न नही हैं।' आचार्य इस सारी स्थिति को जानकर सोचते है—'इस अप्रतीतिहेतुक प्राण-धारण से क्या अर्थ है? धर्मार्थी पुरुष को अप्रीति उत्पन्न करना उचित नही।' वे तत्काल श्रावकों से कहते हैं—'मैं नियत-विहारी होकर कितने दिन तक इन विनीत साधुओ को और आपको रोके रहूँगा। अच्छा है, अब मैं उत्तम-अर्थ का अनुसरण करूँ।' इस प्रकार श्रावको को समझाकर आचार्य अनशन कर लेते हैं।

शिष्यो की ऐसी चेष्टा भी आचार्य की उपघात करने वाली कहलाती है। इसलिए विनीत शिष्य बुद्धोपघाती न हो—आचार्य को अनशन आदि के लिए बाध्य करने वाला न हो।[१]

३०–छिद्रान्वेषी (तोत्तगवेसए घ) :

जिसके द्वारा व्यथा उत्पन्न होती है उसे तोत्त—तोत्र कहा जाता है। द्रव्य तोत्र हैं—चाबुक, प्रहार आदि और भाव तोत्र है—दोषोद्भावन, तिरस्कारयुक्त वचन, छिद्रान्वेषण आदि-आदि।[२]

१–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ४२

बुद्धो—आयरियो, बुद्धानुपहन्तु शील यस्य स भवति बुद्धोवघाती, उपेत्य घातः उपघात, स तु त्रिविध णाणादि, णाणे अप्पसुतो एस देस गोप्पवइ इओ दसणे उम्मग्ग पण्णवेति सद्दहति वा, चरणे पासत्थो वा कुशीलो वा एवमादी, अहवा आयरियस्स वृत्तिमुपहति, जहा एको आयरिओ अ (वथा) यमग्गो (अगमओ), तस्स सीसा चिंतेंति—केच्चिर काल अम्हेहिं एयस्स वट्टि-यव्वति ?, तो तहा काहामो जहा भत्त पच्चक्खाति, ताहे अत एव (विरस भत्त) उवणेंति, भणति य—ण देंति सड्ढा, कि करेमो ?, सावयाण च कहेंति—जहा आयरिया पणीय पाणभोयण ण इच्छति, सलेहण करेंतित्ति, ततो सड्ढा आगतूण भणति—किं खमासमणा! सलेहण करेह ?, ण वय पडिचारगा वा णिव्विण्णत्ति, ताहे ते जाणिउण तेहि चेव वारितति भणति—किं मे सिस्सेहि तुब्भेहिं वाऽवरोहिएहिं ?, उत्तमायरिय उत्तमट्ठ पडिवज्जामि, प०२ भत्त पच्चक्खायति, इत्येव बुद्धोपघाती न सिया।

(ख) वृहद् वृत्ति, पत्र ६२, ६३।

२–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ४२।

(ख) वृहद् वृत्ति, पत्र ६२।

श्लोक ४७

३१—कर्म-सम्पदा (दस-विध सामाचारी) से सम्पन्न (कम्प-संपया ख) :

प्राचीन काल में क्रिया की उप-सम्पदा के लिए साधुओं की विशेष नियुक्ति होती थी। वे साधुओं को दस-विध सामाचारी का प्रशिक्षण देते और उसकी पालना कराने का ध्यान रखते थे। चूर्णि में 'कर्म-सम्पदा' का अर्थ 'योगज विभूति सम्पन्न' किया है।[1]

बृहद् वृत्ति में इसके दो अर्थ किए गए हैं—सामाचारी से सम्पन्न और योगज विभूति से सम्पन्न।[2]

श्लोक ४८

३२–(मलपंकपुव्वयं,ख अप्परए घ) :

मलपंकपुव्वय—मनुष्य शरीर का निर्माण मल और पंक (रक्त और वीर्य) से होता है, इसलिए उसे मल-पंक-पूर्वक कहा जाता है।[3]

अप्परए—जो 'अल्परत' होता है—मोह जनित क्रीडा से रहित होता है, उसे 'अल्परत' कहा जाता है। जिसके बध्यमान-कर्म अल्प होते हैं उसे 'अल्परजा' कहा जाता है। 'अप्परए' के ये दोनों अर्थ हो सकते है।[4]

१—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ४४ :
अक्खीणमहाणसीयादिलद्धिजुत्तो।

२—बृहद् वृत्ति, पत्र ६६
कर्म—क्रिया दशविधचक्रवालसामाचारीप्रभृतिरितिकर्तव्यता तस्या सम्पत्—सम्पन्नता तया, लक्षणे तृतीया, ततः कर्मसम्पदोपलक्षितस्तिष्ठतीति सम्बन्ध, 'कर्म-सम्पदा' यत्यनुष्ठानमाहात्म्यसमुत्पन्नपुलाकादिलब्धिसम्पत्या।

३—वही, पत्र ६७
'मलपंकपुव्वय' त्ति जीवशुद्ध्यपहारितया मलवन्मल स चासौ 'पावे वज्जे वेरे पंके पणए य' त्ति वचनात् पङ्कश्च कर्ममलपङ्क स पूर्व—कार्यात् प्रथमभावितया कारणमस्येति मलपङ्कपूर्वक, यद्वा—'माओउय पिऊसुक्क' त्ति वचनात् रक्तशुक्रे एव मलपङ्कौ तत्पूर्वकम्।

४—वही, पत्र ६७
'अप्परए' त्ति अल्पमिति—अविद्यमान रतमिति—क्रीडितं मोहनीयकर्मोदयजनितमस्येति अल्परतो—लवसत्तमादि', अल्परजा वा प्रतनुबध्यमानकर्मा।

अध्ययन २

श्लोक २

१–श्लोक २ :

परीषह प्रकरण में 'क्षुधा परीषह' को स्थान क्यों दिया गया ? चूर्णिकार ने इसका समाधान 'क्षुधासमा नास्ति शरीर-वेदना'—भूख के समान दूसरी शारीरिक वेदना नहीं है—कहकर किया है।[१]

नेमिचन्द्र यहाँ एक प्राचीन श्लोक उद्धृत करते हैं—

पंथसमा नत्थि जरा, दारिद्दसमो य परिभवो नत्थि।
मरणसम नत्थि भय, खुहासमा वेयणा नत्थि ॥[२]

पथ के समान कोई बुढ़ापा नहीं है, दरिद्रता के समान कोई पराभव नहीं है, मृत्यु के समान कोई भय नही है और क्षुधा के समान कोई वेदना नही है।

श्लोक ३

२–काक-जघा (काली–पव्व क) :

इसका अर्थ है 'काक-जघा' नामक तृण। इसे हिन्दी में घुघची या गुजा का वृक्ष कहा जाता है।

चूर्णिकार ने इसका अर्थ 'तृण विशेष' जिसको कई लोग 'काक-जघा' कहते हैं, किया है।[३]

टीकाकार भी इसी अर्थ को मान्य करते हैं।[४] परन्तु आधुनिक विद्वान् डॉ० हरमन जेकोबी, डॉ० साडेसरा आदि ने 'काक-जंघा' का अर्थ कौए की जघा किया है।[५]

बौद्ध-साहित्य में अल्प-आहार से होने वाली शारीरिक अवस्था के वर्णन में 'काल-पव्वानि' शब्द आया है।[६]

राहुलजी ने इसका अर्थ 'काल वृक्ष के पर्व' किया है।[७] यह अर्थ टीकाकारों के अर्थ से मिलता-जुलता है।

काल जघा नामक तृण-वृक्ष के पर्व स्थूल और उसके मध्यदेश कृश होते है। उसी प्रकार जिस भिक्षु के घुटने, कोहनी आदि स्थूल और जघा, ऊरु (साथल), बाहु आदि कृश होते हैं, उसे 'काली-पव्वंग-सकासे' (काली पर्व सकाशाङ्ग) कहा जाता है।[८]

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ५२।

२–सुखबोधा, पत्र १७।

३–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ५३ :
काली नाम तृणविसेसो, केइ काकजघा भणति, तीसे पासतो पव्वाणि तुल्लाणि तणूणि।

४–(क) वृहद् वृत्ति, पत्र ८४।
(ख) सुखबोधा, पत्र १८।

५–(क) The Sacred Books of the East, Vol XLV, page 10 emaciated like the joint of a crow's (leg)
(ख) उत्तराध्ययन, पृ० १७।

६–मज्झिम निकाय, १२।६।१९।

७–वही, अनुवाद पृ० ५०।

८–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ५३
कालीतृणपर्वण: पर्व्वभिरगानि सकाशानि यस्य स भवति कालीतृणपर्वागसकाश', तानि हि कालीपर्वाणि सधिसु थूराणि मध्ये कृशानि, एवमसावपि भिक्षु छुहाए जानुकोप्परसधिसु थूरो भवति, जघोरुकालायिकबाहुसु कृश।

३–धमनियों का ढाँचा (धमणि-सतए ख) :

इसका भावार्थ है—अत्यन्त कृश। जिसका शरीर केवल धमनियो का जाल-मात्र रह गया हो।[1]

बौद्ध-ग्रन्थो में भी 'किस धमनिसन्थत' ऐसा प्रयोग आया है। उसका अर्थ— दुवला-पतला और नसो से मढे शरीर वाला है।[2] इस प्रयोग से एक तर्क होता है कि एक ओर तो बौद्ध तपस्या का खण्डन करते हैं और दूसरी ओर 'किस धमनिसन्थत' को अच्छा बताते हुए उसे ब्राह्मण का लक्षण मानते हैं। इसका क्या कारण है ? इस प्रयोग को तथा मज्झिम निकाय (१२।६।१६।२०) के विवरण को देखने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि बौद्धो पर जैन-साहित्य और तपस्या-विधि का प्रभाव रहा है।

भागवत में भी—"एव चीर्णेन तपस्या, मुनिधर्मनिसन्तत"—ऐसा प्रयोग आया है।[3]

इससे यह प्रतीत होता है कि तीनो (जैन, बौद्ध और वैदिक) धार्मिक परम्पराओ मे कुछ रेखाएँ समान रूप से खीची हुई हैं।

श्लोक ४

४–सचित्त पानी (सीओदगं ग) :

शीत का अर्थ है ठण्डा। शीत-उदक—यह स्वरूपस्थ (शस्त्र से अनुपहत या सजीव) जल का सूचक है।[4] डॉ० हरमन जेकोबी ने इसका अर्थ Cold Water 'ठण्डा पानी' किया है। यह शब्द का लाक्षणिक अर्थ है, जो भ्रामक भी है। ठण्डा पानी सचित्त भी हो सकता है और अचित्त भी। यहाँ सचित्त अर्थ अभिप्रेत है।

श्लोक ८

५–स्वेद, मैल या प्यास के दाह से (परिदाहेण ख) :

दाह दो प्रकार के होते है—बाह्य दाह और आन्तरिक दाह। स्वेद, मैल आदि द्वारा शरीर में जो दाह होता है वह बाह्य-दाह है और प्यास जनित दाह को आन्तरिक-दाह कहते है। यहाँ दोनो प्रकार के दाह अभिप्रेत हैं।[5] चूर्णिकार ने इस प्रसग में एक सुन्दर श्लोक उद्धृत किया है

उवरिं तावेइ रवी, रविकरपरितावित्ता दहइ भूमी।
सव्वादो परिदाहो, दसमलपरिगतगा तस्स ॥[6]

१–वृहद वृत्ति, पत्र ८४
धमनय –शिरास्ताभि सन्ततो–व्याप्तो धमनिसतत ।

२–धम्मपद, २६।१३
पसूकूलधर जन्तु, किस धमनिसन्थत,
एक वनस्मि झायत, तमह ब्रूमि ब्राह्मण।

३–भागवत, ११।१८।६।

४–वृहद् वृत्ति, पत्र ८६
शीत–शीतलं, स्वरूपस्थतोयोपलक्षणमेतत, तत स्वकीयादिशस्त्रानुपहतम् अप्रासुकमित्यर्थ ।

५–वही, पत्र ८९ ·
परिदाहेन—वहि स्वेदमलाभ्या वह्निना वा, अन्तश्च तृष्णया जनितदाहस्वरूपेण।

६–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ५७।

श्लोक ११

६–संत्रस्त न हो (न संतसे क) :

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—हाथ, पैर आदि अवयवों को न हिलाए—किया है।[1]

शान्त्याचार्य ने इसके दो अर्थ किए हैं—

(१) दशमशक आदि से सत्रस्त न हो।

(२) हाथ, पैर आदि अवयवों को न हिलाए।[2]

डॉ० हरमन जेकोबी और डॉ० साडेसरा ने इसका अर्थ—प्राणियो को त्रसित न करना—किया है।[3]

इसमें परस्पर कोई विरोध नहीं है परन्तु परीषह का प्रकरण है इसलिए शान्त्याचार्य का प्रथम अर्थ अधिक उपयुक्त है।

श्लोक १३

७–श्लोक १३ :

इस श्लोक में आया हुआ 'एगया' शब्द मुनि की जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक अवस्थाओं तथा वस्त्राभाव आदि अवम्याओ की ओर सकेत करता है।

चूर्णिकार के अनुसार—मुनि जिन-कल्प अवस्था में 'अचेलक' होता है। स्थविर-कल्प अवस्था में वह दिन में, ग्रीष्म ऋतु में या वर्षा ऋतु में बरसात न आने तक भी अचेलक रहता है। शिशिर-रात्र (पौष और माघ), वर्षा-रात्र (भाद्र और आश्विन), बरसात गिरते समय तथा प्रभात काल में भिक्षा के लिए जाते समय वह 'सचेलक' रहता है।[4]

इससे यह लगता है कि एक ही मुनि एक ही काल में अचेलक और सचेलक—दोनों अवस्थाओं में रहता है।

शान्त्याचार्य के अनुसार जिन-कल्प अवस्था में मुनि अचेलक होता है और स्थविर-कल्प अवस्था में भी जब वस्त्र दुर्लभ हो जाते है या सर्वथा मिलते ही नही अथवा वस्त्र होने पर भी वर्षा ऋतु के बिना उनको धारण न करने की परम्परा होने के कारण अथवा वस्त्रो के फट जाने पर—वह अचेलक हो जाता है।[5] नेमिचन्द्र का अभिमत भी सक्षेप में यही है।[6]

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ५९

न सत्रसति अगानि कपयति विक्षिपति वा।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ९१

'न सत्रसेत्' नोद्विजेत्, दशादिभ्य इति गम्यते, यद्वाऽनेकार्थत्वाद्धातूना न कम्पयेत्तैस्तुद्यमानोऽपि, अङ्गानीति शेष।

३–(क) The Sacred Books of the East vol XLV, p 11 He should not scare away (insects)

(ख) उत्तराध्ययन सूत्र, पृ० १९ त्रास आपवो नही ।

४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ६०

एगता नाम जदा जिणकप्प पडिवज्जति, अहवा दिवा अचेलगो भवति, ग्रीष्मे वा, वासासुवि वासे अपडिंते ण पाउणति, एवमेव एगता अचेलगो भवति, 'सचेले यावि एगता' तजहा—सिसिररातीए वरिसारत्ते वासावासे पडंते भिक्ख हिडते।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ९२-९३ :

'एकदा' एकस्मिन् काले जिनकल्पप्रतिपत्तौ स्थविरकल्पेऽपि दुर्लभवस्त्रादौ वा सर्वथा चेलाभावेन, सति वा चेले विना वर्षादि-निमित्तमप्रावरणेन, जीर्णादिवस्त्रतया वा 'अचेलक' इति अवस्त्रोऽपि भवति।

६–सुखबोधा, पत्र २२ :

'एकदा' जिनकल्पिकाद्यवस्थाया सर्वथा चेलाभावेन जीर्णादिवस्त्रतया वा अचेलको भवति सचेलश्च 'एकदा' स्थविरकल्पिकाद्य-वस्थायाम्।

हेमन्त के चले जाने और ग्रीष्म के आ जाने पर मुनि एक शाटक या अचेल हो जाए—यह आचारांग में बताया गया है।[1] रात को हिम, ओस आदि के जीवो की हिंसा से बचने के लिए तथा बरसात में जल के जीवो से बचने के लिए वस्त्र पहनने-ओढने का भी विधान मिलता है।[2]

स्थानांग में कहा है—पाँच स्थानो से अचेलक प्रशस्त होता है—

(१) उसके प्रतिलेखना अल्प होती है।

(२) उसका लाघव (उपकरण तथा कषाय की अल्पता) प्रशस्त होता है।

(३) उसका रूप—वेष वैश्वासिक (विश्वास योग्य) होता है।

(४) तपोनुज्ञात—उसका तप (प्रतिसंलीनता नामक बाह्य तप का एक प्रकार—उपकरण-संलीनता) जिनानुमत होता है।

(५) उसके विपुल इन्द्रिय-निग्रह होता है।[3]

तीसरे स्थान में कहा है—तीन कारणो से निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियाँ वस्त्र धारण कर सकती है—

(१) लज्जा निवारण के लिए।

(२) जुगुप्सा—घृणा निवारण के लिए।

(३) परीषह निवारण के लिए।[4]

इसी अध्ययन के चौंतीस और पैंतीसवें श्लोक में जो वस्त्र निषेध फलित होता है, वह भी जिन-कल्पी या विशेष अभिग्रहधारी मुनि की अपेक्षा से है—यह प्रस्तुत श्लोक से समझा जा सकता है।

श्लोक १८

८—संयम के लिए (लाढे क) :

शान्त्याचार्य ने इसका अर्थ—'एषणीय-आहार' अथवा 'मुनि-गुणो के द्वारा जीवन यापन करने वाला'—किया है। उनके अनुसार यह श्लाघावाची देशी शब्द है।[5] चूर्णिकार और नेमिचन्द्र भी संक्षेप में यही अर्थ करते है।[6] यह विशेषण चर्या के प्रसंग में आया है और इसके अगले चरण में परीषहो को जीतने की बात कही है तथा इसे श्लाघावाची शब्द कहा है। इन सभी तथ्यो पर ध्यान देने से इसका मूल अर्थ 'लाढ' या 'राढ' देश लगता है। भगवान् महावीर ने वहाँ विहार किया था, तब वहाँ अनेक कष्ट सहे थे।[7] आगे चलकर वह शब्द कष्ट सहने वालों के लिए श्लाघा सूचक बन गया।

अ० १५ श्लो० २ में लाढ का अर्थ—सत् अनुष्ठान से प्रधान—किया है।[8]

१–आचारांग, १।८।४।५०-५२।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ९६

तह निसि चाउक्काल सज्झायज्झाणसाहणमिसीण।
हिममहियावासोसारयाइरक्खाणिमित्त तु॥

३–स्थानांग, ५।३।४५५।

४–वही, ३।३।१७१।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र १०७

'लाढे' त्ति लाढयति प्रासुकैषणीयाहारेण साधुगुणैर्वाऽऽत्मान यापयतीति लाढ, प्रशसाभिधायि वा देशीपदमेतत्।

६–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ६६

लाढे इति फासुएण उग्गमादिसुद्धेण लाढेति, साधुगुणेहिं वा लाढय इति।

(ख) सुखबोधा, पत्र ३१ लाढयति—आत्मान प्रासुकैषणीयाहारेण यापयतीति लाढ।

७–आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ४८२

लाढेसु अ उवसग्गा, घोरा। ततो भगवान लाढासु जनपदे गतः तत्र घोरा उपसर्गा अभवन्।

८–बृहद् वृत्ति, पत्र ४१४ 'लाढे' त्ति सदनुष्ठानतया प्रधान।

९–अकेला (राग-द्वेष रहित होकर) (एग एव क) :

शान्त्याचार्य ने इसके दो अर्थ किए हैं—राग-द्वेष विरहित अथवा एकाकी। द्वितीय अर्थ की पुष्टि के लिए वे इसी सूत्र के ३२ वें अध्ययन का पाँचवाँ श्लोक उद्धृत करते है।[1] नेमिचन्द्र ने केवल प्रथम अर्थ ही स्वीकार किया है।[2]

इसी अध्ययन के बीसवें श्लोक के दूसरे चरण में 'एगओ' शब्द आया है। शान्त्याचार्य ने उसके दो अर्थ किए है—

(१) एकग—प्रतिमा का आचरण करने के लिए अकेला जाने वाला।

(२) एक—अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति के अनुकूल प्रवृत्ति करने वाला।[3]

किन्तु उसका प्रकरणगत अर्थ एकक—अकेला युक्त है।

श्लोक १९

१०–असदृश (असाधारण) (असमाणो क) :

चूर्णिकार ने इसके तीन अर्थ किए है—

(१) असन् (असन्निहित)— जिसके पास कुछ भी नही है।

(२) गृहस्थ के असदृश— जो गृहस्थ के समान नही है।

(३) अतुल्यविहारी— जिसका विहार अन्य तीर्थिकों से भिन्न है।[4]

शान्त्याचार्य ने मान—अहंकार रहित—यह अर्थ चूर्णि से अधिक किया है।[5]

श्लोक २०

११–(सुसाणे क, रुक्ख-मूले ख) :

मुनि को किस प्रकार के स्थान में रहना चाहिए इसका विचार कई अध्ययनो में किया गया है। देखें—१५।४, १६।सू० ३ श्लो० १, ३२।१२, १३, १६, ३५।४-९। श्मशान, शून्य-गृह और वृक्ष-मूल ये सब एकान्त स्थान के उदाहरण मात्र है। श्मशान और वृक्ष-मूल में मुख्यतया विशिष्ट साधना करने वाले मुनि ही रहते है।[6]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र १०७
'एक एवे'ति रागद्वेषविरहित 'चरेत्' अप्रतिबद्धविहारेण विहरेत्, सहायवैकल्यतो वैकस्तयाविध गीतार्थों, यथोक्तम्—
ण या लभिज्जा णिउण सहाय, गुणाहिय वा गुणतो सम वा।
एक्कोऽवि पावाइ विवज्जयतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो॥

२–सुखबोधा, पत्र ३१।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र १०९
'एक' उक्तरूप स एवैकक, एको वा प्रतिमाप्रतिपत्त्यादौ गच्छतीत्येकग, एक वा कर्म्मसाहित्यविगमतो मोक्ष गच्छति—तत्प्राप्तियोग्यानुष्ठानप्रवृत्तेर्यातीत्येकग।

४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ६७
असमान इति असमादि(नि)क, असन्निहित इत्यर्थ अहवा असमाण इति नो गृहितुल्यित अथवा असमान अतुल्यविहार अन्यतीर्थिकै।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र १०७
न विद्यते समानोऽस्य गृहिण्याश्रयामूर्च्छितत्वेन अन्यतीर्थिकेषु वाऽनियतविहारादिनेत्यसमान—असदृशो, यद्वा समान—साहङ्कारो न तथेत्यसमान, अथवा '(अ)समाणो' त्ति प्राकृतत्वादसन्निवासन्, यत्रास्ते तत्राप्यसन्निहित एवेति हृदयम्।

६–दशवैकालिक, १०।१२।

श्लोक २६

न-धर्म (भिक्खु-धम्म घ) :

मुनि-धर्म[1] स्थानांग (१०।७१२) तथा समवायांग (समवाय १०) के अनुसार दस प्रकार का होता है—

(१) क्षान्ति,
(२) मुक्ति—निर्लोभता, अनासक्ति,
(३) मार्दव,
(४) आर्जव,
(५) लाघव,
(६) सत्य,
(७) संयम,
(८) तप,
(९) त्याग— अपने साम्भोगिक साधुओं को भक्त आदि का दान देना, और
(१०) ब्रह्मचर्य ।

श्लोक २७

श्रमण को (समणं क) :

चूर्णिकार ने इसका अर्थ 'समान मन वाला' किया है ।[2] शान्त्याचार्य ने इस अर्थ के साथ-साथ श्रमण भी किया है ।[3] नेमिचन्द्र ने किया है ।[4] संस्कृत में इस शब्द के दो रूप हो सकते हैं—श्रमणम् और समणम् । विस्तार के लिए देखें—दसवेआलियं (भाग २), १।३, संख्या १४ ।

-"आत्मा का नाश नहीं होता" (नत्थि जीवस्स नासु त्ति ग) :

पीटे जाने पर मुनि यह सोचे कि जीव—आत्मा—का नाश नहीं होता । इस चिन्तन का पूर्व पक्ष है कि यदि कोई दुर्जन व्यक्ति मुनि गाली दे तो मुनि यह सोचे कि—चलो गाली ही देता है, पीटता तो नहीं । पीटने पर सोचे—चलो पीटता ही है, मारता तो नहीं । मारने सोचे—चलो मारता ही है, धर्म से भ्रष्ट तो नहीं करता—आत्म-धर्म का हनन तो नहीं करता, क्योंकि आत्मा अमर है, अमूर्त्त है ।

इस प्रेक्षा से मुनि अगले बड़े उपताप को सामने रखकर जो छोटा उपताप प्राप्त होता है, उसे लाभ मानता है और इस प्रकार वह वैज्ञानिक विजय प्राप्त कर लेता है ।[5]

श्लोक २९

८-हाथ पसारना सरल नहीं है (पाणी नो सुप्पसारए ख) :

याचना के लिए दूसरों के आगे हाथ पसारना—'मुझे दें'—यह कहना सरल नहीं है । जैसे—

धणवइसमोऽवि दो अक्खराइं लज्जं भयं च मोत्तूण ।
देहित्ति जाव ण भणति पडइ मुहे नो परिभवस्स ॥[6]

१-सुखबोधा, पत्र ३५
'भिक्षुधर्मं-यतिधर्म्मं, यद्वा 'भिक्षुधर्म्मं' क्षान्त्यादिकं वस्तुस्वरूपम् ।
२-उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ७२
समो सव्वत्थ मणो जस्स भवति स समणो ।
३-बृहद् वृत्ति, पत्र ११४
'समण'—श्रमणं सममनसं वा—तथाविधवधेऽपि धर्मं प्रति प्रहितचेतसम् ।
४-सुखबोधा, पत्र ३६ 'श्रमणं' तपस्विनम् ।
५-उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ७२
अक्कोसहणणमारणधम्मब्भंसाण बालसुलभाणं ।
लाभं मन्नति धीरो जहुत्तराणं अभावंमि ॥
६-वही, पृ० ७४ ।

अर्थात् कुबेर के समान धनवान् व्यक्ति भी जब तक लज्जा और भय को छोड़कर 'देहि' (दो) यह नहीं कहता तब तक उसका कोई तिरस्कार नही करता—अर्थात् धनवान् व्यक्ति 'मुझे दो' ऐसा कह दूसरों के आगे हाथ पसारता है तब वह भी तिरस्कार का भागी बन जाता है।

याचना करना मृत्यु के तुल्य है। नीतिकार ने कहा है—

> गात्रभग स्वरे दैन्य, प्रस्वेदो वेपथुस्तथा।
> मरणे यानि चिन्हानि, तानि चिन्हानि याचने॥

अर्थात् मृत्यु के समय जो लक्षण प्रकट होते है—शरीर के अवयवो का ढीला पड जाना, वाणी में दीनता, पसीना तथा कपन आदि—वे सभी याचना के समय भी प्रकट होते है।

श्लोक ३३

१९–चिकित्सा न करे, न कराए (जं न कुज्जा न कारवे [घ]) :

सहज ही प्रश्न होता है—क्या यह विधान समस्त साधुओ के लिए है ? इसके समाधान में कहा है—'चिकित्सा न करे, न कराए'—यह उपदेश जिन-कल्पिक मुनियो के लिए है। स्थविर-कल्पी मुनि सावद्य चिकित्सा न करे, न कराए।[1]

चूर्णिकार ने जिन-कल्पी और स्थविर-कल्पी का उल्लेख नही किया है। उन्होने सामान्यत बताया है कि मुनि न तो स्वय चिकित्सा करे और न वैद्यो के द्वारा कराए। श्रामण्य का पालन नीरोग अवस्था में किया जा सकता है, यह बात अवश्य ही महत्त्वपूर्ण है, किन्तु इसमे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मुनि रोगी होने पर भी सावद्य क्रिया का सेवन नही करता। यही उसका श्रामण्य है।[2] विशेष जानकारी के लिए देखें—दसवेआलियं (भाग २), ३१४ टिप्पण सख्या २९।

श्लोक ३९

२०-(अणुक्कसाई अप्पिच्छे [क], अन्नाएसी [ख]) :

'अणुक्कसाई'—चूर्णिकार ने इसका अर्थ 'अल्प कषाय वाला' किया है।[3] शान्त्याचार्य ने इसका मुख्य अर्थ 'अनुत्कशायी-सत्कार आदि के लिए उत्कण्ठित न रहने वाला' किया है और वैकल्पिक अर्थ—'अणु-कषायी-सत्कार आदि न करने वालो पर क्रोध नही करने वाला तथा सत्कार होने पर अभिमान नही करने वाला' किया है।[4] नेमिचन्द्र भी इसी का अनुसरण करते हैं।[5]

१-बृहद् वृत्ति, पत्र १२०
जिनकल्पिकाद्यपेक्ष चैतत्, स्थविरकल्पापेक्षया तु 'ज न कुज्जा' इत्यादौ सावद्यमिति गम्यते, अयमत्र भाव —यस्मात्करणादिभि सावद्यपरिहार एव श्रामण्य, सावद्या च प्रायश्चिकित्सा, ततस्ता नाभिनन्देत्।

२-उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ७७
पदुप्पन्नेसु तत्प्रतिकाराद्यौद्यम न कुर्वीत, तत्रमत्रयोगलेपादिभि स्वय करण, न स्नेहविरेचनादिना स्वय करोति, कारापण तु वैद्यादिभि, शक्य हि नीरोगेण श्रामण्य कर्त्तु, यस्तु रोगवानपि न सावद्यक्रियामारभते त प्रतीत्योच्यते—एय खु तस्स सामन्न।

३-वही पृ० ८१
अणुकसायी' अणुशब्द स्तोकार्ये अणवो यस्य, कषयन्तीति कषाया क्रोधाद्या।

४-बृहद् वृत्ति, पत्र १२४
उत्कषित सत्कारादिषु येन इत्येव शील उत्कशायी न तथा अनुत्कशायी, यद्वा प्राकृतत्वादणुकषायो 'सर्वधनादित्वादि'नि, क्रोधे —न सत्कारादिकमकुर्वते कुप्यति, तत्सम्पत्तौ वा नाहङ्कारवान् भवति।

५-सुखबोधा, पत्र ८९।

१५।१६ की टीका में शान्त्याचार्य ने इसके दो सस्कृत रूप दिए है। वहाँ 'अनुत्कशायी' के स्थान पर 'अनुत्कषायी' माना है। (१) अणुकषायी—अल्प कषाय वाला। (२) अनुत्कषायी— जिसके कषाय प्रबल न हों।[१]

'अप्पिच्छे'—अल्पेच्छ—अल्प इच्छा वाला। जो मुनि धर्मोपकरण के अतिरिक्त कुछ भी पाने की अभिलाषा नहीं करता, सत्कार-पूजा आदि की वाञ्छा नही करता, वह 'अल्पेच्छ' कहलाता है।[२] शान्त्याचार्य ने इसके दो अर्थ किए है—(१) थोडी इच्छा वाला (२) इच्छा रहित—निरीह।[३]

'अन्नाएसी'—जो अज्ञात रहकर—तप, जाति आदि का परिचय दिए बिना आहार की एषणा करता है, उसे 'अज्ञातैषी' कहा जाता है। अपरिचित कुलो से एषणा करने वाला भी 'अज्ञातैषी' कहलाता है।[४] मनुस्मृति में भी भोजन के लिए कुल-गोत्र का परिचय देने वाले ब्राह्मण को 'वान्ताशी' कहा है।[५]

श्लोक ४३

२१-(उवहाण, [क] पडिम [ख]) :

उवहाण—आगम-पठन के समय निश्चित विधि के अनुसार जो तप किया जाता है उसका नाम उपधान है।[६]

आगमो के अध्ययन-काल में आचाम्ल (आयबिल) आदि तपस्या करने की परम्परा रही है।[७] प्रत्येक आगम के लिए तपस्या के दिन निश्चित किए हुए है। विशेष जानकारी के लिए देखें—आचार दिनकर, विभाग १, योगोद्वहनविधि, पत्र ८६-११०।

११।१४ में उपधान करने वाले के लिए 'उवहाणव' (उपधानवान्) का प्रयोग मिलता है।

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ४२० :
अणव—स्वल्पा सञ्ज्वलननामान इति यावत् कषाया—क्रोधादयो यस्येति 'सर्वधनादित्वादि'नि प्रत्ययेऽणुकषायी, प्राकृतत्वात्सूत्रे ककारस्य द्वित्व, यद्वा उत्कषायी—प्रबलकषायी न तथाऽनुत्कषायी।

२—सुखबोधा, पत्र ४९
'अल्पेच्छ' धर्मोपकरणप्राप्तिमात्राभिलाषी, न सत्काराद्याकाक्षी।

३—बृहद् वृत्ति, पत्र १२५।

४-(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ८१
'अज्ञातैषी' न ज्ञापयत्यहमेवभूत पूर्वमासीत्, न वा क्षपको बहुश्रुतो वेति।

(ख) वही, पृ० २३५
अज्ञातमज्ञातेन एषते—भिक्षते असौ अज्ञातैषी, निश्रादिरहित इत्यर्थ।

(ग) बृहद् वृत्ति, पत्र ४१४
अज्ञात—तपस्वितादिभिर्गुणैरनवगत एषयते—ग्रासादिक गवेषयतीत्येवशीलोऽज्ञातैषी।

५-मनुस्मृति, ३।१०९
न भोजनार्थं स्वे विप्र कुलगोत्रे निवेदयेत्।
भोजनार्थं हि ते शसन्वान्ताशीत्युच्यते बुधै॥

६—बृहद् वृत्ति, पत्र १२८
उपधानम्—आगमोपचाररूपमाचाम्लादि।

७—वही, पत्र ३४७
उपधानम्—अङ्गानङ्गाध्ययनादौ यथायोगमाचाम्लादितपोविशेष।

पडिम—प्रतिमा का अर्थ कायोत्सर्ग है।[1] चूर्णि और बृहद् वृत्ति में इसका अर्थ मासिकी आदि भिक्षु-प्रतिमा किया है।[2]

किन्तु यह सांकेतिक है। वस्तुतः प्रतिमा शब्द स्थान मुद्रा का सूचक है। बैठी या खडी प्रतिमा की तरह स्थिरता से बैठने या खडे रहने को प्रतिमा कहा गया है। प्रतिमाओ में उपवास आदि की अपेक्षा कायोत्सर्ग व आसनो की प्रधानता होती है। इसलिए उनका नाम उपवास प्रधान न होकर कायोत्सर्ग प्रधान है। वे बारह हैं। विशेष जानकारी के लिए देखें—दशाश्रुतस्कन्ध, दशा ७।

श्लोक ४४

२२–ऋद्धि (इड्ढी ख):

यहाँ ऋद्धि का अर्थ है—तपस्या आदि से उत्पन्न होने वाली विशेष शक्ति-योगज विभूति।[3] पातञ्जलयोग दर्शन के विभूति-पाद में जैसे योगज विभूतियो का वर्णन है वैसे ही जैन-आगमो में तपोजनित ऋद्धियो का वर्णन मिलता है।[4] शान्त्याचार्य ने इस प्रसग पर दो श्लोक उद्धृत किए हैं—

पादरजसा प्रशमनं सर्वरुजां साधवः क्षणात्कुर्युः।
त्रिभुवनविस्मयजननान् दद्युः कामांस्तृणाग्राद्वा॥
धर्माद्रत्नोन्मिश्रितकाञ्चनवर्षाविसर्गसामर्थ्यम्।
अद्भुतमीमोरुशिलासहस्रसम्पातशक्तिश्च॥[5]

१–मूलाराधना दर्पण, ८।२०७१
पडिमा कायोत्सर्ग।
२–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ८५
पडिमा नाम मासिकादिना।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र १०८।
३–बृहद् वृत्ति, पत्र १३१
'ऋद्धिर्वा' तपोमाहात्म्यरूपा सा च आमर्शौषध्यादि।
४–औपपातिक, सूत्र २४।
५–बृहद् वृत्ति, पत्र १३१।

अध्ययन ३

श्लोक ४

१–(खत्तिओ [क], चण्डाल-वोक्कसो [ख]) :

इस श्लोक में आए हुए तीन शब्द—क्षत्रिय, चाण्डाल और बुक्कस— सग्राहक हैं। क्षत्रिय शब्द से वैश्य, ब्राह्मण आदि उत्तम जातियो, चाण्डाल शब्द से निषाद, श्वपच आदि नीच जातियो और बुक्कस शब्द से सूत, वैदेह, आयोगव आदि सकीर्ण जातियो का ग्रहण किया गया है।[१]

'खत्तिओ'—जैन और बौद्ध परम्परा में क्षत्रिय का स्थान सर्वोच्च रहा है। कल्प-सूत्र में ब्राह्मणों की गिनती भिक्षुक या तुच्छ-कुल में की है। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि शलाका पुरुष ब्राह्मण कुल में उत्पन्न नहीं होते। दीघनिकाय[२] और निदान[३] कथा के अनुसार क्षत्रियो का स्थान ब्राह्मणो से ऊँचा है।

'चण्डाल'—इसके दो अर्थ किए गए हैं—(१) मातग और (२) शूद्र से ब्राह्मण स्त्री में उत्पन्न व्यक्ति।[४] उत्तरवर्ती वैदिक-साहित्य के अनुसार चण्डाल अनार्य वर्ग की एक जाति है। वह ऋग्वेद के समय के पश्चात् आर्यों को गगा के पूरब में मिली थी।[५]

मनुस्मृति (१०।५१, ५२) में चण्डाल के कर्त्तव्यो का विवरण प्रस्तुत करते हुए कहा है—

चण्डालश्वपचाना तु बहिर्ग्रामात्प्रतिश्रय ।
अपपात्राश्च कर्तव्या धनमेषा श्वगर्दभम् ॥
वासासि मृतचेलानि भिन्नभाण्डेषु भोजनम् ।
कार्ष्णायसमलकार परिवर्ज्या च नित्यश ॥

'वोक्कसो'— इसके सस्कृत रूप चार मिलते है—बुक्कस, पुष्कस, पुक्कस और पुल्कस।

बुक्कस—श्मशान पर कार्य करने वाले बुक्कस कहलाते है।[६]

पुष्कस —जो मरे हुए कुत्तों को उठाकर बाहर फेंकते है, उन्हें पुष्कस कहा जाता है।[७]

पुक्कस—चाण्डाल और पुक्कस—पर्यायवाची ही माने गए हैं।[८]

पुल्कस—भगी।[९]

१–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ९६।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र १८२, १८३
इह च क्षत्रियग्रहणादुत्तमजातय चण्डालग्रहणान्नीचजातयो बुक्कसग्रहणाच्च सकीर्णजातय उपलक्षिता ।
(ग) मनुस्मृति, १०।२५, २६, ४८।
२–दीघनिकाय, ३।१।२४, २६।
३–निदान कथा, १।४९।
४–सुखबोधा, पत्र ६७
'चाण्डाल:' मातङ्ग: यदि वा शूद्रेण ब्राह्मण्या जातश्चाण्डाल ।
५–हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता, पृ० ३४।
६–अभिधान चिन्तामणि, ३।५९७।
७–वही, ३।५९७।
८–वही, श्लो० ८२
समो चाण्डालपुक्सौ।
९–महाभारत, शान्तिपर्व १८०।३८।

मनुस्मृति में विभिन्न वर्णों के कार्यों का विवरण दिया गया है। उसके अनुसार 'पुक्कस' का कार्य बिलों में रहने वाले गोह आदि को मारना या बाँधना है।[1] अभिधानप्पदीपिका में 'पुक्कस' का अर्थ फूल तोड़ने वाला किया गया है।[2]

चूर्णिकार और टीकाकार इसका अर्थ 'वर्णान्तरजन्मा' करते हैं। जैसे—ब्राह्मण से शूद्र स्त्री में उत्पन्न प्राणी निषाद, ब्राह्मण से वैश्य स्त्री में उत्पन्न प्राणी अम्बष्ठ और निषाद से अम्बष्ठ स्त्री में उत्पन्न प्राणी बोक्कस कहलाता है।[3] कौटिल्य अर्थशास्त्र और मनुस्मृति में इससे भिन्न मत का उल्लेख है। मनुस्मृति में बताया गया है कि ब्राह्मण से वैश्य कन्या में उत्पन्न अम्बष्ठ और ब्राह्मण से शूद्र कन्या में उत्पन्न निषाद कहलाता है। उसको पारशव भी कहते हैं।[4] कौटिल्य अर्थशास्त्र (पृष्ठ १६५, १६६) में 'पुक्कस' का अर्थ निषाद से उग्री में उत्पन्न पुत्र और मनुस्मृति में निषाद से शूद्रा में उत्पन्न पुत्र किया गया है।[5] महाभारत[6] में चाण्डाल और पुल्कस का एक साथ प्रयोग मिलता है। 'पुल्कस' का प्राकृत रूप 'बुक्कस' हो सकता है। पुल्कस और चाण्डाल अर्थात् भंगी और चाण्डाल।

श्लोक ५

२–(आवट्ट-जोणीसु क, कम्म-किब्बिसा ख, सव्वट्ठेसु व खत्तिया घ):

'आवट्ट-जोणीसु'—आवर्त्त-योनि—योनिचक्र। जीवों के उत्पत्ति स्थान को 'योनि' कहते हैं। वे ८४ लाख हैं। अनादिकाल से जीव इन योनियों में जन्म-मरण करता रहा है। जन्म-मरण का यह आवर्त्त है।[7]

'कम्म-किब्बिसा'—कर्मों से मलिन अथवा जिनके कर्म मलिन हों, वे कर्म-किल्बिष कहलाते हैं। कर्म दो प्रकार के होते हैं—शुभानुबन्धी और अशुभानुबन्धी। जिनके अशुभानुबन्धी कर्म होते हैं वे 'कर्म-किल्बिष' होते हैं।[8]

१–मनुस्मृति, १०।४९
क्षत्त्रुग्रपुक्कसानां तु बिलौकोवधबन्धनम् ।

२–अभिधानप्पदीपिका, पृ० ५०८
पुक्कुसो पुप्फछड्डको ।

३–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ९६
पुक्कसो वर्णान्तरभेद, यथा बंभणेण सुद्दीए जातो णिसादोत्ति वुच्चति, बंभणेण वेसीते जातो अबट्ठेत्ति वुच्चति, तत्थ णिसाएण अबट्ठीए जातो सो बोक्कसो भवति ।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र १८२ ।
(ग) सुखबोधा, पत्र ६७ ।

४–मनुस्मृति, १०।८
ब्राह्मणाद् वैश्य कन्यायामम्बष्ठो नाम जायते ।
निषादः शूद्रकन्यायां, यः पारशव उच्यते ॥

५–वही, १०।१८
जातो निषादाच्छूद्रायां जात्या भवति पुक्कसः ।

६–महाभारत, शान्तिपर्व, १८०।३८
न पुल्कसो न चाण्डाल, आत्मानं त्यक्तुमिच्छति ।
तया तुष्टः स्वया योन्या, मायां पश्यस्व यादृशीम् ॥

७–सुखबोधा, पत्र ६८
आवर्त्त—परिवर्त्तः तत्प्रधाना योनयः—चतुरशीतिलक्षप्रमाणानि जीवोत्पत्तिस्थानानि आवर्त्तयोनयस्तासु ।

८–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ९७
'कम्मकिब्बिसा' इति कम्मेहिं किब्बिसा कम्मकिब्बिसा, कर्माणि तेषां किल्बिषाणि कर्मकिल्बिषा ।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र १८३
कर्मणा—उक्तरूपेण किल्बिषा—अधमाः कर्मकिल्बिषाः, प्राकृतत्वाद्वा पूर्वापरनिपातः, किल्बिषाणि—क्लिष्टतया निरन्तरानुबन्धीनि कर्माणि येषां ते किल्बिषकर्माणः ।

'सव्वट्ठेसु व खत्तिया'—जिस प्रकार राजा आदि सर्वार्थ-मानवीय काम-भोगों को भोगते हुए उन्ही में आसक्त हो जाते हैं, उसी प्रकार ससार में पुन-पुन जन्म-मरण करते हुए भवाभिनन्दी व्यक्ति उसी में (ससार में) आसक्त हो जाते है ।

श्लोक ८

३–(तवं खन्तिमहिंसयं घ) :

इस चरण में 'तप' के द्वारा तपस्या के बारह भेदों का, 'खंति' के द्वारा दस-विध श्रमण-धर्म और 'अहिंसा' के द्वारा पाँच महाव्रतों का ग्रहग किया गया है, ऐसा सभी व्याख्याकारों का मत है ।[1]

श्लोक ९

४–(नेआउयं ग, बहवे परिभस्सई घ) :

'नेआउयं'—चूर्णिकार ने इसका अर्थ ले जाने वाला किया है ।[2] टीका में इसका अर्थ न्यायोपपन्न किया गया है ।[3] डॉ० ल्यूमेन ने औपपातिक सूत्र में तथा डॉ० पिशल, डॉ० हरमन जेकोबी आदि ने इसका अर्थ न्यायोपपन्न किया है ।[4]

बौद्ध-साहित्य में नैर्यानिक का अर्थ दु खक्षय की ओर ले जाने वाला, पार ले जाने वाला किया गया है ।[5] चूर्णिकार के अर्थ का इससे निकट का सम्बन्ध है ।

इस अर्थ के आधार पर 'नेआउय' का सस्कृत रूप नैर्यातृक होना चाहिए ।

नैर्यातृक के प्राकृत रूप 'नेआइय' और 'नेआउय' दोनो बन सकते है । सूत्रकृताग चूर्णि में ये दोनों प्रयुक्त हुए हैं । वहाँ इनका अर्थ मोक्ष की ओर ले जाने वाला किया गया है ।[6]

'बहवे परिभस्सई'—इस पद में चूर्णिकार और शान्त्याचार्य ने जमाली आदि निह्नवो का उल्लेख किया है ।[7] ये सभी निह्नव कुछ एक शकाओ को लेकर नैर्यातृक-मार्ग—निर्ग्रन्थ प्रवचन से भ्रष्ट हो गए थे—दूर हो गए थे ।

नेमिचन्द्र ने सातो निह्नवों का विवरण उद्धृत किया है ।[8] वह आवश्यक निर्युक्ति में भी उपलब्ध है ।[9] डॉ० ल्यूमेन ने *Indischen*

१–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ९८ ।
  (ख) बृहद् वृत्ति, पत्र १८४ ।
२–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ९८, १९२
  नयनशीलो नैयायिक ।
३–बृहद् वृत्ति, पत्र १८५
  नैयायिक , न्यायोपपन्न इत्यर्थ ।
४–देखे—उत्तराध्ययन चार्ल सरपेन्टियर, पृ० २९२ ।
५–बुद्धचर्या, पृ० ४६७, ४८९ ।
६–(क) सूत्रकृताग चूर्णि, पृ० ४५७
  नयनशीलो नेयाइओ मोक्ष नयतीत्यर्थ ।
  (ख) वही, पृ० ४५५
  मोक्ख णयणशीलो णेयाउओ ।
७–(क) उत्तराध्ययन, चूर्णि, पृ० ९८ ।
  (ख) बृहद् वृत्ति, पत्र १८५ ।
८–सुखबोधा, पत्र ६९-७५ ।
९–आवश्यक निर्युक्ति, मलयगिरि वृत्ति, पत्र ४०१ ।

Studien, vol XXII pp 91-135 में निह्नवों का विवरण सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। डॉ० हरमन जेकोबी ने अपने अन्वेषणात्मक निबन्ध—'श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति'—में भी इस विवरण का उपयोग किया है।

श्लोक १२

५—(निव्वाण ग, घय-सित्त घ) :

'निव्वाण'—चूर्णि में इसका अर्थ मुक्ति है।[1] शान्त्याचार्य ने इसके दो अर्थ किए हैं—(१) स्वास्थ्य और (२) जीवन्मुक्ति। स्वास्थ्य का अर्थ है अपने आपमें अवस्थिति, आत्म-रमण। जिस व्यक्ति का जीवन धर्मानुगत होता है उसमें आत्म-रमण की स्थिति सहज हो जाती है। यही सही अर्थ में स्वास्थ्य है। आत्म-रमण की अवस्था सहजानन्द की अवस्था है। उसमें सुख निरन्तर बढ़ता रहता है। आगम के अनुसार एक मास की पर्याय वाला श्रमण व्यन्तरदेवों की तेजोलेश्या का अतिक्रमण कर जाता है। स्वस्थ श्रमण चक्रवर्ती के सुखों को भी लाँघ जाता है। यह परम-सुख की अनुभूति आत्म-सापेक्ष होती है यही स्वास्थ्य या निर्वाण है।[2] जीवन्मुक्ति का अर्थ है इसी जीवन में मुक्ति।[3]

शान्त्याचार्य ने यहाँ 'प्रशमरति' का एक श्लोक उद्धृत किया है—

> **निर्जितमदमदनाना, वाक्कायमनोविकाररहितानाम्।**
> **विनिवृत्तपराशानामिहैवमोक्ष सुविहितानाम्॥२३८॥**

नेमिचन्द्र ने इस शब्द का अर्थ जीवन्मुक्ति किया है और मुनि सुख की अर्घ्यता को लक्ष्यकर एक दूसरा श्लोक भी उद्धृत किया है[4]—

> **तणसंथारनिवन्नो वि, मुणिवरो भट्ठरायमयमोहो।**
> **ज पावइ मुत्तिसुह, कत्तो त चक्कवट्टी वि॥**

नागार्जुनीय परम्परा में यह श्लोक भिन्न रूप में मिलता है, ऐसा चूर्णिकार[5] और शान्त्याचार्य[6] ने उल्लेख किया है—

> **चउद्धा सपय लद्धु, इहेव ताव भायते।**
> **तेयते तेजसपन्ने, घयसित्तेव पावए॥**

'घय-सित्त'—पलाल, उपल आदि के द्वारा अग्नि उतनी दीप्त नहीं होती जितनी कि वह घृत के सिंचन से होती है, इसलिए यहाँ घृत-सिक्त की उपमा को प्रधानता दी है।[7]

यहाँ निर्वाण की तुलना घृत-सिक्त अग्नि से की गई है। घृत से अग्नि प्रज्वलित होती है, बुझती नहीं, इसलिए निर्वाण का अर्थ 'मुक्ति' ही होगा 'दीप्ति अग्नि उपशम' न। मुक्ति, स्वास्थ्य या जीवमुक्ति—ये सभी चेतना की प्रज्वलित—तेजोमय अवस्था के नाम हैं। इस दृष्टि को सामने रखकर निर्वाण का अर्थ में कोई भी अर्थ किया जा सकता है। किन्तु उसका अर्थ 'बुझना' उपमा के साथ सामंजस्य नहीं रखता।

१—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ९९
निर्वृत्ति —निर्वाणम्।

२—बृहद् वृत्ति, पत्र १८५, १८६
निर्वाणं निर्वृतिर्निर्वाणं स्वास्थ्यमित्यर्थः 'परम' प्रकृष्टम 'एगमासपरियाए समणे वंतरियाण तेयलेस वीईवयति' इत्याद्यागमेनोक्त 'नैवास्ति राजराजस्य तत्सुख' मित्यादिना च वाचकवचनेनानूदितम्।

३—बृहद् वृत्ति पत्र १८६
यद्वा निर्वाणमिति जीवमुक्तिम्।

४—सुखबोधा पत्र ८६।

५—उत्तराध्ययन चूर्णि पृ० ९९।

६—बृहद् वृत्ति पत्र १८६।

७—उत्तराध्ययन चूर्णि पृ० ९९
तत्तु पलालकरीषादिभिरिन्धनविशेषैरिध्यमानो न तथा दीप्यते यथा घृतेनेत्यतोऽनुमानात ज्ञायते यथा घृतेनाभिषिक्तोऽग्नि नास्ति।

श्लोक १४

५–(जक्खा ख, महासुक्का ग):

'जक्खा'—यक्ष। यक्ष शब्द 'यज्' धातु से बना है।[1] पहले इसका अर्थ देव था। उत्तरवर्ती साहित्य में इसका अपकर्ष हो गया और यह निम्न कोटि की देवजाति के लिए व्यवहृत होने लगा।

'महासुक्का'—चन्द्र, सूर्य आदि अतिशय उज्ज्वल प्रभा वाले होते हैं इसलिए उन्हें महाशुक्ल कहा गया है।[2] 'सुक्क' का संस्कृत रूप शुक्र भी हो सकता है। उसका एक अर्थ अग्नि भी है। यह मान लेने पर इसका अर्थ होगा—महान् अग्नि।

श्लोक १५

६–(कामरूव-विउव्विणो ख, पुव्वा वाससया बहू घ):

'कामरूव-विउव्विणो'—का अर्थ है—इच्छानुसार रूप करने में समर्थ, आठ प्रकार के ऐश्वर्य से युक्त।[3] तत्त्वार्थवार्तिक में एक साथ अनेक आकार वाले रूप-निर्माण की शक्ति को कामरूपीत्व कहा है।[4] चूर्णिकार ने इसका सस्कृत रूप 'कामरूपविकुर्विण' और शान्त्याचार्य तथा नेमिचन्द्र ने 'कामरूपविकरणा' दिया है।[5] 'विकुर्विण' प्राकृत का ही अनुकरण है।

'पुव्वा वाससया बहू'—८४ लाख को ८४ लाख से गुणन करने पर जो सख्या प्राप्त होती है उसे पूर्व कहा जाता है। सत्तर लाख छप्पन हजार करोड वर्षों—७०५६००००००००००—को पूर्व कहा जाता है। बहु अर्थात् असख्य। असख्य पूर्व या असख्य सौ वर्षों तक। इसका तात्पर्य है पल्योपम के असख्यातवें भाग तक। देवो की कम से कम इतनी स्थिति तो होती ही है। मुनि पूर्वजीवी या शतवर्षजीवी होते है इसलिए उन्हीं के द्वारा उनका माप बतलाया गया है।[6]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र १८७
इज्यन्ते पूज्यन्त इति यक्षा।

२–वही, पत्र १८७
'महाशुक्ला' अतिशयोज्ज्वलतया चन्द्रादित्यादय।

३–(क) सुखबोधा, पत्र ७७
'कामरूपविकरणा' यथेष्टरूपादिनिर्वर्त्तनशक्तिसमन्विता।
(ख) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १०१
अष्टप्रकारैश्वर्ययुक्ता इत्यर्थ।

४–तत्त्वार्थवार्तिक ३।३६, पृ० २०३
युगपदनेकाकाररूपविकरणशक्ति कामरूपित्वमिति।

५–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १०१
काम्यते कमनीया वा कामा, रोचते रोचयति वा रूप, कामतो रूपाणि विकुर्वितु शील येषा ते इमे कामरूपविकुर्विण।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र १८७
'कामरूवविउव्विणो' त्ति सूत्रत्वात्कामरूपविकरणा।
(ग) सुखबोधा, पत्र ७७।

६–बृहद् वृत्ति, पत्र १८७
पूर्वाणि—वर्षसप्ततिकोटिलक्ष-षट्पचाशत्कोटिसहस्र-परिमितानि बहूनि, जघन्यतोऽपि पल्योपमस्थितित्वात्, तत्रापि च तेषा-मसङ्ख्येयानामेव सम्भवात्, एव वर्षशतान्यपि बहूनि, पूर्ववर्षशतायुषामेव चरणयोग्यत्वेन विशेषतो देशनौचित्यमिति ख्यापनार्थ-मित्यमुपन्यास इति।

श्लोक १६, १७, १८

७—श्लोक १६, १७, १८ :

दस अंग इस प्रकार हैं—

(१) चार काम-स्कन्ध।
(२) मित्रवान्।
(३) ज्ञातिमान्।
(४) उच्चगोत्र।
(५) वर्णवान्।
(६) नीरोग।
(७) महाप्राज्ञ।
(८) विनीत।
(९) यशस्वी।
(१०) सामर्थ्यवान्।

चार काम-स्कन्धों का निरूपण सतरहवें श्लोक में और शेष नौ अंगों का उल्लेख अठारहवें श्लोक में है।

'चत्तारि काम-खंधाणि'— 'काम-स्कंध' का अर्थ है—मनोज्ञ शब्दादि के हेतुभूत पुद्गल समूह अथवा विलास के हेतुभूत पुद्गल समूह। वे चार हैं—

(१) क्षेत्र—वास्तु।
(२) हिरण्य।
(३) पशु।
(४) दास पौरुषेय।

'खेत्त'—क्षेत्र। क्षेत्र शब्द 'क्षि' धातु से बना है। उस धातु के दो अर्थ हैं—निवास और गति। जिसमें रहा जाए उसको क्षेत्र कहा जाता है। इस व्युत्पत्ति से नगर ग्राम आराम आदि क्षेत्र कहलाते हैं।[1] जहाँ अनाज उत्पन्न होता है, वह भी क्षेत्र कहलाता है। उसके तीन प्रकार हैं[2]—

उनकी व्याख्या के अनुसार—भूमिगृह को सेतु, ऊँचे प्रासाद को केतु और उभयगृह (भूमिगृह के ऊपर के प्रासाद) को सेतु-केतु कहा जाता है।[1] यही अर्थ खात, उच्छ्रित और खातोच्छ्रित का है।

शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने दूसरे विकल्प का उल्लेख किया है। अर्थ में तीनों एक मत है।[2]

'दास-पोरुष'— दास का अर्थ है—खरीदा हुआ और मालिक की सम्पत्ति समझा जाने वाला व्यक्ति—गुलाम। उसके जीवन पर स्वामी का पूर्ण अधिकार होता था। अपनी जन्म-जात दास्य-स्थिति को बदलना उसके वश में नहीं होता था और न वह सम्पत्ति का स्वामी हो सकता था। दास और नौकर-चाकर में यही अंतर है कि नौकर-चाकर पर स्वामी का पूर्ण अधिकार नहीं होता, वह स्वामी की सम्पत्ति नहीं समझा जाता और वह अनिश्चित काल के लिए वेतन पर रखा जाता है।

निशीथ चूर्णि में छह प्रकार के दास बतलाए गए हैं—

(१) परम्परागत।
(२) खरीदकर बनाया हुआ।
(३) कर्ज न चुकाने पर निगृहीत किया हुआ।
(४) दुर्भिक्ष आदि होने पर भोजन आदि के लिए जिसने दासत्व ग्रहण किया हो।
(५) किसी अपराध के कारण जुर्माना न देने पर राजा द्वारा जो दास बनाया गया हो।
(६) बन्दी बनाकर जो दास बनाया गया हो।[3]

मनुस्मृति में सात प्रकार के दास बतलाए गए हैं—

(१) ध्वजाहृत दास— संग्राम में पराजित दास।
(२) भक्त दास— भोजन आदि के लिए दास बना हुआ।
(३) गृहज दास— अपनी दासी से उत्पन्न दास।
(४) क्रीत दास— खरीदा हुआ दास।
(५) दत्रिम दास— किसी द्वारा दिया हुआ दास।
(६) पैतृक दास— पैतृक धन रूप में प्राप्त दास।
(७) दण्ड दास— ऋण निर्यातन के लिए बना हुआ दास।[4]

मनुस्मृति में यह भी कहा गया है कि दास 'अधन' होते हैं। वे जो धन एकत्रित करते हैं वह उनका हो जाता है जिनके वे दास हैं।[5]

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १०१
वत्थुपि सेतु भूमिघरादि, केतु यदभ्युच्छ्रित प्रासादाद्य, उभयथा गृह सेतुकेतु भवति, अथवा वत्थु खाय ऊसिय खातूसिय, खात भूमिघर ऊसित पासाओ खातूसित भूमिघरोवरि पासादो।

२–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र १८८
तथा वसन्त्यस्मिन्निति वास्तु—खातोच्छ्रितोभयात्मकम्।
(ख) सुखबोधा, पत्र ७७।

३–निशीथ चूर्णि, पृ० ११।

४–मनुस्मृति, ८।४१५
ध्वजाहृतो भक्तदासो, गृहज क्रीतदत्रिमौ।
पैत्रिको दण्डदासश्च, सप्तैते दासयोनय॥

५–वही, ८।४१६
भार्या पुत्रश्च दासश्च, त्रय एवाधना स्मृताः।
यत्ते समधिगच्छन्ति, यस्य ते तस्य तद्धनम्॥

निशीथ-चूर्णि और मनुस्मृति की दास-सूची सदृश है। मनुस्मृति में केवल दत्रिम दास का विशेष उल्लेख हुआ है।

याज्ञवल्क्य स्मृति के टीकाकार विज्ञानेश्वर ने पन्द्रह प्रकार के दास बतलाए है—उनमें मनुस्मृति में कथित प्रकार तो हैं ही, साथ मे जुए में जीते हुए, अपने आप मिले हुए, दुर्भिक्ष के समय बचाए हुए आदि-आदि अधिक हैं।[1]

सूत्रकार ने 'दास-पोरुष' को काम-स्कन्ध—धन-सम्पत्ति माना है। दास-पोरुष शब्द से यह पता चलता है कि उस समय 'दास-प्रथा' बहुत प्रचलित थी। टीकाकारों ने दास का अर्थ पोष्य या प्रेष्य वर्ग और पौरुषेय का अर्थ पदाति समूह किया है।[2]

अंग्रेजी मे भी दो शब्द है Slave और Servant। ये दोनो दास और नौकर के पर्यायवाची है।

जैन साहित्य के अनुसार बाह्य-परिग्रह के दस भेद है। उनमें 'द्विपद' अर्थात् दो पैर वाले दास-दासियो को भी बाह्य-परिग्रह माना गया है।

कौटिलीय अर्थशास्त्र मे गुलाम के लिए 'दास' और नौकर के लिए 'कर्मकर' शब्दो का व्यवहार किया गया है। इसमे दासकल्प नाम का एक अध्याय है।[3]

अनगारधर्मामृत की टीका मे पण्डित आशाधरजी ने 'दास' शब्द का अर्थ—खरीदा हुआ कर्मकर किया है।[4]

आजकल लोगो की धारणा है कि 'दास' शब्द का अर्थ क्रूर और जंगली लोग है। पर 'दास' शब्द का मूल अर्थ यह नही जान पड़ता। दास का अर्थ दाता (जिसे अंग्रेजी मे Noble कहते है) रहा होगा।[5] ऋग्वेद की कई ऋचाओ से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'सप्त-सिन्धु' पर दासो का अधिकार था।[6] जान पड़ता है कि दास लोग राजपूतो की तरह शूर थे। नमुचि, शबर आदि दास बडे शूरवीर थे।[7]

इस दास पूर्व जाति पर आधुनिक अनुसन्धाताओ ने बहुत प्रकाश डाला है।

*

अध्ययन ४
असंखयं

श्लोक २

१–(पावकम्मेहि क, पास ग, वेराणुबद्धा घ) :

'पावकम्मेहि'—चूर्णि में पाप-कर्म का अर्थ—हिंसा, अनृत, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रह आदि कर्म— किया है।[1] शान्त्याचार्य ने इसका अर्थ 'पाप के उपादान-भूत अनुष्ठान'[2] और नेमिचन्द्र ने 'कृषि, वाणिज्य आदि अनुष्ठान'[3] किया है।

'पास'—चूर्णि और बृहद् वृत्ति में 'पास' का अर्थ—पश्य 'देख' किया गया है।[4] नेमिचन्द्र ने इसे 'पाश' शब्द माना है।[5] उन्होंने दो प्राचीन श्लोक उद्धृत किए हैं—

वारी गयाण जालं तिमीण हरिणाण वगुरा चेव।
पासा य सउणयाण, णराण बंधत्थमित्थीओ ॥१॥
उन्नयमाणा अक्खलिय-परक्कमा पंडिया कई जे य।
महिलाहि अंगुलीए, नच्चाविज्जंति ते वि नरा ॥२॥

अर्थात् हाथी के लिए वारि—श्रृंखला, मछलियों के लिए जाल, हिरणों के लिए वागुरा और पक्षियों के लिए पाश जैसे बन्धन हैं, उसी प्रकार मनुष्यों के लिए स्त्रियाँ बन्धन है। उन्नत और अस्खलित पराक्रम वाले पण्डित और कवि भी महिलाओं की अंगुलियों के संकेत पर नाचते हैं।

'वेराणुबद्धा'—'वेरे वज्जे य कम्मे य'—इस वचन के अनुसार वेर के दो अर्थ होते हैं—वज्र और कर्म। यहाँ इसका अर्थ कर्म है। शान्त्याचार्य के अनुसार 'वेराणुबद्ध' का अर्थ 'कर्म से बद्ध'[6] और नेमिचन्द्र के अनुसार 'पाप से बद्ध'[7] होता है।

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ११०
पातयते तमिति पापं, क्रियत इति कर्म, कर्म्माणि हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहादीनि।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र २०६
'पापकर्मभि' इति पापोपादानहेतुभिरनुष्ठानैः।

३–सुखबोधा, पत्र ८०
'पापकर्मभि' कृषिवाणिज्यादिभि अनुष्ठानैः।

४–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ११०
पस्सत्ति श्रोतुरामन्त्रणम्।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र २०६
'पश्य' अवलोकय।

५–सुखबोधा, पत्र ८०
पाशा इव पाशा।

६–बृहद् वृत्ति, पत्र २०६
वैरं—कर्म्म तेन अनुबद्धा —सततमनुगता।

७–सुखबोधा, पत्र ८०
वैरानुबद्धा —पापेन सततमनुगता।

श्लोक ३

२—सेंध लगाते हुए (सधि-मुहे [क]) :

इसका शाब्दिक अर्थ है—सेंध के द्वार पर।[1] चूर्णिकार और टीकाकारों ने अनेक प्रकार की सेंध बतलाई हैं—कलशाकृति, नन्द्यावर्ताकृति, पद्माकृति, पुरुषाकृति आदि-आदि।[2]

शूद्रक द्वारा लिखित संस्कृत नाटक 'मृच्छकटिक' (३।१३) में सात प्रकार की सेंध बतलाई गई हैं—पद्म (कमल) के आकार की, सूर्य के आकार की, अर्द्धचन्द्र के आकार की, जलकुंड के आकार की, स्वस्तिक के आकार की, उभरे बर्तन (पूर्णकुम्भ) के आकार की और [illegible]

पदम व्याकोश भास्कर बालचन्द्र,
वापी विस्तीर्ण स्वस्तिक पूर्णकुम्भम् ॥

इस प्रसंग पर चूर्णि (पृष्ठ ११०, १११), बृहद् वृत्ति (पत्र २०७,२०८) और सुखबोधा (पत्र ८१, ८२) में दो कथाओं का उल्लेख हुआ है। उसमें दूसरी कथा की तुलना 'मृच्छकटिक' (३।१३) में आई हुई कथा से होती है। उसमें चारुदत्त की विशाल हवेली की दीवार के निकट खड़ा चोर 'शर्विलक' सोच रहा है—"तरलता से आच्छादित इस भित्ति में सेंध कैसे लगाई जाए ? सेंध देखने के बाद लोग '[illegible]' ऐसी प्रशंसा न करें तो मेरी सेंध लगाने की विशेषता ही क्या हुई ?"

चूर्णि और टीका की दूसरी कथा में भी चोर अपने द्वारा लगाई गई सेंध की प्रशंसा सुनकर हर्षातिरेक से संयम न रखने के कारण पकड़ा गया है। दोनों कथाओं में अपने द्वारा लगाई गई सेंध की प्रशंसा की अभिलाषा का साम्य है।

सरपेन्टियर शान्त्याचार्य के द्वीप परक अर्थ को गलत मानते हैं।[१]

किन्तु शान्त्याचार्य ने निर्युक्तिकार के मत का अनुसरण कर 'दीव' शब्द के सम्भावित दो अर्थों की जानकारी दी है। उनमें प्रस्तुत अर्थ प्रकाश-दीप को ही माना है—अत्र च प्रकाशदीपेनाधिकृतम्।[२]

श्लोक ६

४–(सुत्तेसु क, पडिबुद्ध क, घोरा मुहुत्ता ग) :

'सुत्तेसु'—सुप्त शब्द में उन दोनों का समावेश होता है, जो सोया हुआ हो और जो धर्माचरण के लिए जागृत न हो।[३]

'पडिबुद्ध' —प्रतिबुद्ध शब्द में भी उन दोनों का समावेश होता है, 'जो नींद में न हो' और 'जो धर्माचरण के लिए जागृत हो।'[४]

'घोरा मुहुत्ता'—इन शब्दों द्वारा यह संकेत किया गया है कि प्राणी की आयु अल्प होती है और मृत्यु का काल अनियमित होता है, न जाने वह कब आ जाए और प्राणी को उठा ले जाए।

यहाँ 'मुहूर्त्त' शब्द से समस्त काल का ग्रहण किया गया है। प्राणी की आयु प्रतिपल क्षीण होती है—इस अर्थ में काल प्रतिपल जीवन का अपहरण करता है इसीलिए उसे घोर—रौद्र कहा है।[५]

५–भारण्ड पक्षी (भारुण्ड-पक्खी घ) :

जैन-साहित्य में 'अप्रमत्त अवस्था' को बताने के लिए इस उपमा का प्रयोग अनेक स्थलों में किया गया है।

कल्पसूत्र में भगवान् महावीर को—'भारंड पक्खी इव अप्पमत्ते'—भारंड पक्षी की भांति अप्रमत्त कहा गया है। चूर्णि और टीकाओं के अनुसार ये दो जीव संयुक्त होते हैं। इन दोनों के तीन पैर होते है। बीच का पैर दोनों के लिए सामान्य होता है और एक-एक पैर व्यक्तिगत। वे एक दूसरे के प्रति बड़ी सावधानी बरतते हैं, सतत जागरूक रहते हैं।[६]

छट्ठी शताब्दी की रचना वसुदेवहिण्डी नामक ग्रन्थ (पृ० २४९) में भारंड पक्षी का वर्णन देते हुए लिखा है—ये पक्षी रत्नद्वीप मे आते हैं, इनका शरीर बहुत विशाल होता है और ये बाघ, रीछ आदि विशालकाय जानवरों का मांस खाते हैं।

कल्पसूत्र की किरणावलि टीका में भारंड पक्षी का चित्रण निम्न प्रकार से किया गया है—

द्विजिह्वा द्विमुखाश्चैकोदरा भिन्नफलैषिण।

पचतंत्र के अपरीक्षित कारक में भारंड पक्षी से सम्बन्धित कथा का उल्लेख हुआ है। उसका प्राग्वर्ती श्लोक यह है—

एकोदरा पृथग्ग्रीवा, अन्योन्यफलभक्षिण।
असंहता विनश्यन्ति, भारंडा इव पक्षिण॥

१–The Uttarādhyayana Sūtra, p 295
दीवप्पणट्ठे is a composition of which the two parts have a wrong position one to the other, the word ought to be प्रणष्टदीप But Ś also thinks it possible to explain दीव ° by द्वीप—I think that would give a rather bad sense

२–बृहद् वृत्ति, पत्र २१२।

३–वही, पत्र २१३
सुप्तेषु—द्रव्यत शयानेषु भावतस्तु धर्मं प्रत्यजाग्रत्सु।

४–वही, पत्र २१३
प्रतिबुद्ध—प्रतिबोधः द्रव्यतो जाग्रता भावतस्तु यथावस्थित-वस्तुतत्त्वावगम।

५–सुखबोधा, पत्र ९४
घोरा —रौद्रा सततमपि प्राणिना प्राणापहारित्वात् मुहूर्त्ता —कालविशेषा, दिवसाद्युपलक्षणमेतत्।

६–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ११७।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र २१७।
(ग) सुखबोधा, पत्र ९४।

श्लोक १३

७–जीवन सांधा जा सकता है (संखया क):

चूर्णि में सस्कृत का पहला अर्थ—'सस्कृत वचन वाले अर्थात् सर्वज्ञ के वचन में दोष दिखाने वाले' और दूसरा अर्थ 'सस्कृत बोलने में रुचि रखने वाले' किया गया है।[1] शान्त्याचार्य ने इसका एक अर्थ—'सस्कृत सिद्धान्त का प्ररूपण करने वाले'—किया है। उनका सकेत निरन्वयोच्छेद-वादी बौद्धो, एकान्त-नित्यवादी सास्यो और सस्कारवादी स्मृतिकारो की ओर है। बौद्ध लोग वस्तु को एकान्त अनित्य मानकर फिर 'सन्तान' मानते हैं तथा सास्य उसे एकान्त-नित्य मानकर फिर 'आविर्भाव तिरोभाव' मानते हैं। इसलिए ये दोनो 'सस्कृत धर्मवादी' हैं। स्मृतिकारो के अभिमत में प्राचीन ऋषियो द्वारा निरूपित सिद्धान्त का प्रतिषेध और उसका पुन सस्कार करके स्मृतियो का निर्माण किया गया—इसलिय वे भी सस्कारवादी हैं।[2]

डॉ० हरमन जेकोबी तथा अन्य विद्वानो ने मूल में 'असखया' शब्द माना है। डॉ० साडेसरा ने इसका तात्पर्यार्थ असहिष्णु, असमाधान-कारी किया है।[3]

पहले श्लोक के पहले चरण में जीवन को असस्कृत कहा है। उसके सदर्भ में 'संस्कृत' का अर्थ—'जीवन का सस्कार हो सकता है, वह फिर साधा जा सकता है, ऐसा मानने वाले'—यह अर्थ अधिक उपयुक्त लगता है।

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १२६

सस्कृता नाम सस्कृतवचना सर्वज्ञवचनवत्तवोषा, अथवा सस्कृताभिधानरुचय ।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र २२७

यद्वा सस्कृतागमप्ररूपकत्वेन सस्कृता, यथा सौगता, ते हि स्वागमे निरन्वयोच्छेदमभिधाय पुनस्तेनैव निर्वाहमपश्यन्त परमार्थतोऽन्वयिद्रव्यरूपमेव सन्तानमुपकल्पयावभूवु, सास्याश्चैकान्तनित्यतामुक्त्वा तत्वत परिणामरूपा चे (पावे) व पुनराविर्भावतिरोभावावुक्तवन्तो, यथा वा—

"उक्तानि प्रतिषिद्धानि, पुन सम्भावितानि च ।
सापेक्षनिरपेक्षाणि, ऋषिवाक्यान्यनेकश ॥१॥"

इतिवचनाद्वचननिषेधनसम्भवादिभिरुपस्कृतस्मृत्यादिशास्त्रा मन्वादय ।

३–उत्तराध्ययन सूत्र, पृ० ३७ फुट नो० २ ।

'कूडाय'—कूट के दो अर्थ किए गए हैं—(१) नरक और (२) मिथ्या-वचन। यहाँ मिथ्या-वचन अधिक सगत लगता है।[1]

'न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खु-दिट्ठा इमा रई'—परलोक तो मैंने देखा नही यह रति (आनन्द) तो चक्षु-दृष्ट है—आँखों के सामने है—इन दो पदों में अनात्मावादियों के अभिमत का उल्लेख है। वे प्रत्यक्ष को ही वास्तविक मानते हैं तथा भूत और अनागत को अवास्तविक। कामासक्त व्यक्तियो का यह चिन्तन अस्वाभाविक नही है।

श्लोक ६

४–(हत्थागया इमे कामा क, कालिया जे अणागया ख):

चूर्णिकार ने लिखा है— कोई मूर्ख भी अपनी गाँठ में बन्धे हुए चावलो को छोड़कर भविष्य में होने वाले चावलों के लिए आरम्भ नही करता।[2]

शान्त्याचार्य ने लिखा है—हाथ में आए हुए द्रव्यो को कोई भी पैरों से नही रौंदता।[3]

जो आत्मा, परलोक व धर्म का मर्म समझता है वह अनागत भोगों की प्राप्ति के लिए हस्तगत भोगों को नही छोड़ता। इसलिए अनात्मवादियो का यह चिन्तन यथार्थ नही है। इसकी चर्चा नवें अध्ययन के श्लोक ५१-५३ में भी हुई है।

श्लोक ७

५—क्लेश (केसं घ):

काम-भोग से होने वाला क्लेश बहुत दीर्घकालीन होता है।[4] सुखबोधा में इसकी पुष्टि के लिए एक श्लोक उद्धृत किया गया है—

"वरि विसु भुजिउ म विसय, एक्कसि विसिण मरति।
नर विसयाऽमिसमोहिया, बहुसो नरइ पडंति॥"[5]

इसका आशय है कि विष पीना अच्छा है, विषय नहीं। मनुष्य विष से एक ही बार मरते है किन्तु विषय रूप मास में मोहित मनुष्य अनेक बार मरते है—नरक में जाते हैं।

श्लोक ८

६—प्रयोजनवश अथवा बिना प्रयोजन ही (अट्ठाए य अणट्ठाए ग):

हिंसा के दो प्रकार हैं—अर्थ-हिंसा और अनर्थ-हिंसा। इन्हें एक उदाहरण के द्वारा समझाया गया है—

एक ग्वाला था। वह प्रतिदिन बकरियों को चराने जगल में जाता था। मध्याह्न में बकरियों को एक वट-वृक्ष के नीचे बिठाकर स्वय सीधा सोकर बाँस के गोफन से बेर की गुठलियो को फेंक बरगद के पत्रो को छेदता था। इस प्रकार उसने प्राय पत्तों को छेद डाला। एक बार एक राजपुत्र उस वट-वृक्ष की छाया में जा बैठा। उसने छिदे हुए पत्रों को देखकर ग्वाले से पूछा—ये किसने छेदे है? उसने कहा—

१–वृहद् वृत्ति, पत्र २४३.
कूटमिव कूट—प्रभूतप्राणिना यातनाहेतुत्वान्नरक इत्यर्थ, ··अथवा कूट द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतो मृगादिबन्धन, भावतस्तु मिथ्याभाषणादि।

२–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३२
न हि कश्चित् मुग्धोऽपि ओदन वद्धेलकं मुक्त्वा कालिकस्योदनस्यारम करोति।

३–वृहद् वृत्ति, पत्र २४३।

४–वही, पत्र २४४
'क्लेशम्' इह परत्र च विविधबाधात्मकम्।

५–सुखबोधा, पत्र १०३।

अध्ययन ५

अकाम-मरणिज्जं

श्लोक २

१–(अकाम-मरणं ग, सकाम-मरणं घ) :

'अकाम-मरण'—जो व्यक्ति विषय में आसक्त होने के कारण मरना नहीं चाहता किन्तु आयु पूर्ण होने पर वह मरता है, उसका मरण विवशता की स्थिति में होता है इसलिए उसे अकाम-मरण कहा जाता है।[1] इसे बाल-मरण (अविरति का मरण) भी कहा जा सकता है।

'सकाम-मरण'—जो व्यक्ति विषयों के प्रति अनासक्त होने के कारण मरण-काल में भयभीत नहीं होता किन्तु उसे जीवन की भाँति उत्सव-रूप मानता है उस व्यक्ति के मरण को सकाम-मरण कहा जाता है।[2] इसे पंडित-मरण (विरति का मरण) भी कहा जा सकता है।

श्लोक ३

२–श्लोक ३ :

इस श्लोक में कहा गया है कि पंडित (चारित्रवान्) व्यक्तियों का 'सकाम-मरण' एक बार ही होता है। यह कथन 'केवली' की अपेक्षा से ही है। अन्य चारित्रवान् मुनियों का 'सकाम-मरण' सात-आठ बार हो सकता है।[3]

इसमें आए हुए बाल और पंडित शब्दों का विशेष अर्थ है।

बाल—जिस व्यक्ति के कोई व्रत नहीं होता उसे बाल कहा जाता है।

पंडित—सर्वव्रती व्यक्ति को पंडित कहा जाता है।

श्लोक ५

३–(काम-भोगेसु क, कूडाय ख, न मे दिट्ठे परे लोए ग, चक्खु-दिट्ठा इमा रई) :

'काम-भोगेसु'—इसमें दो शब्द हैं—काम और भोग। शब्द और रूप को 'काम' तथा स्पर्श, रस और गन्ध को 'भोग' कहा जाता है।[4]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र २४२

ते हि विषयाभिष्वङ्गतो मरणमनिच्छन्त एव म्रियन्ते।

२–वही, पत्र २४२

सह कामेन—अभिलाषेण वर्तते इति सकामं सकाममिव सकाम मरण प्रत्यसत्रस्ततया, तयात्व चोत्सवभूतत्वात् तादृशा मरणस्य, तथा च वाचक —

"सचिततपोधनानां नित्यं व्रतनियमसंयमरतानाम्।
उत्सवभूतं मन्ये मरणमनपराधवृत्तीनाम् ॥१॥"

३–वही, पत्र २४२

तत्त्व 'उत्कर्षेण' उत्कर्षोपलक्षित, केवलिसम्बन्धीत्यर्थ, अकेवलिनो हि संयमजीवित दीर्घमिच्छेयुरपि, मुक्त्यवाप्ति इत-स्यादिति, केवलिनस्तु तदपि नेच्छन्ति, आस्ता भवजीवितमिति, तन्मरणस्योत्कर्षेण सकामता 'सकृद्' एकवारमेव भवेत्, जघन्येन तु शेषचारित्रिण' सप्ताष्ट वा वारान् भवेदित्याकूतमिति सूत्रार्थ।

४–वही, पत्र २४२ में उद्धृत

"कामा दुविहा पण्णत्ता—सद्दा रूवा य, भोगा तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—गंधा रसा फासा य" त्ति।

'कूडाय'—कूट के दो अर्थ किए गए है—(१) नरक और (२) मिथ्या-वचन। यहाँ मिथ्या-वचन अधिक सगत लगता है।[1]

'न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खु-दिट्ठा इमा रई'—परलोक तो मैंने देखा नही यह रति (आनन्द) तो चक्षु-दृष्ट है—आँखों के सामने है—इन दो पदों में अनात्मावादियो के अभिमत का उल्लेख है। वे प्रत्यक्ष को ही वास्तविक मानते हैं तथा भूत और अनागत को अवास्तविक। कामासक्त व्यक्तियो का यह चिन्तन अस्वाभाविक नही है।

श्लोक ६

४–(हत्थागया इमे कामा क, कालिया जे अणागया ख) :

चूर्णिकार ने लिखा है— कोई मूर्ख भी अपनी गाँठ में बन्धे हुए चावलों को छोडकर भविष्य में होने वाले चावलों के लिए आरम्भ नही करता।[2]

शान्त्याचार्य ने लिखा है—हाथ में आए हुए द्रव्यो को कोई भी पैरों से नही रौंदता।[3]

जो आत्मा, परलोक व धर्म का मर्म समझता है वह अनागत भोगों की प्राप्ति के लिए हस्तगत भोगों को नही छोडता। इसलिए अनात्मवादियो का यह चिन्तन यथार्थ नही है। इसकी चर्चा नवें अध्ययन के श्लोक ५१-५३ में भी हुई है।

श्लोक ७

५—क्लेश (केसं घ) :

काम-भोग से होने वाला क्लेश बहुत दीर्घकालीन होता है।[4] सुखबोधा में इसकी पुष्टि के लिए एक श्लोक उद्धृत किया गया है—

"वरि विसु भुजिउ म विसय, एक्कसि विसिण मरति।
नर विसयाऽमिसमोहिया, बहुसो नरइ पडति॥"[5]

इसका आशय है कि विप पीना अच्छा है, विषय नहीं। मनुष्य विष से एक ही बार मरते हैं किन्तु विषय रूप मास में मोहित मनुष्य अनेक बार मरते हैं—नरक में जाते हैं।

श्लोक ८

६—प्रयोजनवश अथवा विना प्रयोजन ही (अट्ठाए य अणट्ठाए ग) :

हिंसा के दो प्रकार है—अर्थ-हिंसा और अनर्थ-हिंसा। इन्हें एक उदाहरण के द्वारा समझाया गया है—

एक ग्वाला था। वह प्रतिदिन बकरियों को चराने जगल में जाता था। मध्याह्न मे बकरियों को एक वट-वृक्ष के नीचे बिठाकर स्वय सीधा सोकर बाँस के गोफन से बेर की गुठलियो को फेंक बरगद के पत्रो को छेदता था। इस प्रकार उसने प्राय पत्तो को छेद डाला। एक बार एक राजपुत्र उस वट-वृक्ष की छाया में जा बैठा। उसने छिदे हुए पत्रो को देखकर ग्वाले से पूछा—ये किसने छेदे हैं? उसने कहा—

१–बृहद् वृत्ति, पत्र २४३.
कूटमिव कूट—प्रभूतप्राणिना यातनाहेतुत्वान्नरक इत्यर्थ, अथवा कूट द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतो मृगादिबन्धन, भावतस्तु मिथ्याभाषणादि।

२–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३२
न हि कश्चित् मुग्धोऽपि ओदन बद्धेलनक मुक्त्वा कालिकस्योदनस्यारभ करोति।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र २४३।

४–वही, पत्र २४४
'क्लेशम्' इह परत्र च विविधबाधात्मकम्।

५–सुखबोधा, पत्र १०३।

ये मैंने छेदे है। राजपुत्र ने कहा—किसलिए? ग्वाले ने कहा—विनोद के लिए। तब राजपुत्र ने उसे धन का प्रलोभन देते हुए कहा—मैं कहूँ कि उसकी आँखें वीध दो, तो उसकी आँखें क्या तू बीध देगा? ग्वाले ने कहा—हाँ, मैं बींध सकता हूँ, यदि वह मेरे नजदीक हो। राजपुत्र उसे अपने नगर ले गया। राजपथ में आए हुए प्रासाद में उसे ठहरा दिया। उस राजपुत्र का भाई राजा था। वह उसी मार्ग से अश्वरथ पर चढकर जाता था। राजपुत्र ने ग्वाले से कहा—इसकी आँखें फोड डाल। उस ग्वाले ने अपने गोफन से उसकी दोनो आँखें फोड डाली। अब वह राजपुत्र राजा बन गया। उसने ग्वाले से कहा—बोल, तू क्या चाहता है? उसने कहा—आप मुझे वह गाँव दें जहाँ मैं रहता हूँ। राजा ने उसे वही गाँव दिया। उसी सीमान्त के गाँव में उसने ईख की खेती की और तुम्बी की वेल लगाई। गुड हुआ और तुम्बे हुए। उसने तुम्बो को गुड में पका गुड-तुम्बक तैयार किया। उसे खाता और गाता—

अट्टमट्ट च सिखिज्जा, सिक्खिय ण णिरत्थयं।
अट्टमट्टपसाएण, भुजए गुडतुम्बयम्॥[1]

अर्थात् उटपटाग जो भी हो सीखना चाहिए। सीखा हुआ व्यर्थ नही जाता। इसी अट्टपट्ट के प्रसाद से यह गुडतुम्बा मिल रहा है। ग्वाला पत्रो को बिना प्रयोजन छेदता था और उसने आँखो को प्रयोजनवश छेदा।

यह उदाहरण एक स्थूल भावना का स्पर्श करता है। साधारण उद्देश्य की पूर्ति के लिए राजा की आँखें फोड डाली गई—यह वस्तुत अनर्थ हिंसा ही है। अर्थ-हिंसा उसे कहा जा सकता है, जहाँ प्रयोजन की अनिवार्यता हो।

श्लोक ६

७—वेश परिवर्तन कर अपने आपको दूसरे रूप में प्रकट करने वाला (सढे [ख]):

इसका सामान्य अर्थ है—धूर्त्त, मूढ, आलसी। यहाँ इसका अर्थ—वेष परिवर्तन कर अपने आपको दूसरे रूप में प्रगट करने वाला है।[2] टीकाओ में 'मडिक चोरवत्' ऐसा उल्लेख किया है। मडिक चोर की कथा इसी आगम के चौथे अध्ययन के सातवें श्लोक की व्याख्या में है।

श्लोक १०

८—(दुहओ [ग], सिसुणागु [घ]):

'दुहओ'—द्वाभ्या—दो प्रकार से। चूर्णिकार ने दो प्रकार के अनेक विकल्प किए है। जैसे—स्वय करता हुआ, या दूसरो से करवाता हुआ, अन्त करण से या वाणी से, राग से या द्वेष से, पुण्य या पाप का, इहलोक बन्धन या परलोक बन्धन—सचय करता है।[3]

'सिसुणागु'—शिशुनाग का अर्थ है—छोटा सर्प, गण्डूपद या अलसिया। वह मिट्टी खाता है। उसका शरीर स्निग्ध होता है। इसलिए उसके शरीर पर भी मिट्टी चिपक जाती है। इस प्रकार वह अन्दर और बाहर दोनो ओर मिट्टी का सचय करता है।[4]

१-बृहद् वृत्ति, पत्र २४४, २४५।

२-वही, पत्र २४५ ·
'शठ' तत्तन्नेपथ्यादिकरणतोऽन्यथाभूतमात्मानमन्यथा दर्शयति।

३-उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३४:
द्विधा—दुहओ मृद्नाति तमिति मल, स्वय कुर्वन् परैश्च कारयन्, अथवा अन्त करणेन वाह्येन वा, तत्रान्त करण नाम मन· वाह्य वाचिक, अथवा रागेण द्वेषेण च, अहवा पुन्नं पावं च, अहवा इहलोयवधण पेज्ज च।

४-(क) वही, पृ० १३४
शिशुरेव नाग शिशुनाग गडूपद इत्यर्थः, मृद्यन्ति तमिति मृत्तिका, स हि शिशुनागः मृद भुक्त्वा अतो मल सचिणति वहिश्चार्द्रभावत्वाद् देहस्य, स हि पाशूत्करेपु सर्पमाण सर्वो रजसा विकार्यते, ततो धर्मरश्मिकिरणैरापीतस्नेह तामिरेव वहिरतश्च प्रतप्ताभिर्मृ टभि, शीतयोनिर्निर्दह्यमानो विभाव्यमाप्नोति।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र २४६
'शिशुनागो' गण्डूपदोऽलस उच्यते, स इव मृत्तिका, स हि स्निग्धतनुतया वहीरेणुभिरवगुण्ड्यते, तामेव चाश्नीते इति वहिरन्तश्च द्विधापि मलमुपचिनोति।

श्लोक १३

९–(उववाइय [क], आहाकम्मेहिं [ग]) :

'उववाइय'—जीवो की उत्पत्ति के तीन प्रकार है—गर्भ, सम्मूर्छन और उपपात। पशु, पक्षी, मनुष्य आदि गर्भज होते है। द्वीन्द्रिय आदि जीव सम्मूर्छनज और नारक तथा देव औपपातिक होते हैं।

औपपातिक जीव अन्तर्मुहूर्त मात्र में पूर्ण शरीर वाले हो जाते हैं, अत वहाँ उत्पन्न होते ही वे नरक की वेदना से अभिभूत हो जाते है।[1]

'आहाकम्मेहिं'—चूर्णिकार और नेमिचन्द्र ने इसका अर्थ 'कर्मों के अनुसार' किया है।[2] शान्त्याचार्य ने इसका मूल अर्थ 'अपने किए हुए कर्मों के द्वारा' किया है और विकल्प में इसका अर्थ किया है—'कर्मो के अनुसार'।[3]

श्लोक १६

१०—एक ही दाव में (कलिना [घ]) :

चूर्णिकार कलि के विषय में मौन हैं।[4] शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने 'कलिना दायेन' इतना कहकर छोड दिया है।[5]

किन्तु अन्य प्राचीन ग्रन्थो के अनुसार जुए में दो प्रकार के दाव होते थे—कृतदाव और कलिदाव। 'कृत' जीत का दाव है ओर 'कलि' हार का। दोनो एक दूसरे के विपरीत है।

सूत्रकृताग के अनुसार जुआ चार अक्षो से खेला जाता था। उनके नाम हैं—

(१) कलि—एकक।
(२) द्वापर—द्विक।
(३) त्रैता—त्रिक।
(४) कृत—चतुष्क।

चारो पासे सीधे या औंधे एक से पडते है, उसे 'कृत' कहा जाता है। यह जीत का दाव है। एक, दो या तीन पासे उलटे पडते है उन्हें क्रमश कलि, द्वापर, त्रैता कहा जाता है। ये हार के दाव है। कुशल जुआरी इन्हे छोड 'कृतदाव' ही लेता है।[6]

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३५
उपपातात्सजातमौपपातिक, न तत्र गर्भव्युत्क्रातिरस्ति येन गर्भकालान्तरित तन्नरकदु ख स्यात्, ते हि उत्पन्नमात्रा एव नरकवेदनाभिरभिभूयन्ते।

२–(क) वही, पृ० १३५
आधाकम्मेहिं यथाकर्मभि।
(ख) सुखबोधा, पत्र १०५।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र २४७
'आहाकम्मेहिं'ति आधानमाधाकरणम्, आत्मनेति गम्यते, तदुपलक्षितानि कर्माण्याधाकर्म्माणि, तै आधाकर्मभि—स्वकृतकर्मभि, यद्वाऽर्षत्वात्, 'आहेति' आधाय कृत्वा, कर्माणीति गम्यते, ततस्तैरेव कर्म्मभिः, यद्वा—'यथाकर्मभि' गमिष्यमाणगत्यनुरूपैः तीव्रतीव्रतराद्यनुभावान्वितै।

४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३६।

५–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र २४८।
(ख) सुखबोधा, पत्र १०५।

६–सूत्रकृताग, १।२।२।२३।

काशिका में लिखा गया है कि पचिका नाम का जुआ अक्ष या पाँच शलाकाओं से खेला जाता था। जब पाँचों पासे सीधे या औंधे एक से गिरते है तब पासा फेंकने वाला जीतता है, इसे 'कृतदाव' कहते हैं। 'कलिदाव' इसमे विपरीत है। जब कोई पासा उलटा या सीधा गिरता है तब उसे 'कलिदाव' कहते है।

भूरिदत्त जातक में 'कलि' और 'कृत' दोनो को एक दूसरे के विपरीत माना है।[1]

छान्दोग्य उपनिषद् में भी 'कृत' जीत का दाव है।[2] महाभारत (सभापर्व ५२।१३) मे शकुनि को 'कृतहस्त' कहा गया है अर्थात् जो सदा जीत का दाव ही फेंकता है।

पाणिनि के समय दोनो प्रकार के दाव फेंकने के लिए भाषा में अलग-अलग नामधातुएँ चल गई थीं। जिनका सूत्रकार ने स्पष्ट उल्लेख किया है—

कृत गृण्हाति—कृतयति, कलि गृण्हाति—कलयति। (३।१।२१)[3]

विधुर पंडित जातक में भी 'कृत गृण्हाति कलिं गृण्हाति' ऐसे प्रयोग हुए हैं।[4]

जुए के खेल के नियमो के अनुसार जब तक किसी खिलाडी का 'कृतदाव' आता रहता, वही पासा फेंकता जाता था। पर जैसे ही 'कलिदाव' आता, पासा डालने की बारी दूसरे खिलाडी की हो जाती।

श्लोक १८

११–जितेन्द्रिय पुरुषों का (वुसीमओ ^व^):

यहाँ बहुवचन के स्थान मे एकवचन है। बृहद् वृत्ति में इसका संस्कृत रूप है 'वश्यवताम्'। आत्मा और इन्द्रिय जिनके वश—अधीन होते ह, उसे 'वश्यवान्' कहा जाता है। 'वुसीम' के दो अर्थ और किए गए है—(१) साधु गुणो मे बसने वाला और (२) सविग्न।[5]

सरपेन्टियर ने लिखा है कि इसका संस्कृत रूप 'वश्यवन्त' शकास्पद है। मैं इसके स्थान पर दूसरा उचित शब्द नहीं दे सकता। परन्तु इसके स्थान पर 'वशमानवन्त' शब्द की योजना कुछ हद तक सभव हो सकती है।[6]

सरपेन्टियर की यह सभावना बहुत उपयोगी नही है। वस्तुत 'वुसीम' शब्द या तो देशी है जिसका संस्कृत रूप कोई होता ही नही और यदि यह देशी नही है तो इसका संस्कृत रूप 'वृषीमत्' होना चाहिए।

'वृषी' का अर्थ है—'मुनि का कुश आदि का आसन।'[7] सूत्रकृताग में श्रमण के उपकरणो में 'वृषिक' (भिसिग) का उल्लेख है।[8] इसके सम्बन्ध से मुनि को 'वृषीमान्' कहा जाता है। व्याकरण की दृष्टि से 'वुसीम' का सस्कृत रूप 'वृषीमत्' होता है। इसका प्रवृत्ति लभ्य अर्थ है—मुनि, सयमी या जितेन्द्रिय।

१–जातक, सख्या ५४३।

२–छान्दोग्य उपनिषद्, ४।१।४ यथा कृतायविजितायाधरेया संयन्त्येवमेन सर्व तदभिसमेति।

३–पाणिनीकालीन भारतवर्ष, पृ० १६७।

४–जातक, सख्या ५४५।

५–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र २४९
'वुसीमतो' त्ति, आर्पत्वाद्वश्यवता वश्य इत्यावत्त, स चेहात्मा इन्द्रियाणि वा, वश्यानि विद्यन्ते येषा ते अमी वश्यवन्त तेषाम् अयमपर सम्प्रदायार्थ —वसति वा साहुगुणेहि वुसीमन्त, अहवा वुसीमा—सविग्गा तेसिं'ति।
(ख) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३७
'वुसीमतो' वशे येषामिन्द्रियाणि ते भवति वुसीम, वसति वा साधुगुणेहिं वुसीमत, अथवा वुसीमत ते सविग्गा, तेसिं वुसीमता सविग्गाण वा।

६–उत्तराध्ययन सूत्र, पृ० २९९ का फुटनोट १८।

७–अभिधान चिंतामणि, ३।४८०।

८–सूत्रकृताङ्ग, २।२ सू० ३२ दडग वा, छत्तग वा, भण्डग वा, मत्तग वा, लट्ठिं वा, भिसिग वा।

निशीथ भाष्य में इसी अर्थ में 'वुसिराती'[1] (स० वृषिराजिन्) तथा 'वुसि'[2] (स० वृषिन्) शब्द प्राप्त होते हैं। "वुसि" का अर्थ 'सविग्न किया गया है।'[3]

सूत्रकृताग में 'वुसीमओ' का अनेक वार प्रयोग हुआ है। चूर्णिकार ने उसके अर्थ इस प्रकार किए हैं—

वुसिमता वसूनि ज्ञानादीनि (१।८।१९ चूर्णि, पृष्ठ २१३)।

वुसिमानिति सयमवान् (१।११।१५ चूर्णि, पृष्ठ २४५)।

वुसिमाश्च भगवान्—साधुर्वा वुसीमान् (१।१५।४ चूर्णि, पृष्ठ २९९)।

वुसिय वुसिम वुत्तो (२।६।१४ चूर्णि, पृष्ठ ४२३)।

पहले अर्थ पर से लगता है कि चूर्णिकार 'वसुमओ' पाठ की व्याख्या कर रहे हैं। आचाराग १।१।७।६२ में 'वसुम' शब्द मुनि के लिए प्रयुक्त हुआ है। शीलाक सूरि ने उसका अर्थ 'वसुमान'—सम्यक्त्व आदि धन से धनी—किया है।[4] दूसरे अर्थ में 'वुसि' सयम का पर्यायवाची है। तीसरे में वही भगवान् या साधु के लिए प्रयुक्त है। चौथा अर्थ स्पष्ट नही है। शीलाक सूरि ने वहाँ 'वुसिम' का अर्थ सयमवान् किया है।[5] लगता यह है 'वृषी' उपकरण के कारण वृषीमान (वुसीम) मुनि का एक नाम बन गया।

श्लोक १९

१२–(नाणा-सीला ग, विसम-सीला घ) :

'नाणा-सीला'—गृहस्थ नानाशील—विविध शील वाले, विभिन्न रुचि वाले और विभिन्न अभिप्राय वाले होते है।[6] इसकी व्याख्या करते हुए नेमिचन्द्र ने लिखा है—"कई कहते है—'गृहस्थाश्रम का पालन करना ही महाव्रत है'। कई कहते है—'गृहस्थाश्रम से उत्कृष्ट धर्म न हुआ है और न होगा। जो शूरवीर होते हैं, वे इसका पालन करते हैं और क्लीव व्यक्ति पाखण्ड का आश्रय लेते हैं"। कई कहते है—'सात सौ शिक्षापद गृहस्थो के व्रत हैं' आदि-आदि।"[7]

'विसम-सीला'—साधु भी विषम शील वाले—विषम आचार वाले होते हैं। शान्त्याचार्य ने लिखा है—कई पाँच यम और पाँच नियमों को, कई कन्द, मूल, फल के आहार को और कई आत्म-तत्त्व के परिज्ञान को ही व्रत मानते है।[8]

१–निशीथ भाष्य, गाथा ५४२०।

२–वही, गाथा ५४२१।

३–वही, गाथा ५४२१।

४–आचाराङ्ग १।१।७।६२, वृत्ति—
भाव वसूनि सम्यक्त्वादीनि तानि यस्य यस्मिन् वा सन्ति स वसुमान् द्रव्यवानित्यर्थ।

५–सूत्रकृताग २।६।१४, वृत्ति—
वुसिमति सयमवान्।

६–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३७
नानार्थान्तरत्वेन शीलयति तदिति शील-स्वभाव, अगारे तिष्ठतीत्यागारस्था, ते हि नानाशीला नानारुचयो—नानाच्छदा भवति।

७–सुखवोधा, पत्र १०६
तेषु हि गृहिणस्तावद् अत्यन्तनानाशीला एव, यत केचित् 'गृहाश्रमप्रतिपालनमेव महाव्रतमि'ति प्रतिपन्ना
गृहाश्रमपरो धर्मो, न भूतो न भविष्यति।
पालयन्ति नरा शूरा, क्लीवा पाखण्डमाश्रिता ॥१॥
इति वचनात्। अन्ये तु 'सप्तशिक्षापदशतानि गृहिणा व्रतम्' इत्याद्यनेकधैव ब्रुवते।

८–बृहद् वृत्ति, पत्र २४९
'विषमम्' अतिदुर्लक्षतयाऽतिगहन विसदृश वा शीलमेषा विषमशीला, भिक्षवोऽप्यत्यन्त विषमशीला एव, यतस्तेषु केषाञ्चि-त्पञ्चयमनियमात्मक व्रतमिति दर्शनम्, अपरेषा तु कन्दमूलफलाशित्व इति, अन्येषामात्मतत्त्वपरिज्ञानमेवेति विसदृशशीलता।

चूर्णिकार के अनुसार—कुछ कुप्रवचन-भिक्षु अभ्युदय की ही कामना करते हैं, जैसे तापस और पाडुरक (शिवभक्त सन्यासी)। जो मोक्ष चाहते हैं, वे भी उसके साधन को सम्यक् प्रकार से नहीं जानते। वे आरम्भ से मोक्ष मानते हैं। लोकोत्तर भिक्षु भी सबके सब निदान और शल्य रहित नहीं होते, आशसा रहित तप करने वाले नहीं होते, इसलिए भिक्षुओ को विपम-शील कहा है।[1]

श्लोक २०

१३--श्लोक २० :

तीन प्रकार के मनुष्य होते है—अव्रती, देशव्रती और सर्वव्रती। इस श्लोक मे बताया गया है कि अव्रती या नामधारी भिक्षुओ मे देशव्रती गृहस्थ सयम मे प्रधान होते है और उनकी अपेक्षा सर्वव्रती भिक्षु सयम मे प्रधान होते हैं। इसे एक उदाहरण द्वारा समझाया गया है[2]—

'एक श्रावक ने साधु से पूछा—'श्रावक और साधुओ में कितना अन्तर है ?' साधु ने कहा—'सरसो और मन्दर पर्वत जितना।' तब उसने पुन आकुल होकर पूछा—'कुलिंगी (वेपधारी) और श्रावक में कितना अन्तर है ?' साधु ने कहा—'वही, सरसो और मन्दर पर्वत जितना।' उसे समाधान मिला। कहा भी है—

सुविहित आचार वाले मुनियो के श्रावक देश विरत होते है।
कुतीर्थिक उनकी सौवी कला को भी प्राप्त नही होते।

श्लोक २१

१४–श्लोक २१ :

इस श्लोक मे वल्कल धारण करने वाले, चर्म धारण करने वाले, नग्न रहने वाले, जटा रखने वाले, सघाटी रखने वाले और मुड रहने वाले—इन विचित्र लिंगधारी कुप्रवचन-भिक्षुओ का उल्लेख हुआ है। ये सारे शब्द उस समय के विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायो के सूचक हैं। मिलाइए—

(क) न नग्गचरिया न जटा न पका, नानासका थडिलसायिका वा।
रज्जो च जल्ल उक्कुटिकप्पधान, सोधेति मच्च अवितिण्णकख ॥
(धम्मपद १०।१३)

(ख) तथा च वाचक —
चर्मवल्कलचीराणि, कूर्चमुण्डशिखाजटा।
न व्यपोहन्ति पापानि, शोधकौ तु दयादमौ ॥
(सुखबोधा, पत्र १२७)

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३७
कुप्रवचनभिक्षवोऽपि केचिदभ्युदयावेव यथा तापसा· पाडुरागाश्च, येऽपि मोक्षायोत्थिता तेऽपि तमन्यथा पश्यन्ति "तयैव लोकोत्तरभिक्षवोऽपि ण सव्वे अणिदाणकरा णिस्सल्ला वा, ण वा सव्वे आससापयोग-निरुपहततपसो भवति इत्यतो विसमसीला य भिक्खुणो।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र २५०
तथा च वृद्धसम्प्रदाय—एगो सावगो साहू पुच्छति—सावगाण साहूण किमतर ? साहुणा भणति—सरिसवमदरतर, ततो सो आउलीहूओ पुणो पुच्छति—कुलिंगीण सावगाण य किमतर ?, तेण भणति—तदेव सरिसवमदरतर ति, ततो समासासितो, जतो भणिय—
"देसेक्कदेसविरया समणाण सावगा सुविहियाण।
जेसि परपासडा सतिमपि कल न अग्घति ॥"

'चीर'— चूर्णि में इसका अर्थ वल्कल[1] और बृहद् वृत्ति मे चीवर किया गया है।[2]

'नगिणिण'— इसका अर्थ है नग्नता। यहाँ चूर्णिकार ने उस समय में प्रचलित कुछ नग्न सम्प्रदायों का नामोल्लेख किया है। मृगचारिक, उद्दण्डक (हाथ में दण्ड ऊँचा रखकर चलने वाले तापसो का सम्प्रदाय) और आजीवक सम्प्रदाय के साधु नग्न रहते थे।[3]

'सवाडि'— सघाटी—कपडो के टुकडो को जोडकर बनाया गया साधुओ का एक उपकरण।[4] इस शब्द के द्वारा सूत्रकार ने सम्भवत बौद्ध-श्रमणो के प्रति सकेत किया है। महात्मा बुद्ध ने तेरह धुतागो का वर्णन किया है। उसमें दूसरा धुताग है—त्रैचीवरिकाङ्ग। सघाटी, उत्तरासग और अन्तर-वासक—बौद्ध भिक्षु के ये तीन वस्त्र हैं। जो भिक्षु केवल इन्हीं को धारण करता है उसे त्रैचीवरिक कहते हैं और उसका वह धुतागव्रत त्रैचीवरिकाग कहलाता है।[5]

'मुण्डिण'—जो अपने सिद्धान्त के अनुसार चोटी कटाते थे उन सन्यासियो के आचार का मुडित्व शब्द के द्वारा उल्लेख किया गया है।[6]

श्लोक २३

१५–गृहस्थ-सामायिक के अंगों का (अगारि-सामाइयंगाइं क) :

सामायिक शब्द का अर्थ है—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र। उसके दो प्रकार है—अगारी (गृहस्थ) का सामायिक और अनगार का सामायिक। चूर्णिकार ने अगारि-सामायिक के बारह अग बतलाए हैं।[7] वे श्रावक के बारह व्रत कहलाते हैं।

शान्त्याचार्य ने अगारि-सामायिक के तीन अंगो का उल्लेख किया है— नि शकभाव, स्वाध्याय और अणुव्रत।[8]

विशेषावश्यक भाष्यकार ने सामायिक के चार अंग बतलाए हैं—(१) सम्यक् दृष्टि सामायिक, (२) श्रुत सामायिक, (३) देशव्रत (अणुव्रत) सामायिक, (४) सर्वव्रत (महाव्रत) सामायिक।[9] इनमें प्रथम तीन अगारिसामायिक के अग हो सकते हैं।

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३८
चीरं—वल्कलम्।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र २५०
चीराणि च—चीवराणि।

३–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३८
णियण णाम नग्गा एव, यथा मृगचारिका उद्दण्डका आजीवकाश्च।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र २५०
संघाटी—वस्त्रसहतिजनिता।

५–विशुद्धिमार्ग १।२, पृ० ६०।

६–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र २५०
'मुडिण' ति यत्र शिखाऽपि स्वसमयतश्छिद्यते, तत प्राग्वत मुण्डित्वम्।
(ख) सुखबोधा, पत्र १०६।

७–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३९
अगारमस्यास्तीति अगारी, अगारसामाइयस्स वा अगाणि आगारिसामाईयगाणि, समय एव सामाइय, अड्ग्यतेऽनेनेति अग तस्स अंगाणि बारसविधो सावगधम्मो, तान्यगारसामाइयगाणि, अगारिसामाइयस्स वा अगाणि।

८–बृहद् वृत्ति, पत्र २५१
अगारिणो—गृहिण सामायिक—सम्यक्त्वश्रुतदेशविरतिरूप तस्याड्गानि—नि शकताकालाध्ययनाणुव्रतादिरूपाणि अगारि-सामायिकाड्गानि।

९–विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ११९६
सम्मसुयदेससव्ववयाण, सामाइयाण मेक्कपि।

१६–पोषध को (पोसहं ग) :

इसे श्वेताम्बर साहित्य में 'पोषध' या 'प्रोषध' (उत्तराध्ययन चूर्णि पृ० १३९), दिगम्बर साहित्य मे 'प्रोषध' और बौद्ध साहित्य में 'उपोसथ' कहा जाता है। यह श्रावक के बारह व्रतों में ग्यारहवाँ व्रत है। इसमे अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य का तथा मणि, सुवर्ण, माला, उबटन, विलेपन, शस्त्र प्रयोग का प्रत्याख्यान और ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है।[1] इसकी आराधना अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, अमावस्या—इन पर्व तिथियों में की जाती है।[2] शख श्रावक के वर्णन से यह ज्ञात होता है कि अशन, पान आदि का त्याग किए बिना भी पोषध किया जाता था।[3]

वसुनन्दि श्रावकाचार में प्रोषध के तीन प्रकार बतलाए गए है—उत्तम, मध्यम और जघन्य। उत्तम प्रोषध मे चतुर्विध आहार और मध्यम प्रोषध में जल को छोड़कर त्रिविध आहार का प्रत्याख्यान किया जाता है। आयविल (आचाम्ल), निर्विकृति, एक स्थान और एक भक्त को जघन्य प्रोषध कहा जाता है। विशेष जानकारी के लिए देखें—वसुनन्दि श्रावकाचार श्लोक २८०-२९४।

स्थानाग मे 'पोषधोपवास' और 'परिपूर्ण पोषध'—ये दो शब्द मिलते है। पोषध (पर्व दिन) में जो उपवास किया जाता है, उसे पोसधोपवास कहा जाता है।[4] पर्व तिथियों में दिन-रात तक आहार, शरीर-सत्कार आदि को त्याग ब्रह्मचर्य पूर्वक जो धर्माराधना की जाती है उसे परिपूर्ण पोषध कहा जाता है।[5]

उक्त वर्णन के आधार पर पोषध की परिभाषा इस प्रकार बनती है—अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा आदि पर्व-तिथियों में गृहस्थ उपवास पूर्वक धार्मिक आराधना करता है, उस व्रत को पोषध कहा जाता है।[6] बौद्ध साहित्य मे भी चतुर्दशी और पूर्णिमा को उपोसथ करने का वर्णन मिलता है।[7] शान्त्याचार्य ने आमसेन का एक श्लोक उद्धृत किया है। उसमे भी अष्टमी और पूर्णिमा को पोषध करने का विधान है।[8] 'पोसह' शब्द का मूल 'उपवसथ' होना चाहिए। 'पोसह' का सस्कृत रूप पोषध किया जाता है और उसकी व्युत्पत्ति की जाती है—पोषध अर्थात् धर्म की पुष्टि को धारण करने वाला। यह इस व्रत की भावना को अभिव्यक्त नही करती।

चतुर्दशी आदि पर्व-तिथियो को उपवास करने का विधान है, इसलिए वे तिथियाँ भी 'उपोसथ' कहलाती है।[9] और उन तिथियों मे की जाने वाली उपवास आदि धर्माराधना को भी उपोसथ कहा जाता है।[10] उपोसथ के उकार का अन्तर्धान और 'थ' को 'ह' करने पर उपोसथ का 'पोसह' रूप भी हो सकता है।

बौद्ध-सम्मत उपोसथ तीन प्रकार का होता है—(१) गोपाल-उपोसथ, (२) निग्रन्थ-उपोसथ और (३) आर्य-उपोसथ।

(१) गोपाल-उपोसथ :

जैसे ग्वाला मालिकों को गायें सौंपकर यह सोचता है कि आज गायो ने अमुक-अमुक जगह चराई की, कल अमुक अमुक जगह

१–भगवती, १२।१।

२–स्थानाग, ४।३।३१४।

३–भगवती, १२।१।

४–स्थानाग, ३।१।१५०, ४।३।३१४।

५–वही, ४।३।३१४।

६–बृहद् वृत्ति, पत्र ३१५ :
पोष धर्मपुष्टि धत्त इति पोषध —अष्टम्यादितिथिषु व्रतविशेष ।

७–विशुद्धिमार्ग, पृ० २७३।

८–बृहद् वृत्ति, पत्र ३१५
आह आमसेन —
'सर्वेष्वपि तपोयोग प्रशस्त कालपर्वसु।
अष्टम्या पचदश्या च, नियत पोषध वसेद ।

९–मज्झिमनिकाय, पृ० ४५६।

१०–वही, पृ० ३३८।

चरेंगी। उसी प्रकार उपोसय व्रती ऐसा सोचता है कि आज मैंने यह खाया, कल यह खाऊँगा आदि। वह लोभयुक्त चित्त से दिन गुजार देता है, यह गोपाल-उपोसय-व्रत है। इसका न महान् फल होता है, न महान् परिणाम होता है, न महान् प्रकाश होता है और न महान् विस्तार।[1]

(२) निर्ग्रन्थ-उपोसथ

निर्ग्रन्थ अपने अनुयायियों को इस प्रकार व्रत लिवाते है—पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशा में सौ सौ योजन तक जितने प्राणी है तू उन्हें दण्ड से मुक्त कर। इस प्रकार कुछ के पति दया व्यक्त करते है और कुछ के प्रति नही। निर्ग्रन्थ कहते है—तू सभी वस्तुओ को त्यागकर इस प्रकार व्रत ले। न मैं कही किसी का हूँ और न मेरा कही कोई कुछ है—ऐसा व्रत लेना मिथ्या है, झूठा है। वे मृषावादी है – उस रात्रि के बीतने पर वह उन त्यक्त वस्तुओ को विना किसी के दिये ही उपयोग में लाते है। इस प्रकार वे चोरी करने वाले होते हैं। इस व्रत का न महान् फल होता है, न महान् परिणाम होता है, न महान् प्रकाश होता है और न महान्-विस्तार।[2]

(३) आर्य-उपोसथ

आर्य-श्रावक तथागत का अनुस्मरण करता है। उसका चित्त मेल रहित हो जाता है। आर्य श्रावक धर्म का, सघ का, देवताओं का अनुस्मरण करता है। वह हिंसा, चोरी, अब्रह्मचर्य, मृषावाद का त्याग करता है, एकाहारी होता है।

पाण न हाने न चादिन्न आदिये।
मुसा न भासे न च मज्जपो सिया॥
अब्रह्मचर्य्या विरमेय्य मेथुना।
रत्ति न भुजेय्य विकालभोजन॥
माल न धारेय्य न च गन्धआचरे।
मचे छमाय वसयेय सन्थते॥
एत हि अट्ठगिकमाहुपोसथ।
बुद्धेन दुक्खतगुणा पकासित॥[3]
चातुद्दसी पचदसी याव पक्खस्स अट्ठमी
पाटिहारियपक्खच अट्ठगसुसमागत
उपोसथ उपवसेय्य, यो प स्स मादिसो नरो॥[4]

इन प्रकारो में निग्रन्थ-उपोसथ पर कुछ आक्षेप किए गए हैं। किन्तु उपोसथ की साधना अमुक काल के लिए की जाती है और उसके व्रत भी अमुक काल तक स्वीकार किए जाते है—इस तथ्य को अनाग्रह-बुद्धि से समझने का प्रयत्न किया जाता तो ये आक्षेप आवश्यक नहीं होते।

श्लोक २४

१७–(छवि-पव्वाओ ग, जक्ख-सलोगय घ) :

'छवि-पव्वाओ'—छवि का अर्थ है चमड़ी और पर्व का अर्थ है शरीर के सधि स्थल—घुटना, कोहनी आदि। छवि-पर्व का तात्पर्यार्थ है—औदारिक शरीर—चर्म, अस्थि आदि से बना हुआ शरीर।

१–अगुत्तर-निकाय, भा० १ पृ० २१२।
२–वही, पृ० २१२-१३।
३–वही, पृ० २१३ २२१।
४–वही, पृ० १४७।
५–सुखबोधा, पत्र १०७
छविश्च—त्वक् पर्वाणि च—जानुकूर्परादीनि छविपर्व तद्योगाद औदारिकशरीरमपि छविपर्व तत ।

'जक्ख-सलोगय'—यक्ष-सलोकता—देवों के तुल्य लोक अर्थात् देवगति।[1] 'ऐतरेय आरण्यक' और 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में 'सलोकता' का प्रयोग मिलता है।

ऐतरेय आरण्यक—स य वेदाह्न सायुज्य सरूपता सलोकता मश्नुते। (३।२।१।७, पृष्ठ २४२, २४३)

बृहदारण्यक—एतस्यै देवतायै सायुज्य सलोकता जयति। (१।५।२३, पृष्ठ ३८८)

आचार्य सायण और शंकराचार्य ने सलोकता का अर्थ 'समान-लोक या एक स्थान में बसना' किया है।[2]

दीघनिकाय के अनुवाद मे भी इसका यही अर्थ है।[3] दीघनिकाय मूल में सलोकता के अर्थ में सहव्यता का प्रयोग मिलता है—चन्दिम-सुरियाना सहव्यताय मग्ग देसेतु—अजयमेव उजु-मग्गो। (१।१३, पृष्ठ २७३)

श्लोक २६

१८–मोह रहित (विमोहाइ क):

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए है—अन्धकार रहित और स्त्रियो से रहित।[4] शान्त्याचार्य के अनुसार वे कामात्मक मोह से रहित होते हैं। द्रव्य-मोह (अन्धकार) तथा भाव-मोह (मिथ्यादर्शन) ये दोनो वहाँ नहीं होते इसलिए उन्हें विमोह कहा गया है।[5]

श्लोक २७

१९–अभी उत्पन्न हुए हों—ऐसी कान्ति वाले (अहुणोववन्न-संकासा ग):

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—अभिनव उत्पन्न की तरह किया है।[6] टीकाकारो ने इसका अर्थ 'प्रथम उत्पन्न देवता के तुल्य' किया है। इसका तात्पर्य है कि उनमें औदारिक शरीर गत अवस्थाएँ नही होती। वे न बालक होते हैं और न बूढे, सदा एक से रहते है। उनका रूप-रंग और लावण्य जैसा उत्पत्ति के समय होता है वैसा ही अन्तकाल में होता है।[7]

१–सुखबोधा, पत्र १०७

यक्षा—देवा,समानो लोकोऽस्येति सलोकस्तद्भाव: सलोकता, यक्षै सलोकता यक्षसलोकता ताम्।

२–(क) ऐतरेयारण्यक, पृ० २४३

सलोकता समानलोकवासित्वमश्नुते।

(ख) बृहदारण्यक उपनिषद्, पृ० ३९१

सलोकता समानलोकता वा एकस्थानत्वम्।

३–दीघनिकाय, पृ० ८८।

४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १४०

'विमोहाइ' विमोहानीति निस्तमासीत्यर्थ, तमो हि बाह्यमाभ्यन्तर च, बाह्य तावदन्येष्वपि देवलोकेषु तमो नास्ति, कि पुनरनुत्तरविमानेषु? अभ्यतरतममधिकृत्यापदिश्यते—सर्व एव हि सम्यग्दृष्टय, अथवा मोहयति पुरुष मोहसजात स्त्रिय, ता तत्र न।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र २५२

विमोहा इवात्यवेदादिमोहनीयोदयतया विमोहा, अथवा मोहो द्विधा—द्रव्यतो भावतश्च, द्रव्यतोऽन्धकारो भावतश्च मिथ्यादर्शनादि, स द्विविधोऽपि मननरत्नोद्योतितत्वेन सम्यग्दर्शनस्यैव च तत्र सम्भवेन विगतो येषु ते विमोहा।

६–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १४०

'अहुणोववन्नसकासा' अभिनवोत्पन्नस्य देहस्य सर्वस्यैवाभ्यधिका द्युतिर्भवति अनुत्तरेष्वपि।

७–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र २५२

अधुनोपपन्नसकाशा प्रथमोत्पन्नदेवतुल्या, अनुत्तरेषु हि वर्णद्युत्यादि यावदायुस्तु तावेव भवति।

(ख) सुखबोधा, पत्र १०८।

श्लोक २६

२०—श्लोक २६ :

इस श्लोक का प्रतिपाद्य है कि संयत मुनि मृत्यु से नहीं डरते, मृत्यु के समीप आने पर वे त्रास नही पाते, वे मृत्यु को उत्सव मानते है। इसको पुष्ट करते हुए नेमिचन्द्र ने एक श्लोक उद्धृत किया है[1]—

सुगहियतवपत्थयणा, विसुद्धसम्मत्त-नाण-चारित्ता।
मरण उत्सवभूय, मन्नति समाहियप्पाणो॥

अर्थात् जिनके पास तपरूपी पाथेय है, जिनका श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र विशुद्ध है, वे समाहित आत्मा वाले मुनि मरण को 'उत्सव' मानते है।

श्लोक ३२

२१—शरीर का त्याग करता है (आघायाय समुस्सयं ख) :

शान्त्याचार्य ने इसका अर्थ 'बाह्य और आन्तरिक शरीर का नाश करता हुआ' किया है।[2] इस अर्थ के आधार पर इसका सस्कृत रूप—'आघातयन् समुच्छ्रयम्' बनता है। इस चरण का वैकल्पिक अर्थ 'शरीर के विनाश का अवसर आने पर' भी किया गया है। यह अर्थ करने में विभक्ति का व्यत्यय मानना पडा, अत इसमें उसका सस्कृत रूप भी बदल गया, जैसे—'आघाताय समुच्छ्रयस्य'[3]। आचाराग (१।४।४।२) वृत्ति में समुच्छ्रय का अर्थ 'शरीर' किया गया है। बौद्ध साहित्य में समुच्छ्रय का अर्थ 'देह' मिलता है।[4] इस श्लोक में 'आघायाय' शब्द 'आघायाये' के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है— ऐसा सरपेन्टियर ने लिखा है और उन्होने पिसेल का नामोल्लेख कर अपनी बात की पुष्टि की है।[5]

२२—(तिण्हमन्नयरं मुणी घ) :

भक्त-परिज्ञा, इगिनी और पादोपगमन—ये अनशन के तीन प्रकार हैं। मुनि को इन तीनो में से किसी एक के द्वारा देह-त्याग करना चाहिये। इसलिए उसके मरण के भी ये तीन प्रकार हो जाते है। चतुर्विध आहार तथा बाह्य और आभ्यन्तर उपधि का जो यावज्जीवन के लिए प्रत्याख्यान किया जाता है उस अनशन को भक्त-परिज्ञा कहा जाता है। इगिनी में अनशन करने वाला निश्चित स्थान में ही रहता है, उससे बाहर नही जाता। पादोपगमन में अनशन करने वाला कटे हुए वृक्ष की भाँति स्थिर रहता है और शरीर की सार-सभाल नही करता।[6]

१—सुखबोधा, पत्र १०८।

२—बृहद् वृत्ति, पत्र २५४ :
'आघायाय' त्ति आर्षत्वात् आघातयन् सलेखनादिभिरुपक्रमणकारणे समन्ताद् घातयन्—विनाशयन्, क ?—समुच्छ्रयम्—अन्त· कार्मणशरीर बहिरौदारिकम्।

३—वही, पत्र २५४
यद्वा—'समुस्सत' त्ति सुब्व्यत्ययात्समुच्छ्रयस्याघाताय—विनाशाय काले सम्प्राप्त इति।

४—महावस्तु, पृ० ३६९।

५—उत्तराध्ययन, पृ० ३०१।

६—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २२५।

अध्ययन ६

खुड्डागनियंठिज्जं

श्लोक १

१–अविद्यावान् (मिथ्यात्व से अभिभूत) (अविज्जा क) :

जिसमें तत्त्वज्ञानात्मिका विद्या न हो, उसे अविद्य कहा जाता है। अविद्य का अर्थ सर्वथा अज्ञानी नहीं किन्तु अतत्त्वज्ञ है। जीव सर्वथा ज्ञान-शून्य होता ही नही। यदि ऐसा हो तो फिर जीव और अजीव में कोई भेद ही नहीं रह जाता।[1]

श्लोक २

२–(पास-जाईपहे ख, अप्पणा सच्च ग) :

'पास-जाईपहे'—चूर्णि में 'पास' का अर्थ 'पश्य' और 'जाति-पथ' का अर्थ चौरासी लाख जीवयोनि किया गया है।[2] टीका में 'पास' का अर्थ 'स्त्री आदि का सम्बन्ध' है। वे एकेन्द्रिय आदि जातियो के 'मार्ग' होते है, इसलिए उन्हें जाति-पथ कहा गया है। 'पाशजातिपथ' अर्थात् एकेन्द्रिय आदि जातियो में ले जाने वाले स्त्री आदि के सम्बन्ध।[3] हमने 'पास' और 'जाइपह' को असमस्त मानकर अनुवाद किया है।

'अप्पणा'—इसका तात्पर्य है कि व्यक्ति स्वय सत्य की खोज करे। पराभियोग—दूसरों के दबाव से, भय से अथवा लोक-रजन के लिए सत्य की गवेषणा का कोई विशेष अर्थ नही होता। इसीलिए कहा गया है कि सर्वत्र सदा आत्मना—स्वय अपनी स्वतत्र भावना से—सत्य की मार्गणा करे।

'सच्च'—सत् अर्थात् जीव। उसके लिए जो हितकर होता है उसे सत्य कहा जाता है। यथार्थ-ज्ञान और सयम जीव के लिए हितकर होते हैं। इसलिए वे सत्य कहलाते हैं।[4]

इस श्लोक में बताया गया है कि सत्य की खोज वही कर सकता है जो वचनो की समीक्षा में पडित हो। सत्य को वही पा सकता है जो स्वतन्त्र चेतना से उसकी खोज करता है। सत्य की खोज का नवनीत विश्वमैत्री—सर्वभूत मैत्री है।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र २६२

वेदनं विद्या—तत्त्वज्ञानात्मिका, न विद्या अविद्या—मिथ्यात्वोपहतकुत्सितज्ञानात्मिका, तत्प्रधाना पुरुषा अविद्यापुरुषा, अविद्यमाना वा विद्या येषा ते अविद्यापुरुषा, इह च विद्या शब्देन प्रभूतश्रुतमुच्यते, न हि सर्वथा श्रुताभाव जीवस्य, अन्यथा अजीवत्वप्राप्ते, उक्त हि—

'सव्वजीवाणपि य ण अक्खरस्सऽणतभागो णिच्चुग्घाडितो।
जदि सोऽवि आवरिज्जेज्ज तो ण जीवो अजीवत्तण पावेज्जा॥'

२–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १४९

'पास' त्ति पास, जायन्त इति जाती, जातीना पथा जातिपथा, अतस्ते जातिपथा बहू 'चुलसीतिं खलु लोए जोणीणं पमुहसयसहस्साइ।'

३–बृहद् वृत्ति, पत्र २६४

पाशा—अत्यन्तपारवश्यहेतव, कलत्रादिसम्बन्धास्त एव तीव्रमोहोदयादिहेतुतया जातीनाम्—एकेन्द्रियादिजातीना पन्थान—तत्प्रापकत्वान्मार्गा पाशजातिपथा तान्।

४–वही, पत्र २६४

सद्भ्यः—जीवादिभ्यो हित—सम्यग् रक्षण—प्ररूपणादिभि सत्य—सयम सदागमो वा।

श्लोक ४

३–(सपेहाए क, पासे समियदसणे ख, गेहिं सिणेहं ग) :

'सपेहाए'—चूर्णि में इसका अर्थ 'सम्यक्बुद्धि से' है।[1] शान्त्याचार्य ने इसके दो अर्थ किए हैं—सम्यक्-बुद्धि से अथवा अपनी बुद्धि से।[2] नेमिचन्द्र ने केवल 'अपनीबुद्धि से' किया है।[3] यही शब्द ७।१९ में आया है, वहाँ इसका अर्थ 'सम्यक्-आलोचना करके' किया गया है।[4] अपनी बुद्धि से—यह अर्थ अधिक उपयुक्त है।

'पासे'—चूर्णिकार ने इसका अर्थ 'पाश'—बन्धन किया है।[5] टीकाकारों ने इसे क्रिया मानकर इसका अर्थ 'देखें'—अवधारण करें ऐसा किया है।[6]

'समियदसणे'—जिसका मिथ्या-दर्शन शमित हो गया हो उसे शमित-दर्शन अथवा जिसे दर्शन समित—प्राप्त हुआ हो, उसे समित-दर्शन कहा जाता है। इन दोनों का अर्थ है—सम्यक् दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति।[7]

'गेहिं सिणेहं'—चूर्णिकार का कहना है कि गृद्धि द्रव्य, गाय, भैंस, बकरी, भेड़, धन, धान्य आदि में होती है और स्नेह बन्धुजनों के प्रति होता है।[8]

श्लोक ६

४–सब प्राणियों को अपना जीवन प्रिय है (पियायए ख) :

चूर्णि और वृत्तियों में इसकी व्याख्या प्रियात्मक या प्रियदय के रूप में की गई है।[9] सरपेन्टियर ने इस शब्द की मीमांसा करते हुए लिखा है कि पाली साहित्य में 'पियायति' धातु का प्रयोग मिलता है, जिसका अर्थ है चाहना, उपासना करना, सत्कार करना आदि और सम्भव

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५०
सम्यक् प्रेक्षया सपेहाए।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र २६४
'सपेहाए' त्ति प्राकृतत्वात् सप्रेक्षया—सम्यग्बुद्धया स्वप्रेक्षया वा।

३–सुखबोधा, पत्र ११२
स्वप्रेक्षया—स्वबुद्धया।

४–वही, पत्र १२१
'सपेहाए' त्ति सम्प्रेक्ष्य—सम्यगालोच्य।

५–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५०
पाश्यतेऽनेनेति पाश।

६–सुखबोधा, पत्र ११२
'पश्येत्' अवधारयेत्।

७–बृहद् वृत्ति, पत्र २६४
शमित दर्शन प्रस्तावात् मिथ्यात्वात्मक येन स तथोक्त, यदि वा स म्यक् इत—गत जीवादिपदार्थेषु दर्शनं—दृष्टिरस्येति समित-दर्शन, कोऽर्थ ?—सम्यग्दृष्टि।

८–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५१
गृद्धि द्रव्यगोमहिष्यजाविकाधनधान्यादिषु स्नेहस्तु बान्धवेषु।

९–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५१ :
'पियायए' प्रिय आत्मा येषा ते प्रियात्मान।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र २६५ :
'पियादए' त्ति आत्मवत सुखप्रियत्वेन प्रिया दया—रक्षण येषा तान् प्रियदयान्, प्रियआत्मा येषा तान् प्रियात्मकान् वा।

(ग) सुखबोधा, पत्र ११२।

है यही क्रिया जैन महाराष्ट्री में भी आई हो। अत इस धातु के 'पियायइ', 'पियाएइ' रूपो से 'पियायए' रूप भी सहज गम्य हो जाता है। इस रूप को मानने पर ही प्रथम दो चरणो का अर्थ सहज सुगम हो जाता है।[1]

यदि हम टीकाकारो का अनुसरण करते है तो हमे 'दिस्स' शब्द को दोनो ओर जोडना पडता है और यदि हम 'पियायए' को धातु मान लेते है तो ऐसा नही करना पडता और अर्थ में भी विपर्यास नही होता। इसके अनुसार 'पाणे पियायए' का अर्थ होगा—प्राणियो के साथ मैत्री करे।

किन्तु आचाराग के—सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्खपडिकूला, अप्पियवहा, पियजीविणो, जीविउकामा, सव्वेसिं जीविय पियं (१।२।३।६३,६४) सदर्भ में इस श्लोक को पढते है तो 'पियायए' का अर्थ प्रियायुष् (प्रियायुष) सभव लगता है और अर्थ-सगति की दृष्टि से भी वह उचित है। 'पियायए'—यहाँ पियाउए पाठ की परावृत्ति हुई है—ऐसा लगता है।

आचाराग वृत्ति मे 'सव्वे पाणा पियाउया' का पाठान्तर है—'सव्वे पाणा पियायया'। शीलाक सूरि ने 'पियायया' का अर्थ—जिन्हें अपनी आत्मा प्रिय हो वे प्राणी—किया है।[2] पियायया प्रथमा का बहुवचन है और पियायए द्वितीया का बहुवचन। इस प्रकार घूम-फिर कर हम फिर 'पियायय' के प्रियात्मक अर्थ पर ही आ पहुँचते हैं।

श्लोक ७

५–(नरग क, दोगुंछी ग, अप्पणो पाए ग, दिन्नं घ) :

'नरग'—परिग्रह नरक का हेतु है। अत कारण में कार्य का उपचार कर उसे नरक कहा गया है।[3] आचाराग (१।१।२।२४) मे भी ऐसा प्रयोग हुआ है। वहाँ हिंसा आदि को नरक कहा गया है।

'दोगुंछी'—चूर्णिकार के अनुसार जुगुप्सा का अर्थ 'सयम' है। जो असयम से जुगुप्सा करता है वह जुगुप्सी है।[4]

शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने इसका अर्थ—आहार किए बिना धर्म करने में असमर्थ शरीर से जुगुप्सा करने वाला—किया है।[5]

पहले अर्थ की ध्वनि है—असयम के प्रति जुगुप्सा करने वाला और दूसरे की ध्वनि है—शरीर की असमर्थता के प्रति जुगुप्सा करने वाला।

'अप्पणो पाए'—चूर्णिकार ने कहा है—सयमी-जीवन के निर्वाह के लिए पात्र आवश्यक है। वह परिग्रह नही है।[6] मुनि अपने

१—उत्तराध्ययन, पृ० ३०३।

२—आचाराग १।२।३।८२, वृत्ति पत्र ११०, १११

पाठान्तर वा 'सव्वेपाणा पियायया', आयत — आत्माऽनाद्यनन्ततत्वात स प्रिये येषा ते तथा सर्वेऽपि प्राणिन. प्रियात्मान।

३—बृहद् वृत्ति, पत्र २६६

नरककारणत्वान्नरकम्।

४—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५७

दुगुंछा—सजमो, किं दुगुंछति ?, असजमं।

५—(क) बृहद् वृत्ति पत्र २६६

जुगुप्सते आत्मानमाहारं विना धर्मधुराधरणाक्षममित्येवंशीलो जुगुप्सी।

(ख) सुखबोधा, पत्र ११०।

६—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५७

पाति जीवानात्मानं वा तेनेति पात्र, आत्मीयपात्रग्रहणात मा कश्चिद् परपात्रे गृहीत्वा भोक्ष्यति तेन पात्रग्रहणं, ण सो परिग्गहु इति।

पात्र में भोजन करे, गृहस्थ के पात्र में भोजन न करे। इसके समर्थन में शान्त्याचार्य ने "पच्छाकम्म पुरेकम्म" (दशवैकालिक ६।५२) श्लोक उद्धृत किया है। उन्होंने इस उद्धरण के पूर्व 'शय्यम्भवाचार्य' का उल्लेख किया है।[1]

'पाए दिन्न'—मिलाइए बौद्धों का छट्ठा धुताग 'पात्र-पिंडिकाग'। (विशुद्धि मार्ग १।२, पृष्ठ ६०)

श्लोक ८

६–आचार को (आयरियं ग):

चूर्णिकार ने इसका सस्कृत रूप 'आचरित' और शान्त्याचार्य ने 'आर्यम्' किया है। नेमिचन्द्र ने 'आयारिय' पाठ मानकर इसका सस्कृत रूप 'आचारिकम्' किया है। आचरित का अर्थ आचार[2], आर्य का अर्थ तत्त्व[3] और आचारिक का अर्थ अपने-अपने आचार में होने वाला अनुष्ठान है[4]।

डॉ० हरमन जेकोबी ने पूर्व व्याख्याओ को अमान्य किया है। वे इसका अर्थ 'आचार्य' करते है।[5]

'आयरिय' के सस्कृत रूप आचरित और आचार्य दोनो हो सकते हैं, इसलिए आचरित को अमान्य करने का कोई कारण प्राप्त नही है। हाँ, 'आर्यम्' अवश्य ही चिन्तनीय है। किन्तु इस श्लोक में एकान्तिक ज्ञानवाद का निरसन है। साख्य आदि तत्त्वज्ञता, भेदज्ञान या विवेकज्ञान से मोक्ष मानते है। उनकी सुप्रसिद्ध उक्ति है—

पचविशतितत्त्वज्ञो, यत्र तत्राश्रमे रत।
शिखी मुण्डी जटी वापि, मुच्यते नात्र सशय ॥

'आर्य' का अर्थ तत्त्व भी है इसलिए प्रकरण की दृष्टि से शान्त्याचार्य की व्याख्या अनुपयुक्त नही है। वे 'आयरिय' के सस्कृत रूप 'आर्य' होने में स्वय सदिग्ध थे, इसीलिए उन्होंने इस प्रयोग को सौत्रिक बतलाया। 'आयारिय' का सस्कृत रूप आकारित भी होता है। आकारित अर्थात् आह्वान-वचन। जो लोग केवल आह्वान-वचनो—मत्रो के जप से सर्व दुख मुक्ति मानते है, प्रत्याख्यान या सयम करना आवश्यक नही मानते। 'आयारिय' पाठ के आधार पर यह व्याख्या भी हो सकती है।

१–बृहद वृत्ति, पत्र २६६

पात्रग्रहण तु व्याख्याद्वयेऽपि मा भूत् निष्परिग्रहतया पात्रस्याप्यग्रहणमिति कस्यचिद् व्यामोह इति ख्यापनार्थं, तदपरिग्रहे हि तथाविधलब्ध्याद्यभावेन पाणिभोक्तृत्वाभावाद्गृहिभाजन एव भोजन भवेत्, तत्र च बहुदोषसम्भव, तथा च शय्यम्भवाचार्य —

पच्छाकम्म पुरेकम्मं, सिया तत्थ ण कप्पइ।
एयमट्ठ ण भुजति, णिग्गथा गिहिमायणे॥

२–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५२

आचारे निविष्टमाचरित, आचरणीय वा।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र २६६

'आयरिय' ति सूत्रत्वात् आराद्यात सर्वकुयुक्तिभ्य इत्यार्य तत्त्वम्।

४–सुखबोधा, पत्र ११३

'आचारिक' निजनिजाऽऽचारभवमनुष्ठानमेव।

५—Sacred Books of the East, Vol XLV, Uttarādhyayana, p 25

श्लोक १०

७–(चित्ता क, विज्जाणुसासणं ख) :

'चित्ता'—'चित्रा' भाषा का विशेषण है। वह धातु, उपसर्ग, सन्धि, तद्धित, काल, प्रत्यय, प्रकृति, लोप, आगम आदि भेदों से विभिन्न शब्दों वाली,[1] अथवा प्राकृत, संस्कृत आदि विभिन्न रूपों वाली होती है इसलिए उसे विचित्र कहा गया है।[2]

'विज्जाणुसासण'—इसका अर्थ है—मंत्र आदि का शिक्षण।[3] डॉ० हरमन जेकोबी ने इसका अर्थ—दार्शनिक शिक्षण—किया है।[4]

श्लोक ११

८–श्लोक ११ :

'मन, वचन और काया से शरीर में आसक्त होते हैं' इसे स्पष्ट करते हुए नेमिचन्द्र ने कहा है—'हम सुन्दर और मोटे शरीर वाले कैसे बनें'—मन में सतत यह चिन्तन करना, काया से सदा रसायन आदि का उपयोग कर शरीर को बलिष्ठ बनाने का प्रयत्न करना और वाणी से रसायन आदि सम्बन्धित प्रश्न करते रहना आसक्ति है।[5]

श्लोक १२

९–सब दिशाओं (उत्पत्ति स्थानों) को (सव्वदिसं ग) :

यहाँ दिशा शब्द से समस्त भाव-दिशाओं का ग्रहण किया गया है। भाव-दिशा अठारह प्रकार की होती है। जैसे—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, मूलबीज, स्कन्धबीज, अग्रबीज, पर्वबीज, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, तिर्यञ्चयोनिक, नारक, देव, सम्मूर्च्छनज, कर्म-भूमिज, अकर्म-भूमिज, अन्तर-द्वीपज।[6]

श्लोक १३

१०–आत्मा देह से भिन्न है (अथवा मोक्ष संसार से बाह्य और ऊर्ध्व है) (बहिया उड्ढं क) :

लोकायत मानते हैं कि—'ऊर्ध्वं देहात् पुरुषो न विद्यते, देह एव आत्मा'—देह से ऊर्ध्व—परे कोई आत्मा नहीं है, देह ही आत्मा है। इसका निरसन करते हुए सूत्रकार ने कहा है—'बहिया उड्ढं'—शरीर से परे भी आत्मा है। यह चूर्णि की व्याख्या है।[7] वृत्तियों के अनुसार 'बहिया उड्ढं' का अर्थ मोक्ष है। जो संसार से बहिर्भूत है और सबसे ऊर्ध्ववर्ती है उसे 'बहि ऊर्ध्व' कहा जाता है।[8]

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५३
चित्रानाम धातूपसर्गसन्धितद्धितकालप्रत्ययप्रकृतिलोपागमविशुद्धया।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र २६७
'चित्रा' प्राकृतसंस्कृतादिरूपा अर्थविषय ज्ञानमेव मुक्त्यगमित्यादिका वा।

३–वही, पत्र २६७
विद्यन्तेऽनया तत्त्वमिति विद्या—विचित्रमन्त्रात्मिका तस्या अनुशासन—शिक्षणं विद्यानुशासनम्।
—Sacred Books of the East, Vol XL V, Uttarādhyayana, p 26

५–सुखबोधा, पत्र ११३, ११४।

६–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५४।
(ख) बृहद् वृत्ति पत्र २६८।

७–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५५।

८–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र २६८
'बहिः' इति बहिः, कोऽर्थः ?—बहिर्भूत संसारादिति गम्यते, ऊर्ध्वं सर्वोपरिस्थितम् अर्थान्मोक्षम्।
(ख) सुखबोधा, पत्र ११४।

श्लोक १४

११–(काल-कंखी ख, पिंडस्स पाणस्स ग)

'कालकखी'—चूर्णिकार ने इसका अर्थ—पण्डित-मरण के काल की आकाक्षा करने वाला अर्थात् आजीवन संयम की इच्छा करने वाला—किया है।[१]

शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने इसका अर्थ क्रियोचित काल की आकाक्षा करने वाला किया है।[२] 'कालकखी परिव्वए'—ये दो शब्द आचाराग १।३।२।११२ में ज्यो-के-त्यो आए हैं।

'पिंडस्स पाणस्स'—इस श्लोक में केवल दो शब्द—पिण्ड और पान आए हैं। अन्यत्र अनेक स्थानो में—असण, पाण, खाइम, साइम—ऐसे चार शब्द आते है। चूर्णिकार ने पिण्ड शब्द को अशन, खाद्य और स्वाद्य—इन तीनो का सूचक माना है।[३] मुनि खाद्य और स्वाद्य का प्राय उपभोग नही करते, ऐसा वृत्तिकारो का अभिमन है।[४] अभयदेव सूरि ने भी स्थानाग वृत्ति में ऐसा ही मत प्रकट किया है।[५] चौदह प्रकार के दान जो बतलाए है उनमें खाद्य, स्वाद्य भी सम्मिलित है।[६] इन दोनो प्रकारो के उल्लेखों से यही जान पडता है कि इनका ऐकान्तिक निषेध नही है।

श्लोक १५

१२–संयमी मुनि लेप लगे उतना भी सग्रह न करे—बासी न रखे (सन्निहिं च न कुव्वेज्जा क, लेवमायाए संजए ख) :

सन्निधि का अर्थ है—अशन आदि को स्थापित करके रखना, दूसरे दिन के लिए सग्रह करना।[७]

निशीथ चूर्णि में थोडे समय के बाद विकृत हो जाने वाले दूध, दही आदि को सन्निधि और चिरकाल तक न बिगडने वाले घी, तेल आदि को सचय कहा है।[८]

लेप मात्र का अर्थ है—जितनी वस्तु से पात्र पर लेप लगे उतनी मात्रा। मात्रा शब्द के अनेक अर्थ होते है—

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५५
कालनाम यावदायुष त पडितमरणकाल काङ्क्षमाण ।

२–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र २६८, २६९
कालम् अनुष्ठानप्रस्ताव काङ्क्षत इत्येवशील कालकाङ्क्षी।
(ख) सुखबोधा, पत्र ११४।

३–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५५
पिण्डग्रहणात् त्रिविध आहार ।

४–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र २६९
'पिण्डस्य' ओदनादेरन्नस्य 'पानस्य च' आयामादे, खाद्यस्वाद्यानुपादान च यते प्रायस्तत्परिभोगासम्भवात्।
(ख) सुखबोधा, पत्र ११४।

५–स्थानाग ९।६६३, वृत्ति, पत्र ४४५
खाद्यस्वाद्ययोरुत्सर्गतो यतीनामयोग्यत्वात्पानभोजनयोर्ग्रहणमिति।

६–उपासकदसा २
असणपाणखाइमसाइमेण पडिलाभेमाणस्स विहरित्तए।

७–बृहद् वृत्ति, पत्र २६९
सन्निधि —प्रातरिद भविष्यतीत्याद्यभसन्धितोऽतिरिक्ताशनादिस्थापनम्।

८–निशीथ चूर्णि, उद्देशक ८, सूत्र १८।

ईषदर्थे क्रियायोगे, मर्यादाया परिच्छदे ।
परिणामे घने चेति, मात्रा शब्द प्रकीर्तित ॥

यहां मात्रा शब्द परिमाण के अर्थ में है।[1] शान्त्याचार्य ने इसे मर्यादा के अर्थ में भी माना है। उनके अनुसार इसका अर्थ होगा—मुनि अपने काष्ठ पात्र पर गाढ़े तेल या रोगन आदि का लेप लगाए उसके अतिरिक्त किसी प्रकार की सन्निधि न रखे।[2]

१३—(पक्षी की भाँति कल की अपेक्षा न रखता हुआ पात्र लेकर भिक्षा के लिए पर्यटन करे) (पक्खी पत्तं समादाय ग, निरवेक्खो परिव्वए घ):

यहाँ 'पत्त' शब्द में श्लेष है। इसके दो अर्थ होते हैं—पत्र (पंख) और भिक्षा-पात्र। चूर्णिकार ने इसका अर्थ किया है—जैसे पक्षी अपने पंखों को साथ लिए उड़ता है, इसलिए उसे पीछे की कोई अपेक्षा—चिन्ता नहीं होती, वैसे ही भिक्षु अपने पात्र आदि उपकरणों को जहाँ जाए वहाँ साथ ले जाए, संग्रह करके कहीं रखे नहीं अर्थात् पीछे की चिन्ता से मुक्त होकर—निरपेक्ष होकर विहार करे।[3]

वृत्तिकारों ने इसका तात्पर्यार्थ किया है कि संयमोपकारी पात्र आदि उपकरणों की सन्निधि करने में दोष नहीं है।[4]

शान्त्याचार्य ने वैकल्पिक अर्थ में 'पत्त' को पात्र मानकर व्याख्या की है।[5] हमारा अनुवाद इसी पर आधारित है।

श्लोक १७

१४—ज्ञातपुत्र (नायपुत्ते ग):

चूर्णि में ज्ञातपुत्र का अर्थ—ज्ञातकुल में प्रसूत सिद्धार्थ क्षत्रिय के पुत्र—है।[6] वृत्तियों में ज्ञात का अर्थ उदार-क्षत्रिय, प्रकरण वश सिद्धार्थ किया गया है। ज्ञातपुत्र अर्थात् सिद्धार्थ पुत्र।[7] आचाराङ्ग में भगवान् के पिता को काश्यपगोत्री कहा गया है।[8] भगवान् इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न हुए थे, ऐसा माना जाता है। भगवान् ऋषभ इक्ष्वाकुवंशी और काश्यपगोत्री थे। इसीलिए वे आदि काश्यप कहलाते हैं। भगवान् महावीर भी

१—सुखबोधा, पत्र ११४
'लेपमात्रया' यावता पात्रमुपलिप्यते तावत्परिमाणमपि ।

२—बृहद् वृत्ति, पत्र २६९
लेप — पात्रलेपादिनिमित्तं पात्रगत परिगृह्यते तस्य मात्रा—मर्यादा, मात्राशब्दस्य मर्यादावाचित्वेनापि रूढत्वात् ' लेपमात्रया, किमुक्तं भवति ?—लेपमेव मर्यादीकृत्य न स्वल्पमप्यन्यत् सन्निदधीत ।

३—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५
यथा वा पक्षी तं पत्रभारं समादाय गच्छति एवमुपकरणं भिक्षुरादाय णिरवेक्खो परिव्वए ।

४—(क) बृहद् वृत्ति, पत्र २६९
तथा च प्रतिदिनमसंयमपरिभीरुतया पात्राद्युपकरणसंनिधिकरणेऽपि न दोषः ।
(ख) सुखबोधा पत्र ११५ ।

५—बृहद् वृत्ति, पत्र २७०
पक्षीव निरपेक्षः पात्रं पतद्ग्रहाभिधानभाजनमर्थात्तन्निर्योगं च समादाय व्रजेत्—भिक्षार्थं पर्यटेत्, इदमुक्तं भवति—मधुकरवृत्त्या हि तेन निर्वहणं तत् किं तस्य सन्निधिना ?

६—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५
णायकुलप्पसूते सिद्धत्थखत्तियसुते ।

७—(क) बृहद् वृत्ति पत्र २७०
ज्ञातः—उदारक्षत्रियः स चेह प्रस्तावात् सिद्धार्थः तस्य पुत्रो ज्ञातपुत्रः—वर्धमानतीर्थाधिपतिः
(ख) सुखबोधा पत्र ११५ ।

८—आचाराङ्ग २।१५।
समणस्स णं भगवओ महावीरस्स पिया कासवगोत्तेणं ।

९—अभिधान चिन्तामणि, १।३५ ।

इक्ष्वाकुवंशी और काश्यप गोत्री थे। 'ज्ञात' काश्यप गोत्रियों का कोई अवान्तर भेद था या सिद्धार्थ का ही कोई दूसरा नाम था अथवा 'नाय' का मूल अर्थ समझने में भ्रम हुआ है। हो सकता है उसका अर्थ नाग हो और ज्ञात समझ लिया गया हो।

वज्जी देश के शासक लिच्छवियों के नौ गण थे। ज्ञात या नाग उन्हीं का एक भेद था। देखें—दशवैकालिक ६।२० का टिप्पण, संख्या ४०।

१५—वैशालिक (वेसालिए घ) :

चूर्णिकार ने वैशालिक के कई अर्थ दिए हैं—जिसके गुण विशाल हो, जिसका शासन विशाल हो, जो विशाल इक्ष्वाकुवंश में जन्मा हो, जिसकी माता वैशाली हो, जिसका कुल विशाल हो, उसे वैशालिक कहा जाता है।[1] इसके संस्कृत रूप वैशालीय, वैशालिय, विशालिक, विशालीय और वैशालिक हैं।

जैनागमों में स्थान-स्थान पर भगवान् महावीर को 'वेसालिय' कहकर सम्बोधित किया गया है। कारण कि भगवान् का जन्म स्थान कुण्ड ग्राम था। वह वैशाली के पास था। जन्म स्थान के विषय में श्वेताम्बर और दिगम्बर एक मत नहीं हैं परन्तु वैसालिय शब्द पर ध्यान जाते ही वैशाली की याद आ जाती है।

भगवान् की माता त्रिशला वैशाली के गणराज्य के अधिपति चेटक की बहिन थी। इसके अनुसार चूर्णिकार का यह अर्थ—वैशाली जिसकी माता हो—बहुत संगत लगता है।

१—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५६, १५७

'वेसालीए' त्ति, गुणा अस्य विशाला इति वैशालीय, विशाल शासनं वा, विशाले वा इक्ष्वाकुवंशे भवा वैशालिया,

"वैशाली जननी यस्य, विशाल कुलमेव च।

विशाल प्रवचनं वा, तेन वैशालिको जिन ॥"

अध्ययन ७

श्लोक १

१—श्लोक १ :

चूर्णिकार और टीकाकार ने यहाँ एक कथा प्रस्तुत की है। कथा के प्रसग में निर्युक्ति की एक गाथा है—

> आउरचिन्नाइ एयाइ, जाइ चरइ नदिओ।
> सुक्कतणेहि लाढाहि एय दीहाउलक्खणम्॥[1]

गाय ने अपने बछड़े से कहा—"वत्स! यह नंदिक—मेमना जो खा रहा है, वह आतुर का चिन्ह है। रोगी अन्तकाल में पथ्य या अपथ्य जो कुछ मांगता है, वह सब उसे दे दिया जाता है। वत्स! सूखे तिनको से जीवन चलाना दीर्घायु का लक्षण है।"

इसकी तुलना मुनिक जातक (नं० ३०) के श्लोक से होती है—

> मा मुनिकस्स पिहयि, आतुरन्नानि भुजति।
> अप्पोस्सुक्को भुस खाद, एत दीघायुलक्खण॥

२—पाहुने के (आएसं ग):

चूर्णि के अनुसार 'आएस' के संस्कृत रूप दो होते हैं—आदेश और आवेश।[2] इसका अर्थ है—पाहुना[3]।

३—मूंग, उड़द आदि (जवसं ग):

चूर्णिकार और टीकाकारों ने इसका अर्थ 'मूंग, उड़द आदि धान्य' किया है।[4] शब्द-कोश मे इसका अर्थ—तृण, घास, गेहूँ आदि धान्य किया गया है।[5]

डा० हर्मन जेकोबी ने इस शब्द पर टिप्पणी देते हुए लिखा है कि भारतवर्ष में धान्य कणो द्वारा पोषित भेड़ का मांस अच्छा गिना जाता है।[6]

४–अपने आंगन में (सयंगणे ^घ) :

इसका अर्थ है—अपने घर के आगन में।[१] चूर्णिकार ने मूल में तथा शान्त्याचार्य ने वैकल्पिक रूप में 'विसयगणे' मानकर 'विसय' का अर्थ 'गृह' और 'आगण' का अर्थ 'आंगन' किया है। विषयागण अर्थात् गृहागण। इसका दूसरा अर्थ—इन्द्रियो के विषयों की गणना करता हुआ—चिन्तन करता हुआ—किया गया है।[२]

श्लोक ३

५–बेचारा (दुही ^ख) :

सूत्रकार ने उस उपचित मेमने को दु खी बताया है। प्रश्न होता है कि समस्त सुखोपभोग करते हुए भी वह दु खी क्यों है ? चूर्णिकार और नेमिचन्द्र इसका समाधान इन शब्दों में देते है कि जिस प्रकार मारे जाने वाले मनुष्य या पशु को अलकृत करना तत्वत दु खी करना ही है। वैसे ही इस मेमने को खिलाए जाने वाले ओदन आदि तत्त्वत दु ख देने वाले हैं।[३]

शान्त्याचार्य ने 'सेऽदुही' में अकार को लुप्त मानकर प्रथम व्याख्या 'अदुहो' की है।[४] परन्तु यहाँ 'दुही' शब्द 'अदुही' की अपेक्षा अधिक अर्थ देता है।

श्लोक ८

६–द्यूत आदि के द्वारा गंवाकर (हिच्चा ^ग) :

इसका सामान्य अर्थ है—छोडकर। परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में इसका अर्थ है—द्यूत आदि व्यसनों के द्वारा गवाकर।[५] नेमिचन्द्र ने इसी आशय का एक श्लोक उद्धृत किया है—

द्यूतेन मद्येन पणाङ्गनाभि तोयेन भूपेन हुताशनेन।
मलिम्लुचेनाऽशहरेण नाश, नीयेत वित्त ववचने स्थिरत्वम् ॥

१–बृहद् वृत्ति, पत्र २७२
'स्वकाङ्गणे' स्वकीयगृहाङ्गणे।

२–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५८
जो जस्स विसाति स तस्स विसयो भवति, यथा राज्ञो विषय, एव यद्यस्य विषयो भवति, लोकेऽपि वक्तारो भवन्ति सर्वो ह्यात्मगृहे राजा, अगति तस्मिन्निति अगन, गृहागनमित्यर्थ, अथवा विषया रसादय तान् गगयन्—प्रीणितोऽस्य मासेन विषयान् भोक्ष्यामीति, अथवा विषयान् इति।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र २७२
यदि वा 'पोसेज्जा विसयगणे'त्ति विशन्त्यस्मिन् विषयो—गृह तस्याङ्गण विषयाङ्गण तस्मिन्, अथवा विषय—रसलक्षण वचनव्यत्ययाद् विषयान्वा गणयन्—सप्रधारयन् धर्मनिरपेक्ष इति भाव ।

३–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५९
कह दुही जवसोदनेऽपि दीयमाने ?, उच्यते, वधस्य वध्यमाने इष्टाहारे वा वध्यालकारेण वाऽलक्रियमाणस्स किमिव सुख ?, एवमसौ जवसोदगादिसुखेऽपि सति दु खमानेवा।

(ख) सुखबोधा, पत्र ११७
'दुहि' त्ति वध्यमण्डनमिवाऽस्यौदनदानादीनि तत्त्वतो दु खमेव तदस्यास्तीति दु खी।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र २७३
'सेऽदुहि'त्ति अकारप्रश्लेषात् स इत्युरभ्रोऽदु खी सुखी सन, अथवा वध्यमण्डनमिवास्यौदनदानादिनीति तत्त्वतो दु खितैवास्येति दु खी।

५–सुखबोधा, पत्र ११७
'हित्वा' द्यूताद्यसद्व्ययेन त्यक्त्वा।

अध्ययन ७

श्लोक १

१–श्लोक १ :

चूर्णिकार और टीकाकार ने यहाँ एक कथा प्रस्तुत की है। कथा के प्रसग में निर्युक्ति की एक गाथा है—

आउरचिन्नाइ एयाइ, जाइ चरइ नदिओ।
सुक्कतणेहिं लाढाहि एय दीहाउलक्खणम् ॥[1]

गाय ने अपने बछड़े से कहा—"वत्स! यह नदिक—मेमना जो खा रहा है, वह आतुर का चिन्ह है। रोगी अन्तकाल में पथ्य या अन्न जो कुछ मांगता है, वह सब उसे दे दिया जाता है। वत्स! सूखे तिनकों से जीवन चलाना दीर्घायु का लक्षण है।"

इसकी तुलना मुनिक जातक (नं० ३०) के श्लोक से होती है—

मा मुनिकस्स पिहयि, आतुरन्नानि भुजति।
अप्पो सुक्को भुस खाद, एत दीघायुलक्खण ॥

२–पाहुने के (आएस ग) :

चूर्णि के अनुसार 'आएस' के संस्कृत रूप दो होते है—आदेश और आवेश।[2] इसका अर्थ है—पाहुना[3]।

३–मुग, उड़द आदि (जवस ग) :

चूर्णिकार और टीकाकारों ने इसका अर्थ 'मृग, उड़द आदि धान्य' किया है।[4] शब्द-कोश में इसका अर्थ—तृण, घास, गेहूँ आदि धान्य किया गया है।

डा० हर्मन जेकोबी ने इस शब्द पर टिप्पणी देते हुए लिखा है कि भारतवर्ष में धान्य कणों द्वारा पोषित भेड का मास अच्छा गिना जाता है।

४–अपने आंगन में (सयंगणे घ) :

इसका अर्थ है—अपने घर के आगन में ।[1] चूर्णिकार ने मूल में तथा शान्त्याचार्य ने वैकल्पिक रूप में 'विसयगणे' मानकर 'विमय' का अर्थ 'गृह' और 'आगण' का अर्थ 'आंगन' किया है । विषयागण अर्थात् गृहागण । इसका दूसरा अर्थ—इन्द्रियो के विषयों की गणना करता हुआ—चिन्तन करता हुआ—किया गया है ।[2]

श्लोक ३

५–बेचारा (दुही ख) :

सूत्रकार ने उस उपचित मेमने को दु खी बताया है । प्रश्न होता है कि समस्त सुखोपभोग करते हुए भी वह दु खी क्यो है ? चूर्णिकार और नेमिचन्द्र इसका समाधान इन शब्दों में देते हैं कि जिस प्रकार मारे जाने वाले मनुष्य या पशु को अलकृत करना तत्वत दु खी करना ही है । वैसे ही इस मेमने को खिलाए जाने वाले ओदन आदि तत्त्वत दु ख देने वाले है ।[3]

शान्त्याचार्य ने 'सेऽदुही' में अकार को लुप्त मानकर प्रथम व्याख्या 'अदुहो' की है ।[4] परन्तु यहाँ 'दुही' शब्द 'अदुही' की अपेक्षा अधिक अर्थ देता है ।

श्लोक ८

६–द्यूत आदि के द्वारा गंवाकर (हिच्चा ग) :

इसका सामान्य अर्थ है—छोडकर । परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में इसका अर्थ है—द्यूत आदि व्यसनों के द्वारा गवाकर ।[5] नेमिचन्द्र ने इसी आशय का एक श्लोक उद्धृत किया है—

द्यूतेन मद्येन पणाङ्गनाभि तोयेन भूपेन हुताशनेन ।
मलिम्लुचेनाऽशहरेण नाश, नीयेत वित्त क्वचने स्थिरत्वम् ॥

१–बृहद् वृत्ति, पत्र २७२
'स्वकाङ्गणे' स्वकीयगृहाङ्गणे ।

२–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५८
जो जस्स विसाति स तस्स विसयो भवति, यथा राज्ञो विषय, एव यद्यस्य विषयो भवति, लोकेऽपि वक्तारो भवन्ति सर्वो ह्यात्मगृहे राजा, अगति तस्मिन्निति अगन, गृहागनमित्यर्थ, अथवा विषया रसादय तान् गणयन्—प्रीणितोऽस्य मासेन विषयान् मोक्ष्यामीति, अथवा विषयान् इति ।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र २७२ :
यदि वा 'पोसेज्जा विसयगणे'त्ति विशन्त्यस्मिन् विषयो—गृह तस्याङ्गण विषयाङ्गण तस्मिन्, अथवा विषय—रसलक्षण वचनव्यत्ययाद् विषयाश्च गणयन्—सप्रधारयन् धर्मनिरपेक्ष इति भाव ।

३–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५९
कह दुही जवसोदनेऽपि दीयमाने ?, उच्यते, वधस्य वध्यमाने इष्टाहारे वा वध्यालकारेण वाऽलक्रियमाणस्स किमिव सुख ?, एवमसौ जवसोदगादिसुखेऽपि सति दु खमानेवा ।

(ख) सुखबोधा, पत्र ११७
'दुहि' त्ति वध्यमण्डनमिवाऽयौदनदानादीनि तत्त्वतो दु खमेव तदस्यास्तीति दु खी ।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र २७३
'सेऽदुहि'त्ति अकारप्रश्लेषात् स इत्युरभ्रोऽदु खी सुखी सन्, अथवा वध्यमण्डनमिवास्यौदनदानादिनीति तत्त्वतो दु खितैवास्येति दु खी ।

५–सुखबोधा, पत्र ११७
'हित्वा' द्यूताद्यसद्व्ययेन त्यक्त्वा ।

अध्ययन ७

श्लोक १

१–श्लोक १ :

चूर्णिकार और टीकाकार ने यहाँ एक कथा [illegible] है। कथा [illegible] निर्युक्ति [illegible] है—

> आउरचिन्नाइं एयाइं जाइं चरइ नंदिओ।
> सुक्कत्तणेहिं लाढाहिं एयं दीहाउलक्खणं॥[1]

[illegible]—"[illegible]" [illegible] जो कुछ [illegible] है, [illegible] है। [illegible]।"

इसकी तुलना करिए जातक (नं० ३०) के प्रसंग से [illegible] है—

> मा मुनिकस्स पिहयि, आतुरन्नानि भुञ्जति।
> अप्पोस्सुक्को भुसं खाद, एतं दीघायुलक्खणं॥

२–पाहुने के (आएसं) :

चूर्णि के अनुसार 'आएस' [illegible]—[illegible]।[2] [illegible] है—पाहुना।[3]

३–मूँग, उड़द आदि (जवसं) :

चूर्णिकार और टीकाकारों ने इसका अर्थ 'मूंग, उड़द आदि धान्य' किया है।[4] शब्द कोश में इसका अर्थ—तृण, घास, गेहूं आदि धान्य किया गया है।[5]

डॉ० हर्मन जेकोबी ने इस शब्द पर टिप्पणी देते हुए लिखा है कि भारतवर्ष में धान्य कणों द्वारा पोषित भेड़ का मांस अच्छा गिना जाता है।[6]

१–उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २४९।

२–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५८
आएस जाणतित्ति आइसो, अविसो वा, आविशति वा वेश्मनि, तत्र आविशति वा गवा इत्याण्मा।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र २७२
आदिश्यते—आज्ञाप्यते विविधव्यापारेषु परिजनोऽस्मिन्नायात इत्यादेश—अभ्यर्हित प्राहुणक।

४–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५८
जवसो मुग्गमासादि।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र २७२
'यवस' मुद्गमाषादि।

(ग) सुखबोधा, पत्र ११६।

५–(क) पाइयसद्दमहण्णवो, पृ० ४३९।

(ख) अभिधान चिन्तामणि, ४।२६१।

६–Sacred Books of the East, Vol XLV, Uttarādhyayana, p 27, Foot-note 3 Mutton of grainfed sheep is greatly appreciated in India

४–अपने आंगन में (सयंगणे [घ]) :

इसका अर्थ है—अपने घर के आगन में ।[१] चूर्णिकार ने मूल में तथा शान्त्याचार्य ने वैकल्पिक रूप में 'विसयगणे' मानकर 'विसय' का अर्थ 'गृह' और 'आगण' का अर्थ 'आंगन' किया है । विषयागण अर्थात् गृहागण । इसका दूसरा अर्थ—इन्द्रियो के विषयों की गणना करता हुआ—चिन्तन करता हुआ—किया गया है ।[२]

श्लोक ३

५–बेचारा (दुही [ख]) :

सूत्रकार ने उस उपचित मेमने को दुःखी बताया है । प्रश्न होता है कि समस्त सुखोपभोग करते हुए भी वह दुःखी क्यों है ? चूर्णिकार और नेमिचन्द्र इसका समाधान इन शब्दों में देते हैं कि जिस प्रकार मारे जाने वाले मनुष्य या पशु को अलकृत करना तत्वत दुःखी करना ही है । वैसे ही इस मेमने को खिलाए जाने वाले ओदन आदि तत्त्वत दुःख देने वाले है ।[३]

शान्त्याचार्य ने 'सेऽदुही' में अकार को लुप्त मानकर प्रथम व्याख्या 'अदुही' की है ।[४] परन्तु यहाँ 'दुही' शब्द 'अदुही' की अपेक्षा अधिक अर्थ देता है ।

श्लोक ८

६–द्यूत आदि के द्वारा गंवाकर (हिच्चा [ग]) :

इसका सामान्य अर्थ है—छोडकर । परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में इसका अर्थ है—द्यूत आदि व्यसनों के द्वारा गवाकर ।[५] नेमिचन्द्र ने इसी आशय का एक श्लोक उद्धृत किया है—

द्यूतेन मद्येन पणाङ्गनाभि तोयेन भूपेन हुताशनेन ।
मलिम्लुचेनाऽशहरेण नाश, नीयेत वित्त क्वधने स्थिरत्वम् ॥

१–बृहद् वृत्ति, पत्र २७२
'स्वकाङ्गणे' स्वकीयगृहाङ्गणे ।

२–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५८
जो जस्स विसाति स तस्स विसयो भवति, यथा राज्ञो विषय, एव यद्यस्य विषयो भवति, लोकेऽपि वक्तारो भवन्ति सर्वो ह्यात्मगृहे राजा, अगति तस्मिन्निति अगन, गृहागनमित्यर्थ, अथवा विषया रसादय तान् गणयन्—प्रीणितोऽस्य मासेन विषयान् भोक्ष्यामीति, अथवा विषयान् इति ।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र २७२ :
यदि वा 'पोसेज्जा विसयगणे'त्ति विशन्त्यस्मिन् विषयो—गृह तस्याङ्गण विषयाङ्गण तस्मिन्, अथवा विषय—रसलक्षण वचनव्यत्ययाद् विषयान्वा गणयन्—सप्रधारयन् धर्मनिरपेक्ष इति भाव ।

३–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५९
कह दुही जवसोदनेऽपि दीयमाने ?, उच्यते, वधस्य वध्यमाने इष्टाहारे वा वध्यालङ्कारेण वाऽलङ्क्रियमाणस्स किमिव सुख ?, एवमसौ जवसोदगादिसुखेऽपि सति दुःखमानेवा ।

(ख) सुखबोधा, पत्र ११७
'दुहि' त्ति वध्यमण्डनमिवाऽस्यौदनदानादीनि तत्त्वतो दुःखमेव तदस्यास्तीति दुःखी ।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र २७३
'सेऽदुहि'त्ति अकारप्रश्लेषात् स इत्युरभ्रोऽदुःखी सुखी सन्, अथवा वध्यमण्डनमिवास्यौदनदानादिनीति तत्त्वतो दुःखितैवास्येति दुःखी ।

५–सुखबोधा, पत्र ११७
'हित्वा' द्यूताद्यसद्व्ययेन त्यक्त्वा ।

श्लोक ९

७–मेमना (अय ग) :

शान्त्याचार्य ने 'अज' का अर्थ 'पशु तथा प्रस्तावानुसार उरभ्र (मेमना)' किया है।[1] अज शब्द नानार्थक है। इसके बकरा, भेड़, मेंढा, आदि अनेक अर्थ होते हैं। यहाँ इसका अर्थ भेड़ या मेंढा है। इससे पहले के श्लोक में और उरभ्र से ये शब्द और स्पष्ट होता है। अज का अर्थ—मेंढा और बकरा भी हो सकता है किन्तु उरभ्र का अभिप्रेत अर्थ मेंढा ही है।

श्लोक १०

८–आसुरीय दिशा (नरक) की ओर (आसुरियं दिसं ग) :

जहाँ सूर्य न हो उसे आसुरिय (असूर्य) कहा जाता है। इसका दूसरा अर्थ 'आसुरीय' किया गया है। रौद्र कर्म करने वाला असुर कहलाता है। असुरों की जो दिशा होती है उसे 'आसुरीय' कहा जाता है। उसका तात्पर्य है—नरक। वहाँ सूर्य नहीं होता तथा वह क्रूर कर्म करने वालों की दिशा है इसलिए वह 'आसुरीय' है।[2] प्रथम अर्थ के आधार पर 'आसुरिय' पाठ होना चाहिए और द्वितीय अर्थ के आधार पर 'आसुरीय' होना चाहिए।

श्लोक ११

९–श्लोक ११ :

इस श्लोक में दो कथाओं का संकेत है—

१—एक काकिणी के लिए सहस्र कार्षापण को हारना।

२—आम्रफल में आसक्त हो राजा के द्वारा जीवन और राज्य को खो देना।

मिलाइए—

सीलव्वयाइं जो बहुफलाइं, हंतूण सुक्ख महिलसइ।
धिइदुब्बलो तवस्सी, कोडीए कागिणि किणइ॥ (उपदेश माला श्लो० १८८)

१०–काकिणी के (कागिणिए ग) :

चूर्णि के अनुसार एक रुपये के अस्सीवें भाग तथा विंशोपक के चौथे भाग को काकिणी कहा जाता था।[3] वि (वी) सोवग—विंशोपक—देशी शब्द है। यह एक प्रकार का सिक्का था। यह रुपये का बीसवाँ भाग था।[4]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र २७५
अज —पशु , स चेह प्रस्तावादुरभ्र ।

२–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६१
नास्य सूरो विज्जति, आसुरिय वा नारका, जेसि चक्खिदियअभावे सूरो उद्योतो णत्थि, जहा एगेंदियाण दिसा भावदिसा खेत्तदिसावि घेप्पति, असतीत्यसुरा , असुराणामिय आसुरीय, अधोगतिरित्यर्थ ।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र २७६
अविद्यमानसूर्याम्, उपलक्षणत्वाद्ग्रहनक्षत्रविरहिता च, दिश्यते नारकादित्वेनास्या ससारीति दिक् ताम, अर्थात भावदिशम्, अथवा रौद्रकर्मकारी सर्वोऽप्यसुर उच्यते, ततश्चासुराणामियमासुरी या तामासुरीयाम् ।

३–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६१
कागिणी णाम रूवगस्स असीतिमो भागो, वीसोवगस्स चतुभागो ।

४–पाइयसद्दमहण्णव, पृ० १००७।

शान्त्याचार्य ने लिखा है—बीस कौडियो की काकिणी होती है।[1] मोनियर-मोनियर विलियम्स के अनुसार बीस कौडियों की अथवा 'पण' के चतुरंश की एक काकिणी होती है। बीस मासो का एक 'पण' होता है, पाँच मासो की एक काकिणी।[2]

इस विवरण से यह स्पष्ट पता लगता है कि उस समय अन्यान्य सिक्कों के साथ-साथ काकिणी, वीसोवग, पण, कौडी आदि भी चलते थे। यदि हम रुपये को मध्य-बिन्दु मानकर सोचते हैं तो—

८० काकिणी	१ रूपया
२० वीसोपग	१ रूपया
२० पण	१ रूपया
१६०० कौडियाँ	१ रूपया
२० कौडियाँ	} १ काकिणी
$\frac{1}{4}$ वीसोपग	
$\frac{1}{4}$ पण अथवा ५ मासा	

अनुयोगद्वार (सूत्र १३२) में सोना, चाँदी, रत्न आदि तौलने के बाटों में गुजा, काकिणी आदि का उल्लेख हुआ है। काकिणी को सवा रत्ती परिमाण का माना है। यह भी उपर्युक्त तालिका से सही लगता है। पाणिनी की व्याकरण मे 'काकिणी' का प्रयोग नहीं हुआ है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि उस समय इस सिक्के का प्रचलन नहीं हुआ होगा। चाणक्य ने ताम्बे की सूचि में इसका नाम दिया है (कौटिलीय अर्थशास्त्र, २।१९)। बौद्ध साहित्य में काकिणी तथा कार्षापण का उल्लेख मिलता है। आठ काकिणी का एक कार्षापण होता था। चार काकिणी के तीन मासे होते थे।[3] कात्यायन ने सूत्र ५।१।३३ पर दो वार्तिकों में काकिणी और अर्ध काकिणी का उल्लेख किया है। वहाँ एक, डेढ और दो काकिणी से मोल ली जाने वाली वस्तु के लिए काकणीक, अध्यर्धकाकणी और द्विकाकणिक प्रयोग सिद्ध किए गए हैं। देखिए—२०।४२ के 'कहावणे' का टिप्पण।

११–हजार (कार्षापण) (सहस्सं ख) :

'सहस्स' शब्द के द्वारा हजार कार्षापण उपलक्षित किए गए हैं ऐसा चूर्णि और वृत्ति का अभिमत है।[4] कार्षापण एक प्रकार का सिक्का है। इसका मान, जो धातु तोली जाती है उसके आधार पर भिन्न-भिन्न होता है। जैसे यदि सोना हो तो १६ मासा, यदि चाँदी हो तो १६ पण अथवा १२८० कौडियाँ, यदि ताँबा हो तो ८० रत्तिकाएँ अथवा १७६ ग्रेन आदि।[5] नारद (जिनका समय १०० और ३०० ई० के बीच में पड़ता है) ने एक स्थान में कहा है कि चाँदी का कार्षापण दक्षिण में चालू था और प्राच्य देश में वह २० पण के बराबर था और पचनद प्रदेश में चालू कार्षापण को वे प्रमाण नहीं मानते थे।[6] विशेष विवरण के लिए देखिए—२०।४२ के 'कहावणे' का टिप्पण।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र २७२, 'काकिणि'—विंशतिकपर्दका।

२ A Sanskrit English Dictionary p 267 A small coin or a small sum of money equal to twenty Kapardas or Cowries or to a quarter of a Pana

३–(क) संयुत्त निकाय, ३।२।३।

(ख) चुल्लसेट्ठि जातक ४, प्रथम खण्ड, पृ० २०३।

४–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६२।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र २७६

'सहस्र' दशशतात्मक, कार्षापणानामिति गम्यते।

५—Monier Monier-Williams, Sanskrit English Dictionary, p 276

६–हिन्दू सभ्यता, पृ० १७४, १७५।

श्लोक १३

१२–अनेक वर्ष नयुत (असंख्यकाल) को (अणेगवासानउया [illegible]) :

वर्षों के अनेक नयुत—अर्थात् [illegible]। 'नयुत' एक संख्यावाची शब्द है। [illegible] की गणना में भी प्रयुक्त होता है और आयुष्य काल की गणना में भी। यहाँ [illegible] काल की गणना की गई है। [illegible]। 'नयुत' [illegible] की संख्या लेना है। 'नयुत' से पहिले जो [illegible] हैं, उनका परिमाण इस प्रकार है—

=८४०००००० वर्ष	१ पूर्वांग
=८४०००००० पूर्वांग	१ पूर्व
=८४०००००० पूर्व	१ नयुतांग
=८४०००००० नयुतांग	१ नयुत

(=८४ लाख × ८४ लाख × ८४ लाख × ८४ लाख) १ नयुत। [illegible] —[illegible] ०१०, ०००, ००० ०००, ०००, ०००, ०००, ००० वर्ष होता।

श्लोक १७

१३–लोलुप और वंचक पुरुष (लोलयासढे [illegible]) :

यहाँ 'लोलया' शब्द [illegible] है। [illegible] 'लोलुप' [illegible]। 'लोलुप' [illegible] 'लोलया से शठ' हो तो उक्त पाठ हो सकता है किन्तु यह अर्थ मान्य नहीं रहा है। वृत्तिकार ने 'लोलया' पाठ की व्याख्या इस प्रकार की है—जो मांस आदि में अत्यन्त लोलुप होता है, [illegible]। [illegible] लोल (लोलता) को भी लोलया (लोलुपता) कहा गया है।[1] [illegible]—लोलुप अथवा लोलता।

शठ का अर्थ है—[illegible]।[2] [illegible] होने के हेतु है।[3] इसलिए इस श्लोक में 'लोलुप' और 'शठ' का प्रयोग [illegible] है।

श्लोक २०

१४–श्लोक २० :

इस श्लोक में विमात्र शिक्षा, गृहिसुव्रत और सत्यसत्य—ये तीन शब्द विशेष व्यवहृत हैं।

चूर्णि में शिक्षा का अर्थ शास्त्र-कलाओं का कौशल है।[4] शान्त्याचार्य ने शिक्षा का अर्थ—प्रकृति भद्रता आदि गुणों का अभ्यास—किया है।[5] प्रस्तुत प्रकरण में यह अर्थ अधिक उपयुक्त है।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र २८०

'लोलयासढे' त्ति लोलया-पिशिताविलाम्पट्य तद्योगाज्जन्तुरपि तन्मयत्वख्यापनार्थं लोलतेयुक्त।

२–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६८

न धर्मचरणोद्यमवान।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र २८०

शाठ्ययोगाच्छठ—विश्वस्तजनवंचक।

३–स्थानांग ४।४।३७३।

४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६५

शिक्षानाम शास्त्रकलासु कौशल्यम्।

५–बृहद् वृत्ति, २८१

'शिक्षाभि' प्रकृतिभद्रकत्वाद्यभ्यासरूपाभि।

चूर्णि में सुव्रत का अर्थ 'ब्रह्मचरणशील' है।[1] शान्त्याचार्य ने सुव्रत का अर्थ—सत्पुरुषोचित, अविषाद आदि गुणो से युक्त—किया है।[2] यहाँ व्रत का प्रयोग आगमोक्त श्रावक के बारह व्रतो के अर्थ में नही है। उन व्रतों को धारण करने वाला 'देवगति' (वैमानिक) मे ही उत्पन्न होता है।[3] यहाँ सुव्रती की उत्पत्ति मनुष्ययोनि में बतलाई गई है। इसलिए यहाँ व्रत का अर्थ—प्रकृति-भद्रता आदि का अनुशीलन होना चाहिए। स्थानाग में बताया है कि मनुष्य-गति का बन्ध चार कारणो से होता है—

१—प्रकृति-भद्रता।

२—प्रकृति-विनीतता।

३—सानुक्रोशता।

४—अमत्सरता।[4]

जीव जैसा कर्म-बन्ध करते है, वैसी ही गति उन्हें प्राप्त होती है। इसलिए उन्हें कर्म-सत्य कहा है।[5] जीव जो कम करते हैं उसे भोगना ही पडता है, बिना भोगे उससे मुक्ति नही मिलती। इसलिए जीवों को कर्म-सत्य कहा है।[6] जिनके कर्म (मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियाँ) सत्य (अविसवादी) होते हैं, वे कर्म-सत्य कहलाते है।[7] जिनके कर्म निश्चित रूप से फल देने वाले होते है, वे कर्म-सत्य कहलाते है।[8] 'कम्मसच्चा हु पाणिणो' यह अर्थान्तरन्यास है।

श्लोक २१

१५–विपुल शिक्षा (विउला सिक्खा क) :

शिक्षा दो प्रकार की होती है—ग्रहण अर्थात् जानना और आसेवन अर्थात् ज्ञात-विषय का अभ्यास करना।[9] ज्ञान के बिना आसेवन सम्यक् नही होता और आसेवन के बिना ज्ञान सफल नही होता इसलिए ज्ञान और आसेवन दोनों मिलकर ही शिक्षा को पूर्ण बनाते हैं। जिन

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६५
ब्रह्मचरणशीला सुव्रता।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र २८१
'सुव्रताश्च' धृतसत्पुरुषव्रता', ते हि प्रकृतिभद्रकत्वाद्यभ्यासानुभावत एव न विपद्यपि विषीदन्ति सदाचारं वा नावधीरयन्तीत्यादि-गुणान्विता।

३–वही, पृ० २८१
आगमविहितव्रतधारण त्वमीषामसम्भवि, देवगतिहेतुतयेव तदभिधानात्।

४–स्थानाग ४।४।३७३
चउहि ठाणेहिं जीवा मणुस्सत्ताते कम्म पगरेति, तजहा—पगतिभद्दताते पगतिविणीययाए साणुक्कोसयाते अमच्छरिताते।

५–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६५
कम्माणि सच्चाणि जेसि ते कम्मसच्चा, तस्स जारिसाणि से ताव विधि गति लभति, त सुभमसुभ वा।

६–वही, पृ० १६५
अथवा कम्मसत्या हि, सच्च कम्म, कम्म अवेदे नवेइत्ति, यदि हि कृत कर्म न वेद्यते ततो न कर्मसत्याः स्युरिति।

७–बृहद् वृत्ति, पत्र २८१
कर्म्मणा—मनोवाकायक्रियालक्षणेन सत्या—अविसवादिन कर्म्मसत्या।

८–वही, पत्र २८१
सत्यानि—अवन्ध्यफलानि कर्म्माणि—ज्ञानावरणादीनि येषा ते सत्यकर्म्माण।

९–सुखबोधा, पत्र १२२
'शिक्षा' ग्रहणाऽऽसेवनात्मिका।

अध्ययन ८

काविलीयं

श्लोक १

१–अध्रुव, अशाश्वत (अधुवे असासयंमि क) :

ये दोनो शब्द एकार्थवाची है। इनमें पुनरुक्त दोष नही है। क्योकि उपदेश में या किसी शब्द पर विशेष बल देते समय पुनरुक्त दोष नही होता।[1]

श्लोक २

२–(पुव्वसंजोगं क, दोसपओसेहिं घ) :

'पुव्वसजोग'—ससार पहले होता है और मोक्ष पीछे। असयम पहले होता है और सयम पीछे। ज्ञातिजन पहले होते हैं, उनका त्याग पीछे किया जाता है—इन भावनाओ के आधार पर चूर्णिकार ने पूर्व-सयोग का अर्थ—ससार का सम्बन्ध, असयम का सम्बन्ध और ज्ञाति का सम्बन्ध किया है।[2] शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने पूर्व-सयोग का अर्थ—पूर्व-परिचितो का सयोग अर्थात् माता-पिता आदि तथा धन आदि का सम्बन्ध किया है।[3]

'दोसपओसेहिं'—यहाँ दो शब्द हैं—दोष और प्रदोष। दोष का अर्थ है—मानसिक सताप आदि। प्रदोष का अर्थ है—नरक गति आदि।[4]

श्लोक ३

३–उन पाँच सौ चोरों की मुक्ति के लिए (तेसिं विमोक्खणट्ठाए ग) :

कपिल ने पूर्व-भव में इन सभी पाँच सौ चोरो के साथ सयम का पालन किया था और उन सबके द्वारा यह सकेत दिया हुआ था कि समय आने पर हमें सम्बोधि देना। उसकी पूर्ति के लिए कपिल मुनि उन्हे सबुद्ध कर रहे है—उनकी मुक्ति के लिए प्रवचन कर रहे हैं।[5]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र २८९

एकार्थं वा पदद्वयम्, उपदेशत्वादतिशयख्यापकत्वाच्च न पौनरुक्त्यम्।

२–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७१

पुव्वो णाम ससारो, पच्छा मोक्खो, पुव्वेण सजोगो पुव्वस्स वा सजोगो पुव्वसजोगो, अथवा पुव्वसजोगो असजमेण णातीहिं वा।

३–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र २९०

पुरा परिचिता मातृपित्रादय पूर्वशब्देनोच्यन्ते ततस्तै, उपलक्षणत्वादन्यैश्च स्वजनधनादिभि सयोग—सम्बन्ध पूर्वसयोग।

(ख) सुखबोधा, पत्र १२६।

४–सुखबोधा, पत्र १२६

दोषा—इहैव मनस्तापादय, प्रदोषा—परत्र नरकगत्यादय।

५–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७१

तेसिं चोराणं, तेहिं सव्वेहिं पुव्वभवे सह कविलेण एगट्ठ सजमो कतो आसि, ततो तेहि सिगारो कतिल्लओ जम्हा अम्हे सबोधितव्वेति।

व्यक्तियो की शिक्षा विपुल होती है—सम्यक्-दर्शन युक्त अणुव्रतो या महाव्रतो की आराधना मे सम्पन्न होती है[1]—वे देवलोक में उत्पन्न होते हैं।

श्लोक २६

१६–पूतिदेह (औदारिक शरीर) का (पूइदेह ग) :

इसका तात्पर्यार्थ है—औदारिक शरीर। शरीर पाँच प्रकार के होते हैं—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस ओर कार्मण। औदारिक शरीर रक्त, मास, हड्डी आदि से युक्त होता है। अत उसे 'पूतिदेह' दुर्गन्ध पैदा करने वाला शरीर माना गया है।

श्लोक २७

१७–(इड्ढी जुई जसो वण्णो क, सुह ख) :

ऋद्धि—स्वर्ण आदि।

द्युति—शरीर की कान्ति।

यश —पराक्रम से होने वाली प्रसिद्धि।

वर्ण—गाभीर्य आदि गुणो से होने वाली श्लाघा अथवा गौरव।

सुख—इष्ट विषयो की उपलब्धि से होने वाला आह्लाद।[2]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र २८२

'विपुला' निशकितत्वादिसम्यक्त्वाचाराणुव्रतमहाव्रतादिविषयत्वेन विस्तीर्णा।

२–सुखबोधा, पत्र १२३

'ऋद्धि' कनकादिसमुदाय, 'द्युति' शरीरकान्तिः, 'यश' पराक्रमकृता प्रसिद्धिः, 'वर्ण' गाभीर्यादिगुणै श्लाघा गौरवत्वादि वा, 'सुख' यथेप्सितविषयावाप्तौ आह्लाद।

अध्ययन ८

काविलीयं

श्लोक १

१–अध्रुव, अशाश्वत (अधुवे असासयंमि क) :

ये दोनो शब्द एकार्थवाची है। इनमें पुनरुक्त दोष नही है। क्योकि उपदेश में या किसी शब्द पर विशेष बल देते समय पुनरुक्त दोष नही होता।[1]

श्लोक २

२–(पुव्वसंजोगं क, दोसपओसेहिं घ) :

'पुव्वसजोग'—ससार पहले होता है और मोक्ष पीछे। असयम पहले होता है और सयम पीछे। ज्ञातिजन पहले होते है, उनका त्याग पीछे किया जाता है—इन भावनाओ के आधार पर चूर्णिकार ने पूर्व-सयोग का अर्थ—ससार का सम्बन्ध, असयम का सम्बन्ध और ज्ञाति का सम्बन्ध किया है।[2] शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने पूर्व-सयोग का अर्थ—पूर्व-परिचितो का सयोग अर्थात् माता-पिता आदि तथा धन आदि का सम्बन्ध किया है।[3]

'दोसपओसेहिं'—यहाँ दो शब्द हैं—दोष और प्रदोष। दोष का अर्थ है—मानसिक सताप आदि। प्रदोष का अर्थ है—नरक गति आदि।[4]

श्लोक ३

३–उन पॉच सौ चोरों की मुक्ति के लिए (तेसिं विमोक्खणट्ठाए ग) :

कपिल ने पूर्व-भव में इन सभी पाँच सौ चोरो के साथ सयम का पालन किया था और उन सबके द्वारा यह संकेत किया हुआ था कि समय आने पर हमें सम्बोधि देना। उसकी पूर्ति के लिए कपिल मुनि उन्हें सबुद्ध कर रहे है—उनकी मुक्ति के लिए प्रवचन कर रहे हैं।[5]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र २८९
एकार्थं वा पदद्वयम्, उपदेशत्वादतिशयख्यापकत्वाच्च न पौनरुक्त्यम्।

२–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७१
पुव्वो णाम ससारो, पच्छा मोक्खो, पुव्वेण सजोगो पुव्वस्स वा सजोगो पुव्वसजोगो, अथवा पुव्वसजोगो असंजमेण णातीहिं वा।

३–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र २९०
पुरा परिचिता मातृपित्रादय पूर्वशब्देनोच्यन्ते ततस्तै, उपलक्षणत्वादन्यैश्च स्वजनधनादिभि सयोग—सम्बन्ध पूर्वसयोग।
(ख) सुखबोधा, पत्र १२६।

४–सुखबोधा, पत्र १२६
दोषा —इहेव मनस्तापादय, प्रदोषा —परत्र नरकगत्यादय।

५–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७१
तेसिं चोराण, तेहिं सव्वेहिं पुव्वभवे सह कविलेण एगट्ठ सजमो कतो आसि, ततो तेहिं सिगारो कतिल्लओ [illegible]
सबोधितव्वेति।

श्लोक ४

४—कलह का (कलहं [क]) :

शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने इसका अर्थ 'क्रोध'[1] और चूर्णिकार ने 'भण्डन' किया है।[2] भण्डन का अर्थ है—वाक्-कलह, गाली देना और क्रोध।

डॉ० हरमन जेकोबी ने इसका अर्थ 'तिरस्कार'—घृणा किया है।[3] मोनियर मोनियर-विलियम्स ने इसके मुख्यत तीन अर्थ किए हैं—झगडा, झूठ या धोखा, गाली-गलौज।[4]

कलह क्रोध पूर्वक होता है। अत कारण में कार्य का उपचार कर 'कलह' को क्रोध कहा गया है।

५—आत्म-रक्षक मुनि (ताई [घ]) :

इसके सस्कृत रूप दो होते है—तायी और त्रायी।[5] जार्ल सरपेन्टियर टीकाकारो द्वारा किए गए इस अर्थ को ठीक नहीं मानते। उनका अभिमत है कि ताई को तादि—तादृक के समान मानना चाहिए। तब इसका अर्थ होगा—उस जैसा वैसा। वे कहते हैं कि कालान्तर में इस शब्द के अर्थ का उत्कर्ष हुआ और इसका अर्थ—उस जैसा अर्थात् बुद्ध जैसा—यह हुआ। तदनन्तर इसका अर्थ—पवित्र सत व्यक्ति आदि हुआ। इस आशय का आधार प्रस्तुत करते हुए वे चाइलर्ड्स S V और दीघनिकाय पृ० ८८ पर फ्रेंक का नोट देखने का अनुरोध करते हैं।[6] सरपेन्टियर का यह अभिमत सगत लगता है। विशुद्धिमाग पृ० १८० में तादिन शब्द का प्रयोग एक जैसे रहने वाले के अर्थ में हुआ है—

> **यस्मा नत्थि रहो नाम, पापकम्मेसु तादिनो।**
> **रहाभावेन तेनेस, अरह इति विस्सुतो॥**

श्लोक ५

६—भोगामिष (आसक्ति-जनक भोग) (भोगामिस [क]) :

वर्तमान में आमिष का सीधा अर्थ 'मास' किया जाता है। प्राचीन काल में इसका प्रयोग अनेक अर्थों में होता था। इसी आगम के चौदहवें अध्ययन में इसका छ वार प्रयोग हुआ है।[7] अनेकार्थ कोष में आमिष के—फल, सुन्दर-आकृति, रूप, सम्भोग, लोभ और लचा—इतने अर्थ मिलते है।[8] उत्तराध्ययन १४।४६ में यह मास के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[9] पचासक प्रकरण में यह आहार या फल आदि के अर्थ में प्रयुक्त

१-(क) बृहद् वृत्ति, पत्र २९१
कलहहेतुत्वात्कलह—क्रोधस्तम्।
(ख) सुखबोधा, पत्र १२६।

२-उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७१
कलाभ्यो हीयते येन स कलह भण्डनमित्यर्थ।

३—Sacred Books of the East, Vol XLV, Uttarādhyayana, p 33

४—Sanskrit English Dictionary, p 261

५-बृहद् वृत्ति, पत्र २९१
तायते—त्रायते वा रक्षति दुर्गतेरात्मानम् एकेन्द्रियादिप्राणिनो वाऽवश्यमिति तायी—त्रायी वा।

६-उत्तराध्ययन, पृ० ३०७, ३०८।

७-उत्तराध्ययन १४।४१, ४६, ४९।

८-अनेकार्थ कोष, पृ० १३३०
आमिष—फले सुन्दराकाररूपादौ सम्भोगे लोभलचयो।

९-बृहद् वृत्ति पत्र ४१०
सहामिषेण—पिशितरूपेण वर्तत इति सामिष।

हुआ है।[1] आसक्ति के हेतुभूत जो पदार्थ होते हैं उन सबके अर्थ में इसका प्रयोग किया जाता था। बौद्ध-साहित्य में भोजन व विषय-भोग—इन अर्थों में भी 'आमिष' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

"भन्ते ! आमिष (भोजन आदि) के (विषय में) कैसे करना चाहिए ?"

"सारिपुत्र ! आमिष सबको समान बाँटना चाहिए।"[2]

"भिक्षुओ ! ये दो दान हैं—आमिष-दान और धर्म-दान। इन दो दानो में जो धर्म-दान है, वह श्रेष्ठ है।" इस प्रकार आमिष-संविभाग (अनुग्रह) और आमिष-योग (पूजा) के प्रयोग मिलते हैं।[3] भोग-सन्निधि के अर्थ में आमिष-सन्निधि का प्रयोग किया गया है।[4] अभिधानप्पदीपिका के श्लोक २८० में आमिष को मांस का तथा श्लोक ११०४ में उसे अन्नाहार का पर्यायवाची माना है।

भोग अत्यन्त आसक्ति के हेतु होते है, इसलिए यहाँ उन्हें आमिष कहा गया है।[5]

चूर्णिकार के अनुसार जो वस्तु सामान्य रूप से बहुत लोगो द्वारा अभिलषणीय होती है, उसे आमिष कहा जाता है। भोग बहुत लोगों के द्वारा काम्य हैं, इसलिए उन्हें आमिष कहा है। भोगामिष अर्थात् आसक्ति-जनक भोग अथवा बहुजन अभिलषणीय भोग।[6] देखिए १४।४१ का टिप्पण।

७—विपरीत (वोच्चत्थे ख) :

चूर्णि में 'वोच्चत्थ' का अर्थ विपरीत और बृहद् वृत्ति में विपर्ययवान् या विपर्यस्त किया गया है। बुद्धि का विशेषण माना है वहाँ विपरीत या विपर्यस्त और बाल का विशेषण माना है वहाँ विपर्ययवान् किया गया है।[7] इसका संस्कृत रूप व्यत्यस्त होना चाहिए। डॉ० पिसेल ने इसका मूल उच्चस्थ माना है।[8] देशीनाममाला में इसका अर्थ 'विपरीत मैथुन-क्रिया' किया गया है।[9] सम्भव है उस समय यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त रहा हो और बाद में इस अर्थ के एकांश को लेकर इसका अर्थ 'विपरीत' रूढ बन गया हो। इसका मूल उच्चस्थ की अपेक्षा व्यत्यस्त में ढूढना अधिक उपयुक्त है। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से यह वोच्चत्थ के अधिक निकट है।

१—पंचासक प्रकरण ९।३१।

२—बुद्धचर्या, पृ० १०२।

३—इतिवुत्तक, पृ० ८६।

४—बुद्धचर्या, पृ० ४३२।

५—बृहद् वृत्ति, पत्र २९१

भोगा—मनोज्ञा शब्दादय ते च ते आमिष चात्यन्तगृद्धिहेतुतया भोगामिषम्।

६—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७२

भुज्यत इति भोगा, यत् सामान्य बहुभिः प्रार्थ्यते तद् आमिष, भोगा एव आमिष भोगामिषम्।

७—(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७२

वुच्चित्योत्ति जस्स हिते नि श्रेयसे अहितानि श्रेयससज्ञा, विपरीतवुद्धिरित्यर्थ।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र २९१

तत्र तयोर्वा 'बुद्धि' तत्प्राप्त्युपायविषया मति तस्या विपर्ययवान् सा वा विपर्यस्ता यस्य स हितनिश्रेयसबुद्धिविपर्यस्त विपर्यस्तहित-निश्रेयसबुद्धिर्वा, विपर्यस्तशब्दस्य तु परनिपात प्राग्वत्, यद्वा विपर्यस्ता हिते निःशेषा बुद्धिर्यस्य स तथा।

८—प्राकृत भाषाओ का व्याकरण, पृ० ४७९

वोच्चत्थ (विपरीत रति देशी० ७, ५८)=उच्चस्थ जो उच्च मे सम्बन्धित है।

९—देशीनाममाला, ७।५८, पृ० २९८।

८–श्लेष्म में (खेलमि [घ]) :

चूर्णि में खेल का अर्थ 'चिक्कन' किया है ।[१] बृहद् वृत्ति में खेल का अर्थ 'श्लेष्म' किया है ।[२] किन्तु श्लेष्म इसकी संस्कृत छाया नहीं है । जार्ल सरपेन्टियर ने इसका संस्कृत रूप—'क्ष्वेट'-'क्ष्वेद' दिया है ।[३] 'क्ष्वेट' का भी एक अर्थ चिकनाई—श्लेष्म होता है । राजवार्तिक में इसका संस्कृत रूप 'क्ष्वेल' मिलता है ।[४] यही सर्वाधिक उपयुक्त है ।

श्लोक ७

९–पापमयी दृष्टियों से (पावियाहिं दिट्ठीहिं [घ]) :

शान्त्याचार्य ने इसके दो संस्कृत रूप दिए हैं—प्रापिकाभिर्दृष्टिभिः और पापिकाभिर्दृष्टिभिः । प्रथम का अर्थ है—'नरक को प्राप्त कराने वाली दृष्टि ।' दूसरे का अर्थ है—'पापमयी, परस्पर विरोध आदि दोषों से दूषित दृष्टि' अथवा पाप-हेतुक दृष्टि'[५]। वास्तविक अर्थ यही है । पापिकादृष्टि के आशय को स्पष्ट करते हुए कुछ उद्धरण प्रस्तुत किए गए हैं । जैसे—

"न हिंस्यात् सर्वभूतानि ।"
"श्वेतं छागमालभेत वायव्यां दिशि भूतिकामः ।"
"ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत, इन्द्राय क्षत्रियं, मरुद्भ्यो वैश्यं, तपसे शूद्रम् ।"[६]

तथा च—

"यस्य बुद्धिर्न लिप्यते, हत्वा सर्वमिदं जगत् ।
आकाशमिव पंकेन, न स पापेन लिप्यते ॥"

अर्थात् एक ओर वे कहते हैं—'सब जीवों की हिंसा नहीं करना चाहिए ।' दूसरी ओर वे कहते हैं—ऐश्वर्य चाहने वाले पुरुष को वायव्यकोण में श्वेत बकरे की, ब्रह्म के लिए ब्राह्मण की, इन्द्र के लिए क्षत्रिय की, मरुत के लिए वैश्य की और तप के लिए शूद्र की बलि कर देनी चाहिए ।' यह परस्पर विरोधी दृष्टिकोण है ।

जैसे आकाश पंक से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सारे संसार की हत्या करके भी जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह पाप से लिप्त नहीं होता । यह पाप-हेतुक दृष्टिकोण है ।

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७२
खेलेण चिक्कणेण ।
२–बृहद् वृत्ति, पत्र २९१
'खेले' श्लेष्मणि ।
३–उत्तराध्ययन, पृ० ३०८ ।
४–तत्त्वार्थ राजवार्तिक ३।३६, पृ० २०३
क्ष्वेलो निष्ठीवनमौषधि र्येषां ते क्ष्वेलौषधिप्राप्ताः ।
५–बृहद् वृत्ति, पत्र २९२
'पावियाहिं' ति प्रापयन्ति नरकमिति प्रापिकास्ताभिः, यद्वा—पापा एव पापिकास्ताभिः, परस्परविरोधादिदोषात् स्वरूपेणैव कुत्सिताभिः ।
६–वही, पत्र २९२, २९३ ।

श्लोक ११

१०–यात्रा (संयम-निर्वाह) के लिए ग्रास की एषणा करे (जायाए घासमेसेज्जा ग) :

सयम-जीवन की यात्रा के लिए भोजन की गवेषणा करे—इस प्रसग में शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने एक श्लोक उद्धृत किया है—

जह सगडक्खोवगो, कीरइ भरवहणकारणा णवर।
तह गुणभरवहणत्थ, आहारो बमयारीण ॥

अर्थात् जैसे गाडी के पहिए की धुरी को भार-वहन की दृष्टि से चुपडा जाता है, वैसे ही गुणभार के वहन की दृष्टि से ब्रह्मचारी आहार करे, शरीर को पोषण दे।[1]

इसी सूत्र में छह कारणो से आहार करने और छह कारणों से आहार न करने का उल्लेख है।[2]

श्लोक १२

११–श्लोक १२ :

इस श्लोक में प्रान्त-भोजन का विधान है। 'पताणि चेव सेवेज्जा' की व्याख्या दो प्रकार से होती है—'प्रान्तानि च सेवेतैव' और 'प्रान्तानि चैव सेवेत।' गच्छवासी मुनि के लिए यह विधि है कि वह प्रान्त-भोजन मिले तो उसे खाए ही, किन्तु उसे फेंके नही। गच्छनिर्गत (जिनकल्पी) मुनि के लिए यह विधि है कि वह प्रान्त-भोजन ही करे। प्रान्त का अर्थ है—नीरस-भोजन। शीतपिण्ड (ठण्डा आहार) आदि उसके उदाहरण हैं।[3] गच्छवासी की अपेक्षा से 'जवणट्ठाए' का अर्थ होगा—यदि प्रान्त-आहार से जीवन-यापन होता हो तो खाए, वायु बढने से जीवन-यापन न होता हो तो न खाए। गच्छनिर्गत की अपेक्षा से इसका अर्थ होगा—जीवन-यापन के लिए प्रान्त-आहार करे।[4]

'कुम्मास' (उडद)—शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने इसका अर्थ 'राजमाष'—बडे उडद किया है।[5]

मोनियर मोनियर-विलियम्स ने इसका अर्थ 'तरल और खट्टा पेय-भोजन, जो फलो के रस से अथवा उबले हुए चावलो से बनाया जाता है' किया है।[6]

१–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र २९४।
  (ख) सुखबोधा, पत्र १२८।
२–उत्तराध्ययन, २६।३२, ३४।
३–बृहद् वृत्ति, पत्र २९४, २९५
  'प्रान्तानि' नीरसानि, अन्नपानानीति गम्यते, च शब्दादन्तानि च, एवाऽवधारणे, स च भिन्नक्रम सेविज्जा इत्यस्यान्तर द्रष्टव्य, ततश्च प्रान्तान्यन्तानि च सेवेतैव न त्वसाराणीति परिष्ठापयेद्, गच्छनिर्गतापेक्षया वा प्रान्तानि चैव सेवेत, तस्य तथाविधानामेव ग्रहणानुज्ञानात्, कानि पुनस्तानीत्याह—'सीयपिंड' ति शीतल पिण्डः—आहार, शीतश्चासौ पिण्डश्च शीतपिण्ड।
४–वही, पत्र २९५।
  यापनार्थमित्यनेनैतत् सूचितं—यदि शरीरयापना भवति तदैव निषेवेत, यदि त्वतिवातोद्रेकादिना तद्यापनैव न स्यात्ततो न निषेवेतापि, गच्छगतापेक्षमेतत्, तन्निर्गतश्चैतान्येव यापनार्थमपि निषेवेत।
५–वही, पत्र २९५
  (क) 'कुल्माषा' राजमाषा।
  (ख) सुखबोधा, पत्र १२९।
६—A Sanskrit English Dictionary, p 296 Sour gruel (prepared by the spontaneous fermentation of the juice of fruits or boiled rice)

अभिधानप्पदीपिका में कुल्माष व्यजन को 'सूप' कहा है।[1] विशुद्धिमार्ग में इसी अर्थ को मान्य कर 'कुल्माष' का अर्थ 'दाल' किया है।[2]

सिंहलसन्नय (व्याख्या) में 'कुल्माष' शब्द का अर्थ—'कोमु' अर्थात् पिट्ठा लिखा गया है। 'कुल्माष' के अनेक अर्थ है—कुलथी (उडद की जाति का एक मोटा अन्न), मूँग आदि द्विदल, काजी। उस समय ओदन, कुल्माष, सत्तू आदि प्रचलित भोजन थे।[3] 'कुल्माष' दरिद्र लोगो का भोजन था। वह उडद आदि द्विदल में थोडा जल, गुड या नमक और चिकनाई डालकर बनाया जाता था। देखो दसवेआलिय (भाग २), ५।१।९८ का टिप्पण सख्या २२९।

'वुक्कस'—चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए है—तीमन अथवा सुरा के लिए पसाए हुए आटे का शेष भाग।[4]

शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने इसका अर्थ—मूँग, उडद आदि की कणियो मे निष्पन्न अन्न अथवा जिसका रस निकाल लिया गया हो, वैसा अन्न किया है।[5]

'पुलाग'—चूर्णिकार ने 'पुलाक' के दो अर्थ किए है—

१—वल्ल, चने आदि रूखे अनाज।

२—जो स्वभाव से नष्ट हो गया हो (जिसका बीज भाग नष्ट हो गया हो) वह अनाज।[6]

शान्त्याचार्य ने असार वल्ल, चने आदि को 'पुलाक' कहा है।[7]

'मथु'—इसका अर्थ है—वेर[8] का चूर्ण, सत्तू का चूर्ण।[9] यह बहुत रूखा होता है, इसलिए इसे प्रान्त-भोजन कहा है।[10] देखो दसवेआलिय (भाग २), ५।१।९८ का टिप्पण सख्या २२८।

श्लोक १३

१२—श्लोक १३ :

इस श्लोक में कहा गया है कि जो मुनि लक्षण-विद्या, स्वप्न-विद्या और अग-विद्या का प्रयोग करते है, वे सही अर्थ में मुनि नही है।

१—अभिधानप्पदीपिका, पृ० १०४८
सूपो (कुम्मास व्यजने)।

२—विशुद्धिमार्ग, १।११, पृ० ३०५।

३—विनयपिटक, ४।१७६।

४—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७५
वुक्सो णाम कुसणणिम्माडण च, अथवा सुरागलितसेस बुक्सो भवति।

५—(क) बृहद् वृत्ति, पत्र २९५
'वुक्स' मुद्गमाषादि नखिकानिष्पन्नमन्नमति निपीडितरस वा।
(ख) सुखबोधा, पत्र १२९।

६—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७५
पुलाग णाम निस्साए णिप्फाए चणगादि यद्वा विनष्टं स्वमावत तत् पुलागमु [illegible]

७—बृहद् वृत्ति, पत्र २९५
'पुलाकम्' असार वल्लचनकादि।

८—सुखबोधा, पत्र १२९
'मथु' वदरादि चूर्णम्।

९—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७५
मथ्यते इति मथु सत्तुचुन्नाति।

१०—बृहद् वृत्ति, पत्र २९५
मन्थु वा—वदरादि चूर्णम्, अतिरूक्षतया चास्य प्रान्तत्वम्।

नेमिचन्द्र ने इन तीनो के विषय में प्राचीन श्लोक और प्राकृत गाथाएँ उद्धृत की हैं। उनकी तुलना डॉ० जे० व्ही० जेडोलियम द्वारा सम्पादित जगदेव की स्वप्न-चिन्तामणि से की जा सकती है। जार्ल सरपेन्टियर ने इसकी विस्तृत जानकारी प्रस्तुत की है।[1] शान्त्याचार्य ने इसका विस्तृत वर्णन नही किया है, केवल एक-दो श्लोक उद्धृत किए हैं।

बौद्ध-ग्रन्थो में अग-निमित्त, उत्पाद, स्वप्न, लक्षण आदि विद्याओ को 'तिर्यक्-विद्या' कहा है। इनसे आजीविका करने को मिथ्या-आजीविका कहा है। जो इनसे परे रहता है वही 'आजीव-परिशुद्धिशील' होता है।[2]

'लक्खण'—शरीर के लक्षणो, चिन्हो को देखकर शुभ-अशुभ फल कहने वाले शास्त्र को 'लक्षण-शास्त्र' या 'सामुद्रिक-शास्त्र' कहते है।[3] कहा भी है—'सर्व सत्त्वे प्रतिष्ठितम्'—सभी (शुभाशुभ फल देने के लक्षण) जीवों में विद्यमान हैं। जैसे—

अस्थिष्वर्थाः सुखं मांसे, त्वचि भोगाः स्त्रियोऽक्षिषु।
गतौ यानं स्वरे चाज्ञा, सर्वं सत्त्वे प्रतिष्ठितम्॥[4]

अर्थात् अस्थि में धन, मांस में सुख, त्वचा में भोग, आँखों में स्त्रियाँ, गति में वाहन और स्वर में आज्ञा—इस प्रकार पुरुष में सब कुछ प्रतिष्ठित है।

यह शब्द इसी सूत्र के १५।७, २०।४५ में भी आया है।

'सुविण'—स्वप्न शब्द यहाँ 'स्वप्न-शास्त्र' का वाचक है। स्वप्न के शुभाशुभ फल की सूचना देने वाले शास्त्र को 'स्वप्न-शास्त्र' कहा जाता है।[5]

'अगविज्ज'—शरीर के अवयवो के स्फुरण से शुभाशुभ बताने वाले शास्त्र को 'अग-विद्या' कहा जाता है।[6]

चूर्णिकार ने अग-विद्या का अर्थ 'आरोग्य-शास्त्र' किया है। किन्तु प्रकरण की दृष्टि से अग-विचार अधिक सगत लगता है।[7]

श्लोक १४

१३—असुर-काय में (आसुरे काए घ) :

चूर्णि में इसके दो अर्थ किए गए हैं—असुर देवो के निकाय में अथवा रौद्र तिर्यक् योनि में।[8] बृहद् वृत्ति में केवल पहला ही अर्थ है।[9]

१—दि उत्तराध्ययनसूत्र, पृ० ३०९-३१२।

२—विशुद्धिमाग, १।१, पृ० ३०, ३१।

३—(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७५
लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षण, सामुद्रवत्।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र २९५
'लक्षण च' शुभाशुभसूचक पुरुषलक्षणादि, रूढित तत्प्रतिपादक शास्त्रमपि लक्षणम्।

४—बृहद् वृत्ति, पत्र २९५।

५—वही, पत्र २९५
'स्वप्न चे' त्यत्रापि रूढित स्वप्नस्य शुभाशुभफलसूचक शास्त्रमेव।

६—वही, पत्र २९५
अगविद्या च शिर प्रभृत्यगस्फुरणत शुभाशुभसूचिकाम्।

७—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७५
अगविद्या नाम आरोग्यशास्त्रम्।

८—वही, पृ० १७५, १७६
असुराणामय आसुर, ते हि वा (बहिचा) रियसमणा असत्यभावणाभाविया असुरेसु उववज्जति, अथवा असुरसदृशो भाव आसुर, क्रूर इत्यर्थ, 'उववज्जति आसुरे काए' त्ति रौद्रेषु तिर्यग्योनिकेषु उववज्जति।

९—बृहद् वृत्ति, पत्र २९६
'आसुरे' असुरसम्वधि-निकाये, असुरनिकाये इत्यर्थ।

श्लोक १५

१४–बोधि प्राप्त होना (बोही घ) :

बोधि का अर्थ है—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्रात्मक जिन-धर्म की प्राप्ति।[१]

स्थानांग में इसके तीन प्रकार बतलाए गए है—ज्ञान-बोधि, दर्शन-बोधि और चारित्र-बोधि।[२]

श्लोक १८

१५–ग्रन्थि (गंड ख) :

यहाँ गंड का अर्थ—ग्रन्थि (गाँठ) या फोडा हो सकता है। स्तन मांस की ग्रन्थि[३] या फोडे के समान[४] होते हैं, इसलिए उन्हें गंड कहा गया है।

१६–राक्षसी की भाँति भयावह स्त्रियों में (रक्खसीसु क) :

यहाँ स्त्री को राक्षसी कहा है। जिस प्रकार राक्षसी समस्त रक्त को पी जाती है और जीवन हर लेती है, वैसे ही स्त्रियाँ भी मनुष्य के ज्ञान आदि गुणों तथा जीवन और धन का सर्वनाश कर देती है।[५] राक्षसी शब्द लाक्षणिक है, कामासक्ति या वासना का सूचक है। पुरुष के लिए स्त्री वासना के उद्दीपन का निमित्त बनती है, इस दृष्टि से उसे राक्षसी कहा है। स्त्री के लिए पुरुष वासना के उद्दीपन का निमित्त बनता है, इस दृष्टि से उसे राक्षस कहा जा सकता है।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र २९६
'बोधि' प्रेत्य जिनधर्म्मावाप्ति।

२–स्थानांग, ३।२।१७४।

३–वैराग्य शतक, श्लोक २१
स्तनौ मांस-ग्रन्थी कनककलशावित्युपमितौ।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र २९७
गण्ड—गडु, इह चोपचितपिशितपिण्डरूपतया गलत्पूतिरुधिरार्द्रतासम्भवाच्च तदुपमत्वाद्गण्डे कुचावुक्तौ।

५–वही, पत्र २९७
राक्षस्य इव राक्षस्य—स्त्रिय तासु, यथा हि राक्षस्यो रक्तसर्वस्वमपकर्षन्ति जीवितं च प्राणिनामपहरन्ति एवमेता अपि, तत्त्वतो हि ज्ञानादीन्येव जीवितं च अर्थश्च (सर्वस्व) तानि च ताभिरपह्रियन्त एव, तथा च हारिल—

"वातोद्धूतो दहति हुतभुग्देहमेकं नराणां,
मत्तो नागः कुपितभुजगश्चैकदेहं तथैव।
ज्ञानं शीलं विनयविभवौदार्यविज्ञानदेहान्।
सर्वानर्थान् दहति वनिताऽऽमुष्मिकानैहिकाश्च॥"

अध्ययन ६

नमिपव्वज्जा

श्लोक १

१—पूर्व-जन्म की स्मृति हुई (सरई पोराणियं जाइं घ) :

जाति का अर्थ उत्पत्ति या जन्म है। आत्मवाद के अनुसार जन्म की परम्परा अनादि है। इसलिए उसे पुराण कहा है। पुराण-जाति अर्थात् पूर्व-जन्म। पूर्व जन्म की स्मृति को 'जाति-स्मृति ज्ञान' कहा जाता है। यह मतिज्ञान का एक प्रकार है।[1] इसके द्वारा पूर्ववर्ती संख्येय जन्मो की स्मृति होती है।[2]

किसी हेतु से संस्कार का जागरण होता है और अनुभूत-विषय की स्मृति हो जाती है। संस्कार मस्तिष्क में संचित होते हैं, प्रयत्न करने पर वे उद्‌बुद्ध हो जाते है। आजकल मस्तिष्क पर यांत्रिक व्यायाम कर शिशु-जीवन की घटनाओ की स्मृति कराई जाती है। यह सारी वर्तमान जीवन की स्मृति की प्रक्रिया है। पूर्व-जन्म के संस्कार सूक्ष्म-शरीर—कार्मण-शरीर में संचित रहते हैं। मन की एकाग्रता तथा पूर्व-जन्म को जानने की तीव्र अभिलाषा से अथवा किसी अनुभूत घटना की पुनरावृत्ति देख जाति-स्मृति हो जाती है। जैन-आगमो में इसके अनेक उल्लेख हैं। वर्त्तमान में भी इससे सम्बन्धित घटनाएँ सुनी जाती हैं।

श्लोक २

२—(भयवं क) :

'भयव'—भगवान्। 'भग' शब्द के अनेक अर्थ है—धैर्य, सौभाग्य, माहात्म्य, यश, सूर्य, श्रुत, बुद्धि, लक्ष्मी, तप, अर्थ, योनि, पुण्य, ईश, प्रयत्न और तनु। यहाँ प्रकरणवश उसका अर्थ बुद्धि या ज्ञान है। भगवान् अर्थात् बुद्धिमान्।[3]

श्लोक ४

३—एकान्तवासी (एगन्तमहिट्ठिओ घ) :

एकान्त शब्द के तीन अर्थ किए गए हैं—मोक्ष, विजन स्थान और एकत्व भावना। जो मोक्ष के उपाय—सम्यक् दर्शन आदि का सहारा लेता है, वह यहीं जीवन-मुक्त हो जाता है इसलिए वह एकान्ताधिष्ठित कहलाता है। उद्यान आदि विजन स्थानो में रहने वाला तथा 'मैं अकेला

१—आचाराङ्ग, १।१।१।४ वृत्ति पत्र १८ जातिस्मरण त्वाभिनिवोधिकविशेष।

२—वही, १।१।१।४ वृत्ति पत्र १९ जातिस्मरणस्तु नियमत संख्येयान्।

३—बृहद् वृत्ति, पत्र ३०६

भगशब्दो यद्यपि धैर्यादिष्वनेकेषु अर्थेषु वर्तते, यदुक्त—

धैर्यसौभाग्यमाहात्म्ययशोऽर्कश्रुतधीश्रिय।

तपोऽर्थोपस्थपुण्येशप्रयत्नतनवो भगा॥

इति, तथापीह प्रस्तावाद् बुद्धिवचन एव गृह्यते, ततो भगो—बुद्धिर्यस्यास्तीति भगवान्।

हूं, मेरा कोई नही है और मैं भी किसी का नही हूँ । मैं उसको नहीं देखता कि जिसका मैं होऊँ और जो मेरा हो वह भी मुझे नही दीखता' — इस प्रकार अकेलेपन की भावना करने वाला भी एकान्ताधिष्ठित कहलाता है ।[1] एकान्तवासी में ये तीनों अर्थ गर्भित है ।

श्लोक ६

४-(माहण ग) :

उत्तराध्ययन में 'माहण' शब्द का प्रयोग निम्न स्थलो पर हुआ है—

(१) ९।६, ३८, ५५

(२) १२।११,१३,१४,३०,३८

(३) १४।५,३८,५३

(४) १५।९

(५) १८।२१

(६) २५।१,४,१८-२७,३२,३४,३५

शान्त्याचार्य ने इन विभिन्न स्थलो में प्रयुक्त 'माहण' शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है—

१—माहनरूपेण—ब्राह्मणवेषेण (वृ० प० ३०७)
ब्राह्मणाश्च—द्विजा (वृ० प० ३१४)
ब्राह्मण रूपम् (वृ० प० ३१८)

२—माहणाना—ब्राह्मणानाम् (वृ० प० ३६०)
ब्राह्मणा द्विजा (वृ० प० ३६१)
ब्राह्मणानाम् (वृ० प० ३६२)
ब्राह्मणो द्विजाति (वृ० प० ३६७)
माहना ब्राह्मणा (वृ० प० ३७०)

३—माहनस्य ब्राह्मणस्य (वृ० प० ३९७)
ब्राह्मणेन (वृ० प० ४०८)
ब्राह्मण , ब्राह्मणी (वृ० प० ४१२)

४—माहना ब्राह्मणा (वृ० प० ४१८)

५—'माहण'त्ति मा ववीत्येवरूप मनो वाक् क्रिया च यस्यासौ माहन , सर्वेधातव पचादिपु दृश्यन्त इति वचनात्रचादित्वादच् (वृ० प० ४४२)

१-वृहद् वृत्ति, पत्र ३०७
'एगत' त्ति एक —अद्वितीय कर्म्मणामन्तो यस्मिन्निति, मयूरव्यसकादित्वात् समास , तत एकान्तो—मोक्षस्तम् 'अधिष्ठित ' इव आश्रितवानिवाधिष्ठित', तदुपायसम्यग्दर्शनाद्यासेवनादधिष्ठित एव वा, इहैव जीवन्मुक्त्यवाप्ते , यद्वैकान्त—द्रव्यतो विजनमुद्यानादि भावतश्च सदा—

एकोऽह न च मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्यचित् ।
न त पश्यामि यस्याह नासौ दृश्योऽस्ति यो मम ॥

इति भावनात एक एवाहमित्यन्तो—निश्चय एकान्त , प्राग्वत समास , तमधिष्ठित ।

९—ब्राह्मणकुलसंभूत	(वृ० प० ५२२)
ब्राह्मणसम्पद	(वृ० प० ५२६)
ब्राह्मण	(वृ० प० ५२६)
वयं ब्रूमो ब्राह्मणम्	(वृ० प० ५२६)
ब्राह्मण माहण	(वृ० प० ५२६)
ब्राह्मणत्वम्	(वृ० प० ५२६)

उक्त अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि शान्त्याचार्य ने १८।२१ में प्रयुक्त 'माहण' शब्द की व्याख्या अहिंसक के रूप में की है और शेष स्थानों में प्रयुक्त 'माहण' का अर्थ उन्होंने ब्राह्मण जाति या ब्राह्मणत्व से सम्बन्धित माना है। ब्राह्मण का प्राकृत रूप 'बंभण' बनता है किन्तु इस आगम में ब्राह्मण के लिए 'बंभण' का प्रयोग २५।१९,२९, ३०, ३१ में हुआ है। इसके सिवा सर्वत्र 'माहण' का प्रयोग मिलता है। 'माहण' और 'बंभण' की प्रकृति एक नहीं है। 'माहण' अहिंसा का और 'बंभण' ब्रह्मचर्य (ब्रह्म-आराधना) का सूचक है। अहिंसा के बिना ब्रह्म की आराधना नहीं हो सकती और ब्रह्म की आराधना के बिना कोई अहिंसक नहीं हो सकता। इस प्रगाढ सम्बन्ध से दोनों शब्द एकार्थवाची बन गए। आगमिक व्याकरण के अनुसार ब्राह्मण का 'माहण' रूप बनता हो, यह भी संभव है। ब्राह्मण के लिए 'माहण' शब्द के प्रयोग की प्रचुरता को देखते हुए इस सम्भावना की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

मलयगिरि ने 'माहण' का अर्थ परम गीतार्थ श्रावक भी किया है।[1] इस प्रकार 'माहण' शब्द साधु, श्रावक और ब्राह्मण इन तीनों के लिए प्रयुक्त होता है। यह आगम की व्याख्याओं में प्राप्त होने वाला निष्कर्ष है। पर वह कहाँ साधु के लिए, कहाँ श्रावक के लिए और कहाँ ब्राह्मण के लिए है—इसका निर्णय करना बहुत विवादास्पद रहा है।

श्लोक ७

५–प्रासादों और गृहों में (पासाएसु गिहेसु घ) :

सात मंजिल वाला या इससे अधिक मंजिल वाला मकान 'प्रासाद' कहलाता है और साधारण मकान 'गृह'। प्रासाद का दूसरा अर्थ देवकुल और राज-भवन भी है।[2]

श्लोक ८

६–हेतु और कारण से (हेऊकारण ख) :

साध्य के बिना जिसका न होना निश्चित हो उसे हेतु कहा जाता है। इन्द्र ने कहा—'तुम जो अभिनिष्क्रमण कर रहे हो वह अनुचित है (पक्ष), क्योंकि तुम्हारे अभिनिष्क्रमण के कारण समूचे नगर में हृदय-वेधी कोलाहल हो रहा है (हेतु)।'[3]

जिसके बिना कार्य की उत्पत्ति न हो सके और जो निश्चित रूप से कार्य का पूर्ववर्ती हो उसे कारण कहा जाता है। यदि तुम अभिनिष्क्रमण नहीं करते तो इतना हृदय-वेधी कोलाहल नहीं होता। इस हृदय-वेधी कोलाहल का कारण तुम्हारा अभिनिष्क्रमण है।[4]

१–राजप्रश्नीय वृत्ति, पत्र ३००
'माहन' परमगीतार्थ श्रावक।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ३०८
'प्रासादेषु'—सप्तभूमादिषु, 'गृहेषु' सामान्यवेश्मसु, यद्वा 'प्रासादो देवतानरेन्द्राणा'मितिवचनात् प्रासादेषु देवनरेन्द्र-सम्बन्धिवास्पदेषु 'गृहेषु' तदितरेषु।

३–सुखबोधा, पत्र १४६
अनुचितमिदं भवतोऽभिनिष्क्रमणमिति प्रतिज्ञा, आक्रन्दादिदारुणशब्दहेतुत्वादिति हेतु।

४–वही, पत्र १४६
आक्रन्दादिदारुणशब्दहेतुत्वं भवदभिनिष्क्रमणानुचितत्वं विनानुपपन्नमित्येतावन्मात्रं कारणम्।

श्लोक २०

९–(अग्गलं ख, तिगुत्त घ) :

'अग्गल'—अर्गला। गोपुर (सिंहद्वार), किवाड और अर्गला—ये तीनो परस्पर सम्बन्धित है। सिंहद्वार को किवाडो पर भीतर से अर्गला देकर बन्द किया जाता था। शान्त्याचार्य ने गोपुर शब्द के द्वारा अर्गला[1]—कपाट का सूचन किया है। अर्गला शब्द गोपुर का सूचक है।

'तिगुत्त'—बुर्ज, खाई और शतघ्नी से सुरक्षित। त्रिगुप्त प्राकार का विशेषण है। इसमें अठारहवें श्लोक के अट्टालग, उस्सूलग और सयग्घी—इन तीनो शब्दो का सग्रह किया गया है। इनके द्वारा जैसे प्राकार सुरक्षित होता है वैसे ही मन, वचन और काया की गुप्तियो से क्षमा-रूपी प्राकार सुरक्षित होता है।[2]

श्लोक २१

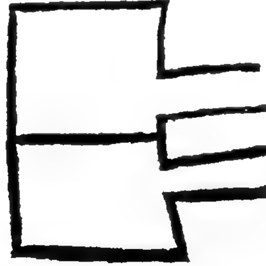
१०–मूठ (केयणं ग) :

धनुष के मध्य भाग में जो काठ की मुष्टि होती है, उसे 'केतन' कहा जाता है।[3]

श्लोक २४

११–(वद्धमाणगिहाणि ख, वालग्गपोइयाओ ग) :

'वद्धमाणगिहाणि'—चूर्णि और टीका में इसका स्पष्ट अर्थ नही है। मोनियर मोनियर-विलियम्स ने इसका अर्थ 'वह घर जिसमें दक्षिण की ओर द्वार न हो' किया है।[4] मत्स्यपुराण का भी यही अभिमत है।[5] वास्तुसार में घरो के चौसठ प्रकार बतलाए हैं। उनमें तीसरा प्रकार वर्धमान है।[6] जिसके दक्षिण दिशा में मुखवाली गावी शाला हो, उसे वर्धमान कहा है।[7] उसका सस्थान इस प्रकार है[8]—



१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३११
गोपुरग्रहणमर्गलाकपाटोपलक्षणम्।

२–वही, पत्र ३११
तिसृभि —अट्टालकोच्चूलकशतघ्नीसस्थानीयाभिर्मनोगुप्त्यादिभिर्गुप्तिभि गुप्त त्रिगुप्त, मयूरव्यसकादित्वात समास।

३–वही, पत्र ३११
'केतन' शृङ्गमयधनुर्मध्ये काष्ठमयमुष्टिकात्मकम्।

४–A Sanskrit English Dictionary, p 926

५–मत्स्यपुराण, पृ० २५४
दक्षिणद्वारहीन तु वर्धमानमुदाहृतम्।

६–वास्तुसार, ७५ पृ० ३६।

७–वही, ८२, पृ० ३८।

८–वही, ८२, पृ० ३९।

डॉ० हर्मन जेकोबी ने वराहमिहिर की संहिता (५३।३६) के आधार पर माना है कि यह समस्त गृहों में सुन्दर होता है।[1] वर्धमान गृह धनप्रद होता है।[2]

'वालग्गपोइयाओ'—यह देशी शब्द है। इसका अर्थ 'वलभी' है। वलभी के अनेक अर्थ हैं—यहाँ चन्द्रशाला या जलाशय में निर्मित लघु प्रासाद है।[3]

श्लोक २६

१२—श्लोक २६ :

इस श्लोक में राजर्षि ने कहा—"यह घर एक पथिक का विश्रामालय है, जहाँ मुझे जाना है वह स्थान अभी दूर है। पर मुझे दृढ़ विश्वास है कि मैं वहाँ पहुँच जाऊँगा और वहाँ पहुँच कर ही मैं अपना घर बनाऊँगा। जिस व्यक्ति को यह संशय होता है कि मैं अपने अभीष्ट स्थान तक पहुँच सकूँगा या नहीं, वही मार्ग में घर बनाता है।"

राजर्षि ने कहा—"मुझे मुक्ति-स्थान में जाना है। वहाँ पहुँचने के साधन सम्यक्-दर्शन आदि मुझे प्राप्त हो चुके हैं। मैं उनके सहारे गन्तव्य की ओर प्रयाण कर चुका हूँ। फिर मैं यहाँ किसलिए घर बनाऊँ ?"[4]

'सासय'—शान्त्याचार्य ने इसके संस्कृत रूप 'स्वाश्रय' और 'शाश्वत' किए हैं। स्वाश्रय अर्थात् अपना घर और शाश्वत अर्थात् नित्य। यहाँ ये दोनों अर्थ प्रकरणानुसारी हैं।[5]

श्लोक २८

१३—श्लोक २८ :

इस श्लोक में आमोष, लोमहार, ग्रन्थि-भेद और तस्कर—ये चार शब्द विभिन्न प्रकारों से धन चुराने वाले व लूटने वाले व्यक्तियों के वाचक हैं। तस्कर का अर्थ 'चोर' है। शेष तीन शब्दों के अर्थ चूर्णि और टीका में समान नहीं है। चूर्णि के अनुसार आमोष का अर्थ 'पथ-मोषक—बटमार, राह में लूट लेने वाला' है।[6] लोमहार का अर्थ 'पेल्लणमोषक' है।[7] यहाँ पेल्लण का संस्कृत रूप सम्भवतः पीडन है। पीडनमोषक अर्थात् पीडा पहुँचा कर लूटने वाला। जो युक्ति-सुवर्ण—यौगिक या नकली सोना बनाकर तथा इसी कोटि के दूसरे कार्यों द्वारा लोगों को ठगता

१—Sacred Books of the East, Vol XLV, The Uttarādhyayana Sūtra, p 38, Foot Note, 1

२—वाल्मीकि रामायण, ५।८
दक्षिणद्वाररहितं वर्धमानं धनप्रदम्।

३—(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १८३ :
वालग्गपोतिया णाम मूतियाओ, केचिदाहु —जो आगासतलागस्स मज्झे खुड्डुलओ पासादो कज्जति।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ३१२
'वालग्गपोइयातो य' त्ति देशीपदं वलभीवाचकं, ततो वलभीश्च कारयित्वा, अन्ये त्वाकाशतडागमध्यस्थितं क्षुल्लकप्रासादमेव 'वालग्गपोइया य' त्ति देशीपदाभिधेयमाहुः।

४—सर्वार्थसिद्धि, पृ० २०८, २०९।

५—बृहद् वृत्ति, पत्र ३१२
स्वस्य—आत्मन आश्रयो—वेश्म स्वाश्रयस्तं, यद्वा शाश्वतं—नित्यं, प्रक्रमाद्गृहमेव।

६—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १८३
आमोक्खतीत्यामोक्खा पथमोषका इत्यर्थः।

७—वही, पृ० १८३
लोमहारा णाम पेल्लणमोसगा।

है, उसे ग्रन्थि-भेदक कहा जाता है ।[१] टीकाओ में आमोप की केवल व्युत्पत्ति दी गई है ।[२] लोमहार का अर्थ 'मारकर सर्वस्व का अपहरण करने वाला'[३] तथा ग्रन्थि-भेदक का अर्थ 'गिरह-कट' किया है ।[४]

श्लोक ३०

१४–श्लोक ३० :

इस श्लोक में राजर्षि ने वस्तुस्थिति का मर्मोद्घाटन किया है । उन्होने कहा—"मनुष्य में अज्ञान और अहंकार आदि दोष होते है । उनके वशीभूत होकर वह निरपराध को भी अपराधी की भाँति दण्डित करता है और अज्ञानवश या घूस लेकर अपराधी को भी छोड देता है । अज्ञानी, अहंकारी और लालची मनुष्य मिथ्या-दण्ड का प्रयोग करता है । इससे नगर का क्षेम नही हो सकता ।"

'मिच्छादण्डो' मिथ्या का अर्थ—'झूठा' और दण्ड का अर्थ 'देश-निष्कासन व शारीरिक यातना देना' है ।[५]

श्लोक ३८

१५–श्लोक ३८ :

ब्राह्मण-परम्परा मे यज्ञ करना, ब्राह्मणो को भोजन कराना और दान देना—इनका महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है ।[६] जैन-आगमो मे इनका पूर्व-पक्ष के रूप में कई स्थानो पर उल्लेख हुआ है । देखें—उत्तराध्ययन, १४।९ , सूत्रकृताग, २।६।२६ ।

श्लोक ४०

१६–श्लोक ४० :

ब्राह्मण ने राजर्षि के सामने यज्ञ, ब्राह्मण-भोजन, दान और भोग-सेवन—ये चार प्रश्न उपस्थित किये थे । राजर्षि ने उनमे से केवल एक दान के प्रश्न का उत्तर दिया, शेष प्रश्नो के उत्तर इसी में गर्भित है ।

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १८३
ग्रन्थि भिदति ग्रन्थिभेदका, जुत्तिसुवण्णगादीहि ।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ३१२
आ—समन्तात् मुष्णन्ति—स्तैन्य कुर्वन्तीत्यामोषा ।

३–वही, पृ० ३१२
लोमानि—रोमाणि हरन्ति—अपनयन्ति प्राणिना ये ते लोमहारा ।

४–वही, पृ० ३१२
ग्रन्थि—द्रव्यसम्बन्धिन भिन्दन्ति—घुर्घुरकद्विकर्तिकादिना विदारयन्तीति ग्रन्थिभेदा ।

५–वही, पत्र ३१३
'मिथ्या' व्यलीक , किमुक्त भवति ?—अनपराधिष्वज्ञानाहकारादिहेतुभिरपराधिष्विव दण्डन दण्ड – देशत्यागशरीरनिग्रहादि ।

६–(क) पद्मपुराण, १८।४३७
तप कृते प्रशसन्ति, त्रेताया ज्ञान-कर्म च ।
द्वापरे यज्ञ मेवाहु र्दानमेक कलौ युगे ॥

(ख) मनुस्मृति, २।२८
स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतै ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीय क्रियते तनु ॥

शान्त्याचार्य ने लिखा है कि गो-दान सबसे अधिक प्रचलित है, इसलिए उसे प्रधानता दी है। यह यज्ञ आदि का उपलक्षण है।[1] इस श्लोक में संयम को श्रेय कहा है। यज्ञ आदि प्रेय है, सावद्य है। यह स्वयं फलित हो जाता है। टीकाकार के शब्दों में—"यज्ञ इसलिए सावद्य है कि उसमें पशु वध होता है, स्थावर जीवों की भी हिंसा होती है। साधु को उसके योग्य अशन-पान और धर्मोपकरण दिए जाते हैं, वह धर्म-दान है। इसके अतिरिक्त जो सुवर्ण-दान, गो-दान, भूमि-दान आदि हैं वे प्राणियों के विनाश के हेतु हैं इसलिए सावद्य हैं और भोग तो सावद्य है ही।

"प्रतिवादी ने कहा—यज्ञ, दान आदि प्राणियों के प्रीतिकर हैं, इसलिए वे सावद्य नहीं है। आचार्य ने कहा—यह हेतु सही नहीं है। जो सावद्य है वह प्राणियों के लिए प्रीतिकर नहीं होता, जैसे—हिंसा आदि। यज्ञ आदि सावद्य हैं, इसलिए वे प्रीतिकर नहीं है।"[2]

श्लोक ४२

१७–श्लोक ४२ :

ब्राह्मण-परम्परा में सन्यास की अपेक्षा गृहस्थाश्रम का अधिक महत्त्व रहा है। महाभारत में बताया गया है कि जो शील और सदाचार से विनीत है, जिसने अपनी इन्द्रियों को काबू में कर रखा है, जो सरलतापूर्ण बर्ताव करता है और समस्त प्राणियों का हितैषी है, जिसको अतिथि प्रिय है, जो क्षमाशील है, जिसने धर्मपूर्वक धन का उपार्जन किया है—ऐसे गृहस्थ के लिए अन्य आश्रमों की क्या आवश्यकता ? जैसे सभी जीव माता का सहारा लेकर जीवन धारण करते है, उसी प्रकार सभी आश्रम गृहस्थ-आश्रम का आश्रय लेकर ही जीवन यापन करते है।[3] महर्षि

१–उपलक्षण का अर्थ है—शब्द की वह शक्ति जिससे निर्दिष्ट वस्तु के अतिरिक्त उस तरह की और वस्तुओं का भी बोध हो।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ३१५

गोदान चेह यागाद्युपलक्षणम्, अतिप्रभूतजनाचरितमित्युपात्तम्, एवं च संयमस्य प्रशस्यतरत्वमभिदधता यागादीनां सावद्यत्वमर्था-दावेदितं, तथा च यज्ञप्रणेतृभिरुक्तम्—

षट् शतानि नियुज्यन्ते, पशूनां मध्यमेऽहनि।
अश्वमेधस्य वचनान्न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः॥

इयत्पशुवधे च कथमसावद्यता नाम ?, तथा दानान्यप्यशनादिविषयाणि धर्मोपकरणगोचराणि च धर्माय वर्ण्यन्ते, आह—

अशनादीनि दानानि, धर्मोपकरणानि च।
साधुभ्यः साधुयोग्यानि, देयानि विधिना बुधैः॥

शेषाणि तु सुवर्णगोभूम्यादीनि प्राण्युपमर्दहेतुतया सावद्यान्येव, भोगानां तु सावद्यत्वं सुप्रसिद्धं। तथा च प्राणिप्रीतिकरत्वादित्य-सिद्धो हेतुः, प्रयोगश्च—यत्सावद्यं न तत् प्राणिप्रीतिकरं, यथा हिंसादि, सावद्यानि च यागादीनि।

३–महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय १४१

शीलवृत्तविनीतस्य निगृहीतेन्द्रियस्य च॥
आर्जवे वर्तमानस्य सर्वभूतहितैषिणः।
प्रियातिथेश्च क्षान्तस्य धर्मार्जितधनस्य च॥
गृहाश्रमपदस्यस्य किमन्यैः कृत्यमाश्रमैः।
यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः॥
तथा गृहाश्रमं प्राप्य सर्वे जीवन्ति चाश्रमाः।

मनु ने भी गृही को 'ज्येष्ठाश्रम' कहा है। उसकी ज्येष्ठता इसलिए है कि शेष तीनों आश्रमों को वही धारण करता है।[1] इस गुरुतम उत्तरदायित्व की मान्यता को ध्यान में रखकर सूत्रकार ने गार्हस्थ्य के लिए 'घोराश्रम' शब्द का प्रयोग किया है।[2] चूर्णिकार ने इस भावना को अभिव्यक्त करते हुए लिखा है कि प्रव्रज्या का पालन करना सरल है, किन्तु गृहस्थाश्रम चलाना बहुत कठिन है क्योंकि शेष सब आश्रम वाले उसी पर निर्भर रहते हैं।[3]

चूर्णिकार ने जो 'तर्कयन्ति' का प्रयोग किया है, वह सहज ही 'तर्कयन्ति गृहाश्रमम्' महाभारत के इस चरण की याद दिला देता है।[4] आगमकार भी गृहस्थ को श्रमण के जीवन का आश्रयदाता मानते हैं।[5] फिर भी जैन-परम्परा में श्रमण की अपेक्षा गृहस्थाश्रम का स्थान बहुत निम्न है। 'मैं घर को छोड कर कब श्रमण बनूं'—यह गृहस्थ का पहला मनोरथ है।[6]

श्लोक ४४

१८—श्लोक ४४ :

ब्राह्मण ने कहा—'धर्मार्थी-पुरुष को घोर का अनुष्ठान करना चाहिए। सन्यास की अपेक्षा गृहस्थाश्रम घोर है, इसलिए उसे छोडकर सन्यास में जाना उचित नहीं।'[7]

१—मनुस्मृति, ३।७७, ७८

यथा वायु समाश्रित्य, वर्तन्ते सर्वजन्तव ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य, वर्तन्ते सर्व आश्रमा ॥
यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो, ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते, तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥

२—बृहद् वृत्ति, पत्र ३१५

'घोर' अत्यन्तदुरनुचर, स चासावाश्रमश्च आ डिति-स्वपरप्रयोजनाभिव्याप्त्या श्राम्यन्ति—खेदमनुभवन्त्यस्मिन्नितिकृत्वा घोराश्रमो—गार्हस्थ्य, तस्यैवाल्पसत्त्वैर्दुष्करत्वात्, यत आहु —

गृहाश्रमसमो धर्मो, न भूतो न भविष्यति ।
पालयन्ति नरा शूरा, क्लीवा पाखण्डमाश्रिता ॥

३—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १८४ :

आश्रयन्ति तमित्याश्रया, का भावना ? सुख हि प्रव्रज्या क्रियते, दु ख गृहाश्रम इति, त हि सर्वाश्रमास्तर्कयन्ति ।

४—महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय १४१ .

राजान सर्वपाषण्डा सर्वे रगोपजीविन ॥
व्यालग्राहश्च उन्माश्च चोरा राजभटास्तथा ।
सविद्या सर्वशीलज्ञा सर्वे वै विचिकित्सका ॥
दूराध्वान प्रपन्नाश्च क्षीणपथ्योदना नरा ।
एते चान्ये च बहव तर्कयन्ति गृहाश्रमम् ॥

५—स्थानाग, ५।३।४४७

धम्म चरमाणस्स पच णिस्साठाणा प० त०—छक्काया, गणे, राया, गाहावती, सरीरं।

६—वही, ३।४।२१०

कया ण अह मुडे भवित्ता अगारातो अणगारित पव्वइस्सामि ।

७—बृहद् वृत्ति, पत्र ३१५

यद्यद् घोर तत्तद् धर्मार्थिनाऽनुष्ठेय, यथाऽनशनादि, तथा चाय गृहाश्रम ।

इसके उत्तर में राजर्षि ने कहा—'घोर होने मात्र से ही कोई वस्तु श्रेष्ठ नहीं होती। बाल अर्थात् अज्ञान-पूर्ण तप करने वाला तपस्वी घोर तप करके भी सर्व-सावद्य की विरति करने वाले मुनि की तुलना में नहीं आता, उसके सोलहवें भाग का भी स्पर्श नहीं करता। धर्मार्थी के लिए घोर अनुष्ठेय नहीं है। उसके लिए अनुष्ठेय है स्वाख्यात-धर्म, भले फिर वह घोर हो या अघोर। गृहस्थाश्रम घोर होने पर भी स्वाख्यात-धर्म नहीं है, इसलिए उसे मैं जो छोड रहा हूँ, वह अनुचित नहीं है।'[1]

१९–कुश की नोक पर टिके उतना-सा आहार करता है (कुसग्गेण तु भुंजए ख) :

इसके दो अर्थ होते हैं—जितना कुश के अग्र-भाग पर टिके उतना खाता है—यह एक अर्थ है।[2] दूसरा अर्थ है—कुश के अग्र-भाग से ही खाता है, अंगुली आदि से उठा कर नहीं खाता।[3] पहले का आशय एक बार खाने से है और दूसरे का कई बार खाने से। मात्रा की अल्पता दोनों में है।

२०–सु-आख्यात धर्म (सम्यक्-चारित्र सम्पन्न मुनि) की (सुयक्खायधम्मस्स ग) :

भगवान् ने समस्त पाप-पूर्ण प्रवृत्तियों की विरति को 'धर्म' कहा है, इसलिए उनका धर्म सु-आख्यात है। इसकी समग्र-रूप से आराधना करने वाला स्वाख्यात-धर्मा—मुनि होता है।[4]

श्लोक ४६

२१–चाँदी, सोना (हिरण्णं सुवण्ण क) :

हिरण्य शब्द चाँदी और सोना दोनों का वाचक है। चूर्णिकार ने हिरण्य का अर्थ 'चाँदी' और सुवर्ण का अर्थ 'सोना' किया है।[5] शान्त्याचार्य ने हिरण्य का अर्थ 'सोना' किया है। उनके अनुसार सुवर्ण हिरण्य का विशेषण है। सुवर्ण अर्थात् श्रेष्ठ-वर्ण वाला।[6] वैकल्पिक रूप में हिरण्य का अर्थ गढा हुआ सोना और सुवर्ण का अर्थ बिना गढा हुआ सोना किया है।[7] सुखबोधा और सर्वार्थसिद्धि में यही अभिमत है।[8]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३१९
यदुक्तम्—'यद्यद् घोरं तत्तद्धर्मार्थिनाऽनुष्ठेयमनशनादिवदि'ति, अत्र घोरत्वादित्यनैकान्तिको हेतुः, घोरस्यापि स्वाख्यातधर्मस्यैव धर्मार्थिनाऽनुष्ठेयत्वाद्, अन्यस्य त्वात्मवधादिवत्, अन्यथात्वात्, प्रयोगश्चात्र—यत् स्वाख्यातधर्मरूपं न भवति घोरमपि न तद्धर्मार्थिनाऽनुष्ठेयं, यथाऽऽत्मवधादि, तथा च गृहाश्रमः, तद्रूपत्वं चास्य सावद्यत्वाद्धिंसावदित्यलं प्रसंगेन।

२–वही, पत्र ३१९
'कुशाग्रेणैव' तृणविशेषप्रान्तेन भुङ्क्ते, एतदुक्तं भवति—यावत् कुशाग्रेऽवतिष्ठते तावदेवाभ्यवहरति नातोऽधिकम्, अथवा कुशाग्रेणेति जातावेकवचनं, तृतीया तु ओदनेनासौ भुंक्त इत्यादिवत् साधकतमत्वेनाभ्यवह्रियमाणत्वेऽपि विवक्षितत्वात्।

३–सुखबोधा, पत्र १५०
'कुशाग्रेणैव' दर्भाग्रेणैव भुङ्क्ते न तु कराङ्गुल्यादिभिः।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ३१९
सुष्ठु—शोभनं सर्वसावद्यविरतिरूपत्वादाङिति—अभिव्याप्त्या ख्यातः—तीर्थकरादिभिः कथितः स्वाख्यातः तथाविधो धर्मो यस्य सोऽयं स्वाख्यातधर्मा तस्य, चारित्रिण इत्यर्थः।

५–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १८५
हिरण्यं—रजतं शोभनवर्णं सुवर्णम्।

६–बृहद् वृत्ति, पत्र ३१९
'हिरण्यं' स्वर्णं 'सुवर्णं' शोभनवर्णं विशिष्टवर्णिकमित्यर्थः।

७–वही, पत्र ३१९
यद्वा हिरण्यं—घटितस्वर्णमितरत्तु सुवर्णम्।

८–(क) सुखबोधा, पत्र १५१।
(ख) सर्वार्थसिद्धि, पत्र २११।

श्लोक ६०

२२—मुकुट को धारण करने वाला (तिरीडी घ) :

जिसके तीन शिखर हो उसे 'मुकुट' और जिसके चौरासी शिखर हो उसे 'किरीट' कहा जाता है।[1] जिसके सिर पर किरीट हो वह 'किरीटी' कहलाता है।[2] सामान्यतया मुकुट और किरीट पर्यायवाची माने जाते हैं।

श्लोक ६१

२३—विदेह के अधिपति (वइदेही ग) :

नमि विदेह जनपद के अधिपति थे, इसलिए उन्हें 'विदेही' कहा है। वइदेही का दूसरा संस्कृत रूप 'वैदेही' है। विभक्ति का व्यत्यय माना जाय तो इसका अर्थ 'वैदेही' (मिथिला को) किया जा सकता है।[3]

१—सूत्रकृतांग चूर्णि, पृ० ३६०

तिहिं सिहरएहिं मउडो वुच्चति, चउरासीहिं तिरीट।

२—बृहद् वृत्ति, पत्र ३१९

किरीटी च—मुकुटवान्।

३—वही, पत्र ३२०

'वइदेहि' त्ति सूत्रत्वाद्विदेहा नाम जनपद: सोऽस्यास्तीति विदेही विदेहजनपदाधिपो, न त्वयं एव कश्चिदिति भाव:, यद्वा—विदेहेषु भवा वैदेही—मिथिलापुरी, सुप्व्यत्ययात्ताम्।

अध्ययन १०

दुमपत्तयं

श्लोक १

१—वृक्ष का पका हुआ पान (दुमपत्तए पण्डुयए क) :

जीवन की नश्वरता को पके हुए द्रुम-पत्र की उपमा से समझाया गया है। निर्युक्तिकार ने यहाँ पके हुए पत्र और कोपल का एक उद्‌बोधक सवाद प्रस्तुत किया है। पके हुए पत्र ने किसलयों से कहा—"एक दिन हम भी वैसे ही थे, जैसे कि तुम हो और एक दिन तुम भी वसे ही हो जाओगे, जैसे कि हम हैं।"[1]

अनुयोगद्वार में इस कल्पना को और अधिक सरस रूप दिया गया है। पके हुए पत्तों को गिरते देख कोंपलें हँसी तब पत्तो ने कहा—"जरा ठहरो, एक दिन तुम पर भी वही बीतेगी, जो आज हम पर बीत रही है।"[2]

'पण्डुयए'—इसका शाब्दिक अर्थ—सफेद-पीला या सफेद रग है। वृक्ष का पत्ता पकने पर इस रग का हो जाता है, इसलिए पण्डुयए का भावानुवाद 'पका हुआ' किया है।[3]

श्लोक ५-१४

२—श्लोक ५-१४ :

जीव एक जन्म में जितने काल तक जीते हैं, उसे 'भव-स्थिति' कहा जाता है और मृत्यु के पश्चात् उसी जीव-निकाय के शरीर में उत्पन्न होने को 'काय-स्थिति' कहा जाता है।[4] देव और नारकीय-जीव मृत्यु के पश्चात् पुन देव और नारक नही बनते। उनके 'भव-स्थिति' ही होती है, 'काय-स्थिति' नही होती।[5] तिर्यंच और मनुष्य मृत्यु के पश्चात् पुन तिर्यंच और मनुष्य बन सकते है इसलिए उनके 'काय-स्थिति' भी होती है।[6] पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु के जीव लगातार असख्य अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी परिमित काल तक अपने-अपने स्थानो में जन्म लेते रहते

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ३०८
जह तुब्भे तह अम्हे, तुब्भेवि अ होहिहा जहा अम्हे।
अप्पाहेइ पडत, पडुरवत्त किसलयाण॥

२—अनुयोगद्वार, सूत्र १४६
परिजूरियपेरत, चलतबिंट पडतनिच्छीर।
पत्त वसणपत्त, कालप्पत्त भणइ गाह॥१२०॥
जह तुब्भे तह अम्हे, तुम्हेऽवि अ होहिहा जहा अम्हे।
अप्पाहेइ पडत, पडुयपत्त किसलयाण॥१२१॥

३—बृहद् वृत्ति, पत्र ३३३
'पडुयए' त्ति आर्षत्वात् पाण्डुरक कालपरिणामतस्तथाविधरोगादेर्वा प्राप्तवलक्षभावम्।

४—स्थानाग, २।३।८५
दुविहा ठिती।

५—वही, २।३।८५
दोण्ह भवट्ठिती।

६—वही, २।३।८५
दोण्ह कायट्ठिती।

है। वनस्पतिकाय के जीव अनन्त काल तक वनस्पतिकाय में ही रह जाते है।[1] दो, तीन और चार इन्द्रिय वाले जीव हजारो-हजारो वर्षो तक अपने-अपने निकायो में जन्म ले सकते है। पाँच इन्द्रिय वाले जीव लगातार एक सरीखे सात-आठ जन्म ले सकते हैं।

श्लोक १५

३—श्लोक १५ :

जीव जो संसार मे परिभ्रमण करता है, उसका हेतु बन्धन है। शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म जीव को बांधे हुए रहते है। ये बन्धन टूटते है तब जीव मुक्त हो जाते है।[2] इस श्लोक में संसार के हेतु का वर्णन है। बन्धन के इन दोनो प्रकारो और उनका नाश होने पर मुक्त होने का सिद्धान्त गीता मे भी मिलता है।[3]

श्लोक १६

४—दस्यु और म्लेच्छ (दसुया मिलेक्खुया ग) :

'दसुया'—दस्यु का अर्थ है देश की सीमा पर रहने वाला चोर।[4]

'मिलेक्खुया'—मिलक्खु का अर्थ 'म्लेच्छ' है। सूत्रकृताग में 'मिलक्खु'[5] और अभिधानप्पदीपिका में 'मिलक्ख' शब्द मिलता है[6]। यहाँ एकार अधिक है। यह शब्द संस्कृत के म्लेच्छ शब्द का रूपान्तर नही, किन्तु मूलत प्राकृत भाषा का है।

जिसकी भाषा अव्यक्त होती है, जिसका कहा हुआ आर्य लोग नही समझ पाते, उन्हें म्लेच्छ कहा जाता है। वृत्तिकार ने शक, यवन, शबर आदि देशो में उत्पन्न लोगो को म्लेच्छ कहा है। वे आर्यों की व्यवहार-पद्धति—धर्म-अधर्म, गम्य-अगम्य, भक्ष्य-अभक्ष्य—से भिन्न प्रकार का जीवन जीते थे, इसलिए आर्य लोग उन्हें हेय दृष्टि से देखते थे।[7]

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ३३६।

२—उत्तराध्ययन, २१।२४।

३—(क) गीता, २।५०
बुद्धियुक्तो जहातीह, उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व, योग कर्मसु कौशलम्॥

(ख) वही, ९।२८
शुभाशुभफलैरेव, मोक्ष्यसे कर्मबन्धनै।
संन्यासयोगयुक्तात्मा, विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

४—बृहद् वृत्ति, पत्र ३३७
दस्यवो—देशप्रत्यन्तवासिनश्चौरा।

५—सूत्रकृताग, १।१।२।१५
मिलक्खू अमिलक्खुस्स, जहा वुत्ताणुभासए।
न हेउ से वियाणाइ, भासिय तऽणुभासए॥

६—(क) अभिधानप्पदीपिका, २।१८६
मिलक्ख देसो, पच्चन्तो।

(ख) वही, २।५१७
मिलक्ख जातियो (च्चय)।

७—बृहद् वृत्ति पत्र ३३७
'मिलेक्खु य' त्ति म्लेच्छा—अव्यक्तवाचो, न यदुक्तमार्यैरवधार्यते, ते च शकयवनशबरादिदेशोद्भवा, येष्ववाप्यापि मनुजत्व जुगुप्स्यन्ते, एते च सर्वेऽपि धर्माधर्मगम्यागम्यभक्ष्याभक्ष्यादिसकलार्यव्यवहारबहिष्कृतास्तिर्यक्प्राया एव।

श्लोक १८

५-कुतीर्थिक (कुतित्थि ग) :

कुतीर्थिक का अर्थ 'असत्य मतव्य वाला दार्शनिक' है। वह जन-रुचि के अनुकूल उपदेश देता है इसलिए उसकी सेवा करने वाले को उत्तम धर्म सुनने का अवसर ही नही मिलता।[1]

श्लोक २७

६—पित्त-रोग (अरई क) :

अरति के अनेक अर्थ होते है। शान्त्याचार्य ने इसका अर्थ 'वायु आदि से उत्पन्न होने वाला चित्त का उद्वेग' किया है।[2] 'किन्तु इस श्लोक में शरीर का स्पर्श करने वाले रोगो का उल्लेख है। इस दृष्टि से अनुवाद में इसका अर्थ 'पित्त-रोग' किया गया है। अरति का अर्थ पित्त-रोग भी है।[3]

श्लोक २८

७—श्लोक २८ :

इस श्लोक में भगवान् ने गौतम को स्नेह-मुक्त होने का उपदेश दिया। गौतम पदार्थों में आसक्त नही थे। विषय-भोगों में भी उनका अनुराग नही था। केवल भगवान् से उन्हें स्नेह था। भगवान् स्वय वीतराग थे। वे नहीं चाहते थे कि कोई उनके स्नेह-बन्धन में बधे। भगवान् के इस उपदेश की पृष्ठ-भूमि में उस घटना का भी समावेश होता है, जिसका एक प्रसग में भगवान् ने स्वय उल्लेख किया था। भगवान् ने कहा था—"गौतम! तू मेरा चिरकालीन सम्बन्धी रहा है।"[4]

८—जल (पाणियं ख) :

अट्ठाइसवें श्लोक के प्रथम दो चरण धम्मपद के मार्ग-वर्ग, श्लोक १३ से तुलनीय हैं—

"उच्छिन्द सिनेहमत्तनो कुमुद सारदिक व पाणिना।"

अर्थात्—अपने प्रति आसक्ति को इस तरह काट दो जैसे शरद्-ऋतु में हाथों से कमल फूल काट दिया जाता है।

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ३३७

कुत्सितानि च तानि तीर्थानि कुतीर्थानि च—शाक्यौलूक्यादिप्ररूपितानि तानि विद्यन्ते येषामनुष्ठेयतया स्वीकृतत्वात् कुतीर्थिनस्तान्नितरा सेवते य स कुतीर्थिनिषेवको जनो-लोक, कुतीर्थिनो हि यश सत्काराद्यैषिणो यदेव प्राणिप्रिय विषयादि तदेवोपदिशन्ति, तत्तीर्थकृतामप्येवविधत्वात्, उक्त हि—

सत्कारयशोलाभार्थिभिश्च मूढैरिहान्यतीर्थकरै।
अवसादित जगदिद प्रियाण्यपथ्यान्युपदिशद्भिः॥

इति सुकरैव तेषा सेवा, तत्सेविना च कुत उत्तमधर्मश्रुति ?

२—वही, पत्र ३३८

'अरति' वातादिजनितश्चित्तोद्वेग।

३—चरकसहिता, ३०।६८

कमला वातरक्त च, विसर्प हृच्छिरोग्रहम्।
उन्मादारत्यपस्मारान्, वातपित्तात्मकान् जयेत॥

४—भगवती, १४।७।

शरद्-ऋतु का कमल इतना कोमल होता है कि वह सहज ही हाथों से काटा जा सकता है। यह धम्मपद गत उपमा का आशय है। उत्तराध्ययन के टीकाकारों ने इस उपमा का आशय इस प्रकार व्यक्त किया है—"कुमुद पहले जल-मग्न होता है और बाद में जल के ऊपर आ जाता है।"[1]

निर्लेपता के लिए कमल की उपमा का प्रयोग सहज रूप में होता है,। उत्तराध्ययन २५।२६ में लिखा है कि जैसे पद्म जल में उत्पन्न होकर भी उसमें लिप्त नहीं होता उसी प्रकार जो कामों से अलिप्त रहता है, वह ब्राह्मण है। निर्लेपता के लिए कुमुद और जल दो ही शब्द पर्याप्त हैं। स्नेह शारद-जल की तरह मनोरम होता है, यह दिखलाने के लिए शारद-पानीय का प्रयोग किया गया है।[2] धम्मपद में 'पाणिना' तृतीया विभक्ति का एकवचन है और उसका अर्थ है 'हाथ'। उत्तराध्ययन में 'पाणियं' द्वितीया का एकवचन है और इसका अर्थ है 'जल'।

श्लोक ३१

९–श्लोक ३१ :

चूर्णि और टीका में 'बहुमए' का अर्थ 'मार्ग'[3] और 'मग्गदेसिए' का अर्थ 'मोक्ष को प्राप्त कराने वाला'[4] किया है। इसके अनुसार इस श्लोक का अनुवाद इस प्रकार होगा—"आज जिन नहीं दीख रहे हैं फिर भी उनके द्वारा निरूपित मोक्ष को प्राप्त कराने वाला मार्ग दीख रहा है—यह सोच भव्य लोग प्रमाद से बचेंगे। अभी मेरी उपस्थिति में तुझे न्यायपूर्ण पथ प्राप्त है, इसलिए ।" किन्तु 'मग्गदेसिए' का अर्थ 'मार्ग का उपदेश देने वाला' और 'बहुमए' का अर्थ 'विभिन्न विचार रखने वाला' सहज संगत लगता है, इसलिए हमने अनुवाद में इन शब्दों का यही अर्थ किया है।

श्लोक ३३

१०–श्लोक ३३ :

जैसे कोई एक आदमी धन कमाने के लिए विदेश गया। वहाँ से बहुत सारा सोना लेकर वापस घर को आ रहा था। कंधों पर बहुत वजन था। शरीर से था वह दुबला-पतला। मार्ग सीधा-सरल आया तब तक वह ठीक चलता रहा और जब कंकरीला, पथरीला मार्ग आया तब वह आदमी घबरा गया। उसने धन की गठरी वहीं छोड़ दी और अपने घर चला आया। अब वह सब कुछ गँवा देने के कारण निर्धन हो पछतावा करता है। इसी प्रकार जो श्रमण प्रमादवश विषय-मार्ग में जा संयम-धन को गँवा देता है, उसे पछतावा होता है।

श्लोक ३५

११–क्षपक-श्रेणी पर (अकलेवरसेणिं क) :

कलेवर अर्थात् शरीर। मुक्त आत्माओं के कलेवर नहीं होता इसलिए वे अकलेवर कहलाते हैं। उनकी श्रेणी की तरह पवित्र भावनाओं की श्रेणी होती है, उसे अकलेवर-श्रेणी कहते हैं। तात्पर्य की भाषा में इसका अर्थ क्षपक-श्रेणी—कर्मों का क्षय करने वाली विचार-श्रेणी है।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३३९
'पानीय' जलं, यथा तत् प्रथमं जलमग्नमपि जलमपहाय वर्तते तथा त्वमपि चिरसंसृष्टचिरपरिचितत्वादिभिर्मद्विषयस्नेहवशगोऽपि तमपनय।

२–वही, पत्र ३३९
इह च जलमसहायेनावगति सिद्धे यच्छारदशब्दोपादानं तच्छारदजलस्येवस्नेहस्याप्यतिमनोरमत्वख्यापनार्थम्।

३–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९२
बहुमतो णाम पथो।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ३३९
'बहुमए' त्ति पन्था।

४–सुखबोधा, पत्र १६४
मग्गदेसिए त्ति मार्गणाद् मार्गः—मोक्षस्तस्य 'देसिए' त्ति सूत्रत्वात् देशकः—प्रापको मार्गदेशकः।

कलेवर-श्रेणी का दूसरा अर्थ 'सोपान-पंक्ति' हो सकता है। मुक्ति-स्थान तक पहुँचने के लिए विशुद्ध-विचार-श्रेणी का सहारा लिया जाता है। सोपान-पंक्ति वहाँ काम नहीं देती। इसलिए उसे 'अकलेवर-श्रेणी' कहा है।[1]

श्लोक ३६

१२–शान्ति-मार्ग को (सन्तिमग्गं ख) :

शान्ति का अर्थ है 'निर्वाण और उपशम'। शान्ति-मार्ग दसविध यति-धर्म का सूचक है।[2]

'सन्तिमग्गं च वूहए'—इस पद की तुलना धम्मपद २०।१३ के तीसरे चरण से होती है—'सन्तिमग्गमेव ब्रूहय'।

श्लोक ३७

१३–अर्थ और पद से (अट्ठपओ ख) :

चूर्णिकार ने अर्थ-पद का कोई अर्थ नहीं किया। शान्त्याचार्य ने उसका एक शाब्दिक-सा अर्थ किया है—अर्थ-पद अर्थात् अर्थ-प्रधान पद।[3] न्यायशास्त्र में मोक्ष-शास्त्र के चतुर्व्यूह को अर्थ-पद कहा गया है। अर्थ-पद का अर्थ है 'पुरुषार्थ का स्थान'। न्याय की परिभाषा में चार अर्थ-पद इस प्रकार हैं—

(१) हेय—दुःख और उसका निर्वर्तक (उत्पादक) अर्थात् दुःख-हेतु।

(२) आत्यन्तिक-हान—दुःख-निवृत्ति रूप मोक्ष का कारण अर्थात् तत्वज्ञान।

(३) इसका उपाय (शास्त्र)।

(४) अधिगन्तव्य—लभ्यमोक्ष।[4]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३४१

कलेवर—शरीरम् अविद्यमान कडेवरमेषामकडेवरा—सिद्धास्तेषा श्रेणिरिव श्रेणिर्ययोत्तरोत्तरशुभपरिणामप्राप्तिरूपया ते सिद्धि-पदमारोहन्ति (ता), क्षपकश्रेणिमित्यर्थ। यद्वा कडेवराणि—एकेन्द्रियशरीराणि तन्मयत्वेन तेषां श्रेणि कडेवरश्रेणि—वंशादि-विरचिता प्रासादादिष्वारोहणहेतु, तया च या न सा अकडेवरश्रेणि—अनन्तरोक्तरूपैव ताम्।

२–वही, पत्र ३४१

शाम्यन्त्यस्यां सर्वदुरितानीति शान्ति—निर्वाण तस्या मार्ग—पन्था, यद्वा शान्ति—उपशम सैव मुक्तिहेतुतया मार्ग शान्तिमार्गो, दशविधधर्मोपलक्षण शान्तिग्रहणम्।

३–वही, पत्र ३४१

अर्थप्रधानानि पदानि अर्थपदानि।

४–न्याय भाष्य, १।१।१।

शरद्-ऋतु का कमल इतना कोमल होता है कि वह सहज ही हाथो मे काटा जा सकता है। यह धम्मपद गत उपमा का आशय है। उत्तराध्ययन के टीकाकारो ने इस उपमा का आशय इस प्रकार व्यक्त किया है—"कुमुद पहले जल-मग्न होता है और बाद में जल के ऊपर आ जाता है।"[1]

निर्लेपता के लिए कमल की उपमा का प्रयोग सहज रूप में होता है,। उत्तराध्ययन २५।२६ में लिखा है कि जसे पद्म जल में उत्पन्न होकर भी उसमें लिप्त नही होता उसी प्रकार जो कामो से अलिप्त रहता है, वह ब्राह्मण है। निर्लेपता के लिए कुमुद और जल दो ही शब्द पर्याप्त हैं। स्नेह शारद-जल की तरह मनोरम होता है, यह दिखलाने के लिए शारद-पानीय का प्रयोग किया गया है।[2] धम्मपद में 'पाणिना' तृतीया विभक्ति का एकवचन है और उसका अर्थ है 'हाथ'। उत्तराध्ययन मे 'पाणिय' द्वितीया का एकवचन है और इसका अर्थ है 'जल'।

श्लोक ३१

९–श्लोक ३१ :

चूर्णि और टीका में 'बहुमए' का अर्थ 'मार्ग'[3] और 'मग्गदेसिए' का अर्थ 'मोक्ष को प्राप्त कराने वाला'[4] किया है। इसके अनुसार इस श्लोक का अनुवाद इस प्रकार होगा—"आज जिन नही दीख रहे है फिर भी उनके द्वारा निरूपित मोक्ष को प्राप्त कराने वाला मार्ग दीख रहा है—यह सोच भव्य लोग प्रमाद से बचेंगे। अभी मेरी उपस्थिति में तुझे न्यायपूर्ण पथ प्राप्त है, इसलिए ।" किन्तु 'मग्गदेसिए' का अर्थ 'मार्ग का उपदेश देने वाला' और 'बहुमए' का अर्थ 'विभिन्न विचार रखने वाला' सहज सगत लगता है, इसलिए हमने अनुवाद में इन शब्दो का यही अर्थ किया है।

श्लोक ३३

१०–श्लोक ३३ :

जैसे कोई एक आदमी धन कमाने के लिए विदेश गया। वहाँ से बहुत सारा सोना लेकर वापस घर को जा रहा था। कधो पर बहुत वजन था। शरीर से था वह दुबला-पतला। मार्ग सीधा-सरल आया तब तक वह ठीक चलता रहा और जब ककरीला, पथरीला मार्ग आया तब वह आदमी घबडा गया। उसने धन की गठरी वही छोड दी और अपने घर चला आया। अब वह सब कुछ गँवा देने के कारण निर्धन हो पछतावा करता है। इसी प्रकार जो श्रमण प्रमादवश विषय-मार्ग में जा सयम-धन को गँवा देता है, उसे पछतावा होता है।

श्लोक ३५

११–क्षपक-श्रेणी पर (अकलेवरसेणिं[क]) :

कलेवर अर्थात् शरीर। मुक्त आत्माओ के कलेवर नही होता इसलिए वे अकलेवर कहलाते है। उनकी श्रेणी की तरह पवित्र भावनाओ की श्रेणी होती है, उसे अकलेवर-श्रेणी कहते है। तात्पर्य की भाषा में इसका अर्थ क्षपक-श्रेणी—कर्मो का क्षय करने वाली विचार-श्रेणी है।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३३९
'पानीय' जल, यथा तत् प्रथम जलमग्नमपि जलमपहाय वर्तते तथा त्वमपि चिरससृष्टचिरपरिचितत्वादिभिर्मद्विषयस्नेहवशगोऽपि तमपनय।

२–वही, पत्र ३३९
इह च जलमपहायेतावति सिद्धे यच्छारदशब्दोपादान तच्छारदजलस्येवस्नेहस्याप्यतिमनोरमत्वख्यापनार्थम्।

३–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९२
बहुमतो णाम पथो।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ३३९
'बहुमए'त्ति पन्था।

४–सुखबोधा, पत्र १६४
'मग्गदेसिय' त्ति मार्ग्यमाणत्वाद् मार्गः—मोक्षस्तस्य 'देसिए' त्ति सूत्रत्वात् देशक —प्रापको मार्गदेशक।

कलेवर-श्रेणी का दूसरा अर्थ 'सोपान-पंक्ति' हो सकता है। मुक्ति-स्थान तक पहुँचने के लिए विशुद्ध-विचार-श्रेणी का सहारा लिया जाता है। सोपान-पंक्ति वहाँ काम नहीं देती। इसलिए उसे 'अकलेवर-श्रेणी' कहा है।[1]

श्लोक ३६

१२–शान्ति-मार्ग को (सन्तिमग्गं ख) :

शान्ति का अर्थ है 'निर्वाण और उपशम'। शान्ति-मार्ग दसविध यति-धर्म का सूचक है।[2]

'सन्तिमग्ग च वूहए'—इस पद की तुलना धम्मपद २०।१३ के तीसरे चरण से होती है—'सन्तिमग्गमेव ब्रूहय'।

श्लोक ३७

१३–अर्थ और पद से (अट्ठपअ ख) :

चूर्णिकार ने अर्थ-पद का कोई अर्थ नहीं किया। शान्त्याचार्य ने उसका एक शाब्दिक-सा अर्थ किया है—अर्थ-पद अर्थात् अर्थ-प्रधान पद।[3] न्यायशास्त्र में मोक्ष-शास्त्र के चतुर्व्यूह को अर्थ-पद कहा गया है। अर्थ-पद का अर्थ है 'पुरुषार्थ का स्थान'। न्याय की परिभाषा में चार अर्थ-पद इस प्रकार हैं—

(१) हेय—दुःख और उसका निर्वर्तक (उत्पादक) अर्थात् दुःख-हेतु।

(२) आत्यन्तिक-हान—दुःख-निवृत्ति रूप मोक्ष का कारण अर्थात् तत्त्वज्ञान।

(३) इसका उपाय (शास्त्र)।

(४) अधिगन्तव्य—लभ्यमोक्ष।[4]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३४१

कलेवर—शरीरम् अविद्यमान कडेवरमेषामकडेवरा —सिद्धास्तेषा श्रेणिरिव श्रेणिर्ययोत्तरोत्तरशुभपरिणामप्राप्तिरूपया ते सिद्धि-पदमारोहन्ति (तां), क्षपकश्रेणिमित्यर्थ । यद्वा कडेवराणि—एकेन्द्रियशरीराणि तन्मयत्वेन तेषां श्रेणि कडेवरश्रेणि —वंशादि-विरचिता प्रासादादिष्वारोहणहेतु , तथा च या न सा अकडेवरश्रेणि —अनन्तरोक्तरूपैव ताम्।

२–वही, पत्र ३४१

शाम्यन्त्यस्या सर्वदुरितानीति शान्ति —निर्वाण तस्या मार्ग —पन्था:, यद्वा शान्ति —उपशम सैव मुक्तिहेतुतया मार्ग. शान्तिमार्गो, दशविधधर्मोपलक्षण शान्तिग्रहणम्।

३–वही, पत्र ३४१

अर्थप्रधानानि पदानि अर्थपदानि।

४–न्याय भाष्य, १।१।१।

अध्ययन ११

बहुस्सुयपुज्जा

श्लोक १

१—आचार (आयारं ग) :

आचार का अर्थ 'उचित क्रिया' या 'विनय' है ।[1] वृद्ध व्याख्या के अनुसार आचार और विनय दोनों एकार्थक शब्द हैं ।[2] जैन और बौद्ध साहित्य में विनय शब्द भी आचार के अर्थ में बहुलता से प्रयुक्त हुआ है ।[3] प्रस्तुत अध्ययन में बहुश्रुत की पूजा कैसे की जाय इस आचार पर प्रकाश डाला गया है ।[4]

श्लोक २

२—(अवि क, थद्धे ख, अणिग्गहे ख) :

प्रस्तुत प्रकरण बहुश्रुत की पूजा का है । बहुश्रुत की पूजा उसके स्वरूप को जानने से होती है । बहुश्रुत का प्रतिपक्ष अबहुश्रु बहुश्रुत को जानने से पहले अबहुश्रुत को जानना आवश्यक है । इसलिए इस श्लोक में अबहुश्रुत का स्वरूप बतलाया गया है ।[5]

'अवि'—विद्यावान् होते हुए भी । निर्विद्य (विद्याहीन) शब्द मूल पाठ में प्रयुक्त है किन्तु विद्यावान् का उल्लेख 'अपि' शब्द के आधार पर किया गया है ।[6] जो स्तब्धता आदि दोषों से युक्त है वह विद्यावान् होते हुए भी अबहुश्रुत है । इसका कारण यह है कि स्तब्धता आदि दोषो से बहुश्रुतता का फल नही होता ।[7]

'थद्धे'—अभिमानी । ज्ञान से अहंकार का नाश होता है किन्तु जब ज्ञान भी अहंकार की वृद्धि का साधन बन जाए तब अहंकार कैसे मिटे ? जब औषध भी विष का काम करे तो चिकित्सा किसके द्वारा की जाय ?[8]

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ३४४ :
आचरणमाचार —उचितक्रिया विनय इतियावत् ।

२—वही, पत्र ३४४
तथा च वृद्धा —'आयारोत्ति वा विणओत्ति वा एगट्ठं' त्ति ।

३—देखें —१।१ का टिप्पण सं० ३ , विनयपिटक ।

४—बृहद् वृत्ति, पत्र ३४४ :
स चेह बहुश्रुतपूजात्मक एव गृह्यते, तस्या एवात्राधिकृतत्वात् ।

५—वही, पत्र ३४४
इह च बहुश्रुतपूजा प्रक्रान्ता, सा च बहुश्रुतस्वरूपपरिज्ञान एव कर्त्तुं शक्या, बहुश्रुतस्वरूपं च तद्विपर्ययपरिज्ञाने तद्विविक्त सुखेनैव ज्ञायत इत्यबहुश्रुतस्वरूपमाह ।

६—वही, पत्र ३४४ :
अपिशब्दसम्बन्धात् सविद्योऽपि ।

७—वही, पत्र ३४४
सविद्यस्याप्यबहुश्रुतत्वं बाहुश्रुत्यफलाभावादिति भावनीयम् ।

८—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९५
ज्ञानं मदनिर्मथनं, माद्यति यस्तेन दुश्चिकित्स्य स ।
अगदो यस्य विषं यति, तस्य चिकित्सा कुतोऽन्येन ॥

'अणिग्गहे'—अजितेन्द्रिय। इन्द्रियों पर नियंत्रण करने के लिए विद्या अंकुश के समान है। उसके अभाव में व्यक्ति अनिग्रह होता है।[1] जो इन्द्रियों का निग्रह न कर सके वह अनिग्रह—अजितेन्द्रिय कहलाता है।[2]

श्लोक ३

३-(ठाणेहिं क, सिक्खा ख, थम्भा ग, पमाएणं ग , रोगेणाऽलस्सएण घ) :

'ठाणेहिं'—स्थानों से। स्थान शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। यहाँ इसका अर्थ हेतु[3] या प्रकार[4] है।

'सिक्खा'—शिक्षा। शिक्षा के दो प्रकार हैं—ग्रहण और आसेवन। ज्ञान प्राप्त करने को ग्रहण और उसके अनुसार आचरण करने को आसेवन कहा जाता है।[5] अभिमान आदि कारणों से ग्रहण-शिक्षा भी प्राप्त नहीं होती तो भला आसेवन-शिक्षा कैसे प्राप्त हो सकती है ?[6]

'थम्भा'—स्तम्भ। इसका अर्थ है—'मान'। अभिमानी व्यक्ति विनय नहीं करता, इसलिए उसे कोई नहीं पढाता, अत मान शिक्षा-प्राप्ति में बाधक है।[7]

'पमाएण'—प्रमाद। प्रमाद के पाँच प्रकार हैं—

(१) मद्य, (२) विषय, (३) कषाय, (४) निद्रा और (५) विकथा।[8]

'रोगेण'—रोग। चूर्णिकार ने रोग उत्पन्न होने के दो कारण बतलाए है[9]—

(१) अति-आहार और (२) अपथ्य-आहार।

'आलस्सएण'—आलस्य। आलस्य का अर्थ है—उत्साहहीनता[10]।

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९५ :
अंकुशभूता विद्या तस्या अभावादनिग्रह।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ३४४
न विद्यते इन्द्रियनिग्रह—इन्द्रियनियमनात्मकोऽस्येति अनिग्रह।

३–वही, पत्र ३४४-३४५
'यै' इति वक्ष्यमाणैर्हेतुभि।

४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९५
ठाणेहिंति प्रकारा।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ३४५
शिक्षण शिक्षा—ग्रहणासेवनात्मिका।

६–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९५
गहणसिक्खावि णत्थि, कतो आसेवणसिक्खा।

७–वही, पृ० १९५
तत्थ ते णो कोइ पाढेति, इयरो थद्धत्तेण ण ददति।

८–वही, पृ० १९५
पमादो पचविधो, तजहा—मज्जप० विसयप० कसायप० णिद्दाप० विगहापमादो।

९–वही, पृ० १९५
अत्याहारेण अपत्याहारेण वा रोगो भवति।

१०–बृहद् वृत्ति, पत्र ३४५
'आलस्येन' अनुत्साहात्मना।

श्लोक ४

४–(सिक्खासीले ख, अहस्सिरे ग, मम्मं घ) :

'सिक्खासीले'—शिक्षा-शील। शिक्षा में रुचि रखने वाला या शिक्षा का अभ्यास करने वाला 'शिक्षा-शील' कहलाता है।[1]

'अहस्सिरे'—जो हास्य न करे। अकारण या कारण उपस्थित होने पर भी जिसका स्वभाव हँसने का न हो उसे 'अहसिता' कहा जाता है।[2]

'मम्म'—मर्म। मर्म का अर्थ है—लज्जाजनक, अपवादजनक या निन्दनीय आचारण सम्बन्धी गुप्त बात।[3]

श्लोक ५

५–(अकोहणे ग, सच्चरए ग) :

'अकोहणे'—जो क्रोध न करे। जो निरपराध या अपराधी पर क्रोध न करे, वह 'अक्रोधन' कहलाता है।[4]

'सच्चरए'—जो सत्य में रत हो। चूर्णि के अनुसार जो मृषा न बोले या सयम में रत हो, वह 'सत्य-रत' कहलाता है।[5]

श्लोक ७

६–(पबन्धं ख, मेत्तिज्जमाणो वमइ ग) :

'पबन्ध'—जो क्रोध को टिका कर रखता है। प्रबन्ध का अर्थ है—'अविच्छेद'। बार-बार क्रोध आना और आए हुए क्रोध को टिका कर रखना एक बात नही है।[6]

'मेत्तिज्जमाणो वमइ'—जो मित्र-भाव रखने वाले को भी ठुकराता है। इसका आशय एक व्यावहारिक उदाहरण द्वारा समझाया गया है। कोई साधु पात्र रगना नही जानता। वैसी स्थिति में दूसरा साधु उसका पात्र रगने को तैयार है किन्तु वह सोचने लगता है कि मैं इससे अपना पात्र रगाऊँगा तो मुझे भी इसका काम करना पडेगा। इस प्रत्युपकार के भय से वह उससे पात्र नही रगवाता और कहता है मुझे तुमसे पात्र नही रगवाना है। इस तरह मित्र-भाव रखने की इच्छा करने वाले का तिरस्कार करता है।[7]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३४५
शिक्षाया शीलः—स्वभावो यस्य शिक्षा वा शीलयति—अभ्यस्यतीति शिक्षाशील —द्विविधशिक्षाभ्यासकृद्।

२–वही, पत्र ३४५
अहसिता—न सहेतुकमहेतुक वा हसन्नेवास्ते।

३–वही, पत्र ३४५
'मर्म' परापभ्राजनाकारि कुत्सित जात्यादि।

४–वही, पत्र ३४५
'अक्रोधन' अपराधिन्यनपराधिनि वा न कथचित् क्रुध्यति।

५–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९६
सच्चरतो ण मुसावादी, सजमरतो वा।

६–बृहद् वृत्ति, पत्र ३४६
'प्रवन्धं च' प्रकृतत्वात् कोपस्यैवाविच्छेदात्मकम्।

७–वही, पत्र ३४६
'मेत्तिज्जमाणो' त्ति मित्रीय्यमाणोऽपि मित्र ममायमस्त्वितीत्यमाणोऽपि अपिशब्दस्य लुप्तनिर्दिष्टत्वात् 'वमति' त्यजति, प्रस्तावान्मित्रयितार मैत्रीं वा, किमुक्त भवति ?—यदि कश्चिद्धार्मिकतया वक्ति—यथा त्व न वेत्सीत्यह तव पात्र लेपयामि, ततोऽसौ प्रत्युपकारभीरुतया प्रतिवक्ति—ममालमेतेन।

श्लोक ८

७–बुराई करता है (भासइ पावग घ) :

बुराई करता है—इसका तात्पर्य यह है कि सामने मीठा बोलता है और पीठ पीछे—'यह दोष का सेवन करता है'—इस प्रकार उसका अपवाद करता है।[1]

श्लोक ९

८–जो असबद्ध भाषी होता है (पइण्णवाई क) :

बृहद् वृत्ति के अनुसार इसके संस्कृत रूप दो बनते हैं—

१–प्रकीर्णवादी।

२–प्रतिज्ञावादी।

जो सम्बन्ध रहित बोलता है या पात्र या अपात्र की परीक्षा किए बिना ही श्रुत का रहस्य बता देता है, वह 'प्रकीर्णवादी' कहलाता है।

'यह ऐसे ही है' इस तरह जो एकान्तिक आग्रह पूर्वक बोलता है, वह 'प्रतिज्ञावादी' कहलाता है।[2] चूर्णिकार को पहला रूप अभिमत है[3] और सुखबोधा को दूसरा।[4]

प्रकरण की दृष्टि से पहला अर्थ ही अधिक संगत लगता है। जार्ल सरपेन्टियर ने पहला अर्थ ही मान्य किया है।[5]

श्लोक १०

९–जो नम्र-व्यवहार करता है (नीयावत्ती ग) :

बृहद् वृत्ति के अनुसार 'नीचवर्ती' के दो अर्थ हैं—

१–नीच अर्थात् नम्र वर्त्तन करने वाला।

२–शय्या आदि में गुरु से नीचा रहने वाला।[6]

इसकी विशेष जानकारी के लिए देखिए दशवैकालिक ९।२।१७।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३४६
'भाषते' वक्ति पापमेव पापक, किमुक्त भवति ?—अग्रत प्रिय वक्ति पृष्ठतस्तु प्रतिसेवकोऽयमित्यादिकमनाचारमेवाविष्करोति।

२–वही, पत्र ३४६
प्रकीर्णम्—इतस्ततो विक्षिप्तम्, असम्बद्धमित्यर्थ, वदति—जल्पतीत्येवशील प्रकीर्णवादी, वस्तुतत्वविचारेऽपि यत्किंचनवादीत्यर्थ, अथवा—य पात्रमिदमपात्रमिदमिति वाऽपरीक्ष्यैव कथंचिदधिगत श्रुतरहस्यं वदतीत्येवशील प्रकीर्णवादी इति, प्रतिज्ञया वा—इदमित्थमेव इत्येकान्ताभ्युपगमरूपया वदनशील प्रतिज्ञावादी।

३–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९६
अपरिक्खिउ जस्स व तस्स व कहेति।

४–सुखबोधा, पत्र १६८
प्रतिज्ञया—इत्थमेवेदमित्येकान्ताभ्युपगमरूपया वदनशील प्रतिज्ञावादी।

५—The Uttarādhyayana Sūtra p 320

६–बृहद् वृत्ति, पत्र ३४६
नीचम्—अनुद्धत यथा भवत्येव नीचेषु वा शय्यादिषु वर्त्तन इत्येवशीलो नीचवर्त्ती—गुरुषु न्यग्वृत्तिमान्।

१०–जो चपल नहीं होता (अचवले [ग]) :

चपल चार प्रकार के होते हैं—

१–गति-चपल—जो दौडता हुआ चलता है ।

२–स्थान-चपल—जो बैठा-बैठा हाथ-पैर आदि को हिलाता रहता है ।

३–भाषा-चपल—इसके चार प्रकार है—

(क) असत्-प्रलापी—असत् (अविद्यमान) कहने वाला ।
(ख) असभ्य-प्रलापी—कडा या रूखा बोलने वाला ।
(ग) असमीक्ष्य-प्रलापी—विना सोचे-विचारे बोलने वाला ।
(घ) अदेशकाल-प्रलापी—उस-उस प्रदेश में या उस समय में यह कार्य किया जाता तो सुन्दर होता—हाथ से अवसर निकल जाने के बाद—इस प्रकार कहने वाला ।

११–जो मायावी नहीं होता (अमाई [घ]) :

४–भाव-चपल—प्रारम्भ किए हुए सूत्र और अर्थ को बीच में छोड कर दूसरे सूत्र और अर्थ का अध्ययन प्रारम्भ करने वाला ।[1]

चूर्णिकार ने माया-पूर्ण व्यवहार को समझाने के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत किया है—किसी साधु को भिक्षा में सरस भोजन मिला। उसने सोचा—गुरु इस भोजन को देखेंगे तो स्वयं ले लेंगे । इस डर से उसने सरस भोजन को रूखे-सूखे भोजन से ढक दिया— यह माया-पूर्ण व्यवहार है । जो ऐसे व्यवहारों का आसेवन नही करता, वह अमायी होता है ।[2] विशेष विवरण के लिए देखिए दशवैकालिक ५।२।३१ ।

१२–जो कुतूहल नहीं करता (अकुऊहले [घ]) :

इन्द्रियों के विषय और चामत्कारिक विद्याएँ पाप-स्थान होते है, यह जान कर जो उनके प्रति उदासीन रहता है, उसे अकुतूहल कहा जाता है ।[3] ऐसा व्यक्ति नाटक, इन्द्रजाल आदि को देखने के लिए कभी उत्सुक नही होता ।[4]

श्लोक ११

१३–जो किसी का तिरस्कार नहीं करता (अप्प चाऽहिक्खिवई [क]) :

'अल्प' शब्द के दो अर्थ होते है—

१–थोडा ।

२–अभाव ।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३४६-३४७
'अचवल' नाऽऽरब्धकार्यं प्रत्यस्थिर, अथवाऽचपलो—गतिस्थानभाषाभावभेदतश्चतुर्धा, तत्र—गतिचपल—द्रुतचारी, स्थानचपल—तिष्ठन्नपि चलन्नेवास्ते हस्तादिभि, भाषाचपल—असदसभ्यासमीक्ष्यादेशकालप्रलापिभेदाच्चतुर्द्धा, तत्र असद्—अविद्यमानमसभ्य—खरपरुषादि, असमीक्ष्य—अनालोच्य प्रलपन्तीत्येवशीला असदसभ्यासमीक्ष्यप्रलापिनस्त्रय, अदेशकालप्रलापी चतुर्थ अतीते कार्ये यो वक्ति—यदिद तत्र देशे काले वाऽकरिष्यत् तत सुन्दरमभविष्यद्, भावचपल सूत्रेऽर्थे वाऽसमाप्त एव योऽन्यद् गृह्णाति ।

२–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९७
'अमाई' त्ति जो माय न सेवति, सा य माया एरिसप्पगारा, जहा कोइ मणुन्न भोयन लद्धूण पंतेण छातेति 'मा मेय दाइय सत दट्ठूण सयमादिए' ।

३–वही, पृ० १९७
अकुतूहली विसएसु विज्जासु पावठाणत्ति ण वट्टतित्ति ।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ३४७
'अकुतूहल' न कुहुकेन्द्रजालाद्यवलोकनपर ।

पहले अर्थ के अनुसार इस चरण का अनुवाद होगा—थोडा तिरस्कार करता है। इसका भाव यह है कि ऐसे तो वह किसी का तिरस्कार नहीं करता किन्तु अयोग्य को धर्म में प्रेरित करने की दृष्टि से उसका थोडा तिरस्कार करता है।[1]

चूर्णि के अनुसार यहाँ 'अल्प' शब्द अभाववाची है।[2]

श्लोक १२

१४—प्रशंसा करता है (कल्लाण भासई घ) :

कुछ व्यक्ति कृतघ्न होते हैं। वे एक दोष को सामने रख कर सौ गुणों को भुला देते हैं। कुछ व्यक्ति कृतज्ञ होते हैं। वे एक गुण को सामने रख कर सौ दोषों को भुला देते हैं। यहाँ बतलाया गया है कि कृतज्ञ व्यक्ति अपकार करने वाले मित्र के पूर्वकृत किसी एक उपकार का स्मरण कर उसके परोक्ष में भी उसका दोष-गान नहीं करता किन्तु गुण-गान करता है, प्रशंसा करता है।[3]

श्लोक १३

१५—(कलहडमर क, बुद्धे अभिजाइए ख, हिरिमं पडिसंलीणे ग) :

'कलहडमर'—कलह और हाथापाई। 'कलह' का अर्थ है—वाचिक-विग्रह—वचन से झगड़ा करना और 'डमर' का अर्थ है—हाथापाई करना। दोनों एकार्थक भी माने गए हैं।[4]

'बुद्धे'—बुद्धिमान्। बुद्ध अर्थात् बुद्धिमान्—तत्त्व को जानने वाला। चौदह स्थानों में बुद्ध की स्वतंत्र गणना नहीं है। इसका सम्बन्ध सुविनीत के प्रत्येक स्थान से है।[5]

'अभिजाइए'—कुलीन। अभिजाति का अर्थ है—कुलीनता। जो कुलीनता रखता है अर्थात् लिए हुए भार का निर्वाह करता है, वह अभिजातिग (कुलीन) कहलाता है।[6]

'हिरिमं'—लज्जावान्। लज्जा एक प्रकार का मानसिक संकोच है। वह कभी-कभी मनुष्य को उबार देती है। लज्जाहीन मनुष्य

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ३४७

'अल्पं च' इति स्तोकमेव 'अधिक्षिपति' तिरस्कुरुते, किमुक्तं भवति?—नाधिक्षिपत्येव तावदसौ कंचन, अधिक्षिपन् वा कंचन कडूकटुकरूपं धर्मं प्रति प्रेरयन्नल्पमेवाधिक्षिपति।

२—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९७

अल्पशब्दो हि स्तोके अभावे वा, अत्र अभावे द्रष्टव्य, ण किंचि अधिखिवति, नातिक्रमतीत्यर्थः।

३—बृहद् वृत्ति, पत्र ३४७

कल्याणं भाषते, इदमुक्तं भवति—मित्रमिति यः प्रतिपन्नः स यद्यप्यपकृतिशतानि विधत्ते तथाप्येकमपि सुकृतमनुस्मरन्न रहस्यपि तद्दोषमुदीरयति, तथा चाह—

एकसुकृतेन दुष्कृतशतानि ये नाशयन्ति ते धन्याः।
न त्वेकदोषजनितो येषां कोपः स च कृतघ्नः॥

४—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९७

कलहं एव डमरं कलहडमरं, कलहेति वा भंडणेति वा डमरेति वा एगट्ठा, अहवा कलहो वाचिको डमरो हत्थारंभो।

५—बृहद् वृत्ति, पत्र ३४७

'बुद्धो' बुद्धिमान्, एतच्च सर्वत्रानुगम्यत एवेति न पृथगस्य संख्याविरोधः।

६—(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९७

अभिजायते, विणीतो कुलीणे य।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ३४७

अभिजाति—कुलीनता तां गच्छति—उत्क्षिप्तभारनिर्वाहणादिनेत्यभिजातिगः।

मन के विकृत होने पर अनुचित कार्य कर डालता है, किन्तु लज्जावान् पुरुष उस स्थिति में भी अनुचित आचरण नहीं करता।[1] इसलिए लज्जा व्यक्ति का बहुत बड़ा गुण है। जो अनुचित कार्य करने में लजाता हो, वह ह्रीमान् अर्थात् लज्जावान् कहलाता है।

'पडिसलीणे'—प्रतिसलीन। कुछ लोग दिन भर इधर-उधर फिरते रहते हैं। कार्य में संलग्न व्यक्ति को ऐसा नहीं करना चाहिए। उसे अपने स्थान पर स्थिरता पूर्वक बैठे रहना चाहिए। इन्द्रिय और मन को भी करणीय कार्य में संलग्न रखना चाहिए। प्रयोजनवश कहीं जाना भी पड़ता है किन्तु निष्प्रयोजन इन्द्रिय, मन और हाथ-पैर की चपलता के कारण इधर-उधर नहीं फिरना चाहिए। प्रतिसलीन शब्द के द्वारा इसी आचरण की शिक्षा दी गई है।[2]

श्लोक १४

१६–गुरुकुल में (गुरुकुले[क]) :

'गुरुकुल' का अर्थ—गच्छ या गण है। यहाँ कहा गया है कि मुनि 'गुरुकुल' में रहे अर्थात् गुरु की आज्ञा में रहे, स्वच्छन्द विहारी होकर अकेला न विचरे।[3] गुरुकुल में रहने से उसे ज्ञान की प्राप्ति होती है। दर्शन और चारित्र में स्थिरता आती है। वे धन्य है जो जीवन-पर्यन्त 'गुरुकुल-वास' नहीं छोड़ते।[4]

१७–जो समाधि-युक्त होता है (जोगवं[ख]) :

योग शब्द दो धातुओं से निष्पन्न होता है। एक का अर्थ है जुड़ना और दूसरी का अर्थ है समाधि। चूर्णिकार ने योग के तीन अर्थ किए हैं—

१–मन, वाणी और काया की प्रवृत्ति।

२–संयम योग।

३–पढ़ने का उद्योग।[5]

१–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९७
ह्री लज्जाया, लज्जति अचोक्खमायरतो।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ३४७
ह्री — लज्जा सा विद्यतेऽस्य ह्रीमान्।

२–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९७, १९८
पडिसलीणो आचार्यसकासे इदियणोइदिएहिं।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ३४७
'प्रतिसलीन'—गुरुसकाशेऽन्यत्र वा कार्यं विना न यतस्ततश्चेष्टते।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ३४७
गुरूणाम्—आचार्यादीना कुलम्—अन्वयो गच्छ इत्यर्थ गुरुकुल तत्र, तदाज्ञोपलक्षण च कुलग्रहण, किमुक्त भवति?··· गुर्वाज्ञायामेव तिष्ठेत्।

४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९८
आयरियसमीवे अच्छति आह हि —
णाणस्स होइ भागी थिरयरगो दसणे चरित्ते य।
धन्ना आवकहाए गुरुकुलवास न मुचति॥

५–वही, पृ० १९८
जोगो मणजोगादि संजमजोगो वा, उज्जोग पठितव्वते करेइ।

शान्त्याचार्य ने योग के दो अर्थ किए है—

१–धार्मिक-प्रयत्न।

२–समाधि।[1]

गीता मे एक स्थान पर कर्म-कौशल को योग[2] कहा है तो दूसरे स्थान पर समत्व को योग कहा है।[3] इस प्रकार योग की सत् कर्म विषयक और समाधि विषयक दोनो प्रकार की व्याख्या मिलती है। धार्मिक-प्रयत्न और समाधि दोनो मोक्ष के हेतु है इसलिए दोनो मे सर्वथा भेद नही है, इसीलिए हरिभद्रसूरि ने मोक्ष से योग कराने वाले समूचे धर्म-व्यापार को योग कहा है।[4] दशवैकालिक ८।४२ मे कहा है—मुनि को योग करना चाहिए। वहां योग का मुख्य-अर्थ श्रमण-धर्म की आराधना है।

श्लोक १५

१८–दोनो ओर (अपने और अपने आधार के गुणो) से सुशोभित होता है (दुहओ वि विरायइ ग):

शख भी स्वच्छ होता है और दूध भी स्वच्छ होता है। जब शख के पात्र में दूध रखा जाता है तब दूध पात्र की स्वच्छता के कारण अधिक स्वच्छ हो जाता है। वह न तो फटता है और न खट्टा होता है।[5]

१९–धर्म, कीर्ति और श्रुत (धम्मो कित्ती तहा सुय घ):

चूर्णिकार ने इस चरण का अर्थ दो प्रकार से किया है—योग्य व्यक्ति को ज्ञान देने वाले बहुश्रुत के धर्म होता है, कीर्ति होती है और उसका ज्ञान अबाधित रहता है। दूसरे प्रकार से इसका अर्थ है—बहुश्रुत भिक्षु में धर्म, कीर्ति और श्रुत अबाधित रहते है।[6]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३४७

योजन योगो—व्यापार, स चेह प्रक्रमाद्धर्मगत एव तद्वान्, अतिशायने मतुप्, यद्वा योग—समाधि सोऽस्यास्तीति योगवान्।

२–गीता, २।५०

योग कर्मसु कौशलम्।

३–वही, २।४८

समत्व योग उच्यते।

४–योगविंशिका–१

मोक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वोवि धम्मवावारो।

५–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९८

'सखमि' सखभायणे पय—खीर णिसित ठविय न्यस्तमित्यर्थ, उभयतो दुहतो, सखो खीर च, अहवा तओ खीर व, खीर सखे ण परिस्सयति ण य अविल भवति।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ३४८

'दुहओवि' त्ति द्वाभ्या प्रकाराभ्या द्विधा, न शुद्धतादिना स्वगतगुणलक्षणेनैकेनैव प्रकारेण, किं तु स्वगताश्रयगताधिगुणद्वयलक्षणेन प्रकारद्वयेनापीत्यपिशब्दार्थ, 'विराजते' शोभते, तत्र हि न तत् कलुषीभवति, न चाम्लता भजते, नापि च परिस्रवति।

६–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९८

नायगे देंतस्स धम्मो भवति कित्ती वा, सो तहा सुत्त अवाधित भवति, अपत्ते देंतस्स असतमेव भवति, अथवा इहलोगे परलोगे जसो भवति दत्तदाई (त्ति) अहवा एवगुणजातीए भिक्खू बहुस्सुते भवति, धम्मो कित्ती उभो भवति, सुय य से भवति।

श्लोक १६

२०—(कम्वोयाणं क, आइण्णे कन्थए ख) :

'कम्वोयाण'— कम्वोज (प्राचीन जनपद, जो अब अफगानिस्तान का भाग है) में उत्पन्न अश्व 'काम्वोज' कहलाते हैं ।[1]

'आइण्णे'—आकीर्ण अर्थात् शील, रूप, वल आदि गुणों से व्याप्त—जात्य ।[2]

'कन्थए'—खडखडाहट या शस्त्र-प्रहार से नही चौंकने वाला श्रेष्ठ जाति का घोडा 'कन्थक' कहलाता है ।[3]

श्लोक १७

२१—वाद्यों के घोष से (नन्दिघोसेणं ग) :

वारह प्रकार के वाद्यो की एक साथ होने वाली ध्वनि या मगल-पाठकों के आशीर्वचन की ध्वनि को 'नन्दी-घोप' कहा जाता है ।[4]

श्लोक १८

२२—साठ वर्ष का (सट्ठिहायणे ख) :

साठ वर्ष की आयु तक हाथी का वल प्रतिवर्ष वढता रहता है और उसके वाद में कम होना शुरू हो जाता है । इसीलिए यहाँ हाथी की पूर्ण वलवत्ता वतलाने के लिए साठ वर्ष का उल्लेख किया गया है ।[5]

श्लोक १९

२३—अत्यन्त पुष्ट स्कन्ध वाला (जायखन्धे ख) :

'जाय' का अर्थ है—पुष्ट । जिसका कधा पुष्ट होता है, उसे 'जात-स्कन्ध' कहा जाता है । जिसका कन्धा पुष्ट होता है उसके दूसरे अगोपाग पुष्ट ही होते हैं ।[6]

१—(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९८
कवोतेसु भवा कवोजा ।
(ख) वृहद् वृत्ति, पत्र ३४८
'काम्वोजाना' कम्वोजदेशोद्भवाना प्रक्रमादश्वानाम् ।

२—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९८
आकीर्णे गुणेहिं सीलरूपवलादीहि य ।

३—वृहद् वृत्ति, पत्र ३४८
'कन्थक' प्रधानोऽश्वो, य किल दृपच्छकलभृतकुतुपनिपतनध्वने र्न सन्त्रस्यति ।

४—वही, पत्र ३४९
'नन्दीघोषेण' द्वादशतूर्यनिनादात्मकेन, यद्वा आशीर्वचनानि नान्दी जीयास्त्वमित्यादीनि तदघोषेण वन्दिकोलाहलात्मकेन ।

५—(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९९
हायण वरिस, सट्ठिवरिसे, पर वऌहीणो, अपत्तवलो परेण परिहाति ।
(ख) वृहद् वृत्ति, पत्र ३४९
षष्टिहायन —षष्टिवर्षप्रमाण , तस्य हि एतावतकाल यावत् प्रतिवर्षं वलोपचय ततस्तदपचय इत्येवम्

६—वृहद् वृत्ति, पत्र ३४९
जात —अत्यन्तोपचितीभूत स्कन्ध प्रतीत एवास्येति जातस्कन्ध , समस्ताङ्गोपाङ्गोपचितत्वोपलक्षण शेषाङ्गान्युपचितान्येवास्य भवन्ति ।

श्लोक २०

२४–श्लोक २० :

'उदग्गे'—यहाँ 'उदग्र' का अर्थ वय-प्राप्त पूर्ण युवा है।[1]

'मियाण'—यहाँ 'मृग' का अर्थ जंगली पशु है।[2] देखिए—उत्तराध्ययन १।५ का टिप्पण।

श्लोक २१

२५–शङ्ख, चक्र और गदा (सखचक्कगया ख) :

वासुदेव के शङ्ख का नाम पाञ्चजन्य, चक्र का नाम सुदर्शन और गदा का नाम कौमोदकी है।[3]

लोहे के दण्ड को गदा कहा जाता है। अर्थशास्त्र के अनुसार वह चल-यन्त्र होता है।[4]

श्लोक २२

२६–(चाउरन्ते क, चक्कवट्टी ख, चउदसरयण ग) :

'चाउरन्ते'—जिसके राज्य के एक दिगन्त में हिमवान् पर्वत और तीन दिगन्तों में समुद्र हो, वह 'चातुरन्त' कहलाता है। इसका दूसरा अर्थ है—हाथी, अश्व, रथ और मनुष्य—इन चारों के द्वारा शत्रु का अन्त करने वाला—नाश करने वाला।[5]

'चक्कवट्टी'—छह खण्ड वाले भारतवर्ष का अधिपति 'चक्रवर्ती' कहलाता है।[6]

'चउदसरयण'—चक्रवर्ती के चौदह रत्न ये है—

(१) सेनापति, (२) गाथापति, (३) पुरोहित, (४) गज, (५) अश्व, (६) बढ़ई, (७) स्त्री, (८) चक्र, (९) (११) मणि, (१२) काकिणी, (१३) खड्ग और (१४) दण्ड।[7]

१–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९९

उदग्ग पधान शोभनमित्यर्थ, उदग्र वयसि वर्त्तमानम्।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ३४९

'उदग्र' उत्कट उदग्रवयःस्थितत्वेन वा उदग्र।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ३४९

'मृगाणाम्' आरण्यप्राणिनाम्।

३–वही, पत्र ३५०

शङ्खश्च—पाञ्चजन्य, चक्रं च—सुदर्शन, गदा च—कौमोदकी।

४–कौटिल्य अर्थशास्त्र, २।१८।३६, पृ० ११०।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ३५०

चतसृष्वपि दिक्ष्वन्त—पर्यन्त एकत्र हिमवानन्यत्र च दिक्त्रये समुद्र स्वसम्बन्धितयाऽस्येति चतुरन्त, चतुर्भिर्वा—हयगजरथनरात्मकैरन्त—शत्रुविनाशात्मको यस्य स तथा।

६–वही, पत्र ३५०

'चक्रवर्ती' षट्खण्डभरताधिप।

७–वही, पत्र ३५०

चतुर्दश च तानि रत्नानि च चतुर्दशरत्नानि तानि चामूनि—

सेणावइ गाहावइ पुरोहिय गय तुरग वड्ढइग इत्थी।

चक्क छत्त चम्म मणि कागिणी खग्ग दंडो य॥

श्लोक २३

२७–सहस्र चक्षु वाला (सहस्सक्खे क) :

इसका परम्परागत अर्थ यह है कि इन्द्र के पाँच सौ मन्त्री होते है। राजा मन्त्री की आँखो से देखता है, अपनी नीति निश्चित करता है, इसलिए इन्द्र को 'सहस्राक्ष' कहा गया है। जो हजार आँखो से दीखता है, इन्द्र अपनी दो आँखो से उसमे अधिक देख लेता है, इसलिए वह 'सहस्राक्ष' कहलाता है।[1]

२८–पुरों का विदारण करने वाला (पुरन्दरे ख) :

चूर्णि में पुरन्दर की व्याख्या नही है। शान्त्याचार्य ने इसका लोक-सम्मत अर्थ किया है—इन्द्र ने पुरो का विदारण किया था, इसलिए वह 'पुरन्दर' नाम से प्रसिद्ध हो गया।[2]

पुर-दर—पुरो को नष्ट करने वाला। ऋग्वेद में दस्युओ या दासो के पुरो को नष्ट करने के कारण इन्द्र को 'पुरन्दर' कहा गया है।[3]

श्लोक २४

२९–उगता हुआ (उत्तिट्ठन्ते ख) :

चूर्णिकार ने मध्याह्न तक के सूर्य को उत्थित होता हुआ माना है। उस समय तक सूर्य का तेज बढता है। मध्याह्न के पश्चात् वह घटने लग जाता है।

इसका दूसरा अर्थ 'उगता हुआ' किया गया है। उगता हुआ सूर्य सोम होता है।[4]

बृहद् वृत्ति के अनुसार उगता हुआ सूर्य तीव्र नही होता, बाद में वह तीव्र हो जाता है, इसलिए 'उत्तिष्ठन्' शब्द के द्वारा बाल सूर्य ही अभिप्रेत है।[5]

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९९

सहस्सक्खेत्ति पच मतिसयाइ देवाण तस्स, तेसि सहस्सो अक्खीण, तेसि णीतिए दिट्ठमिति, अहवा ज सहस्सेण अक्खाण दीसति तं सो दोहिं अक्खीहिं अब्भहियतराय पेच्छति।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ३५०

लोकोक्त्या च पूर्दारणात् पुरन्दर ।

३–ऋग्वेद, १।१०२।७, १।१०९।८, २।२०।७, ३।५४।१५, ५।३०।११, ६।१६।१४।

४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २००

जाव मज्झण्णो ताव उट्ठेति, ताव से तेयलेसा वद्धति, पच्छा परिहाति, अहवा उत्तिट्ठतो सोमो भवति हेमतियबालसूरिओ।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ३५१

'उत्तिष्ठन्' उद्गच्छन 'दिवाकर' सूर्य, स हि ऊर्ध्व नभोमागमाक्रामन्नतितेजस्विता भजते अवतरस्तु न तथेत्येव विशिष्यते, यद्वा उत्थान—प्रथममुद्गमन तत्र चाय न तीव्र इति तीव्रत्वाभावव्यापकमेतत, अन्यदा हि तीव्रोऽयमिति न सम्यग् दृष्टान्त-स्यात।

श्लोक २५

३०–नक्षत्र (नक्खत्त ख) :

नक्षत्र सताईस होते है । उनके नाम ये हैं—

(१) अश्विनी, (२) भरणी, (३) कृत्तिका, (४) रोहिणी, (५) मृगशिर, (६) आर्द्रा, (७) पुनर्वसू, (८) पुष्य, (९) अश्लेषा, (१०) मघा, (११) पूर्वा-फल्गुनी, (१२) उत्तरा-फल्गुनी, (१३) हस्त, (१४) चित्रा, (१५) स्वाति, (१६) विशाखा, (१७) अनुराधा, (१८) ज्येष्ठा, (१९) मूल, (२०) पूर्वाषाढा, (२१) उत्तराषाढा, (२२) श्रवण, (२३) घनिष्ठा, (२४) शतभिषक्, (२५) पूर्वभद्रपदा, (२६) उत्तरभद्रपदा और (२७) रेवती ।

श्लोक २६

३१–सामाजिकों (समुदाय वृत्ति वालों) के (सामाइयाण क) :

आजकल जैसे सामुदायिक अन्न भण्डार होते है, उसी प्रकार प्राचीन काल में भी सामुदायिक अन्न-भण्डार होते थे ।[1] उनमें नाना प्रकार के अनाज रखे जाते थे ।[2] चोर, अग्नि, चूहों आदि से बचाने के लिए उनकी पूर्णत सुरक्षा की जाती थी ।[3] उन अन्न भण्डारो को 'कोष्ठागार' या 'कोष्ठाकार' कहा जाता था ।[4]

श्लोक २७

३२–(जम्बू ख, अणाढियस्स ग) :

'जम्बू'—जम्बू वृक्ष । इसकी विस्तृत जानकारी के लिए देखिए—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति (वक्ष ४, सूत्र ९०, पत्र ३३०) ।

'अणाढियस्स'—अनादृत देव । जम्बूद्वीप का अधिपति व्यन्तर जाति का देव होता है ।[5]

श्लोक २८

३३–(सलिला ख, सीया नीलवन्तपवहा ग) :

'सलिला'—यहाँ सलिला का प्रयोग नदी के अर्थ में किया गया है ।[6]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३५१

समाज—समूहस्त समवयन्ति सामाजिका—समूहवृत्तयो लोकास्तेषा, पठन्ति च—'सामाइयगाण'ति तत्र च श्यामा—अतसी तदादीनि च तानि अगानि च उपभोगागतया श्यामाद्यगानि धान्यानि तेषा 'कोट्ठागारे ।

२–वही, पत्र ३५१

नाना—अनेकप्रकाराणि धान्यानि—शालिमुद्गादीनि तै प्रतिपूर्णो—भृत नानाधान्यप्रतिपूर्ण ।

३–वही, पत्र ३५१

सुष्ठु—प्राहरिकपुरुषादिव्यापारणद्वारेण रक्षित—पालितो दस्युमूषिकादिभ्य सुरक्षित ।

४–वही, पत्र ३५१

कोष्ठा—धान्यपल्यास्तेषामगार—तदाधारभूत गृहम्, उपलक्षणत्वाद्यदपि प्रभूतधान्यस्थान, यत्र प्रदीपनकादिभयात् धान्यकोष्ठा क्रियन्ते तत् कोष्ठागारमुच्यते, यदि वा कोष्ठान् आ—समन्तात् कुर्वते तस्मिन्निति कोष्ठाकार ।

५–वही, पत्र ३५२

'अनादृतस्य' अनादृतनाम्नो 'देवस्य' जम्बूद्वीपाधिपतेर्व्यन्तरसुरस्य आश्रयत्वेन सम्बन्धिनी ।

६–वही, पत्र ३५२

सलिल—जलमस्यामस्तीति अर्शआदेराकृतिगणत्वादचि सलिला—नदी ।

'सीया नीलवन्तपवहा'—नीलवान मेरु पर्वत के उत्तर में अवस्थित वर्षधर पर्वत है। सीता नदी इस पर्वत से प्रवाहित होती है।[1] यह सबसे बडी नदी है और अनेक जलाशयो से व्याप्त है।[2]

वर्तमान भूगोल-शास्त्रियो के अनुसार—चीनी, तुर्किस्तान के चारो ओर स्थित पर्वतो से कई नदियाँ निकलती है, जो 'तकलामकान' मरुस्थल की ओर जाती हैं और अन्त में इसी मरुस्थल की राह में सूख जाती है। काशगर नदी और यारकन्द नदी क्रमश 'तियेन-शान' और पामीर से निकलती है। दोनो नदियाँ मिलकर तारिम नदी हुई, जो 'लोबनोर' तक जाती है। भारतीय साहित्य में यही नदी 'सीता' के नाम से प्रख्यात है।[3]

पौराणिक विद्वान् नील पर्वत की पहचान आज के काराकोरम से करते है। पुराणो के हेमकूट, निषध, नील, श्वेत तथा शृङ्गी पर्वत अनुक्रम मे आज के हिन्दुकुश, सुलेमान, काराकोरम कुवेनलुन तथा थियेनशान हैं।[4]

श्लोक २९

३४–मदर पर्वत (मन्दरे गिरी [ख]) :

मन्दर पर्वत सबसे ऊँचा पर्वत है और वहाँ से दिशाओ का प्रारम्भ होता है।[5] उसे नाना प्रकार की औषधियों और वनस्पतियों से प्रज्वलित कहा गया है। वहाँ विशिष्ट औषधियाँ होती है। उनमें से कुछ प्रकाश करने वाली होती है। उनके योग से मदर पर्वत भी प्रकाशित होता है।[6] सूत्रकृताग की वृत्ति में भी मेरु पर्वत को औषधि सम्पन्न कहा है।[7]

काश्मीर के उत्तर मे एक ही स्थान या विन्दु से पर्वतो की छह श्रेणियाँ निकलती है। इनके नाम है—हिमालय, काराकोरम, कुवेनलुन, हियेनशान, हिन्दुकुश और सुलेमान। इनमें जो केन्द्र-विन्दु है, उसे पुराणो के रचयिता मेरु-पर्वत कहते है। यह पर्वत भू-पद्म की कर्णिका जैसा है।[8]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३५२
'शीता' शीतानाम्नी, नीलवान्—मेरोरुत्तरस्या दिशि वर्षधरपर्वतस्तत प्रवहति नीलवत्प्रवहा वा।

२–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २००
सीता सव्वणदीण महल्ला बहूहिं च जलासतेहिं च आइण्णा।

३—India and Central Asia (by P C Bagchi) p 43

४–वैदिक सस्कृति का विकास, पृ० १६४।

५–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २००
जहा मन्दरो गिरो उस्सिओ दिसाओ य अत्थ पवत्तति।

६–बृहद वृत्ति, पत्र ३५२
'नानौषधिभि' अनेकविधविशिष्टमाहात्म्यवनस्पतिविशेषरूपाभि: प्रकर्षेण ज्वलितो—दीप्त नानौषधिप्रज्वलित, ता ह्यतिशायिन्य प्रज्वलन्त्य एवासत इति तद्योगादसावपि प्रज्वलित इत्युक्त, यद्वा—प्रज्वलिता नानौषधयोऽस्मिन्निति प्रज्वलितनानौषधि, प्रज्वलितशब्दस्य तु परनिपात प्राग्वत्।

७–सूत्रकृताग, १।६।१२, वृत्ति
'गिरिवरे से जलिएव भोमे' असौ मणिभिरौषधिभिश्च देदीप्यमानतया "भौम इव" भूदेश इव ज्वलित इति।

८–वैदिक सस्कृति का विकास, पृ० १६८।

अध्ययन १२
हरिएसिज्जं

श्लोक १

१–(सोवागकुल क, मुणी ख, हरिएसबलो ग):

'सोवागकुल'—चाण्डाल-कुल। बृहद् वृत्ति के अनुसार 'श्वपाक' का अर्थ चाण्डाल है।[1] चूर्णिकार के अनुसार जिस कुल में कुत्ते का मांस पकाया जाता है, वह 'श्वपाक-कुल' कहलाता है।[2] श्वपाक कुल की तुलना वाल्मीकि रामायण में वर्णित मुष्टिक लोगों से होती है। वे श्वान-मांस-भक्षी, शव के वस्त्रों का उपयोग करने वाले, भयंकर-दर्शन—विकृत आकृति वाले तथा दुराचारी होते थे।[3]

इस अध्ययन के अनेक श्लोकों की तुलना जातक (संख्या ४९७) के कई श्लोकों से होती है। देखिए—'उत्तराध्ययन एक समीक्षात्मक अध्ययन।'

'मुणी'—धर्म अधर्म का मनन करने वाला। चूर्णिकार के अनुसार धर्म-अधर्म का मनन करने वाला मुनि होता है।[4]

बृहद् वृत्तिकार ने सर्व विरति की प्रतिज्ञा लेने वाले को मुनि कहा है।[5]

'हरिएसबलो'—हरिकेशबल। मुनि का नाम 'बल' था और 'हरिकेश' उनका गोत्र था। नाम के पूर्व गोत्र का प्रयोग होता था, इसलिए वे 'हरिकेश-बल' नाम से प्रसिद्ध थे।[6]

श्लोक ४

२–(पन्तोवहिउवगरण ग, अणारिया घ):

'पंत'—प्रान्त्य—जीर्ण और मलिन। जो वस्तु निम्नकोटि की होती है, उसे प्रान्त्य या प्रान्त कहा जाता है। यहाँ यह उपधि और उपकरण से सम्बन्धित है।[7]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३५७
श्वपाका—चाण्डाला।

२–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०३
शयति श्वसिति वा श्वा श्वेन पचतीति श्वपाक।

३–वाल्मीकि रामायण, १।५९।१९,२०।

४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०३
मनुते मन्यते वा धर्म्माऽधर्म्मानिति मुनि।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ३५७
मुणति—प्रतिजानीते सर्व्वविरतिमिति मुणि।

६–वही, पत्र ३५७
हरिकेश: सर्वत्र हरिकेशतयैव प्रतीतो बलो नाम—दलाभिधान।

७–वही, पत्र ३५८
प्रान्त—जीर्णमलिनत्वादिभिरसारम्।

'उवहिउवगरण'—उपधि और उपकरण। उपधि का अर्थ है—साधु के रखने योग्य वस्त्र आदि। ये धार्मिक शरीर का उपकार करते है, इसलिए इन्हें उपकरण कहा जाता है।[१]

'अणारिया'—अनार्य। अनार्य शब्द मूलत जातिवाचक था। किन्तु अर्थ-परिवर्तन होते-होते वह आचरणवाची वन गया। उत्तम-आचरण वाले को आर्य और अधम-आचरण करने वाले को अनार्य कहा जाने लगा। ब्राह्मणो को यहाँ आचरण की दृष्टि से अनार्य कहा है।[२]

श्लोक ६

३—(दित्तरूवे क, विगराले ख, ओमचेलए पंसुपिसायभूए ग, संकरदूसं परिहरिय घ):

'दित्तरूवे'—वीभत्स रूप वाला। चूर्णिकार के अनुसार 'कयरे तुम एसिध दित्तरूवे' मूल पाठ है और 'कयरे आगच्छति दित्तरूवे' पाठान्तर है।[३]

यहाँ 'दीप्त' शब्द वीभत्स अर्थ का वाचक है। जिस प्रकार अत्यन्त जलन वाले फोडो के लिए 'शीतल' (शीतला का रोग) शब्द का व्यवहार होता है, उसी तरह विकृत, दुर्दर्श रूप वाले के लिए 'दीप्तरूप' का प्रयोग हुआ है।[४]

'विगराले'—विकराल। हरिकेश-बल के दाँत बढे हुए थे। वे बडे डरावने लगते थे, इसलिए उन्हें विकराल कहा है।[५]

'ओमचेलए'—अवनगा। ओमचेल का अर्थ—'अचेल' भी हो सकता है किन्तु यहाँ उसका अर्थ 'अल्प या जीर्ण वस्त्र वाला' है।[६]

'पंसुपिसायभूए'—लौकिक मान्यता के अनुसार पिशाच के दाढी, नख और रोए लम्बे होते है और वह धूल मे सना हुआ होता है। मुनि भी शरीर की सार-सम्हाल न करने और धूल से सने हुए होने के कारण पिशाच जैसे लगते थे।[७] पांशुपिशाच का अर्थ चुडैल भी है।

'संकरदूसं परिहरिय'—गले में संकर-दूष्य (उकुरडी से उठाया हुआ चिथडा) डाले हुए। संकर का अर्थ है—तृण धूल राख गोवर आदि कूडे-कचरे का ढेर, उकुरडी। वहाँ वे ही वस्त्र डाले जाते हैं जो अत्यन्त निकृष्ट एव अनुपयोगी होते है। मुनि के वस्त्र भी वैसे ही थे या वे फेंकने योग्य वस्त्रो को भी ग्रहण करते थे, इसलिए उनके दूष्य (वस्त्र) को 'संकर-दूष्य' कहा गया है।[८]

१—(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०४ :
उपदधाति तीर्थं उपधि, उपकरोतीत्युपकरणम्।
(ख) वृहद् वृत्ति, पत्र ३५८
उपधि—वर्षाकल्पादि स एव च उपकरण—धर्म्मशरीरोपष्टम्भहेतुरस्येति।

२—वृहद् वृत्ति, पत्र ३५८।

३—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०४
ते पुरोहितनिस्सा जने जण्णत्थमागता ते भणति—'कयरे तुम एसिध दित्तरूव' अथवा ते अन्नमन्न भणति—'कयरे आगच्छति दित्तरूवे' त्ति।

४—वृहद् वृत्ति, पत्र ३५८
दीप्तवचन त्वतिबीभत्सोपलक्षणम्, अत्यन्तदाहिषु स्फोटकेषु शीतलकव्यपदेशवत्, विकृततया वा दुर्दर्शमिति दीप्तमिव दीप्तमुच्यते।

५—वही, पत्र ३५८
विकरालो दन्तुरत्वादिना भयानक पिशाचवत् स एव विकरालक।

६—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०४
ओम नाम स्तोक अचेलओवि ओमचेलओ भवति अथ ओमचेलगो असर्वाङ्गप्रावृत जीर्णवासो वा।

७—वृहद् वृत्ति, पत्र ३५९
पांशुना—रजसा पिशाचवद्भूतो—जात पांशुपिशाचभूत, गमकत्वात्समास, पिशाचो हि लौकिकाना दीर्घश्मश्रुनखरोमा पुनश्च पांशुभि समवि ध्वस्त इष्ट, तत सोऽपि निष्प्रतिकर्म्मतया रजोदिग्धदेहतया चैवमुच्यते।

८—वही पत्र ३५९
'सकरे' ति सङ्कर, स चेह प्रस्तावात्तृणभस्मगोमयाङ्गारादिमीलक उक्कुरुडिकेतियावत्, तत्र दुष्य—वस्त्र सङ्करदुष्य, तत्र हि यदत्यन्तनिकृष्ट निरुपयोगि तल्लोकैरुत्सृज्यते, तत्तत्प्रायमेव यदपि तदीयं वस्त्र तद्वा उज्झितधर्मकमेवासौ गृह्णातीत्येवमभिधानम्।

मुनि अभिग्रहधारी थे। जो अभिग्रहधारी होते है वे अपने वस्त्रो को जहाँ जाते है वहाँ साथ ही रखते हैं, कही पर भी छोडकर नही जाते। इसलिए उनके वस्त्र भी उनके साथ ही थे।[1]

वस्त्र मुनि के कन्धे पर रखे हुए थे। कन्धा कण्ठ का पार्श्ववर्ती भाग है। इसलिए उसे कण्ठ ही मान कर यहाँ कण्ठ शब्द का प्रयोग हुआ है।[2]

'परिहर' यह पहनने के अर्थ में आगमिक धातु है।

श्लोक ८

४–(तिन्दुयरुक्खवासी क, अणुकम्पओ ख):

ब्राह्मणो ने मुनि का तिरस्कार किया किन्तु वे कुछ भी नहीं बोले, शांत रहे। उस समय आबनूस वृक्ष पर रहने वाले यक्ष ने, जो मुनि के तप से आकृष्ट हो, मुनि का अनुगमन करता था, जो चेष्टाएँ की, वे इस श्लोक में बताई गई हैं।[3]

'तिन्दुयरुक्खवासी'—तिन्दुक (आबनूस) वृक्ष का वासी। चूर्णिकार के अनुसार आबनूस का एक वन था। उसके बीच में एक बडा आबनूस का वृक्ष था। उस पर वह यक्ष निवास करता था। उसके नीचे चैत्य था। मुनि उसमें ध्यान करते थे।[4]

'अणुकम्पओ'—अनुकम्पा करने वाला। अनुकम्पा का अर्थ है—अनुरूप या अनुकूल क्रिया की प्रवृत्ति। यक्ष मुनि के प्रति आकृष्ट था, उनके अनुकूल प्रवर्तन करता था, इसलिए उसे 'अनुकम्पक' कहा गया है।[5]

श्लोक ६

५–(समणो क, संजओ बम्भयारी क, धणपयणपरिग्गहाओ ख):

'समणो संजओ बम्भयारी'—मैं श्रमण हूँ, सयमी हूँ, ब्रह्मचारी हूँ। श्रमण वही होता है जो संयत है। सयत वही होता है जो ब्रह्मचारी है।[6] इस प्रकार इनमें हेतु-हेतुमद्भाव सम्बन्ध है।

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०४

स भगवान् अनिक्षिप्तोपकरणत्वात् यत्र यत्र गच्छति तत्र तत्र त पतोववरण कठे ओलवेत्तु गच्छइ।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ३५९

अत्र कण्ठैकपार्श्व कण्ठशब्द।

३–वही, पत्र ३५९

एवमधिक्षिप्तेऽपि तस्मिन् मुनौ प्रशमपरतया किञ्चिदप्यजल्पति तत्सान्निध्यकारी गण्डीतिन्दुकयक्षो यदचेष्टत तदाह।

४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०४-२०५

तस्स तिदुगठाणस्स मज्झे महतो तिदुगरुक्खो, तहिं सो नवति वसति, तस्सेव हिट्ठा चेइय, जत्थ सो साहू ठितो, सव्वतेण उट्ठितो।

५–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ३५९

'अणुकपओ' त्ति अनुशब्दोऽनुरूपार्थे ततश्चानुरूप कम्पते—चेष्टत इत्यनुकम्पक—अनुरूपक्रियाप्रवृत्ति।

(ख) सुखबोधा, पत्र १७६

'अनुकम्पक'—अनुकूलक्रियाप्रवृत्ति।

६–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०५

श्रमण ?, य सयत, क सयत ?, यो ब्रह्मचारी।

'धणपयणपरिग्गहाओ'—धन व पचन-पाचन और परिग्रह से। गाय आदि चतुष्पद प्राणियों को धन कहते है।[1] राजस्थान में अब भी यह शब्द इस अर्थ में प्रचलित है। चूर्णिकार ने परिग्रह का अर्थ स्वर्ण आदि किया है।[2] शान्त्याचार्य के अनुसार इसका अर्थ द्रव्य आदि में होने वाली मूर्च्छा—ममत्व है।[3]

श्लोक १०

६–(खज्जइ भुज्जई क, जायणजीविणु ग) :

'खज्जइ भुज्जई'—खाया जा रहा है और भोगा जा रहा है। यहाँ खाद् और भुज् दो धातुओं का प्रयोग हुआ है। सामान्यत इन दोनो का प्रयोग खाने के अर्थ मे होता है, किन्तु इनमें अर्थ-भेद भी है। चूर्णि के अनुसार खाद्य खाया जाता है और भोज्य भोगा जाता है।[4]

बृहद् वृत्ति के अनुसार 'खाजा' आदि तले हुए पदार्थ खाद्य है और दाल-चावल आदि पदार्थ भोज्य कहलाते हैं।[5]

'जायणजीविणु'—भिक्षा-जीवी। इसका संस्कृत रूप 'याचनजीवनम्' या 'याचनजीविनम्' बनता है। जहाँ 'याचनजीवनम्' माना जाए वहाँ प्राकृत में जो इकार है, वह अलाक्षणिक माना जाए। इसका अर्थ है—याचना के द्वारा जीवन चलाने वाला। इसका वैकल्पिक रूप 'याचन-जीविनम्' है। इसके प्राकृत रूप मे द्वितीया विभक्ति के अर्थ में षष्ठी विभक्ति है। याचन-जीवी अर्थात् याचना से जीवन के स्वभाव वाला। 'जायणजीविण' का पाठान्तर है 'जायण-जीवण'। इसमें प्रथमा विभक्ति है।[6]

श्लोक ११

७–(एगपक्खं ख, पाण ग) :

'एगपक्ख'—एक-पाक्षिक। यज्ञ का भोजन केवल ब्राह्मणो को दिया जा सकता है। वह ब्राह्मणेतर जातियों को नही दिया जा सकता, शूद्र को तो दिया ही नही जा सकता। इस मान्यता के आधार पर उसे 'एक-पाक्षिक' कहा गया है।[7]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३६०
धन चतुष्पदादि।

२–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०५
परिग्रहो—हिरण्णादि।

३–बृहद् वृत्ति पत्र ३६०
परिग्रहो द्रव्यादिषु मूर्च्छा।

४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०५
साइम खज्जति वा भोज्ज भुजति।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ३६०
खाद्यते खण्डखाद्यादि, भुज्यते च भक्तसूपादि

६–वही, पत्र ३६०
'जायणजीविणो त्ति याचनेन जीवन—प्राणधारणमस्येति याचनजीवन, आर्षत्वादिकार, पठ्यते च—'जायणजीवणो' त्ति, [illegible] एव स्वरूप, यतश्चैवमतो मह्यमपि दद्यत्वमिति भाव, कदाचिदुत्कृष्टमेवासौ याचत इति [illegible] जानीत मा याचनजीविन—याचनेन जीवनशील, द्वितीयार्थे षष्ठी, पाठान्तरे तु प्रथमा।

७–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि पृ० २०५
[illegible] ब्राह्मणेभ्यो दीयते।

(ख) बृहद् वृत्ति पत्र ३६०
एक पक्षो—[illegible] यस्य तदेकपक्ष, किमुक्त भवति ?—यदस्मिन्नुपस्क्रियते न तद्ब्राह्मणव्यतिरिक्तायान्यस्मै दीयते, [illegible]।

'पाण'—पान (द्राक्षा का पना) ।[1] देखिए—दसवेआलियं (भाग २), ५।१।४७ का टिप्पण, संख्या १५०

श्लोक १२

८–(आससाए ख, एयाए सद्धाए ग) :

'आससाए'—आशा से। जो अधिक वर्षा होगी तो ऊँची भूमि में अच्छी उपज होगी और कम वर्षा उपज होगी—इस आशा से किसान ऊँची और नीची भूमि में बीज बोते हैं ।[2]

'एयाए सद्धाए'—इसी श्रद्धा से। इसी श्रद्धा से मुझे दान दो—चाहे आप अपने को नीची भूमि के समान और मुझे ऊँची भूमि के समान समझें, फिर भी मुझे दान देना उचित है ।[3]

श्लोक १३

९–पुण्य (सुपेसलाइ घ) :

सुपेशल का अर्थ श्रेष्ठ या प्रीतिकर किया गया है ।[4] किन्तु यह 'पुण्णयाइं' (श्लोक १४) का प्रतिरूपी है, इसलिए हमने इसका अनुवाद 'पुण्य' किया है ।

श्लोक १८

१०–(उवजोइया क, दण्डेण फलेण ग) :

'उवजोइया'—रसोइया। उपज्योतिष्क का अर्थ है—अग्नि के समीप रहने वाला रसोइया या यज्ञ करने वाला ।[5]

'दण्डेण'—डंडे से। बृहद् वृत्ति में दण्ड का मुख्य अर्थ 'बांस की लाठी आदि मारक-वस्तु' और विकल्प में उसका अर्थ 'कोहनी का प्रहार' किया गया है ।[6] चूर्णि में इसका अर्थ 'कोहनी का प्रहार' किया है ।[7]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३६१
पानं च द्राक्षापानादि ।

२–वही, पत्र ३६१
'आससाए' त्ति आशंसया—यद्यत्यन्तप्रवर्षणं भावि तदा स्थलेषु फलावाप्तिरन्यथा तदा निम्नेष्वित्येवमभिलाषात्मिकया ।

३–वही, पत्र ३६१
एतयैवैतया—एतदुपमया, कोऽर्थः ?—उक्तरूपकर्षकाशंसातुल्यया 'श्रद्धया' वाञ्छया 'दलाह' त्ति ददध्वं मह्यं, किमुक्तं भवति ?—यद्यपि भवतां निम्नोपमत्वबुद्धिरात्मनि मयि तु स्थलतुल्यताधीः तथापि मह्यमपि दातुमुचितम् ।

४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०६
सुट्ठु पेसलाणि सुपेसलाणि, शोभनं प्रीतिकरं वा ।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ३६३-३६४
'उवजोइय' त्ति ज्योतिषः समीपे ये त उपज्योतिषस्त एवोपज्योतिष्का – अग्निसमीपवर्त्तिनो महानसिका ऋत्विजो वा ।

६–वही, पत्र ३६४
'दण्डेन' वंशयष्ट्यादिना यद्वा 'दण्डेने' ति कूर्पराभिघातेन ।

७–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०७
दण्ड्यतेऽनेनेति दण्डः कोप्परानिपातः ।

'फलेण'—फल से। चूर्णि में इसका अर्थ 'एडी का प्रहार' किया है।[1] बृहद् वृत्ति में फल का अर्थ 'बिल्व आदि फल' किया है।[2] समवायाग की वृत्ति में इसका अर्थ—योगभावित मातुलिंग आदि फल—मिलता है।[3]

श्लोक २३

११—(महाजसो क, महाणुभागो क, घोरव्वओ घोरपरक्कमो ख) :

'महाजसो'—जिसका यश त्रिभुवन में विख्यात है, वह 'महायशा' कहलाता है।[4]

'महाणुभागो—भाग का अर्थ है—'अचिन्त्य शक्ति'। जिसे महान् अचिन्त्य-शक्ति प्राप्त हो उसे 'महाभाग' (महाप्रभावशाली) कहा जाता है।[5] चूर्णिकार के अनुसार यह पाठ 'महाणुभावो' है और इसका अर्थ है—अनुग्रह और निग्रह करने में समर्थ।[6]

'घोरव्वओ'—जो अत्यन्त दुर्धर महाव्रतों को धारण किए हुए हो, उसे 'घोरव्रत' कहा जाता है।[7]

'घोरपरक्कमो'—जिसमें कषाय आदि को जीतने का प्रचुर सामर्थ्य हो, उसे 'घोर-पराक्रम' कहा जाता है।[8] देखिए—१४।५० के 'घोरपरक्कमा' का टिप्पण।

श्लोक २४

१२—वैयापृत्य (परिचर्या) (वेयावडिय ग) :

जिससे कर्म का विदारण होता है, उसे 'वेदावडिन' कहा जाता है, यह चूर्णि की व्युत्पत्ति है।[9]

१—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०७
फल तु पार्ष्णीघात ।

२—बृहद् वृत्ति, पत्र ३६४
'फलेन' बिल्वादिना ।

३—समवायाग ३०, वृत्ति पृ० ५०
फलेन—योगभावितेन मातुलिङ्गादिना ।

४—विशेषावश्यक भाष्य, १०६४
तिहुयणविक्खायजसो महाजसो ।

५—(क) विशेषावश्यक भाष्य, १०६३
भागो चिंतासत्ती, स महाभागो महप्पभावोत्ति ।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ३६५
महानुभाग —अतिशयाचिन्त्यशक्ति ।

६—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०८
अणुभाव णाम शापानुग्रहसामर्थ्यम् ।

७—बृहद् वृत्ति, पत्र ३६५
'घोरव्रतो' धृतात्यन्तदुर्द्धरमहाव्रत ।

८—वही, पत्र ३६५
'घोरपराक्रमश्च' कषायादिजय प्रति रौद्रसामर्थ्य ।

९—उत्तराध्ययन चूर्णि पृ० २०८
विदारयति वेदारयति वा कर्म्म वेदावडिता ।

शान्त्याचार्य ने इसका संस्कृत रूप वैयापृत्त्य किया है। यहाँ और ३२ वें श्लोक में वैयावृत्त्य का प्रयोग प्रत्यनीक-निवारण (विरोधी से रक्षा) के अर्थ में हुआ है।[1] वैयापृत्त्य और वैयावृत्त्य की विशेष जानकारी के लिए देखिए—दसवेआलियं (भाग २), ३।६ का टिप्पण, संख्या ३४।

श्लोक २७

१३–(आसीविसो उग्गतवो क):

'आसीविसो'—आशीविष-लब्धि से सम्पन्न। आशीविष-लब्धि एक योग-जन्य विभूति है। इसके द्वारा व्यक्ति अनुग्रह और निग्रह करने में समर्थ हो जाता है। इसका दूसरा अर्थ है—यह मुनि आशीविष साँप जैसा है। जो साँप की अवहेलना करता है वह मृत्यु को प्राप्त करता है, उसी प्रकार मुनि की अवहेलना करने वाले को भी मरना पड़ता है।[2]

तत्त्वार्थ वार्तिक के अनुसार 'आस्याविष' और 'आस्यविष' ये भिन्न-भिन्न लब्धियाँ है। उग्र विष से मिश्रित आहार जिनके मुख में जाकर निर्विष हो जाता है अथवा मुख से निकले हुए वचनो को सुनने मात्र से महाविष व्याप्त व्यक्ति निर्विष हो जाते है, वे 'आस्याविष' है।[3] जिस प्रकृष्ट तपस्वी यति के 'मर जाओ' आदि शाप से व्यक्ति तुरन्त मर जाता है, वे 'आस्यविष' हैं।[4]

'उग्गतवो'—जो एक, दो, तीन, चार, पाँच पक्ष अथवा मास आदि उपवास-योग में से किसी एक उपवास-योग का आरम्भ कर जीवन पर्यन्त उसका निर्वाह करता है, उसे 'उग्र तपस्वी' कहा जाता है।[5]

श्लोक २६

१४–निष्क्रिय (अकम्मचेट्ठे ख):

बृहद् वृत्ति में इसके दो अर्थ प्राप्त होते हैं—

(१) जिनके कार्य की हेतुभूत चेष्टाएँ रुक गई हों।

(२) जिनकी यज्ञ की अग्नि में ईंधन आदि डालने की प्रवृत्ति बद हो गई हो।[6]

१–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ३६५
'वेयावडियट्ठयाए' त्ति सूत्रत्वाद्वैयावृत्त्यार्थमेतत् प्रत्यनीकनिवारणलक्षणे प्रयोजने व्यावृत्ता भवाम इत्येवमर्थम्।

(ख) वही, पत्र ३६८
वैयावृत्त्य—प्रत्यनीकप्रतिघातरूपम्।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ३६६
आस्यो—दंष्ट्रास्तासु विषमस्येत्यासीविष—आसीविषलब्धिमान्, शापानुग्रहसमर्थ इत्यर्थ, यद्वा आसीविष इव आसीविष, यथाहि तमत्यन्तमवजानानो मृत्युमेवाप्नोति, एवमेनमपि मुनिमवमन्यमानानामवश्य भावि मरणमित्याशय ।

३–तत्त्वार्थ राजवार्तिक, पृ० २०३
उग्रविषसपृक्तोऽप्याहारो येषामास्यगतो निर्विषीभवति यदीयास्यनिर्गतवचश्रवणाद्वा महाविषपरीता अपि निर्विषीभवन्ति ते आस्याविषा ।

४–वही, पृ० २०३-४
प्रकृष्टतपोवला यतयो य ब्रुवते म्रियस्वेति स तत्क्षण एव महाविषपरीतो म्रियते, ते आस्यविषा ।

५–वही, पृ० २०३
तपोऽतिशयर्द्धि सप्तविधा—उग्र-दीप्त-तप्त-महा-घोर-तपो-वीरपराक्रम-घोरब्रह्मचर्यभेदात्। चतुर्थषष्ठाष्टमदशमद्वादशपक्षमासाद्यनशनयोगेष्वन्यतमयोगमारभ्य आमरणादनिवर्तका उग्रतपस ।

६–बृहद् वृत्ति, पत्र ३६७
अकर्मचेष्टाश्च—अविद्यमानकर्महेतुव्यापारतया प्रसारितबाहुकर्मचेष्टास्तान, यद्वा म्रियन्त इति कर्माणि—अग्नौ समित्प्रक्षेपणादीनि तद्विषया चेष्टा कर्मचेष्टेह गृह्यते।

'फलेण'—फल से। चूर्णि में इसका अर्थ 'एडी का प्रहार' किया है।[1] बृहद् वृत्ति मे फल का अर्थ 'बिल्व आदि फल' किया है।[2] समवायांग की वृत्ति में इसका अर्थ—योगभावित मातुलिंग आदि फल—मिलता है।[3]

श्लोक २३

११—(महाजसो क, महाणुभागो क, घोरव्वओ घोरपरक्कमो ख) :

'महाजसो'—जिसका यश त्रिभुवन में विख्यात है, वह 'महायशा' कहलाता है।[4]

'महाणुभागो—भाग का अर्थ है—'अचिन्त्य शक्ति'। जिसे महान् अचिन्त्य-शक्ति प्राप्त हो उसे 'महाभाग' (महाप्रभावशाली) कहा जाता है।[5] चूर्णिकार के अनुसार यह पाठ 'महाणुभावो' है और इसका अर्थ है—अनुग्रह और निग्रह करने में समर्थ।[6]

'घोरव्वओ'—जो अत्यन्त दुर्धर महाव्रतो को धारण किए हुए हो, उसे 'घोरव्रत' कहा जाता है।[7]

'घोरपरक्कमो'—जिसमें कषाय आदि को जीतने का प्रचुर सामर्थ्य हो, उसे 'घोर-पराक्रम' कहा जाता है।[8] देखिए—१४।५० के 'घोरपरक्कमा' का टिप्पण।

श्लोक २४

१२—वैयापृत्य (परिचर्या) (वेयावडिय ग) :

जिसमें कर्म का विदारण होता है, उसे 'वेदावडिन' कहा जाता है, यह चूर्णि की व्युत्पत्ति है।[9]

१—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०७
फल तु पार्ष्णीघात ।

२—बृहद् वृत्ति, पत्र ३६४
'फलेन' बिल्वादिना ।

३—समवायांग ३०, वृत्ति पृ० ५०
फलेन—योगभावितेन मातुलिङ्गादिना ।

४—विशेषावश्यक भाष्य, १०६८
तिहुयणविक्खायजसो महाजसो ।

५—(क) विशेषावश्यक भाष्य, १०६३
भागो चिन्तासत्ती, स महाभागो महप्पभावो त्ति ।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ३६५
महानुभाग—अतिशयाचिन्त्यशक्ति ।

६—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०८
अनुभाव णाम शापानुग्रहसामर्थ्यम् ।

७—बृहद् वृत्ति, पत्र ३६५
'घोरव्रतो' धृतात्यन्तदुर्द्धरमहाव्रत ।

८—वही, पत्र ३६५
'घोरपराक्रमश्च' कषायादिजयं प्रति रौद्रसामर्थ्य ।

९—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०८
विदारयति वेदारयति वा कर्म्म वेदावडिना ।

शान्त्याचार्य ने इसका सस्कृत रूप वैयाषृत्त्य किया है। यहाँ और ३२ वें श्लोक में वैयावृत्त्य का प्रयोग प्रत्यनीक-निवारण (विरोधी से रक्षा) के अर्थ में हुआ है।[1] वैयापृत्त्य और वैयावृत्त्य की विशेष जानकारी के लिए देखिए—दसवेआलिय (भाग २), ३।६ का टिप्पण, सख्या ३४।

श्लोक २७

१३–(आसीविसो उग्गतवो क) :

'आसीविसो'—आशीविष-लब्धि से सम्पन्न। आशीविष-लब्धि एक योग-जन्य विभूति है। इसके द्वारा व्यक्ति अनुग्रह और निग्रह करने में समर्थ हो जाता है। इसका दूसरा अर्थ है—यह मुनि आशीविष साँप जैसा है। जो साँप की अवहेलना करता है वह मृत्यु को प्राप्त करता है, उसी प्रकार मुनि की अवहेलना करने वाले को भी मरना पडता है।[2]

तत्त्वार्थ वार्तिक के अनुसार 'आस्याविष' और 'आस्यविष' ये भिन्न-भिन्न लब्धियाँ है। उग्र विष से मिश्रित आहार जिनके मुख में जाकर निर्विष हो जाता है अथवा मुख से निकले हुए वचनो को सुनने मात्र से महाविष व्याप्त व्यक्ति निर्विष हो जाते है, वे 'आस्याविष' है।[3] जिस प्रकृष्ट तपस्वी यति के 'मर जाओ' आदि शाप से व्यक्ति तुरन्त मर जाता है, वे 'आस्यविष' है।[4]

'उग्गतवो'—जो एक, दो, तीन, चार, पाँच पक्ष अथवा मास आदि उपवास-योग में से किसी एक उपवास-योग का आरम्भ कर जीवन पर्यन्त उसका निर्वाह करता है, उसे 'उग्र तपस्वी' कहा जाता है।[5]

श्लोक २६

१४–निष्क्रिय (अकम्मचेट्ठे ख) :

बृहद् वृत्ति में इसके दो अर्थ प्राप्त होते है—

(१) जिनके कार्य की हेतुभूत चेष्टाएँ रुक गई हो।

(२) जिनकी यज्ञ की अग्नि में ईंधन आदि डालने की प्रवृत्ति वद हो गई हो।[6]

१–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ३६५
'वेयावडियट्ठयाए' त्ति सूत्रत्वाद्वैयावृत्त्यार्थमेतत् प्रत्यनीकनिवारणलक्षणे प्रयोजने व्यावृत्ता भवाम इत्येवमर्थम्।

(ख) वही, पत्र ३६८
वैयावृत्त्य—प्रत्यनीकप्रतिघातरूपम्।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ३६६
आस्यो—दष्ट्रास्तासु विषमस्येत्यासीविष—आसीविषलब्धिमान्, शापानुग्रहसमर्थ इत्यर्थ, यद्वा आसीविष इव आसीविष, यथाहि तमत्यन्तमवजानानो मृत्युमेवाप्नोति, एवमेनमपि मुनिमवमन्यमानानामवश्य भावि मरणमित्याशय।

३–तत्त्वार्थ राजवार्तिक, पृ० २०३
उग्रविषसपृक्तोऽप्याहारो येषामास्यगतो निर्विषीभवति यदीयास्यनिर्गतवच श्रवणाद्वा महाविषपरीता अपि निर्विषीभवन्ति ते आस्याविषा।

४–वही, पृ० २०३-४
प्रकृष्टतपोबला यतयो य ब्रुवते म्रियस्वेति स तत्क्षण एव महाविषपरीतो म्रियते, ते आस्यविषा।

५–वही, पृ० २०३
तपोऽतिशयर्द्धि सप्तविधा—उग्र-दीप्त तप्त-महा-घोर-तपो-घोरपराक्रम-घोरब्रह्मचर्यभेदात्। चतुर्थषष्ठाष्टमदशमद्वादशपक्षमासाद्यन-शनयोगेष्वन्यतमयोगमारभ्य आमरणादनिवर्तका उग्रतपस।

६–बृहद् वृत्ति, पत्र ३६७
अकर्मचेष्टाश्च—अविद्यमानकर्महेतुव्यापारतया प्रसारितबाहुककर्मचेष्टास्तान्, यद्वा क्रियन्त इति कर्माणि—अग्नौ समित्प्रक्षेपणादीनि तद्विषया चेष्टा कर्मचेष्टेह गृह्यते।

श्लोक ३३

१५–(अत्थ क, भूइपन्ना ख) :

'अत्थ'—अर्थ ज्ञेय होता है, इसलिए उसका एक अर्थ—सब वस्तुएँ हो सकता है। किन्तु यहाँ प्रकरण से शुभ-अशुभ कर्मो या राग-द्वेष के फल को 'अर्थ' कहा गया है। अथवा शास्त्रों का प्रतिपाद्य—इस अर्थ में भी वह प्रयुक्त हो सकता है।[1]

'भूइपन्ना'—भूतिप्रज्ञ। भूति के तीन अर्थ किए गए है—मगल, वृद्धि और रक्षा। जिसकी बुद्धि सर्वोत्तम मगल, सर्वश्रेष्ठ वृद्धि या सर्वभूत-हिताय प्रवृत्त हो, वह 'भूतिप्रज्ञ' कहलाता है।[2]

श्लोक ३५

१६–(पभूयमन्न क) :

यहा प्रचुर अन्न के द्वारा यज्ञ मे बने पूडे, खाजे आदि सारे खाद्य पदार्थो को लेने का मुनि से अनुरोध किया गया है। चावल के [illegible] माना जाता था। इसलिए पिछले श्लोक में उसके लिए पृथक् रूप से अनुरोध किया है।[3]

श्लोक ३७

१७—जाति की कोई महिमा नही है (न दीसई जाइविसेस कोई ख) :

[illegible] है। भगवान् महावीर ने कहा—एक जीव अनेक वार उच्च गोत्र में उत्पन्न हुआ और अनेक [illegible] और न कोई बडा।[4] मनुष्य अपने कर्मो से ब्राह्मण होता है, कर्मों से क्षत्रिय, कर्मो से वैश्य [illegible]। मनुष्य की सुरक्षा उसके ज्ञान और आचार से होती है, जाति और कुल से नही।[6] भगवान् महावीर ने यह कभी [illegible] व्यक्ति चाहे कैसी भी दुष्प्रवृत्ति करे, श्रेष्ठ है और शूद्र जाति मे उत्पन्न व्यक्ति चाहे कितना भी [illegible]। [illegible] की उच्चता और नीचता की कसौटी तप, संयम और पवित्रता है, जाति नही। जो जितना आचारवान् है वह [illegible] जो जितना आचार-भ्रष्ट है वह उतना ही नीच है। वह फिर जाति से ब्राह्मण हो या शूद्र। शूद्र जाति में उत्पन्न होने से

१–[illegible] पत्र ३६८
[illegible] इह तु प्रक्रमाच्छुभाशुभकर्म्मविभागो रागद्वेषविपाको वा परिगृह्यते, यद्वा अर्थ—अभिधेय [illegible]।

२–क) [illegible] चूर्णि, पृ० २१०
[illegible], प्रागर (जेव) ज्ञायते अनयेति प्रज्ञा, तत्र मगले [illegible] प्रज्ञा, [illegible], [illegible] प्रज्ञा सर्वलोकस्य सर्वसत्त्वाना वा।

ख) [illegible] पत्र ३६८
[illegible], प्रज्ञायतेऽनया वस्तुतत्त्वमिति प्रज्ञा, ततश्च भूति—मगल सर्वमगलोत्तमत्वेन वृद्धिर्वा वृद्धि [illegible] प्राणिरक्षकत्वेन प्रज्ञा—बुद्धिरस्येति भूतिप्रज्ञ।

३–[illegible]
[illegible] समस्तमपि भोजन, यत्पुनः पृथगोदनग्रहण तत्तस्य सर्वान्नप्रधानत्वख्यापनार्थम्।

४–[illegible]
[illegible]। णो हीणे, णो अइरित्ते [illegible]।

५–[illegible]।

६–[illegible]
[illegible] विज्जाचरण सुचिण्ण।

वह ज्ञान का अधिकारी नही, यह भी मान्य नही है। ब्राह्मण-परम्परा के अनुसार ब्राह्मणो के लिए शूद्र को वेदो का ज्ञान देना निषिद्ध था। लका में विलाप करती हुई सीता कहती है—"मैं अनार्य रावण को अपना अनुराग वैसे ही अर्पित नही कर सकती जैसे ब्राह्मण शूद्र को मत्र-ज्ञान नही दे सकता।"[1] जैन-सघ में दीक्षित होकर जिस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यो को साधना करने का अधिकार था, वैसे ही शूद्रो को। हरिकेशबल मुनि उसके एक ज्वलन्त उदाहरण हैं।

श्लोक ३८

१८–बाहर से (जल से) शुद्धि की (सोहिं बहिया ख) :

शोधि का अर्थ है—शुद्धि—निर्मलता।[2] शोधि दो प्रकार की होती है—द्रव्य-शोधि और भाव-शोधि।

मलिन वस्त्रों को पानी से धोना द्रव्य-शोधि है और तप, सयम आदि के द्वारा आठ प्रकार के कर्म-मलो का प्रक्षालन करना भाव-शोधि है।

द्रव्य-शोधि बाह्य-शोधि होती है।[3]

श्लोक ४२

१९–(सुसंवुडो पंचहिं संवरेहिं क, वोसट्टकाओ सुइचत्तदेहो ग) :

'सुसवुडो'—जिसके प्राणातिपात आदि आश्रव-द्वार रुक गए हो, उसे 'सुसवृत' कहा जाता है।[4]

'पचहिं सवरेहिं'—सवर के पाँच प्रकार ये है—

(१) प्राणातिपात-विरति।

(२) मृषावाद-विरति।

(३) अदत्तादान-विरति।

(४) मैथुन-विरति।

(५) परिग्रह-विरति।

'वोसट्टकाओ'—जिसने विविध या विशिष्ट प्रकार से काया का उत्सर्ग किया हो, उसे 'व्युत्सृष्ट-काय' कहा जाता है।[5]

१–वाल्मीकीय रामायण, ५।२८।५

भाव न चास्याहमनुप्रदातुमल द्विजो मत्रमिवाद्विजाय ॥

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ३७०

'सोहिं' ति शुद्धि निर्म्मलताम्।

३–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २११

दुविधा सोधी—दव्वसोधी भावसोधी य, दव्वसोधी मलिन वस्त्रादि पानीयेन शुद्धचतो, भावसोधी तवसजमादीहिं अट्ठविह-कम्ममलल्लित्तो जीवो सोधिज्जति, अदव्वसोधी भावसोधी बाहिरिय, ज त जलेण बाहिर-सोधी।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ३७१

सुष्ठु सवृत —स्थगितसमस्ताश्रवद्वार सुसवृत।

५–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २११

'वोसट्ठकाए' विविधमुत्सृष्टो विशिष्टो विशेषेण वा उत्सृष्ट काय —शरीरम्।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ३७१

व्युत्सृष्टो— विविधैरुपायैर्विशेषेण वा परीषहोपसर्गसहिष्णुतालक्षणेनोत्सृष्ट —त्यक्त काय —शरीरमनेनेति व्युत्सृष्टकाय।

'सुइचत्तदेहो'—जो गृहीत व्रतों में दोष न लगाए—अकलुषित व्रत हो, उसे 'शुचि' कहा जाता है।[1]

जिसने देह के प्रतिकर्म (सवारने) का त्याग किया हो, उसे त्यक्त किया हो, उसे 'त्यक्त-देह' कहा जाता है।[2]

विशेष जानकारी के लिए देखिये—दसवेआलियं (भाग २), १०।१३ का टिप्पण, संख्या ४६।

श्लोक ४६

२०-श्लोक ४६ :

महात्मा बुद्ध ने भी जल-स्नान को धार्मिक महत्त्व नहीं दिया। उन्होंने भी धार्मिक महत्त्व आत्म-शुद्धि को ही दिया है।

इस विषय पर मज्झिमनिकाय का निम्न प्रसंग सुन्दर प्रकाश डालता है[3]—

"उस समय सुन्दरिक भारद्वाज ब्राह्मण भगवान् के अविदूर में बैठा था। तब सुन्दरिक भारद्वाज ब्राह्मण ने भगवान् से यह कहा—क्या आप गौतम स्नान के लिए बाहुका नदी चलेंगे ?

ब्राह्मण ! बाहुका नदी से क्या (लेना) है ? बाहुका नदी क्या करेगी ?

हे गौतम ! बाहुका नदी लोकमान्य (=लोक-सम्मत) है, बाहुका नदी बहुत जनों द्वारा पवित्र (=पुण्य) मानी जाती है। बहुत से लोग बाहुका नदी में (अपने) किए पापों को बहाते हैं।

तब भगवान् ने सुन्दरिक भारद्वाज ब्राह्मण को गाथाओं में कहा—

बाहुका अधिकक्क, गया, और सुन्दरिका में।
सरस्वती, और प्रयाग तथा बाहुमती नदी में।
काले कर्मों वाला मूढ़ चाहे नित्य नहाए, (किन्तु) शुद्ध नहीं होगा।
क्या करेगी सुन्दरिका, क्या प्रयाग, और क्या बाहुलिका नदी ?
(वह) पापकर्मी=कृत किल्बिष दुष्ट नर को नहीं शुद्ध कर सकते।
शुद्ध (नर) के लिए सदा ही फल्गु है, शुद्ध के लिए सदा ही उपोसथ है।
शुद्ध और शुचिकर्मा के व्रत सदा ही पूरे होते रहते हैं।
ब्राह्मण ! यहीं नहा, सारे प्राणियों का क्षेम कर।
यदि तू झूठ नहीं बोलता, यदि प्राण नहीं मारता।
यदि बिना दिया नहीं लेता, (और) श्रद्धावान् मत्सर-रहित है।
(तो) गया जाकर क्या करेगा, क्षुद्र जलाशय (=उदपान) भी तेरे लिए गया है।'[3]

१—(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २११ :
　　शुचि अनाश्रव, अकलुषचरित्र इत्यर्थः।
　(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र [illegible] :
　　शुचि—अकलुषव्रत।
२—(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० [illegible] :
　　त्यक्तदेह इव त्यक्तदेहो नाम निःप्रतिकर्मशरीर।
　(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र [illegible] :
　　त्यक्तदेह—[illegible]निष्प्रतिकर्मतया।
३—मज्झिमनिकाय [illegible], पृ० [illegible]।

अध्ययन १३

चित्तसम्भूइज्जं

श्लोक १

१–निदान (नियाण ख) :

निदान का अर्थ है—भोग-प्राप्ति के लिए किया जाने वाला सकल्प। वह आर्त्तध्यान के चार भेदों में एक है।[1] विशेष जानकारी के लिए देखिए—दशाश्रुतस्कन्ध, दशा १०।

श्लोक ६

२–मृत-गगा (मयग ग) :

चूर्णि और सर्वार्थसिद्धि के अनुसार गगा प्रति वर्ष नए-नए मार्ग से समुद्र में जाती हैं। जो मार्ग चिर-त्यक्त हो—बहते-बहते गगा ने जो मार्ग छोड दिया हो—उसे 'मृत-गगा' कहा जाता है।[2]

श्लोक १३

३–प्रासाद (आवसहा ख) :

चूर्णि के अनुसार उच्चोदय, मधु, कर्क, मध्य और ब्रह्मा—इन पांच भवनों के अतिरिक्त भवन चक्रवर्ती जहाँ चाहता है उसी स्थान में वर्द्धकि रत्न द्वारा तैयार हो जाते है।[3]

श्लोक १४

४–नाट्य (नट्टेहि क) :

शान्त्याचार्य ने नट्ट की व्याख्या नाट्य और नृत्य इन दोनों रूपों में की है। जिसमें बत्तीस पात्र हो, वह 'नाट्य' होता है। जिसमें अगहार (अगविक्षेप) की प्रधानता हो, वह 'नृत्य' होता है।[4]

भारतीय नृत्य के तीन विभाग है—नाट्य, नृत्य और नृत्त।

नाट्य—किसी रस-मूलक अवस्था के अनुकरण को नाट्य कहते है। नाट्य के आठ रस होते हैं—शृङ्गार, हास्य, करुण, वीर, रौद्र, भयानक, वीभत्स और अद्भुत। नवाँ शान्तरस नाट्य में नगण्य है। रस का आधार है भाव। भाव के उद्दीप्त होने पर रस की सृष्टि होती है।

१–तत्त्वार्थसूत्र, ९।३३।

२–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २१५

मतगगा—हेट्ठाभूमीए गगा, अण्णमण्णेहि मग्गेहिं जेण पुव्व वोढूण पच्छा ण वहति सा मतगगा भण्णति।

(ख) सर्वार्थसिद्धि, पृ० २६१

गगा विशति पाथोधि, वर्षे वर्षे पराध्वना।
वाहस्तत्रचिरात् त्यक्तो, मृतगगेति कथ्यते॥

३–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २१६

आवसति तेष्वित्यावसहा, ते च नान्यभवनप्रकारा, सव्वे ते, कामकमा नाम यत्र मम रोचते तत्र भवन्ति।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ३८६ :

'णट्टेहिं' ति द्वात्रिंशत्पात्रोपलक्षितैर्नाट्यैर्नृत्यैर्वा—विविधाङ्गहारादिस्वरूपै।

नाट्य की अवस्थानुकृति चार प्रकार के साधनों से होती है—

(१) आंगिक—हाथ-पैर का संचालन। इसके अन्तर्गत मुद्राएँ हैं।

(२) वाचिक—स्वर, वाणी तथा भाव का अनुकरण।

(३) आहार्य—वेषभूषा का अनुकरण।

(४) सात्त्विक—सात्त्विक भावों का अनुकरण।

सात्त्विक भाव आठ हैं—

(१) स्तम्भ—अंग-संचालन शक्ति का लोप होना।

(२) प्रलय—संज्ञा का लोप होना।

(३) रोमांच—रोंगटे खडे होना।

(४) स्वेद—पसीना छलकना।

(५) वैवर्ण्य—रंग बदलना।

(६) वेपथु—कंपकंपी।

(७) अश्रु—आँसू बहाना।

(८) वैस्वर्य—स्वर विकृत होना।

नृत्य—भाव-प्रधान अवस्थानुकृति को 'नृत्य' कहते हैं। भाव मन के विकार को कहते हैं। भाव दो प्रकार के होते हैं—

(१) स्थायीभाव।

(२) संचारीभाव।

स्थायीभाव [illegible] अंकित रहते हैं। संचारीभाव तरंगों की भाँति थोडे काल के लिए उठते हैं। इनकी संख्या तेतीस [illegible]।

नृत्त—[illegible] अवस्थानुकृति को 'नृत्त' कहते हैं। नृत्य और नृत्त मूक होते हैं। इनमें वाचिक साधन का प्रयोग नहीं [illegible]। [illegible] अनुभाव (सात्त्विक भाव) और मुद्राएँ हैं। नृत्य द्वारा भाव-प्रदर्शन होता है और नृत्त द्वारा लय और ताल-प्रदर्शन [illegible]।

अध्ययन १४

उसुयारिज्जं

श्लोक १

१–(एगविमाणवासी ख) :

ये पद्मगुल्म नामक एक ही विमान में रहते थे, इसलिए इन्हें 'एक विमानवासी' कहा गया है।[1]

श्लोक २

२–अपने पुण्य कर्म बाकी थे (सकम्मसेसेण क) :

पुनर्जन्म के अनेक कारणों में यह भी एक प्रमुख कारण है। अपने किए हुए कर्म जब तक शेष रहते है तब तक जीव को जन्म लेना ही पडता है। इन छहो व्यक्तियो के पुण्य- कर्म शेष थे, इसलिए इनका जन्म उत्तम कुल में हुआ।

श्लोक ४

३–(बहिंविहार ख, कामगुणे विरत्ता घ) :

'बहिंविहार'—बहिर्विहार अर्थात् मोक्ष। मोक्ष ससार के बहार है—उससे भिन्न है, इसलिए उसे 'बहिर्-विहार' कहा जाता है।[2]

'कामगुणे विरत्ता'—शब्द आदि इन्द्रियो के विषय कामनाओ को उत्तेजित करते है, इसलिए ये 'काम-गुण' कहलाते हैं।

दूसरे श्लोक में बताया है कि वे छहों व्यक्ति जिनेन्द्र-मार्ग की शरण में चले गए। यहाँ 'कामगुणे-विरत्ता' की व्याख्या में बताया गया है कि काम-गुणो की विरक्ति का अर्थ ही जिनेन्द्र-मार्ग की शरण में जाना है।[3]

श्लोक ८-९

ब्राह्मण[4] और स्मृति शास्त्र[5] का यह अभिमत रहा है कि जो द्विज वेदों को पढे बिना, पुत्रों को उत्पन्न किए बिना और यज्ञ किए

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३९६

एकस्मिन् पद्मगुल्मनाम्नि विमाने वसन्तीत्येवशीला एकविमानवासिन ।

२–वही, पत्र ३९७

बहि ससाराद्विहार —स्थान बहिर्विहार , स चार्थान्मोक्ष ।

३–वही, पत्र ३९७

अत्र कामगुणविरक्तिरेव जिनेन्द्रमार्गप्रतिपत्ति ।

४–ऐतरेय ब्राह्मण, ७।३

नापुत्रस्य लोकोऽस्ति।

५–मनुस्मृति, ६।३६, ३७

अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्राश्चोत्पाद्य धर्मत ।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥
अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान्।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन्व्रजत्यध ॥

नाट्य की अवस्थानुकृति चार प्रकार के साधनो से होती है—

(१) आगिक—हाथ-पैर का सचालन। इसके अन्तर्गत मुद्राएँ हैं।
(२) वाचिक—स्वर, वाणी तथा भाव का अनुकरण।
(३) आहार्य—वेषभूषा का अनुकरण।
(४) सात्विक—सात्विक भावो का अनुकरण।

सात्विक भाव आठ हैं—

(१) स्तम्भ—अग-सचालन शक्ति का लोप होना।
(२) प्रलय—सज्ञा का लोप होना।
(३) रोमाच—रोगटे खडे होना।
(४) स्वेद—पसीना छलकना।
(५) वैवर्ण्य—रग बदलना।
(६) वेपथु—कपकपी।
(७) अश्रु—आँसू बहाना।
(८) वैस्वर्य—स्वर विकृत होना।

नृत्य—भाव-मूलक अवस्थानुकृति को 'नृत्य' कहते है। भाव मन के विकार को कहते है। भाव दो प्रकार के होते है—

(१) स्थायीभाव।
(२) सचारीभाव।

स्थायीभाव हृदय पर देर तक अकित रहते हैं। सचारीभाव तरगो की भाँति थोडे काल के लिए उठते है। इनकी सख्या तेतीस कही गई है।

नृत्त—लय तथा तालमूलक अवस्थानुकृति को 'नृत्त' कहते है। नृत्य और नृत्त मूक होते है। इनमें वाचिक साधन का प्रयोग नही होता। मूक नृत्य की भाषा अनुभाव (सात्विक-भाव) और मुद्राएँ हैं। नृत्य द्वारा भाव-पदर्शन होता है और नृत्त द्वारा लय और ताल-पदर्शन होता है।

श्लोक ३४-३५

५—श्लोक ३४-३५ :

'अणुत्तर'—अनुत्तर शब्द दो श्लोको में चार बार प्रयुक्त है। चौतीसवें श्लोक मे वह काम-भोग और नरक का विशेषण है। पैंतीसवें मे वह सयम और सिद्धि-गति का विशेषण है। अनुत्तर का अर्थ है—प्रकृष्ट। ब्रह्मदत्त के काम-भोग पकृष्ट थे, इसलिए वह मर कर पकृष्ट (सर्वोत्कृष्ट दुखमय) नरक मे उत्पन्न हुआ।

स्थानाग मे बताया गया है कि ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती मर कर सातवी पृथ्वी अपतिष्ठान नामक नरक में गया।[१]

चित्त का सयम पकृष्ट था इसलिए वह पकृष्ट (सर्वोत्कृष्ट सुखमय) सिद्धि-गति में गया।

१–स्थानाग, २।४।११२

दो चक्कवट्टी अपरिचत्तकामभोगा कालमासे काल किच्चा अहेसत्तमाए पुढवीए अपइट्ठाणे णरए नेरइत्ताए उववन्ना तजहा—सुभूमे चेव बभदत्ते चेव।

अध्ययन १४

उसुयारिज्जं

श्लोक १

१—(एगविमाणवासी ख) :

ये पद्मगुल्म नामक एक ही विमान में रहते थे, इसलिए इन्हें 'एक विमानवासी' कहा गया है।[1]

श्लोक २

२—अपने पुण्य कर्म बाकी थे (सकम्मसेसेण क) :

पुनर्जन्म के अनेक कारणो में यह भी एक प्रमुख कारण है। अपने किए हुए कर्म जब तक शेष रहते है तब तक जीव को जन्म लेना ही पडता है। इन छहो व्यक्तियो के पुण्य- कर्म शेष थे, इसलिए इनका जन्म उत्तम कुल में हुआ।

श्लोक ४

३—(बहिंविहार ख, कामगुणे विरत्ता घ) :

'बहिंविहार'—बहिर्विहार अर्थात् मोक्ष। मोक्ष ससार के बहार है—उससे भिन्न है, इसलिए उसे 'बहिर्-विहार' कहा जाता है।[2]

'कामगुणे विरत्ता'—शब्द आदि इन्द्रियों के विषय कामनाओं को उत्तेजित करते हैं, इसलिए ये 'काम-गुण' कहलाते हैं।

दूसरे श्लोक में बताया है कि वे छहों व्यक्ति जिनेन्द्र-मार्ग की शरण में चले गए। यहाँ 'कामगुणे-विरत्ता' की व्याख्या में बताया गया है कि काम-गुणों की विरक्ति का अर्थ ही जिनेन्द्र-मार्ग की शरण में जाना है।[3]

श्लोक ८-९

ब्राह्मण[4] और स्मृति शास्त्र[5] का यह अभिमत रहा है कि जो द्विज वेदों को पढे बिना, पुत्रों को उत्पन्न किए बिना और यज्ञ किए

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ३९६
एकस्मिन् पद्मगुल्मनाम्नि विमाने वसन्तीत्येवशीला एकविमानवासिन ।

२—वही, पत्र ३९७
बहि ससाराद्विहार—स्थान बहिर्विहार, स चार्थान्मोक्ष ।

३—वही, पत्र ३९७
अत्र कामगुणविरक्तिरेव जिनेन्द्रमार्गप्रतिपत्ति ।

४—ऐतरेय ब्राह्मण, ७।३
नापुत्रस्य लोकोऽस्ति ।

५—मनुस्मृति, ६।३६, ३७
अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्राश्चोत्पाद्य धर्मत ।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥
अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान् ।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन्व्रजत्यध ॥

बिना मोक्ष की इच्छा करता है, वह नरक में जाता है, इसलिए वह विधिवत् वेदो को पढ कर, पुत्रों को उत्पन्न कर और यज्ञ कर मोक्ष में मन लगाए—सन्यासी बने। पुरोहित ने इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

बौधायन धर्मसूत्र के अनुसार ब्राह्मण जन्म से ही तीन ऋणो—पितृ-ऋण, ऋषि-ऋण और देव-ऋण—को साथ लिए उत्पन्न होता है। इन ऋणो को चुकाने के लिए यज्ञ, याग आदि पूर्वक गृहस्थाश्रम का आश्रय करने वाला मनुष्य ब्रह्मलोक को पहुँचता है और ब्रह्मचर्य या संन्यास की प्रशसा करने वाले लोग धूल में मिल जाते है।[1]

स्मृतिकारो के अनुसार पितृ-ऋण सन्तानोत्पत्ति के द्वारा, ऋषि-ऋण स्वाध्याय के द्वारा और देव-ऋण यज्ञ आदि के द्वारा चुकाया जा सकता है।

महाभारत (शान्तिपर्व, मोक्ष धर्म, अध्याय २७७) में एक ब्राह्मण और उसके मेधावी नामक पुत्र का सवाद है। पिता मोक्ष-धर्म में अकुशल और पुत्र मोक्ष-धर्म में विचक्षण था। उसने पिता से पूछा—"तात ! मनुष्यो की आयु तीव्र गति से बीती जा रही है। इस बात को अच्छी तरह जानने वाला धीर पुरुष किस धर्म का अनुष्ठान करे ? पिता ! यह सब क्रमश और यथार्थ रूप से आप मुझे बताइए, जिससे मैं भी उस धर्म का आचरण कर सकूँ ?"

पिता ने कहा—"बेटा ! द्विज को चाहिए कि वह पहले ब्रह्मचर्य-आश्रम में रह कर वेदो का अध्ययन कर ले, फिर पितरो का उद्धार करने के लिए गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करके पुत्रोत्पादन की इच्छा करे। वहाँ विधि-पूर्वक अग्नियो की स्थापना करके उनमें विधिवत् अग्निहोत्र करे। इस प्रकार यज्ञ-कर्म का सम्पादन करके वानप्रस्थ आश्रम में प्रविष्ट हो मुनिवृत्ति से रहने की इच्छा करे।"

स्मृति ग्रन्थों में ब्राह्मणो को भोजन कराने का पुन -पुन विधान मिलता है।[2]

श्लोक ८

४–(मुणीण क) :

टीकाकारो के अनुसार यह कुमारो का विशेषण है। यहाँ भावी मुनि को 'मुनि' कहा गया है।[3] किन्तु जिन मुनियो को देख कर कुमारो को प्रव्रजित होने की प्रेरणा मिली, उनके तपोमार्ग का व्याघात करना पुरोहित के लिए इष्ट था, इसलिए मुनि शब्द के द्वारा उन मुनियों का भी ग्रहण किया जा सकता है।

श्लोक ९

५–अरण्यवासी (आरण्णगा घ) :

ऐतरेय, कौशीतकी और तैत्तरीय—ये शास्त्र 'आरण्यक' कहलाते है। इनमें वर्णित विषयों के अध्ययन के लिए अरण्य का एकान्तवास आवश्यक था, इसलिए इन्हें आरण्यक कहा गया। अरण्य में रह कर साधना करने वाले मुनि भी आरण्यक कहलाते थे।

श्लोक १७

६–श्लोक १७ :

'धन के लिए धर्म नही करना चाहिए और धन से धर्म नही होता'—इस जैन-दृष्टि से परिचित कुमारों ने जो कहा वह धर्म के उद्देश्य के सर्वथा अनुरूप है। प्रस्तुत श्लोक का प्रतिपाद्य यह है कि धर्म के क्षेत्र में आत्मा के पवित्र आचरणो का ही महत्त्व है, धन, स्वजन और

१–बौधायन धर्मसूत्र, २।६।११।३३-३४।

२–मनुस्मृति, ३।१३१ १८६, १८७।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ३९८
'मुन्यो' भावत प्रतिपन्नमुनिभावयो।

काम-गुणो का कोई महत्त्व नही है। शान्त्याचार्य ने इस विचार के समर्थन में 'वेदेप्युक्त' लिख कर एक वाक्य उद्धृत किया है—'न सन्तान के द्वारा, न धन के द्वारा किन्तु अकेले त्याग से ही लोगो ने अमृतत्व को प्राप्त किया है'—'न प्रजया न धनेन त्यागेनैकनामृतत्वमानशुः।'[1]

'गुणोह'—चूर्णि में गुणोघ से अठारह हजार शीलांग[2] और टीका में सम्यक् दर्शन आदि गुण-समूह का ग्रहण किया गया है।[3]

'वहिंविहारा'—इसका द्रव्य और भाव—दोनो दृष्टियो से अर्थ किया गया है। द्रव्य दृष्टि मे वहिर्विहार का अर्थ है 'नगर आदि के बाहर रहने वाला' और भाव-दृष्टि मे इसका अर्थ है 'प्रतिबन्ध रहित विहार करने वाला'।[4]

श्लोक १८

७–श्लोक १८ :

धर्माचरण का मूल आत्मा है। पुरोहित ने सोचा यदि मेरे पुत्र आत्मा के विषय में सदिग्ध हो जाएँ तो इनमें मुनि बनने की प्रेरणा स्वतः समाप्त हो जाएगी। उसने इस भावना से आत्मा के नास्तित्व का दृष्टिकोण उपस्थित करते हुए जो कहा, वही इस श्लोक में है।[5]

'असतो'—तत्त्व की उत्पत्ति के विषय में दो प्रमुख विचारधाराएँ है—

(१) सद्वाद।

(२) असद्वाद।

असद्वादियो के अभिमत में आत्मा उत्पत्ति से पूर्व असत् होती है। कारण-सामग्री मिलने पर वह उत्पन्न होती है, नष्ट होती है, अवस्थित नहीं रहती—जन्म-जन्मान्तर को प्राप्त नही होती।[6]

श्लोक १९

८–श्लोक १९ :

आस्तिको के अभिमत में सर्वथा असत् की उत्पत्ति होती ही नही। उत्पन्न वही होता है, जो पहले भी और पीछे भी हो। जो पहले

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४०१।

२–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २२५ :
गुणोहो—अट्ठारस सीलंगसहस्साणि।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ४०१
गुणौघ—सम्यग्दर्शनादिगुणसमूहम्।

४–वही, पत्र ४०१
वहिः—ग्रामनगरादिभ्यो बहिर्वर्त्तित्वाद् द्रव्यतो भावतश्च क्वचिदप्रतिबद्धत्वाद् विहार—विहरण ययोस्तौ बहिर्विहारौ अप्रतिबद्धविहारावितियावत।

५–वही, पत्र ४०१
आत्मास्तित्वमूलत्वात्सकलधर्मानुष्ठानस्य तन्निराकरणायाह पुरोहित।

६–वही, पत्र ४०१-४०२ :
'सत्वा' प्राणिन 'समुच्छति' त्ति समूर्छन्ति, पूर्वमसन्त एव शरीराकारपरिणतभूतसमुदायत उत्पद्यन्ते, तथा चाहु— "पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि, एतेभ्यश्चैतन्य, मद्यागेभ्यो मदशक्तिवत्," तथा 'नासइ' त्ति नश्यन्ति—अभ्रपटलवत्प्रलयमुपयान्ति 'णावचिट्ठे' त्ति न पुन अवतिष्ठन्ते—शरीरनाशे सति न क्षणमप्यवस्थितिभाजो भवन्ति।

३०

भी नही होता, पीछे भी नही होता, वह बीच मे भी नही होता।[1] आत्मा जन्म से पहले भी होती है और मृत्यु के पश्चात् भी होती है, इसलिए वर्तमान शरीर में उसकी उत्पत्ति को असत् की उत्पत्ति नही कहा जा सकता।

नास्तिक लोग आत्मा को इसलिए असत् मानते है कि जन्म से पहले उसका कोई अस्तित्व नही होता और उसको अनवस्थित इसलिए मानते है कि मृत्यु के पश्चात् उसका अस्तित्व नही रहता। इसका कारण यह है कि आत्मा न तो शरीर में प्रवेश करते समय दीखती है और न उससे विछुड़ते समय भी। पिता के इस प्रतिपादन का प्रतिवाद कुमारों ने इन शब्दो में किया—आत्मा नही दीखती इतने मात्र से उसका नास्तित्व नही माना जा सकता। इन्द्रियो के द्वारा मूर्त-द्रव्य ही जाने जा सकते है। आत्मा अमूर्त है इसलिए वह इन्द्रियो के द्वारा ग्राह्य नहीं है, किन्तु मन के द्वारा ग्राह्य है। प्रस्तुत श्लोक मे—आत्मा है, वह नित्य है, उसके कर्म का बन्ध होता है और बन्ध के कारण वह बार-बार जन्म और मृत्यु का वरण करती है—आस्तिकता के आधारभूत चार तथ्यो का निरूपण है।

'नो इदिय'—चूर्णि में 'नो-इदिय' को एक शब्द माना है इसलिए उसके अनुसार इसका अर्थ मन होता है[2] और टीका में 'नो' और 'इन्द्रिय' को पृथक्-पृथक् माना है।[3]

'अज्झत्थ'—अध्यात्म का अर्थ है 'आत्मा में होने वाला'। मिथ्यात्व आदि आत्मा के आन्तरिक दोष हैं इसलिए उन्हें 'अध्यात्म' कहा जाता है।[4] सूत्रकृताग में क्रोध आदि को 'अध्यात्म-दोष' कहा है।[5]

श्लोक २१

९–अमोघा (अमोहाहिं ग) :

अमोघ का शाब्दिक-अर्थ अव्यर्थ—अचूक है। किन्तु यहाँ अमोघा का प्रयोग रात्रि के अर्थ में किया गया है। महाभारत में इसका अर्थ दिन रात किया है।[6] चूर्णिकार ने एक प्रश्न खडा किया है—अमोघा का अर्थ रात ही क्यो? क्या कोई दिन में नही मरता? इसके समाधान में उन्होने बताया है—यह लोक-प्रसिद्ध बात है कि मृत्यु को रात कहा जाता है, जैसे दिन की समाप्ति रात में होती है वैसे ही जीवन

१–(क) आचाराग, १।४।४।४६
जस्सनत्थि पुरापच्छा मज्झे तस्स कओ सिया।
(ख) माध्यमिककारिका, ११।२
नैवाग्रं नावरं यस्य, तस्य मध्यं कुतो भवेत्।
(ग) माण्डूक्यकारिका, २।६
आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत् तथा।

२–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २२६
नोइन्द्रिय मन।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ४०२
'नो' इति प्रतिषेधे इन्द्रियै—श्रोत्रादिभिर्ग्राह्य'—सवेद्य इन्द्रियग्राह्य।

४–वही, पत्र ४०२
अध्यात्मशब्देन आत्मस्था मिथ्यात्वादय इहोच्यन्ते।

५–सूत्रकृताग, १।६।२५
कोह च माण च तहेव माय, लोभ चउत्थ अज्झत्थदोसा।

६–महाभारत, शान्तिपर्व, २७७।९।

की समाप्ति मृत्यु में होती है।[1] काल-प्रवाह के अर्थ मे उत्तराध्ययन में रात्रि शब्द का प्रयोग अनेक स्थलो में मिलता है।[2] जहाँ रात होती है, वहाँ दिवस अवश्य होता है, इसलिए शान्त्याचार्य ने अमोघा मे दिवस का भी ग्रहण किया है।[3]

श्लोक २६

१०–(पच्छा ग, गमिस्सामो ग) :

'पच्छा'—पश्चात् शब्द के द्वारा पुरोहित ने आश्रम-व्यवस्था की ओर पुत्रो का ध्यान खीचने का यत्न किया है।[4] इसकी व्याख्या के शब्द सहसा कालिदास के इस श्लोक की याद दिला देते है—

शैशवेभ्यस्तविद्याना, यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीना, योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥ (रघुवश, १।८)

पिता के कहने का अभिप्राय था कि हम लोग बुढापे में मुनि बनेंगे।

'गमिस्सामो'—यह अनियत-वास का सकेत है। चूर्णिकार ने यहाँ गाँव में एक रात और नगर में पाँच रात रहने का उल्लेख किया है।[5]

श्लोक २८

११–भोग हमारे लिए अप्राप्त नही है—हम उन्हें अनेक वार प्राप्त कर चुके हैं (अणागयं नेव य अत्थि किंचि ग) :

आत्मा का पुनर्-भवि मानने वालो के लिए यह एक बहुत वडा तथ्य है। लोग कहते हैं—यह दीक्षित हो रहा है, इसने ससार में आकर क्या देखा है, क्या पाया है ? इसे अभी घर में रहना चाहिए। इस वात का उत्तर कुमारो ने आत्मवाद के आधार पर दिया है। उन्होने कहा—अनादि-काल से ससार में परिभ्रमण करने वाली आत्मा के लिए अप्राप्त कुछ भी नही है, उसे सब कुछ प्राप्त हो चुका है। पदार्थ की प्राप्ति के लिए उसे घर में रहना आवश्यक नही है।[6]

जहाँ मृत्यु न पहुँच पाए वैसा कोई स्थान नही है—यह इसका दूसरा अर्थ है।[7]

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २२७
अमोहा रयणी, किं दिवसतो ण मरति ?, उच्यते—लोकसिद्ध यन्मरतीति (रतिं) वाहरती य, अहवा सो न दिवसे विगा (रत्तीए) तेण रत्ती भण्णति, अवच्छिमत्वाद्वा णियमा रत्ती, कह मारेती ?

२–उत्तराध्ययन, १०।१, १४।२३-२५।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ४०३
अमोघा 'रयणि' त्ति रजन्य उक्ता, दिवसाविनाभावित्वात्तासा दिवसाश्च।

४–वही, पत्र ४०४
'पश्चाद्' यौवनावस्थोत्तरकाल, कोऽर्थ ?—पश्चिमे वयसि।

५–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३७
गमिस्सामो, अणियत्तवासी गामे एगरातीओ णगरे पचरातीयो।

६–बृहद् वृत्ति, पत्र ४०४
'अनागतम्' अप्राप्त नैव चास्ति किंचिदिति मनोरममपि विषयसौख्यादि अनादौ ससारे सर्वस्य प्राप्तपूर्वत्वात्ततो न तदर्थमपि गृहावस्थान युक्तमिति भाव।

७–वही, पत्र ४०४
यद्वाऽनागत यत्र मृत्योरागतिर्नास्ति तन्न किंचित्स्थानमस्ति।

श्लोक २९

१२–हे वाशिष्ठि ! (वासिट्ठि ! ख) :

गोत्र से सम्बोधित करना गौरव सूचक समझा जाता था, इसलिए पुरोहित ने अपनी पत्नी को 'वाशिष्ठि' कह कर सम्बोधित किया।[१] देखिए—दसवेआलिय (भाग २), ७।१७ का टिप्पण, संख्या २१ ।

श्लोक ४१

१३–विषय-वासना से दूर (निरामिसा ग) :

इस श्लोक में 'निर' के साथ और ४६ वें श्लोक में 'स' और 'निर्' के साथ तथा स्वतंत्र रूप से और ४९ वें श्लोक में 'निर' के साथ—इस प्रकार आमिष शब्द का छह बार प्रयोग हुआ है। ४६ वें श्लोक के प्रथम दो चरणों में वह मांस के अर्थ[२] में तथा शेष स्थानों में आसक्ति के हेतुभूत काम-भोग या धन के अर्थ[३] में प्रयुक्त हुआ है।

बौद्ध-साहित्य में भी धन या भोग के अर्थ में आमिष शब्द का प्रयोग हुआ है।[४] देखिए—उत्तरज्झयण, ८।५ का टिप्पण, संख्या ६ ।

१४–(परिग्गहारम्भनियत्तदोसा घ) :

जो आरम्भ और परिग्रह के दोष से निवृत्त हो गई हो उस स्त्री का विशेषण 'परिग्रहारम्भदोषनिवृत्ता' होता है। शान्त्याचार्य ने वैकल्पिक रूप में 'परिग्रहारम्भनिवृत्ता' और 'अदोषा' ये दो विशेषण भी माने हैं।[५]

श्लोक ४४

१५–वायु की तरह अप्रतिबद्ध विहार करते हैं (लहुभूयविहारिणो ख) :

वायु की तरह विहार करने वाला अथवा संयम पूर्वक विहार करने वाला 'लघुभूत विहारी' कहलाता है।[६] मिलाइए—दसवेआलिय (भाग २), ३।१० का टिप्पण, संख्या ४९ ।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४०५
वाशिष्ठि !—वशिष्ठगोत्रोद्भवे, गौरवख्यापनार्थं गोत्राभिधानम्।

२–वही, पत्र ४१०
सहामिषेण—पिशितरूपेण वर्तत इति सामिषं ।

३–(क) वही, पत्र ४०९
निष्क्रान्ता आमिषाद्—गृद्धिहेतोरभिलषितविषयादेः ।

(ख) वही, पत्र ४१०
'आमिषम्' अभिष्वङ्गहेतु धनधान्यादि ।

४–मज्झिमनिकाय, २।२।१०, पृ० २७८ ।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ४०९
निवृत्ता—उपरता परिग्रहारम्भदोषनिवृत्ता, यद्वा परिग्रहारम्भनिवृत्ता अतएव चादोषा—विकृतिविरहिता ।

६–वही, पत्र ४१०
लघुः—वायुस्तद्वद्भूत—भवनमेषां लघुभूता, कोऽर्थः ?—वायूपमाः तथाविधाः सन्तो विहरन्तीत्येवंशीला लघुभूतविहारिणः—अप्रतिबद्धविहारिण इत्यर्थः, यद्वा लघुभूतः—संयमस्तेन विहर्तुं शीलं येषां ते तथाविधाः ।

श्लोक ५०

१६–घोर पराक्रम करने लगे (घोरपरक्कमा घ) :

तप के अतिशय की ऋद्धि सात प्रकार की बतलाई गई है। उसका छट्ठा प्रकार 'घोर पराक्रम' है। ज्वर, सन्निपात आदि महा-भयंकर रोगो के होने पर भी जो अनशन, काया-क्लेश आदि में मन्द नही होते और भयानक श्मशान, पहाड की गुफा आदि में रहने के अभ्यासी हैं वे 'घोर तप' है। ये ही जब तप और योग को उत्तरोत्तर बढाते जाते हैं तब 'घोर पराक्रम' कहे जाते है। यह व्याख्या तत्त्वार्थ राजवार्तिक में प्राप्त होती है।[1] पचासवें श्लोक के अन्तिम दो चरणो के अनुसार यह उपयुक्त प्रतीत होती है। 'तव पगिज्झऽहक्खाय घोर घोरपरक्कमा' इसमे घोर तप की भावना निहित है और 'घोर परक्कमा' उसी का अग्रिम रूप है। चूर्णि और टीका मे इनका केवल शाब्दिक अर्थ मिलता है।

श्लोक ५२

१७–(सासणे विगयमोहाण क, पुव्विं भावणभाविया ख) :

इन ६ जीवो ने पूर्व जन्म में जैन-शासन में दीक्षित होकर अनित्य, अशरण आदि भावनाओं के द्वारा अपनी आत्मा को भावित किया था। इन चरणो में उसी तथ्य की सूचना दी गई है।[2]

१–तत्त्वार्थ राजवार्तिक, ३।३६, पृ० २०३।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ४१२।

अध्ययन १५

सभिक्खुयं

श्लोक १

१–(मोणं क, सहिए ख) :

'मोण'—मुनि-व्रत का। जो त्रिकालावस्थित जगत् को जानता है, उसे 'मुनि' कहा जाता है। मुनि के भाव या कर्म को मौन कहा जाता है। मौन का बहुप्रचलित अर्थ वचन-गुप्ति है। किन्तु यहाँ उसका अर्थ—समग्र मुनि-धर्म है।[1]

'सहिए'—इसका शब्दार्थ है—युक्त।

हमने इसका अर्थ 'जो दूसरे भिक्षुओं के साथ रहता है' किया है।

चूर्णि – ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप से युक्त।[2]

बृहद् वृत्ति – (१) सम्यग्-दर्शन आदि से युक्त, (२) दूसरे साधुओं से युक्त।[3] इसका दूसरा संस्कृत रूप 'स्वहित' भी किया गया है।[4]

सुखबोधा—अन्य साधुओं से समेत।

आचार्य नेमिचन्द्र यहाँ एकल-विहार का प्रतिषेध बतलाते हैं। साधुओं को एकाकी विहार नहीं करना चाहिए—इस तथ्य की पुष्टि में उन्होने एक गाथा उद्धृत की है—

एगागियस्स दोसा, इत्थी साणे तहेव पडिणीए।
भिक्खविसोहिमहव्वय, तम्हा सेविज्ज दोगमणं॥

अर्थात् एकाकी रहने से—

(१) स्त्री प्रसंग की सम्भावना रहती है।
(२) कुत्ते आदि का भय रहता है।
(३) शत्रु का भय रहता है।
(४) भिक्षा की विशुद्धि नही रहती।
(५) महाव्रतों के पालन में जागरूकता नही रहती, अत एकाकी न रह कर साथ में रहना चाहिए।[5]

१–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३४
मन्यते त्रिकालवस्थित जगदिति मुनि, मुनिभावो मौनम्।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ४१४
मुने कर्म मौन तच्च सम्यक्चारित्रम्।
(ग) सुखबोधा, पत्र २१४
मौन श्रामण्यम्।

२–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३४
ज्ञानदर्शनचारित्रतपोभि।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ४१४
'सहित' सम्यग्दर्शनादिभिरन्यसाधुभिर्वेति गम्यते।

४–वही, पत्र ४१४
स्वस्मै हित स्वहितो वा सदनुष्ठानकरणन।

५–सुखबोधा, पत्र २१४।

इसी अध्ययन के पाँचवें श्लोक के चौथे चरण में 'सहित' शब्द प्रयुक्त हुआ है। वहाँ शान्त्याचार्य ने उसके दो अर्थ किए हैं—

(१) सम्यग्-ज्ञान और क्रिया से युक्त ।

(२) हित-युक्त ।[1]

पन्द्रहवें श्लोक में भी इसका प्रयोग हुआ है ।

२—जो वासना के संकल्प का छेदन करता है (नियाणछिन्ने [ख]) :

निदान का अर्थ है—किसी व्रतानुष्ठान की फल-प्राप्ति के लिए मोहाविष्ट-संकल्प, जैसे—'मेरे साधुपन का यदि फल हो तो मैं देव बनूँ, धनी बनूँ आदि-आदि ।' साधक के लिए ऐसा करना निषिद्ध है ।

शान्त्याचार्य ने निदान के दो अर्थ किए हैं—

(१) विषयों की आसक्ति ।

(२) प्राणातिपात आदि कर्म-बन्धन का कारण ।[2]

संयुक्त पद 'नियाणछिन्न' का अर्थ 'अप्रमत्त-संयत' किया गया है ।[3]

३—परिचय का (संथवं [ग]) :

इसके दो अर्थ हैं—स्तुति और परिचय । चूर्णिकार और टीकाकारों को यहाँ 'परिचय' अर्थ ही अभीष्ट है ।

चूर्णिकार के अनुसार संस्तव दो प्रकार का है—

(१) संवास-संस्तव ।

(२) वचन-संस्तव ।

असाधु व्यक्तियों के साथ रहना 'संवास-संस्तव' है और असाधु व्यक्तियों के साथ आलाप-संलाप करना 'वचन-संस्तव' है ।[4]

अध्ययन २१ श्लोक २१ में संस्तव के प्रकारान्तर से दो भेद किए हैं—

(१) पूर्व-संस्तव ।

(२) पश्चात्-संस्तव ।

पितृ-पक्ष का सम्बन्ध 'पूर्व-संस्तव' और ससुर-पक्ष, मित्र आदि का सम्बन्ध 'पश्चात्-संस्तव' कहलाता है ।[5]

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ४१६
सहितः सम्यग्ज्ञानक्रियाभ्यां, यद्वा सह हितेन—आयतिपथ्येन अर्थादनुष्ठानेन वर्त्तत इति सहितः ।

२—वही, पत्र ४१४
निदानं—विषयाभिष्वङ्गात्मकं, यदि वा निदानं—प्राणातिपातादिकर्मबन्धकारणम् ।

३—वही, पत्र ४१४
छिन्ननिदानो वा अप्रमत्तसंयत इत्यर्थः ।

४—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३४-२३५
संस्तवो द्विविधः—संवाससंस्तवः वचनसंस्तवश्च, असोभनैः सह संवासः, वचनसंस्तवश्च तेषामेव ।

५—बृहद् वृत्ति, पत्र ४८७
संस्तवश्च पूर्वपश्चात्संस्तवरूपो ।

४–जो काम-भोगों की अभिलाषा को छोड़ चुका है (अकामकामे ग) :

चूर्णिकार ने इसका अर्थ 'मोक्ष की कामना करने वाला' किया है।[1] शान्त्याचार्य के अनुसार काम दो प्रकार के होते है—इच्छाकाम और मदनकाम। जो इन दोनो की कामना नही करता, वह 'अकामकाम' है।[2]

विकल्प में उन्होने चूर्णिकार का अनुसरण किया है।[3]

श्लोक २

५–(राओवरयं चरेज्ज क, वेयवियाऽऽयरक्खिए ख, पन्ने ग) :

'राओवरय चरेज्ज'—राओवरय के सस्कृत रूप दो हो सकते हैं—

(१) रागोपरतम्।

(२) रात्रि-उपरतम्।

प्रथम रूप के अनुसार शान्त्याचार्य ने इस वाक्य का अर्थ 'राग (मैथुन) से निवृत्त होकर विहरण करे' और दूसरे रूप के अनुसार 'रात्रि-भोजन से निवृत्त होकर विहरण करे' किया है।[4]

चूर्णिकार ने 'रात्रि-उपरत' के अनुसार इसका अर्थ 'रात्रि में भोजन न करे, रात्रि में गमन आदि क्रियाएँ न करे' किया है।[5]

नेमिचन्द्र ने शान्त्याचार्य के प्रथम अर्थ का अनुसरण किया है।[6]

'वेयवियाऽऽयरक्खिए'—शान्त्याचार्य ने मुख्य रूप से इन दो शब्दो को एक मान कर इसका अर्थ 'सिद्धान्तो को जान कर उनके द्वारा आत्मा की रक्षा करने वाला' किया है और गौण रूप में इन दोनो शब्दो को अलग-अलग मान कर 'वेयविय' का अर्थ 'ज्ञानवान्' और 'आयरक्खिए' का अर्थ 'सम्यग्-दर्शन आदि के लाभ की रक्षा करने वाला' किया है।[7]

'पन्ने'— चूर्णिकार ने इसका अर्थ 'आय और उपाय की विधि को जानने वाला' किया है।

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३५

अकाम —अपगतकाम, कामो द्विविध —इच्छाकामो मदनकामश्च, अपगतकामस्य या इच्छा तां कामयति, सा च कामेच्छा मोक्षं कामयतीति, प्रार्थयतीत्यर्थ ।

२–वृहद् वृत्ति, पत्र ४१४

कामान्—इच्छाकाममदनकामभेदान् कामयते—प्रार्थयते य स कामकामो, न तथा अकामकाम ।

३–वही, पत्र ४१४

यद्वाऽकामो—मोक्षस्तत्र सकलाभिलाषनिवृत्तेस्त कामयते य स तथा।

४–वही, पत्र ४१४

राग —अभिष्वग उपरतो—निवृत्तो यस्मिंस्तद्रागोपरत यथा भवत्येव 'चरेद्' विहरेत, क्तान्तस्य परनिपात प्राग्वत, अनेन मैथुननिवृत्तिरुक्ता, रागाविनाभावित्वान्मैथुनस्य, यद्वाऽऽवृत्तिन्यायेन 'रातोवरय'ति रात्र्युपरत 'चरेत्' भक्षयेदित्यनेनैव रात्रिभोजननिवृत्तिरप्युक्ता।

५–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३५

रात्रावुपरत चरेत्, किमुक्त भवति ?, रात्रौ न भुक्ते, रात्रौ गतादिक्रिया न कुर्यात।

६–सुखबोधा, पत्र २१५।

७–वृहद् वृत्ति, पत्र ४१४

वेद्यतेऽनेन तत्त्वमिति वेद —सिद्धान्तस्तस्य वेदन वित तया आत्मा रक्षितो—दुर्गतिपतनात्त्रातोऽनेनेति वेदविदात्मरक्षित, यद्वा वेद वेत्तीति वेदवित, तया रक्षिता आया —सम्यग्दर्शनादिलाभा येनेति रक्षिताय ।

प्राज्ञ वह होता है जो आय—सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र के लाभ तथा उत्सर्ग, अपवाद, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि की विधियों को जानने वाला हो।[1]

शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने इसका अर्थ 'हेय और उपादेय को जानने वाला' किया है।[2]

श्लोक ३

६–जो आत्मा का संवरण किए रहता है (आयगुत्ते ख) :

शान्त्याचार्य ने इसका मुख्य अर्थ 'शारीरिक अवयवों को नियन्त्रित रखने वाला' किया है और गौण रूप में 'आत्म-रक्षक' किया है। उन्होंने एक प्राचीन श्लोक को उद्धृत करते हुए आत्मा का अर्थ 'शरीर' किया है।[3] नेमिचन्द्र ने 'आत्म-रक्षक' अर्थ मान्य किया है।[4]

श्लोक ७

७–श्लोक ७ :

इस श्लोक में दस विद्याओं का उल्लेख किया गया है। उनमें दण्ड-विद्या, वास्तु-विद्या और स्वर को छोड़ कर शेष सात विद्याएँ निमित्त के अग हैं। अग, स्वर, लक्षण, व्यजन, स्वप्न, छिन्न, भौम और अतरिक्ष—ये अष्टाग निमित्त है।[5] यहाँ व्यजन का उल्लेख नही है।

वस्त्र, शस्त्र, काठ, आसन, शयन आदि में चूहे, शस्त्र, काँटे आदि से हुए छेद के द्वारा शुभाशुभ का ज्ञान करना छिन्न-निमित्त है।

स्वरों को सुन कर शुभाशुभ का ज्ञान कर लेना स्वर-निमित्त है।

भूकम्प आदि के द्वारा अथवा अकाल में होने वाले पुष्प-फल, स्थिर-वस्तुओ के चलन एव प्रतिमाओ के बोलने से भूमि का स्निग्ध-रूक्ष आदि अवस्थाओ के द्वारा शुभाशुभ का ज्ञान करना अथवा भूमिगत धन आदि द्रव्यों का ज्ञान करना भौम-निमित्त है।

आकाश में होने वाले गन्धर्व-नगर, दिग्दाह, धूली की वृष्टि आदि के द्वारा अथवा ग्रहों के युद्ध तथा उदय-अस्त के द्वारा शुभाशुभ का ज्ञान करना अतरिक्ष-निमित्त है।

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३५
'प्राज्ञो'—विदु, सपन्नो आयोपायविधिज्ञो भवेत्, उत्सर्गापवादद्रव्याद्यापदादिको य उपाय।

२–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ४१४
'प्राज्ञ' हेयोपादेयबुद्धिमान्।
(ख) सुखबोधा, पत्र २१५
'प्रज्ञ' हेयोपादेयबुद्धिमान्।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ४१५
'आत्मा' शरीरम्, आत्मशब्दस्य शरीरवचनस्यापि दर्शनात्, उक्तं हि—
धर्मधृत्यग्निधीन्द्वर्कत्वक्तत्त्वस्वार्यदेहिषु ।
शीलानिलमनोयत्नैकवीर्येष्वात्मन स्मृति ॥
इति, तेन गुप्त आत्मगुप्तो—न यतस्तत करणचरणाविविक्षेपकृत्, यद्वा गुप्तो—रक्षितोऽसयमस्थानेभ्य आत्मा येन स तथा।

४–सुखबोधा, पत्र २१५
'आयगुत्ते' त्ति गुप्त—रक्षितोऽसयमस्थानेभ्य आत्मा येन स।

५–(क) अगविज्जा, १।२
अग सरो लक्खण च वजण सुविणो तहा।
छिण्ण भोम्मऽतलिक्खाए, एमेए अट्ठ आहिया॥
(ख) मूलाचार, पिण्डशुद्धि अधिकार, ३०।
(ग) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, ३।३६

स्वप्न के द्वारा शुभाशुभ का ज्ञान करना स्वप्न-निमित्त है ।

शरीर के लक्षणो के द्वारा शुभाशुभ का ज्ञान करना लक्षण-निमित्त है ।

शिर -स्फुरणा आदि के द्वारा शुभाशुभ का ज्ञान करना अगविकार-निमित्त है ।

यष्टि के विभिन्न रूपो के द्वारा शुभाशुभ का ज्ञान करना यष्टि-विद्या है ।

प्रासाद आदि आवासो के शुभाशुभ लक्षणो का ज्ञान करना वास्तु-विद्या है ।

षड्ज, ऋषभ आदि सात स्वरो के शुभाशुभ निरूपण का अभ्यास करना स्वर-विचय है ।

चूर्णि में जो व्याख्या 'स्वर' की है, वह बृहद् वृत्ति में 'स्वर-विचय' की और जो 'स्वर-विचय' की है, वह 'स्वर' की है ।[1] निमित या विद्या के द्वारा भिक्षा प्राप्त करना 'उत्पादना' नामक एक दोष है, इसलिए कहा है कि विद्याओं के द्वारा जो जीवन नहीं चलाता, वह भिक्षु है ।

श्लोक ८

८–(मन्तं क, धूमणेत्तसिणाणं ख) :

'मन्त'—जो देवाधिष्ठित होता है, जिसके आदि में 'ॐ' और अन्त में 'स्वाहा' होता है, जो 'ह्रीं' आदि वर्ण-विन्यासात्मक होता है, उसे 'मंत्र' कहा जाता है ।[2]

'धूमणेत्त'—चूर्णिकार ने धूमनेत्र को संयुक्त माना है ।[3]

टीकाकारो ने दोनो शब्दों को अलग-अलग मान कर अर्थ किया है । उनके अनुसार 'धूम' का अर्थ है—मन शिलादि धूप से शरीर

१–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३६

पुरुष' दुदुमिस्वरो काकस्वरो वा एवमादिस्वरव्याकरणम् ।

(ख) वही, पृ० २३६

ऋषभगान्धारादीना स्वराणा विजय' अभ्यास. ।

(ग) बृहद् वृत्ति, पत्र ४१६

'सर' ति स्वरस्वरूपाभिधान,

"सज्ज रवइ मयूरो, कुक्कुडो रिसम सर ।
हसो रवति गधार, मज्झिमं तु गवेलए ।।"

इत्यादि, तथा—

"सज्जेण लहइ वित्ति, कय च न विणस्सई ।
गावो पुत्ता य मित्ता य, नारीण होइ वल्लहो ॥
रिसहेण उ ईसरियं, सेणावच्च धणाणि य ।"

(घ) वही, पत्र ४१७

स्वर —पोदकीशिवादिरुतरूपस्तस्य विचय —तत्सम्बन्धी शुभाशुभनिरूपणाभ्यास , यथा—

गतिस्तारा स्वरो वाम , पोदक्या शुभद स्मृत ।
विपरीत प्रवेशे तु, स एवाभीष्टदायक ॥

२–बृहद वृत्ति, पत्र ४१७

'मन्त्रम्' ॐकारादिस्वाहापर्यन्तो ह्रीँकारादिवर्णविन्यासात्मकस्तम् ।

३–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३७

वमनविरेचनधूमनेत्रस्नानादिकान ।

को धूपित करना और 'नेत्त' का अर्थ है—नेत्र-संस्कारक अञ्जन आदि से नेत्र आँजना।[1] परन्तु यह अर्थ संगत नहीं लगता। यहाँ मूल शब्द है 'धूमणेत्त'। इसका अर्थ है—धूएँ की नली से धुँआ लेना। विस्तार के लिए देखिए—दसवेआलियं (भाग २), ३।९ के 'धूवणेत्ति' का टिप्पण, संख्या ४३।

'सिणाण'—इसका अर्थ 'पुत्र-प्राप्ति के लिए मंत्र-औषधि आदि से संस्कारित जल से स्नान करना' किया गया है।[2]

श्लोक ९

९–(खत्तियगणउग्ग क, भोइय ख) :

'खत्तिय'—शान्त्याचार्य ने क्षत्रियों को 'हैहय' आदि वंशों में उत्पन्न माना है।[3] पुराणों के अनुसार हैहय 'ऐलवंश' या 'चन्द्रवंश' की एक शाखा है।[4] भगवान् ऋषभ ने मनुष्यों के चार वर्ग स्थापित किए थे—

(१) उग्र—आरक्षक।
(२) भोग—गुरुस्थानीय।
(३) राजन्य—समवयस्क या मित्रस्थानीय।
(४) क्षत्रिय—शेष सारी प्रजा।[5]

इस व्यवस्था से लगता है कि कुछ लोगों को छोड़ कर अधिकांश जन क्षत्रिय ही थे। इसीलिए श्रमण-परम्परा में क्षत्रियों का महत्त्व रहा।

'गण'—भगवान् महावीर के काल में अनेक शक्तिशाली गणतंत्र थे। वृज्जी-गणतन्त्र में ९ लिच्छवि और ९ मल्लकी—ये काशी-कोशल के १८ गणराज्य सम्मिलित थे। शान्त्याचार्य ने मल्ल शब्द के द्वारा इसी गणराज्य की ओर संकेत किया है।[6]

'उग्ग'—आरक्षक।[7]

१–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ४१७
धूम—मन शिलादिसम्बन्धि नेत्तति—नेत्रशब्देन नेत्रसंस्कारकमिह समीराजनादि परिगृह्यते।
(ख) सुखबोधा, पत्र २१७।
२–बृहद् वृत्ति, पत्र ४१७
स्नानम्—अपत्यार्थं मन्त्रौषधिसंस्कृतजलाभिषेचनम्।
३–वही, पत्र ४१८
क्षत्रिया —हैहेयाद्यन्वयजा ।
४–(क) Ancient Indian Historical Tradition, pp 85-87
(ख) भारतीय इतिहास की रूपरेखा, जिल्द १, पृ० १२७-१२९।
५–आवश्यक निर्युक्ति, १९८
उग्गा भोगा रायण खत्तिया संगहो भवे चउहा।
आरक्खगुरुवयंसा सेसा जे खत्तिया ते उ ॥
६–बृहद् वृत्ति, पत्र ४१८
गणा —मल्लादिसमूहा ।
७–वही, पत्र ४१८
उग्रा —आरक्षकादय ।

श्लोक १६

१२—(अमित्ते क, लहुअप्प ग) :

'अमित्ते'—जिसके मित्र नहीं होते। यहाँ मित्र शब्द का प्रयोग आसक्ति के हेतुभूत वयस्य के अर्थ में हुआ है।[1] मुनि को सबके साथ मैत्री रखनी चाहिए किन्तु राग-वृद्धि करने वाले को मित्र नहीं बनाना चाहिए, यही इसका हृदय है।

'लहुअप्प'—थोड़ा और निस्सार। 'लहु' का अर्थ है—निस्सार और 'अल्प' का अर्थ है—थोड़ा।[2]

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ४२०
अविद्यमानानि मित्राणि—अभिष्वङ्गहेतवो वयस्या यस्यासावमित्रः।

२—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३८
लघूनि—निःसाराणि निष्पावादीनि तान्यपि अल्पानि भक्षते।

अध्ययन १६
बम्भचेरसमाहिठाणं

सूत्र ३

१–सूत्र ३ :

इस अध्ययन में ब्रह्मचर्य के साधनो का निरूपण किया गया है। साधन-शुद्धि के बिना साध्य की सिद्धि नहीं होती। जो ब्रह्मचारी साधनो के प्रति उपेक्षा भाव रखता है, उसका ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाता है। उसके नाश की सभावनाएँ इस प्रकार हैं—

(१) शका, (२) काँक्षा, (३) विचिकित्सा, (४) भेद, (५) उन्माद, (६) दीर्घकालीनरोग—आतक, (७) धर्म-भ्र श।

(१) शका—ब्रह्मचर्य का पालन करने में कोई लाभ है या नही ? तीर्थङ्करो ने अब्रह्मचर्य का निषेध किया है या नही ? अब्रह्मचर्य के सेवन में जो दोष वतलाए गए है, वे यथार्थ है या नहीं—इस प्रकार अनेक सशय उत्पन्न होते हैं।

(२) काँक्षा—शका के पश्चात् उत्पन्न होने वाली अब्रह्मचर्य की अभिलाषा।

(३) विचिकित्सा—चित्त-विप्लव। जब अभिलाषा तीव्र हो जाती है तब मन समूचे धर्म के प्रति विद्रोह करने लग जाता है, धर्माचरण के प्रति अनेक सन्देह उठ खडे होते है, इसी अवस्था का नाम विचिकित्सा है।

(४) भेद—जब विचिकित्सा का भाव पुष्ट हो जाता है, तब उसके चारित्र का भेद—विनाश होता है।

(५,६) उन्माद और दीर्घकालीनरोग (आतक) कोई मनुष्य ब्रह्मचारी तभी रह सकता है जब वह ब्रह्मचर्य में अब्रह्मचर्य की अपेक्षा अधिक आनन्द माने। यदि कोई हठपूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करता है किन्तु इन्द्रिय और मन को आत्मवश रखने में आनन्द की अनुभूति नही पाता तो वह उन्माद या रोगातक से अभिभूत हो जाता है।

(७) धर्म-भ्र श—इन पूर्व अवस्थाओ से जो नही बच पाता वह धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। इसीलिए कहा गया है कि ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य के विघातक निमित्तो से बचे। मूलत उसके मन में ब्रह्मचर्य के प्रति सदेह ही उत्पन्न नही होना चाहिए। उसके होने पर अगली अवस्थाओं से बचना कठिन हो जाता है। ये अवस्थाएँ किसी व्यक्ति के एक-दो और किसी के अधिक भी हो जाती है।

मिलाइए—दशवैकालिक, ८।५१,५२।

सूत्र ४

२—केवल स्त्रियों के बीच में कथा न करे (नो इत्थीणं कह) :

टीकाकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—(१) केवल स्त्रियों में कथा न करे तथा (२) स्त्रियों के रूप, जाति आदि की कथा न करे।[1]

मिलाइए—दशवैकालिक, ८।५२, स्थानाग, ६।६६३, समवायाग, ६।

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ४२४
नो स्त्रीणामेकाकिनीनामिति गम्यते, 'कथा' वाक्यप्रबन्धरूपा, यदि वा स्त्रीणा कथा,—"कर्णाटी सुरतोपचारचतुरा लाटी विदग्धप्रिया" इत्यादिका, अथवा जातिकुलरूपनेपथ्यभेदाच्चतुर्धा स्त्रीकथा, तत्र जातिर्ब्राह्मण्यादि कुलम्—उग्रादि रूप—महाराष्ट्रिकादि संस्थान—नेपथ्य—तत्तद्देशप्रसिद्धम्।

सूत्र ६

३—सूत्र ६ :

मिलाइए—दशवैकालिक, ८।५७।

सूत्र ७

४—मिट्टी की दीवार · पक्की दीवार (कुड्ड भित्त) :

शान्त्याचार्य ने 'कुड्य' का अर्थ खडिया मिट्टी से बनी हुई भीत,[1] नेमिचन्द्र ने पत्थरो से रचित भीत[2] और चूर्णिकार ने पक्की ईंटों से बनी हुई भीत किया है।[3]

शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने 'भित्ति' का अर्थ 'पक्की ईंटों से बनी भीत'[4] और चूर्णिकार ने 'केतुक' आदि किया है।[5]

शब्द-कोशो के निर्माण-काल में ये दोनो शब्द पर्यायवाची माने जाते रहे हैं।[6]

लगता है कि 'भित्ति' 'कुड्य' का ही एक प्रकार है। उसके प्रकारो की चर्चा प्राचीन ग्रन्थो में प्राप्त होती है।

कुड्य का अथ है—भीत। वह अनेक प्रकार की होती थी। जैसे—

(१) लिपी हुई भीत।

(२) विना लिपी हुई भीत।

(३) चेलिम कुड्य—वस्त्र की भीत या पर्दा।

(४) फलकमय कुड्य—लकडी के तख्तों से बनी हुई भीत।

(५) फलकपासित कुड्य—जिसके केवल पार्श्व में तख्ते लगे हों और अन्दर गारे आदि का काम हो।

(६) मट्ठ—रगड कर चिकनी की हुई दीवार।

(७) चित्त—चित्र युक्त भित्ति।

(८) कडित—चटाई से बनी हुई दीवार।

(९) तणकुड्ड—फूस से बनी हुई दीवार आदि-आदि।[7]

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ४२५
कुड्य—खटिकादिरचितम्।

२—सुखबोधा, पत्र २२१
कुड्य लेष्टुकादिरचितम्।

३—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २४२ :
पक्केष्टकादि कुड्यम्।

४—(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ४२५
भित्तिः—पक्केष्टकादिरचिता।
(ख) सुखबोधा, पत्र २२१।

५—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २४२
केतुगादि भित्ती।

६—अभिधान चिन्तामणि, ४।६९।

७—अगविज्जा, भूमिका, पृ० ५८-५९।

सूत्र ९

५—प्रणीत (पणीयं) :

जिससे घृत, तेल आदि की बूंदें टपकती हो अथवा जो धातु वृद्धिकारक हो, उसे 'प्रणीत' कहा जाता है।[1]

मिलाइए—दशवैकालिक, ८।५६।

श्लोक १३

६—श्लोक १३ :

मिलाइए—दशवैकालिक, ८।५६।

१—(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २४२-२४३
प्रणीत—गलत्स्नेहं तैलघृतादिभिः ।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ४२३
'प्रणीतं' गलद्बिन्दु उपलक्षणत्वादत्यन्तधातूद्रेककारिणम् ।

अध्ययन १७

पावसमणिज्जं

श्लोक ७

१–प्रमार्जन किए बिना (तथा देखे बिना) (अप्पमज्जिय ग) :

'प्रमार्जन' और 'प्रतिलेखन' ये दोनो सम्बन्धित कार्य हैं, इसलिए जहाँ प्रमार्जन का विधान हो वहाँ प्रतिलेखन का विधान स्वय समझ लेना चाहिए ।[1]

श्लोक ८

२–(दवदवस्स चरई क) :

मिलाइए—दशवैकालिक, ५।१।१४ ।

श्लोक ९,१०

३–श्लोक ९,१० :

देखिए—उत्तराध्ययन, २६।२९,३० ।

श्लोक १०

४–जो गुरु का तिरस्कार करता है (गुरुपरिभावए ग) :

जो गुरु के साथ विवाद करता है अथवा गुरु के द्वारा किसी कार्य के लिए प्रेरित किए जाने पर 'आप ही यह काय कर, आप ही ने तो हमें ऐसा सिखाया था और आज आप ही इसमें दोष निकालते है—अत यह आपका ही दोष है, हमारा नही'—इस प्रकार असभ्य वचनों से जो उन्हें अपमानित करता है, उसे 'गुरुपरिभावक' कहा जाता है ।[2]

श्लोक ११

५–भक्त-पान आदि का संविभाग न करने वाला (असंविभागी ग) :

जो गुरु, ग्लान, बाल आदि साधुओ को उचित अशन-पान आदि देता है, वह 'सविभागी' होता है और जो केवल अपने आत्म-पोषण का ही ध्यान रखता है, वह 'असविभागी' होता है ।[3] देखिए—दशवैकालिक, ९।२।२२ ।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४३४

'अप्रमृज्य' रजोहरणादिनाऽसशो' य उपलक्षणत्वादप्रत्युपेक्ष्य च ।

२–वही, पत्र ४३४

गुरुपरिभावक किमुक्त भवति ?—असम्यक्प्रत्युपेक्षमाणोऽन्यद्वा वितयमाचरन् गुरुभिश्चोदितस्तानेव विवदतेऽभिभवति वाऽसभ्यवचनै , यथा—स्वयमेव प्रत्युपेक्षध्व, युष्माभिरेव वयमित्य शिक्षितास्ततो युष्माकमेवैष दोष इत्यादि ।

३–वही, पत्र ४३४

सविभजति—गुरुग्लानबालादिभ्य उचितमशनादि यच्छतीत्येवशील सविभागी न तथा य आत्मपोषकत्वेनैव सोऽसविभागी ।

श्लोक १२

६—जो कदाग्रह और कलह में (वुग्गहे कलहे ग) :

चूर्णि की भाषा में सामान्य लडाई को 'विग्रह' और वाचिक लडाई को 'कलह' कहा जाता है।[१]

वृहद् वृत्ति के शब्दो में दण्ड आदि की घात से जनित विरोध को 'व्युद्ग्रह' और वचन आदि से उत्पन्न विरोध को 'कलह' कहा जाता है।[२]

श्लोक १३

७—जो जहाँ कहीं बैठ जाता है (जत्थ तत्थ निसीयई ख) :

इस श्लोक मे आसन का विवेक है। 'जहाँ कही बैठ जाता है'—इसका आशय है कि सजीव और सरजस्क स्थान पर बैठ जाता है। उपयुक्त स्थान का विवेक दशवैकालिक में है।[३] चूर्णिकार ने इसका संकेत भी दिया है।[४]

श्लोक १४

८—बिछौने (या सोने) के विषय में जो असावधान होता है (संथारए अणाउत्ते ग) :

इसकी व्याख्या मे शान्त्याचार्य ने ओघनिर्युक्ति की एक गाथा का उल्लेख किया है।[५] देखिए—उत्तरज्झयण, २६।११ का टिप्पण।

श्लोक १५

६—विकृतियो का (विगईओ क) :

विकृति और रस ये दोनो समान अर्थवाची हैं। यहाँ दूध, दही आदि को 'विकृति' कहा है और अध्याय ३० श्लोक २६ में दूध, दही, घी आदि को 'रस' कहा है।[६] विकृति के नौ प्रकार बतलाए गए है—

(१) दूध (२) दही, (३) नवनीत, (४) घृत, (५) तैल, (६) गुड, (७) मधु, (८) मद्य और (९) मांस।[७]

१—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २४६
विग्रह सामान्येन कलहो वाचिक ।

२—वृहद् वृत्ति पत्र, ४३५
'वुग्गहे' त्ति व्युद्ग्रहे दण्डादिघातजनिते विरोधे 'कलहे' तस्मिन्नेव वाचिके।

३—दशवैकालिक, ८।५
सुद्धपुढवीए न निसिए, ससरक्खम्मि य आसणे।
पमज्जित्तु निसीएज्जा, जाइत्ता जस्स ओग्गहं॥

४—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २४६
सुद्धपुढवीए ण निसीएज्जत्ति एतन्न स्मरति।

५—वृहद् वृत्ति, पत्र ४३५
'सस्तारके' फलककम्बलादौ, सुप्त इति शेष, 'अनायुक्त.' "कुक्कुडिपायपसारण आयामेउ पुणोवि आउंटे" इत्याद्यागमार्थानुपयुक्त ।

६—उत्तराध्ययन, ३०।२६
खीरदहिसप्पिमाई, पणीयं पाणभोयण।
परिवज्जण रसाण तु, भणियं रसविवज्जणं॥

७—स्थानांग, ९।६७४।

स्थानांग में तैल, घृत, वसा (चर्बी) और नवनीत को स्नेह-विकृति भी कहा गया है।[१]

इसी सूत्र में मधु, मद्य, मांस और नवनीत को महाविकृति भी कहा गया है।[२]

दूध, दही आदि विकार बढाने वाले हैं, इसलिए इनका नाम विकृति है।[३]

विकृति खाने से मोह का उदय होता है।[४] इसलिए बार-बार उन्हें नहीं खाना चाहिए। देखिए—दशवैकालिक, चूलिका २।७।

मद्य और मांस ये दो विकृतियाँ तथा वसा—ये अभक्ष्य हैं। मधु और नवनीत को कुछ आचार्य अभक्ष्य मानते हैं और कुछ आचार्य विशेष स्थिति में उन्हें भक्ष्य भी मानते हैं। यहाँ उन्हीं विकृतियों के बार-बार खाने का निषेध किया गया है, जो भक्ष्य हैं।

श्लोक १७

१०–(आयरियपरिच्चाई क, परपासण्ड ख, गाणगणिए ग) :

'आयरियपरिच्चाई'—जो आचार्य को छोड देता है। आचार्य मुझे तपस्या में प्रेरित करते है तथा मैं [illegible] आदि साधुओं में वितरित कर देते हैं—इन या इन जैसे दूसरे कारणों से जो आचार्य को छोड देता है, वह [illegible]।[५]

'परपासण्ड'—यहाँ 'पर पासण्ड' का अर्थ सौगत आदि किया गया है।[६] देखिए—उत्तरज्झयणाणि, २३।१६ का टिप्पण।

'गाणगणिए'—भगवान् महावीर की यह व्यवस्था थी कि जो निर्ग्रन्थ जिस गण में दीक्षित हो, वह जीवन भर उसी में रहे। [illegible] प्रयोजनवश (अध्ययन आदि के लिए) वह गुरु की आज्ञा से सार्धर्मिक गणों में जा सकता है।[७] परन्तु [illegible] छह मास तक वह पुन परिवर्तन नहीं कर सकता।[८] छह मास के पश्चात् यदि वह परिवर्तन करना चाहे तो कर सकता है। [illegible] कारण के बिना छह मास के भीतर ही परिवर्तन करता है, उसे 'गाणगणिक' कहते है।[९]

श्लोक १८

११–दूसरों के घर में व्याप्त होता है—उनका कार्य करता है (परगेहंसि वावडे ग) :

चूर्णि में पर-गृह-व्यापार का अर्थ 'निमित्त आदि का व्यापार' किया गया है।[१०]

१–स्थानांग, ४।१।२७४

चत्तारि सिणेहविगतीओ पन्नत्ताओ तंजहा—तेल्लं घयं वसा णवणीतं।

२–वही, पत्र ४।१।२७४

चत्तारि महाविगतीओ पन्नत्ताओ तंजहा—महुं, मंसं, मज्जं, णवणीतं।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ४३५

विकृतिहेतुत्वाद्विकृती।

४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २४६.

विकृति—अशोभन गतिं नयन्तीति विगतय, ताश्च क्षीरविगयादय, विगतीभाहारयत [illegible] भवति।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ४३५

'आचार्यपरित्यागी' ते हि तप कर्मणि विषीदन्तमुद्यमयन्ति, आनीतमपि चाहारादि [illegible] तत्परित्यजनशील।

६–वही, पत्र ४३५

परान्—अन्यान् पाषण्डान्—सौगतप्रभृतीन 'मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया' इत्यादि [illegible]

७–स्थानांग, ७।५४१।

८–दशाश्रुतस्कन्ध, २।

९–बृहद् वृत्ति, पत्र ४३५-४३६

स्वेच्छाप्रवृत्ततया 'गाणगणिए' त्ति गणाद्गण षण्मासाभ्यन्तर [illegible] गाणगणिक इत्यागमिकी परिभाषा।

१०–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २४६-२४७

परगृहेषु व्यापार करोति, निमित्तादीना च व्यापार करोति।

बृहद् वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'जो मुनि आहारार्थी होकर गृहस्थों को आत्मभाव दिखा कर उनके कार्यों में व्यापृत होता है' किया है।[1]

श्लोक १९

१२–सामुदायिक-भिक्षा (सामुदाणियं ख) :

सामुदायिक-भिक्षा की व्याख्या का एक अंश दशवैकालिक ५।१।२५ में तथा दूसरा अंश इस श्लोक में मिलता है। उसके अनुसार ऊँच और नीच सभी कुलों से भिक्षा लेना सामुदायिक-भिक्षा है। इसके अनुसार ज्ञात और अज्ञात सभी कुलों से भिक्षा लेना सामुदायिक-भिक्षा है।

शान्त्याचार्य ने 'सामुदायिक' के दो अर्थ किए हैं—

(१) अनेक घरों से लाई हुई भिक्षा।

(२) अज्ञात उञ्छ—अपरिचित घरों से लाई हुई भिक्षा।[2]

१—बृहद् वृत्ति पत्र ४३६

'परगेहे' अन्यवेश्मनि 'वावरे' त्ति व्याप्रियते—पिण्डार्थी सन् गृहिणामात्मभावं दर्शयन् स्वयमेव कृत्यानि कुरुते।

२—वही पत्र ४३६

समुदानानि—भिक्षास्तेषां समूहः सामुदानिकम्, बहुगृहसम्बन्धिनीं भिक्षामथवाऽज्ञातोञ्छमितियावत्।

अध्ययन १८
संजइज्जं

श्लोक ४

१–(अणगारे तवोधणे ख) :

इस पद्य में केवल 'अनगार तपोधन' है, अनगार का नामोल्लेख नही हुआ है। किन्तु इसी प्रकरण में निर्युक्तिकार ने अनगार का नाम 'गद्दभालि' बताया है।[1]

श्लोक २०

२–(रट्ठ क, खत्तिए ख) :

'रट्ठ'—राष्ट्र का अर्थ 'ग्राम, नगर आदि का समुदाय'[2] या 'मण्डल'[3] है। प्राचीन काल में 'राष्ट्र' शब्द आज जितने व्यापक अर्थ मे प्रयुक्त नहीं होता था। वर्तमान में राष्ट्र का अर्थ है—पूर्ण प्रभुसत्ता प्राप्त देश। प्राचीन काल में एक ही देश में अनेक राष्ट्र होते थे।[4] उनकी तुलना आज के प्रमण्डलो या राज्य-सरकारों से की जा सकती है। मनुस्मृति में राष्ट्र का प्रयोग कुछ व्यापक अर्थ में भी हुआ लगता है।[5]

'खत्तिए'—यहाँ क्षत्रिय का नाम नही बताया गया है। परम्परा के अनुसार यह व्यक्ति पूर्वजन्म में वैमानिक देव था। वहाँ से च्युत होकर क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुआ। उचित बाह्य निमित्त मिलने पर वह विरक्त हुआ और राष्ट्र को छोड कर प्रव्रजित हो गया। जनपद विहार करता हुआ सजय-मुनि से मिला और अनेक जिज्ञासाएँ की।[6]

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ३९७
अह केसरमुज्जाणे नामेण गद्दभालि अणगारो।

२—बृहद् वृत्ति, पत्र ४४२
'राष्ट्र' ग्रामनगरादिसमुदायम्

३—वही, पत्र ४११
'राष्ट्र' मण्डलम्।

४—राजप्रश्नीय वृत्ति, पृ० २७६
राज्यम्—राष्ट्रादिसमुदायात्मकम्। राष्ट्र च जनपद च।

५—मनुस्मृति, १०।६१
यत्र त्वेते परिध्वसाज्जायन्ते वर्णदूषका।
राष्ट्रिकै सह तद्राष्ट्र क्षिप्रमेव विनश्यति॥

६—बृहद् वृत्ति, पत्र ४४०
'क्षत्रिय' क्षत्रजातिरनिर्दिष्टनामा परिभाषते, सजयमुनिमित्युपस्कार, स हि पूर्वजन्मनि वैमानिक आसीत्, ततश्च्युत क्षत्रियकुले-ऽजनि, तत्र च कुतश्चित्तथाविधनिमित्तत स्मृतपूर्वजन्मा तत एव चोत्पन्नवैराग्य प्रव्रज्या गृहीतवान्, गृहीतप्रव्रज्यश्च विहरन् सजयमुनिं दृष्ट्वा तद्विमर्शार्थमिदमुक्तवान्।

श्लोक २१,२२

३–श्लोक २१,२२ :

यहाँ क्षत्रिय ने पाँच प्रश्न पूछे—

(१) तुम्हारा नाम क्या है ?
(२) तुम्हारा गोत्र क्या है ?
(३) तुम माहन किसलिए बने हो ?
(४) तुम आचार्यो को प्रतिचर्या कैसे करते हो ?
(५) तुम विनीत कैसे कहलाते हो ?

सजय मुनि ने इनके उत्तर में कहा—

(१) मेरा नाम सजय है ।
(२) मेरा गोत्र गौतम है ।
(३) मैं मुक्ति के लिए माहन बना हूँ ।
(४) मैं अपने आचार्य गर्दभालि के आदेशानुसार प्रतिचर्या करता हूँ ।
(५) मैं आचार्य के उपदेश का आसेवन करता हूँ, इसलिए 'विनीत' कहलाता हूँ ।

२२ वें श्लोक में नाम और गोत्र के उत्तर स्पष्ट शब्दों में हैं । शेष तीन उत्तर 'गद्दभाली ममायरिया, विज्जाचरणपारगा' इन दो चरणों में समाहित किए गए है ।[1]

श्लोक २३

४–श्लोक २३ :

इस श्लोक मे चार वादो—(१) क्रियावाद, (२) अक्रियावाद, (३) अज्ञानवाद और (४) विनयवाद—के विषय में राजर्षि से पूछा गया है । भगवान् महावीर के समसामयिक सभी वादो का यह वर्गीकरण है । सूत्रकृताग में उन्हें 'चार समवसरण' कहा गया है ।[2] इनके तीन सौ तिरसठ भेद होते हैं ।

(१) क्रियावाद क्रियावादी आत्मा का अस्तित्व मानते है किन्तु वह व्यापक है या अव्यापक, कर्त्ता है या अकर्त्ता, क्रियावान् है या अक्रियावान, मूर्त्त है या अमूर्त्त—इसमें उन्हे विप्रतिपत्ति रहती है ।

(२) अक्रियावाद जो आत्मा के अस्तित्व को नही मानते वे अक्रियावादी हैं । दूसरे शब्दो में उन्हें नास्तिक भी कहा जा सकता है । कई अक्रियावादी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते है, परन्तु "आत्मा का शरीर के साथ एकत्व है या अन्यत्व यह नही कहा जा सकता"—ऐसा मानते है । कई अक्रियावादी आत्मा की उत्पत्ति के अनन्तर ही उसका प्रलय मानते है ।

(३) अज्ञानवाद जो ज्ञान से ही सिद्धि मानते हैं वे अज्ञानवादी हैं । उनकी मान्यता है कि कई जगत् को ब्रह्मादि निर्मित, कई प्रकृति-पुरुषात्मक, कई षड्द्रव्यात्मक, कई चतुसत्यात्मक, कई विज्ञानमय, कई शून्यमय आदि-आदि मानते हैं । इसी प्रकार आत्मा भी नित्य, अनित्य आदि अनेक प्रकारो से मानी जाती है—इन सबके ज्ञान से क्या ? यह ज्ञान स्वर्ग-प्राप्ति के लिए अनुपयुक्त है, अकिंचित्कर है आदि-आदि ।

1–बृहद् वृत्ति, पत्र ४४२-४४३
विद्याचरणपारगत्वाच्च तैस्तन्निवृत्तौ मुनिरित्येवं प्रत्युक्त तदर्थं माहनोऽस्मि यथा च तदुपदेशतया गुरून् प्रतिचरामि, तदुपदेशासेवनाच्च विनीत ।

2–सूत्रकृताग, १।१२।१ ।

(४) विनयवाद जो विनय से ही मुक्ति मानते है वे विनयवादी हैं, उनकी मान्यता है कि देव, दानव, राजा, तपस्वी, हाथी, घोडा, हरिण, गाय, भैंस, शृगाल आदि को नमस्कार करने से क्लेश का नाश होता है , विनय से ही कल्याण होता है अन्यथा नही ।

क्रियावादियों के १८० भेद, अक्रियावादियो के ८४ भेद, वैनायिको के ३२ भेद और अज्ञानियो के ६७ भेद मिलते हैं। इस प्रकार इन सबके ३६३ भेद होते हैं ।[१]

अकलक देव ने इन वादो के आचार्यो का भी नामोल्लेख किया है—

कौक्कल, काठेविद्धि, कौशिक, हरि, श्मश्रुमान्, कपिल, रोमश, हारित, अश्व, मुण्ड, आश्वलायन आदि १८० क्रियावाद के आचार्य व उनके अभिमत हैं।

मरीचि, कुमार, उलूक, कपिल, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वाद्वलि, माठर, मौद्गल्यायन आदि ८४ अक्रियावाद के आचार्य व उनके अभिमत है।

साकल्य, वाष्कल, कुथुमि, सात्यमुग्रि, चारायण, काठ, माध्यन्दिनी, मौद, पैप्पलाद, बादरायण, स्विष्ठिकृत, ऐतिकायन, वसु, जैमिनी आदि ६७ अज्ञानवाद के आचार्य व उनके अभिमत है ।

वशिष्ट, पाराशर, जतुकर्ण, वाल्मीकि, रोमहर्षिणि, सत्यदत्त, व्यास, एलापुत्र, औपमन्यव, इन्द्रदत्त, अयस्थूल आदि ३२ विनयवाद के आचार्य व उनके अभिमत हैं ।[२]

इस ससार में भिन्न-भिन्न रुचि वाले लोग है । कई क्रियावाद में विश्वास करते हैं और कई अक्रियावाद में ।[३] राजर्षि ने कहा— धीर पुरुष क्रियावाद में रुचि रखे और अक्रियावाद का वर्जन करे ।[४]

जैन-दर्शन क्रियावादी है पर एकान्त-दृष्टि नही है, इसलिए वह सम्यग्वाद है । जिसे आत्मा आदि तत्त्वों में विश्वास होता है, वही क्रियावाद (अस्तित्ववाद) का निरूपण कर सकता है ।[५]

श्लोक २८

५–(महापाणे क, वरिससओवमे ख, पाली महापाली ग) :

'महापाणे'—यह पाँचवें देवलोक का एक विमान है ।[६]

'वरिससओवमे'—मनुष्य-लोक में सौ वर्ष की आयु पूर्ण आयु मानी जाती है । इसी दृष्टि से देवलोक की पूर्ण आयु की उससे तुलना की गई है । क्षत्रिय मुनि ने कहा—जैसे मनुष्य यहाँ सौ वर्ष की आयु भोगते है, वैसे मैंने वहाँ दिव्य सौ वर्ष की आयु का भोग किया है ।[७]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४४४
तत्र तावच्छतमशीत क्रियावादिना, अक्रियावादिनश्च चतुरशीतिसङ्ख्या, अज्ञानिका सप्तषष्टिविधा, वैनयिकवादिनो द्वात्रिंशत्, एव त्रिषष्ठ्यधिकशतत्रयम् ।

२–तत्त्वार्थ राजवार्तिक, ८।१, पृ० ५६२ ।

३–सूत्रकृताग, १।१०।१७ ।

४–उत्तराध्ययन, १८।३३ ।

५–सूत्रकृताग, १।१२।२०-२१ ।

६–बृहद् वृत्ति, पत्र ४४५
'महाप्राणे' महाप्राणनाम्नि ब्रह्मलोकविमाने ।

७–वही, पत्र ४४५
'वरिससतोवमे'त्ति वर्षशतजीविना उपमा—दृष्टान्तो यस्यासौ वर्षशतोपमो मयूरव्यसकादित्वात्समास, ततोऽयमर्थ—यथेह वर्षशतजीवी इदानी परिपूर्णायुरुच्यते, एवमहमपि तत्र परिपूर्णायुरभूवम् ।

'पाली महापाली'—पाल जैसे जल को धारण करती है वैसे ही भव-स्थिति जीवन-जल को धारण करती है। इसलिए उसे 'पाली' कहा गया है।

'पाली' को पल्योपम-प्रमाण और 'महापाली' को सागरोपम-प्रमाण माना गया है।[1] यह गणनातीत (उपमेय) काल है। असंख्य-काल का एक पल्य होता है और दस कोडाकोड पल्यों का एक सागर होता है। विशद् जानकारी के लिए देखिए—अनुयोगद्वार, सूत्र १३८।

यहाँ 'महापाली' भव-स्थिति को 'वर्षशतोपमा' माना है। मनुष्य-लोक में सौ वर्ष की आयु पूर्ण आयु मानी जाती है, उसी तरह महाप्राण देवलोक में महापाली परम आयु मानी जाती है। इसीलिए पुन महापाली को वर्षशतोपम कहा गया। पल्योपम काल को एक पल्य की उपमा से समझाया गया है। पल्य में से एक बाल सौ-सौ वर्षों के अन्तर से निकाला जाता है। इसीलिए उसे 'वर्षशतोपम' कहा हो, यह भी कल्पना की जा सकती है।[2]

श्लोक ३१

६—गृहस्थ-कार्य-सम्बन्धी मन्त्रणाओं से (परमन्तेहिं ख) :

मुनि ने कहा—मैं अंगुष्ठ-विद्या आदि प्रश्नों से दूर रहता हूँ, किन्तु गृहस्थ-कार्य-सम्बन्धी मन्त्रणाओं से विशेष दूर रहता हूँ। क्योंकि वे अतिसावद्य होती हैं। अत मेरे लिए करणीय नहीं होती।[3]

श्लोक ५०

७—(सिरसा सिरं घ) :

'सिरसा'—सिर दिए बिना अर्थात् जीवन निरपेक्ष हुए बिना साध्य की उपलब्धि नहीं होती। 'सिरसा'—इस शब्द में 'इष्टं साधयामि पातयामि वा शरीरम्' की प्रतिध्वनि है।

शान्त्याचार्य ने इसके साथ में 'इव' और जोड़ा है।[4]

१—बृहद् वृत्ति पत्र ४८५

तथाहि—या सा पालिरिव पालि —जीवितजलधारणादवस्थिति, सा चोत्तरत्र महाशब्दोपादानादिह पल्योपमप्रमाणा।

२—वही, पत्र ४८५-४८६

दिवि भवा दिव्या वर्षशतेनोपमा यस्या सा वर्षशतोपमा, यथा हि वर्षशतमिह परमायु तथा तत्र महापाली, उत्कृष्टतोऽपि हि तत्र सागरोपमैरेवायुष्परिमितेः, न तूत्सर्पिण्यादिभि, अथवा—

"योजनं विस्तृत पल्यस्तथा योजनमुच्छ्रितः।
सप्तरात्रप्ररूढानां, केशाग्राणां स पूरितः ॥१॥
ततो वर्षशते पूर्णे, एकैकं केशमुद्धरेत्।
क्षीयते येन कालेन, तत्पल्योपममुच्यते ॥२॥"

इति वचनाद्वर्षशते केशोद्धारहेतुभिरुपमा अर्थात्पल्यविषया यस्या सा वर्षशतोपमा, द्विविधाऽपि स्थिति, सागरोपमस्यापि पल्योपमनिष्पाद्यत्वात् तत्र मम महापाली दिव्या भवस्थितिरासीदित्युपस्कार, अतश्चाह वर्षशतोपमायुरभूवमिति भाव।

३—वही पत्र ४८६

प्रतीप क्रामामि प्रतिक्रामामि—प्रतिनिवर्ते, केभ्य ?—'पसिणाण'त्ति सुव्यत्ययात् 'प्रश्नेभ्य' शुभाशुभसूचकेभ्योऽङ्गुष्ठ-प्रश्नादिभ्य अन्येभ्यो वा सावद्यानुष्ठानेभ्य तथा परे—गृहस्थास्तेषा मन्त्रा परमन्त्रा—तत्कार्यालोचनरूपास्तेभ्य, प्रतिक्रामामि अतिसावद्यत्वादेषाम्।

४—वही, पत्र ४८९

शिरसेव—शिरसा इव प्रदानेन जीवितनिरपेक्षमिति।

'सिर'—शरीर मे सबसे ऊँचा स्थान शिर का है। लोक मे सबसे ऊँचा मोक्ष है। इसी समानता से शिर स्थानीय मोक्ष को 'सिर' कहा है।[1]

श्लोक ५२

८—अत्यन्त युक्तियुक्त (अच्चन्तनियाणखमा क) :

शान्त्याचार्य ने इसके दो अर्थ किए है—

(१) अतिशय निदान (हेतु) युक्त।

(२) अतिशय निदान (कर्म-मल शोधन) में क्षम।[2]

श्लोक ५३

९—संगो से (संग ग) :

जिससे कर्म का बन्धन होता है, उसे 'सग' कहते हैं। वह दो प्रकार का है—

(१) द्रव्य संग।

(२) भाव सग।

द्रव्यत सग पदार्थ होते है और भावत सग होते है एकान्तवादी दर्शन।[3]

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ४४७

'शिर' ति शिर इव शिर सर्वजगदुपरिवर्त्तितया मोक्ष ।

२—वही, पत्र ४४९

अतिशयेन निदाने—कारणे, कोऽर्थ ?—हेतुभिर्न तु परप्रत्ययेनैव, क्षमा—युक्ताऽत्यन्तनिदानक्षमा, यद्वा निदान—कर्ममलशोधन तस्मिन् क्षमा—समर्था ।

३—वही, पत्र ४४९-४५०

सजन्ति—कर्मणा सबध्यन्ते जन्तव एभिरिति सगा —द्रव्यतो द्रविणादयो भावतस्तु मिथ्यात्वरूपत्वादेत एव क्रियादिवादा ।

अध्ययन १९

मियापुत्तिज्जं

श्लोक १

१—कानन और उद्यान (काणणुज्जाण ख) :

कानन वह होता है जहाँ बड़े वृक्ष हों।[1] उद्यान का अर्थ है—क्रीडा-वन। वृत्तिकार ने उद्यान का अर्थ 'आराम' भी किया है।[2] आराम जन-साधारण के घूमने-फिरने का स्थान होता था और क्रीडा-वन ऐसा स्थान था जहाँ नौका-विहार, खेल-कूद तथा अन्यान्य क्रीडा सामग्री की सुलभता रहती थी। देखिए—दशवैकालिक, ६।१। का टिप्पण, संख्या ४।

श्लोक २

२—बलश्री (बलसिरी क) :

मृगापुत्र के दो नाम थे—बलश्री और मृगापुत्र। 'बलश्री' माता-पिता द्वारा दिया हुआ नाम था और जन-साधारण में वह 'मृगापुत्र' के नाम से प्रसिद्ध था।[3]

३—युवराज (जुवराया घ) :

राजाओं में यह परम्परा थी कि बड़ा पुत्र ही राज्य का अधिकारी होता था। जब वह राज्य का कार्यभार सभालने में समर्थ हो जाता तब उसको 'युवराज-पद' दे दिया जाता। यह राज्य-पद की पूर्व-स्वीकृति का वाचक है।

प्राचीन साहित्य में यह मिलता है कि राज्याभिषेक से पूर्व 'युवराज' भी एक मन्त्री होता था, जो राजा को राज्य-सचालन में सहायता देता था। उसकी विशेष मुद्रा होती थी और उसकी पदवी का सूचक एक निश्चित पद होता था।

'युवराज' को 'तीर्थ' भी कहा गया है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में १८ तीर्थ गिनाएँ है, उनमें 'युवराज' का उल्लेख भी हुआ है। तीर्थ का अर्थ है—महा-अमात्य।[4]

४—दमीश्वर (दमीसरे घ) :

शान्त्याचार्य ने इसके दो अर्थ दिए है—

(१) उद्धत व्यक्तियों का दमन करने वाले राजाओं का ईश्वर।

(२) उपशम शील व्यक्तियों का ईश्वर।

प्रथम अर्थ वार्तमानिक अवस्था का बोधक है और दूसरा भविष्यकाल की अपेक्षा से कहा गया है।[5]

नेमिचन्द्र ने केवल द्वितीय अर्थ ही किया है।[6]

१—सुखबोधा, पत्र २६०
कानानि—बृहद्वृक्षाश्रयाणि वनानि।

२—वही, पत्र २६०
उद्यानानि—आरामाः क्रीडावनानि वा।

३—बृहद् वृत्ति, पत्र ४५१
बलश्री बलश्रीनामा मातापितृविहितनाम्ना लोके च मृगापुत्र इति।

४—कौटिल्य अर्थशास्त्र, १।१२।८, पृ० २१-२३।

५—बृहद् वृत्ति, पत्र ४५१
दमिन —उद्धतदमनशीलास्ते च राजानस्तेषामीश्वर—प्रभुर्दमीश्वर, यद्वा दमिन —उपशमिनस्तेषा सहजोपशमभावत ईश्वरो दमीश्वर, भाविकालापेक्ष चैतत्।

६—सुखबोधा, पत्र २६० :
'दमीसरि' त्ति दमिनाम्—उपशमिनामीश्वरो दमीश्वर, भाविकालापेक्ष चैतत्।

श्लोक ३

५—दोगुन्दग (दोगुन्दगो ग) :

'दोगुन्दग' त्रायस्त्रिंश जाति के देव होते हैं। वे सदा भोग-परायण होते हैं।[1] इनकी विशेष जानकारी के लिए देखिए—भगवती, १०।४।

श्लोक ४

६—मणि और रत्न (मणिरयण क) :

सामान्यत मणि और रत्न पर्यायवाची माने जाते है। वृत्तिकार ने इनमें यह भेद किया है कि विशिष्ट माहात्म्य युक्त रत्नों को 'मणि' कहते है, जैसे चन्द्रकान्तमणि, सूर्यकान्तमणि आदि-आदि तथा शेष गोमेदक आदि 'रत्न' कहलाते हैं।[2]

७—गवाक्ष (आलोयण ख) :

दशवैकालिक, ५।१।१५ में गवाक्ष के अर्थ में 'आलोय' का प्रयोग हुआ है। यहाँ उसी अर्थ में 'आलोयण' है।

शान्त्याचार्य ने इसका एक अर्थ 'सबसे ऊँची चतुरिका' भी किया है। गवाक्ष या चतुरिका से दिशाओं का आलोकन किया जा सकता है, इसलिए उन्हें 'आलोकन' कहा जाता है।[3]

श्लोक ५

८—नियम (नियम ग) :

महाव्रत, व्रत, नियम—ये सभी साधारणतया संवर के वाचक है। किन्तु रूढिवशात् इनमे अर्थ-भेद भी है। योग-दर्शन सम्मत अष्टाग योग में नियम का दूसरा स्थान है।[4] उसके अनुसार शौच, संतोष, स्वाध्याय, तप और देवताप्रणिधान ये नियम कहलाते है।[5]

जैन व्याख्या के अनुसार जिन व्रतो में जाति, देश, काल, समय आदि का अपवाद नही रहता वे 'महाव्रत' कहलाते है। जो व्रत अपवाद सहित होते है वे 'व्रत' कहलाते है। ऐच्छिक व्रतो को 'नियम' कहा जाता है।

शान्त्याचार्य ने 'अभिग्रहात्मक व्रत' को 'नियम' कहा है।[6]

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ४५१
दोगुन्दगाश्च त्रायस्त्रिंशा, तथा च वृद्धा "त्रायस्त्रिंशा देवा नित्य भोगपरायणा दोगुंदुगा इति भण्णति"।

२—बृहद् वृत्ति, पत्र ४५१
मणयश्च—विशिष्टमाहात्म्याश्चन्द्रकान्तादयो रत्नानि च—गोमेयकादीनि मणिरत्नानि।

३—वही, पत्र ४५१
आलोक्यन्ते दिशोऽस्मिन् स्थितेरित्यालोकन प्रासादे प्रासादस्य वाऽऽलोकन प्रासादालोकन तस्मिन् सर्वोपरिवर्त्तिचतुरिकारूपे गवाक्षे।

४—पातजल योगदर्शन, २।२९
यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावगानि।

५—वही २।३२
शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

६—बृहद् वृत्ति, पत्र ४५१-४५२
नियमश्च—द्रव्याद्यभिग्रहात्मक।

श्लोक ११

९–श्लोक ११ :

इस श्लोक मे भोगो को विपफल से उपमित किया गया है। जिस प्रकार विपफल प्रथम स्वाद में अत्यन्त मधुर होते हैं परन्तु परिणाम काल मे अत्यन्त कटुक और दु खदायी होते है, उसी प्रकार भोग भी सेवन-काल में मधुर लगते है, परन्तु उनका विपाक कटुक होता है और वे अनवच्छिन्न दु ख देने वाले होते है।

श्लोक १४

१०–व्याधि और रोगों का (वाहीरोगाण ख) :

अत्यन्त बाघा उत्पन्न करने वाले कुष्ठ जैसे रोगो को 'व्याधि' कहा जाता है और कदाचित् होने वाले ज्वर आदि को 'रोग' कहा जाता है।[1]

श्लोक १७

११–किम्पाक-फल (किम्पागफलाणं क) :

किंपाक एक वृक्ष होता है। उसके फल अत्यन्त स्वादु होते है,[2] परन्तु वे कटुकविपाक वाले होते है। भोगो की विरसता को वताने के लिए किंपाकफल की उपमा जैन-ग्रन्थो में अनेक स्थलो में मिलती है।

श्लोक ३२

१२–ताड़ना, तर्जना, वध, बन्धन (तालणा क, तज्जणा क, वह ख, वन्ध ख) :

ताडना, तर्जना, वध और बन्धन ये चारो परीषह है—प्रहार और तिरस्कार से उत्पन्न कष्ट है—

(१) ताडना—हाथ आदि से मारना।[3]

(२) तर्जना—तर्जनी अगुली दिखा कर या भौंहें चढा कर तिरस्कार करना या डाँटना।[4]

(३) वध—लकडी आदि से प्रहार करना।[5]

(४) वन्धन—मयूर-वन्ध आदि से वाँधना।[6]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४५४
व्याधय —अतीव वाधाहेतव कुष्ठादयो, रोगा —ज्वरादय ।

२–वही, पत्र ४५४
किम्पाको—वृक्षविशेषस्तस्य फलान्यतीव सुस्वादानि।

३–वही, पत्र ४५६
'ताडना' करादिभिराहननम्।

४–वही, पत्र ४५६
तर्जना अगुलिभ्रमणभ्रूत्क्षेपादिरूपा।

५–वही, पत्र ४५६
वधश्च—लकुटादिप्रहार ।

६–वही, पत्र ४५६
वंधश्च—मयूरवन्धादि ।

श्लोक ३३

१३–कापोती-वृत्ति (कबूतर के समान दोप-भीरु वृत्ति) (कावोया क, वित्ती क) :

यहाँ साधु की भिक्षा-वृत्ति को 'कापोती-वृत्ति' कहा गया है। जिस प्रकार कबूतर कण (टीकाकार ने यहाँ कीट का भी उल्लेख किया है, परन्तु कबूतर कीट नही चुगते) आदि को ग्रहण करते समय नित्य शंकित रहते है, उसी प्रकार साधु भी भिक्षाचर्या में सदा एषणा-दोष आदि की शका से प्रवृत्त होता है।[1]

इस कापोती-वृत्ति का उल्लेख महाभारत मे भी मिलना है—

कुम्भधान्यैरुञ्छशिलै, कापोती चास्थितास्तथा।
यस्मिश्चैते वसन्त्यर्हास्तद् राष्ट्रमभिवर्धते ॥
(शान्तिपर्व, २४३।२४)

१४–दारुण केश-लोच (केसलोओ य दारुणो ख) :

केश-लोच—हाथ से नोच कर बालो को उखाडना सचमुच बहुत दारुण होता है। लोच क्यो किया जाए ? यह प्रश्न उपस्थित होता है। इसका तर्क-सगत समाधान देना सम्भवत कठिन है। यह एक परम्परा है। इसका प्रचलन क्यो हुआ ? इसका समाधान प्राचीन साहित्य में ढूँढना चाहिए।

कल्पसूत्र में कहा गया है कि सवत्सरी के पूर्व लोच अवश्य करना चाहिए। उसकी व्याख्या में लोच करने के कुछ हेतु बतलाए गए हैं—

(१) केश होने पर अप्काय के जीवो की हिंसा होती है।
(२) भीगने से जुएँ उत्पन्न होती है।
(३) खुजलाता हुआ मुनि उनका हनन कर देता है।
(४) खुजलाने से सिर में नख-क्षत हो जाते हैं।
(५) यदि कोई मुनि क्षुर (उस्तरे) या कैंची से बालो को काटता है तो उसे आज्ञा-भग का दोष होता है।
(६) ऐसा करने से सयम और आत्मा (शरीर) दोनो की विराधना होती है।
(७) जुंए मर जाती हैं।
(८) नाई अपने क्षुर या कैंची को सचित्त जल से धोता है। इसलिए पश्चात्-कर्म दोष होता है।
(९) जैन-शासन की अवहेलना होती है।

इन हेतुओं को ध्यान में रखते हुए मुनि केशो को हाथ से ही नोच डाले, यही उसके लिए अच्छा है। इस लोच-विधि में आपवादिक विधि का भी उल्लेख है।[2]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४५६-४५७
कपोता —पक्षिविशेषास्तेषामिय कापोती येय वृत्ति —निर्वहणोपाय, यथा हि ते नित्यशकिता कणकीटकादिग्रहणे प्रवर्त्तन्ते, एव भिक्षुरप्येषणादोषशङ्कयैव भिक्षादौ प्रवर्त्तते।

२–सुबोधिका, पत्र १९०-१९१
केशेषु हि अप्कायविराधना, तत्ससर्गाच्च यूका समूर्च्छन्ति, ताश्च कण्डूयमानो हन्ति शिरसि नखक्षत वा स्यात्, यदि क्षुरेण मुण्डापयति कर्त्तर्या वा तदाऽऽज्ञाभगाद्या दोषा सयमात्मविराधना, यूकाश्छिद्यन्ते नापितश्च पश्चात्कर्म करोति शासनापभ्राजना च, ततो लोच एव श्रेयान्।

दिगम्बर-साहित्य में इसके कुछ और हेतु भी वतलाए गए है—

(१) राग आदि का निराकरण करने,
(२) अपने पौरुष को प्रगट करने,
(३) सर्वोत्कृष्ट तपश्चरण और
(४) लिंग आदि के गुण का ज्ञापन करने के लिए लोच करे ।[1]

राग आदि के निराकरण से इसका सम्बन्ध है—यह अन्वेषण का विषय है। शासन की अवहेलना का प्रश्न सामयिक है। जीवो की उत्पत्ति न हो तथा उनकी विराधना न हो—इसकी सावधानी वरती जा सकती है। इन हेतुओं से लोच की अनिवार्यता साधना कठिन कार्य है। इसमें कोई सदेह नही कि यह कष्ट-सहिष्णुता की वहुत वडी कसौटी है। इन हेतुओं को जानने के वाद भी हमें यही मानना पडता है कि यह बहुत पुरानी परम्परा है।

दशवैकालिक वृत्ति और मूलाराधना में भी लगभग पूर्वोक्त जैसा ही विवरण मिलता है।

काय-क्लेश ससार-विरक्ति का हेतु है। वीरासन, उकडू आसन, लोच आदि उसके मुख्य प्रकार है। (१) निर्लेपता, (२) पश्चात्कर्म-वर्जन, (३) पुरःकर्म-वर्जन और (४) कष्ट-सहिष्णुता—ये लोच से प्राप्त होने वाले गुण है।[2]

केशो को ससाधित न करने से उनमें जूँ, लीख आदि उत्पन्न होते हैं। वहाँ से उनको हटाना दुष्कर होता है। सोते समय अन्यान्य वस्तुओं मे सघट्टन होने के कारण उन जूँ-लीखो को पीडा हो सकती है। अन्य स्थल से कीटादिक जन्तु भी वहाँ उनको खाने आते हैं, वे भी दुष्प्रतिहार्य है।

लोच से मुण्डत्व, मुण्डत्व से निर्विकारता और निर्विकारता से रत्नत्रयी में प्रवल पराक्रम फोडा जा सकता है।

लोच से आत्म-दमन होता है, सुख मे आसक्ति नही होती, स्वाधीनता रहती है (लोच न करने वाला मस्तक को धोने, मुखाने, तेल लगाने मे काल व्यतीत करता है, स्वाध्याय आदि में स्वतत्र नही रहता), निर्दोपता की वृद्धि होती है और शरीर से ममत्व हट जाता है। लोच से धर्म के प्रति श्रद्धा होती है, यह उग्र तप है, कष्ट-सहन का उत्कृष्ट उदाहरण है।[3]

१—मूलाचार टीका, पृ० ३७०
जीवसम्मूर्च्छनादिपरिहारार्थं रागादिनिराकरणार्थं, स्ववीर्यप्रकटनार्थं, सर्वोत्कृष्टतपश्चरणार्थं, लिंगादिगुणज्ञापनार्थं चेति ।

२—दशवैकालिक, हारिभद्रीय वृत्ति, पत्र २८-२९

वीरासण उक्कुडुगासणाइ लोआइओ य विण्णेओ ।
कायकिलेसो ससारवासनिव्वेअहेउत्ति ॥
वीरासणाइसु गुणा कायनिरोहो दया अ जीवेसु ।
परलोअमई अ तहा वहुमाणो चेव अन्नेसिं ॥
णिस्संगया य पच्छापुरकम्मविवज्जण च लोअगुणा ।
दुक्खसहत्त नरगादिभावणाए य निव्वेओ ॥

तथाऽन्यैरप्युक्तम्—

पश्चात्कर्म पुर कर्मे(र्मेई)र्यापथपरिग्रह ।
दोषा ह्येते परित्यक्ताः, शिरोलोचं प्रकुर्वता ॥

३—मूलाराधना, आश्वास २।८८-९२

केसा ससज्जति हु णिप्पडिकारस्स दुपरिहारा य ।
सयणादिसु ते जीवा दिट्ठा आगंतुया य तहा ॥
जूगाहिं य लिक्खाहि य बाधिज्जतस्स संकिलेसो य ।
सघट्टिज्जति य ते कडुयणे तेण सो लोचो ॥
लोचकदे मुण्डत्ते मुण्डत्ते होइ णिव्वियारत्तं ।
तो णिव्वियारकरणो पगहिददरपरक्कमदि ॥
अप्पा दमिदो लोएण होइ ण सुहे य सगमुवयादि ।
साधीणदा य णिद्दोसदा य देहे य णिम्ममदा ॥
आणक्खिदा य लोचेण अप्पणो होदि धम्मसढ्ढा च ।
उग्गो तवो य लोचो तहेव दुक्खस्स सहणं च ॥

श्लोक ३८

१५—साँप जैसे एकाग्र-दृष्टि से (अहीवेगन्तदिट्ठीए क) :

सर्प अपने लक्ष्य पर अत्यन्त निश्चल-दृष्टि रखता है, यही कारण है कि उसके द्वारा देखे जाने वाले पदार्थ का उसमें स्थिर प्रतिबिम्ब पड़ता है। वह प्रतिबिम्ब वर्षो तक भी अमिट रहता है। इसी प्रकार साधु को भी अपने लक्ष्य पर निश्चल-दृष्टि से गति करनी चाहिए।

श्लोक ४०

१६—वस्त्र के थैले को (कोत्थलो ख) :

हिन्दी में इसे थैला और राजस्थानी मे 'कोथला' कहते है।

टीकाकार का सकेत है कि यहाँ वस्त्र, कम्बल आदि का 'थैला' ही ग्राह्य है, क्योकि वही हवा मे नही भरा जाता। चर्म आदि का थैला तो भरा जा सकता है।[1]

श्लोक ४६

१७—चार अन्त वाले (चाउरन्ते ख) :

ससार रूपी कान्तार के चार अन्त होते हैं—(१) नरक, (२) तिर्यंच, (३) मनुष्य और (४) देव। इसलिए उसे 'चाउरत' कहा जाता है।[2]

श्लोक ४७-७३

१८—श्लोक ४७-७३ :

इन श्लोकों में नारकीय वेदनाओ का चित्र खीचा गया है। पहले तीन नरकों में परमाधार्मिक देवताओं द्वारा पीडा पहुँचाई जाती है और अन्तिम चार में नारकीय जीव स्वय परस्पर वेदना की उदीरणा करते हैं। परमाधार्मिक देव १५ प्रकार के है। उनके कार्य भी भिन्न-भिन्न हैं—

नाम	कार्य
(१) अब	हनन करना, ऊपर से नीचे गिराना, बीधना आदि २।
(२) अबर्षि	काटना आदि-आदि।
(३) श्याम	फेंकना, पटकना, बीधना आदि-आदि।
(४) शबल	आँतें, फेफडे, कलेजा आदि निकालना।
(५) रुद्र	तलवार, भाला आदि से मारना, शूली में पिरोना आदि-आदि।
(६) उपरुद्र	अग-उपागो को काटना आदि-आदि।
(७) काल	विविध पात्रो में पचाना।
(८) महाकाल	शरीर के विविध स्थानो से मास निकालना।
(९) असिपत्र	हाथ, पैर आदि को काटना।

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ४५७

कोत्थल इह वस्त्रकम्बलादिमयो गृह्यते, चर्ममयो हि सुखेनैव भ्रियेतेति।

२—वही, पत्र ४५९

चत्वारो—देवादिभवा अन्ता—अवयवा यस्यासौ चतुरन्त —ससार।

(१०) धनु	कर्ण, ओष्ठ, दाँत को काटना ।
(११) कुम्भ	विविध कुम्भियो में पचाना ।
(१२) वालुक	भूँजना आदि-आदि ।
(१३) वैतरणि	वशा, लोही आदि की नदी में डालना ।
(१४) खरस्वर	करवत, परशु आदि से काटना ।
(१५) महाघोष	भयभीत होकर दौडने वाले नैरयिको का अवरोध करना ।

परमाधार्मिक देवो के ये कार्य इस अध्ययन में वर्णित है किन्तु यहाँ परमाधार्मिको के नाम उल्लिखित नही है । विशेष वर्णन के लिये देखिए—समवायाग, समवाय १५, वृत्ति, पत्र २८ , गच्छाचार, पत्र ६४-६५ ।

श्लोक ४९

१९–(कदुकुम्भीसु क, हुयासणे ग) :

'कदुकुम्भीसु'—कदु का अर्थ है—भट्ठा (भाड)। कुम्भी का अर्थ है—छोटा घडा। कदु-कुम्भी ऐसे पाक-पात्र का नाम है, जो नीचे से चौडा और ऊपर से सकडे मुँह वाला हो ।

बृहद् वृत्ति में इसका अर्थ 'लोह आदि धातु से बना हुआ पाक-पात्र' है ।[1]

'हुयासणे'—अग्निकायिक जीव दो प्रकार के होते है—सूक्ष्म और बादर । बादर अग्नि के जीव नरक में नही होते ।[2] यहाँ जो अग्नि का उल्लेख है, वह सजीव अग्नि के लिए नही किन्तु अग्नि जैसे तप्त और प्रकाशवान् पुद्गलो के लिए है ।[3]

श्लोक ५०

२०–वज्रबालुका जैसी कदम्ब नदी की बालू में (वइरवालुए ख, कलम्बवालुयाए ग) :

नरक में वज्रवालुका तथा कदम्बवालुका नाम की नदियाँ हैं। इन नदियो की 'चर' को भी 'वज्रवालुका' व 'कदम्बवालुका' अगणित कहा गया है ।[4]

श्लोक ५२

२१–शाल्मलि वृक्ष पर (सिम्बलिपायवे ख) :

इसके लिए 'कूट शाल्मलि' शब्द का भी प्रयोग होता है । देखिए—उत्तराध्ययन, २०।३६ । इसका अर्थ है—सेमल का वृक्ष । इसकी त्वचा पर अगणित काँटे होते है ।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४५९
'कदुकुम्भीषु' पाकभाजनविशेषरूपासु लोहादिमयीषु ।

२–वही, पत्र ४५९
तत्र च बादराग्नेरभावात् पृथिव्या एव तथाविधः स्पर्श इति गम्यते ।

३–वही पत्र ४५९
अग्नौ देवमायाकृते ।

४–वही, पत्र ४५९
वज्रवालुकानदीसम्बन्धिपुलिनमपि वज्रवालुका तत्र, यद्वा वज्रवद्वालुका यस्मिंस्त (स्मिन् स त) था तस्मिन्नरकप्रदेश इति गम्यते, 'कदम्बवालुकाया च' तथैव कदम्बवालुकानदीपुलिने च महादवाग्निसङ्काश इति योज्यते ।

श्लोक ५४

२२–(कोलसुणएहिं क, पाडिओ ग, फालिओ ग, छिन्नो ग) :

'कोलसुणएहिं'—कोलशुनक का अर्थ 'सूअर' किया गया है।[1] कोल का अर्थ भी 'सूअर' है। इसलिए शुनक का अर्थ 'कुत्ता' किया जा सकता है।

'पाडिओ'—पातित। इसका अर्थ है—ऊपर से नीचे गिराना।

'फालिओ'—फाटित। इसका अर्थ है—वस्त्र की तरह फाड़ना।

'छिन्नो'—छिन्न। इसका अर्थ है—वृक्ष की तरह दो डाल करना।[2]

श्लोक ५५

२३–(असीहि क, भल्लीहिं ख, पट्टिसेहि ख) :

'असीहि'—तलवारें तीन प्रकार की होती है—असि, खड्ग और ऋष्टि। असि लम्बी, खड्ग छोटी और ऋष्टि दुधारी तलवार को कहा जाता है।

'भल्लीहिं'—भल्ली (बर्छी)। एक प्रकार का भाला।

'पट्टिसेहि'—पट्टिस के पर्यायवाची नाम तीन है—खुरोपम, लोह-दण्ड और तीक्ष्णधार।[3] इनसे उसकी आकृति की जानकारी मिलती है। उसकी नोकें खुरपा की नोको के समान तीक्ष्ण होती है, यह लोह दण्ड होता है और इसकी धार तीखी होती है।

श्लोक ५६

२४–रोझ (रोज्झो घ) :

यह देशी शब्द है। इसका अर्थ है—हरिण की एक जाति।[4] संस्कृत में इसका तत्सम अर्थ है—ऋष्य। टीकाकार ने पशु विशेष कह कर छोड दिया है।[5]

श्लोक ५८

२५–पंखियो के (पक्खिहिं ख) :

नरक में तिर्यंच नही होते। यहाँ जो पक्षियो का उल्लेख है, वह देवताओ द्वारा किए गए वैक्रियरूप का है।[6]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४६०
'कोलसुणएहिं' ति सूकरस्वरूपधारिभि ।

२–वही, पत्र ४६०
'पातितो' भुवि 'फाटितो' जीर्ण वस्त्रवत् 'छिन्नो' वृक्षवद्‌द्वयमयदष्ट्रामिरिति गम्यते।

३–शेषनाममाला, श्लोक १४८-१४९
पट्टिसस्तु खुरोपम ।
लोहदण्ड स्तीक्ष्ण धार ॥

४–देशीनाममाला, ७।१२।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ४६०
'रोज्झ' पशुविशेष ।

६–वही, पत्र ४६०
एते च वैक्रिया एव, तत्र तिरश्चामभावात्।

श्लोक ६१

२६–मुषण्डियों से (मुसंढीहिं क) :

यह लकडी की बनती थी। इसमे गोल लोहे के काँटे जडे रहते थे।[1]

श्लोक ७२

२७–(तिव्वचण्डप्पगाढाओ क, घोराओ ख) :

इसमें तीव्र, चण्ड, प्रगाढ और घोर—ये चार समालोच्य शब्द है। नारकीय-वेदना को रस-विपाक की दृष्टि से तीव्र कहा गया है। चण्ड का अर्थ है—उत्कट। दीर्घकालीनता की दृष्टि से उसे प्रगाढ कहा गया है। घोर का अर्थ है—रौद्र।[2]

श्लोक ७५

२८–रोगों की चिकित्सा नहीं की जाती (निप्पडिकम्मया घ) :

निष्प्रतिकर्मता काय-क्लेश नामक तप का एक प्रकार है।[3] दशवैकालिक (३।४) में चिकित्सा को अनाचार कहा है। उत्तराध्ययन में कहा है—भिक्षु चिकित्सा का अभिनन्दन न करे (२।३१,३३) तथा जो चिकित्सा का परित्याग करता है, वह भिक्षु है (१५।८)। यहाँ निष्प्रतिकर्मता का जो सवाद है, वह उक्त तथ्यो का समर्थन करता है। निर्ग्रन्थ-परम्परा में निष्प्रतिकर्मता (चिकित्सा न कराने) का विधान रहा है। किन्तु, सम्भवत यह विशिष्ट अभिग्रहधारी निग्रन्थो के लिए रहा है।

देखिए—दसवेआलिय (भाग २), ३।४ का टिप्पण, सख्या २६।

श्लोक ७६-८३

२९–श्लोक ७६-८३ :

७६ वें श्लोक में 'मियपक्खिण' पाठ आया है। आगे के श्लोको में केवल 'मृग' का ही बार-बार उल्लेख हुआ है। यह क्यो ? इसके समाधान मे टीकाकार ने बताया है कि मृग प्राय उपशम-प्रधान होते है। इसलिए बार-बार उन्ही के उदाहरण से विषय को समझाया गया है।[4]

श्लोक ७८

३०–महावन में (महारण्णम्मि ख) :

टीकाकार का कथन है कि यहाँ 'महा' शब्द विशेष प्रयोजन से ही लिया गया है। साधारण अरण्य में लोगो का आवागमन रहता है। वहाँ कोई कृपालु व्यक्ति किसी पशु को पीडित देख उसकी चिकित्सा कर देता है। जैसे किसी वैद्य ने अरण्य में एक व्याघ्र की आँखों की चिकित्सा की थी। महारण्य मे आवागमन न होने से पशुओं की चिकित्सा का प्रसग ही नही आता।[5]

१–शेषनाममाला, श्लोक १४१

मुषुण्ढी स्याद् दारुमयी, वृत्तायकीलसचिता।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ४६१

तीव्रा अनुभागतोऽ त एव चण्डा —उत्कटा प्रगाढा —गुरुस्थितिकास्तत एव 'घोरा' रौद्रा ।

३–औपपातिक, सूत्र १९

सव्वगायपरिकम्मविभूसविप्पमुक्के।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ४६३

इह च मृगपक्षिणामुभयेषामुपक्षेपे यन्मृगस्यैव पुन पुनर्दृष्टान्तत्वेन समयन तत्तस्य प्राय प्रशमप्रधानत्वादिति सम्प्रदाय ।

५–वही, पत्र ४६२

'महारण्य' इति महाग्रहणमरण्ये हि अरण्येऽपि कश्चित्कदाचित्तयेन दृष्ट्वा च कृपातश्चिकित्सेदपि, श्रूयते हि केनचिद्भिषजा व्याघ्रस्य चक्षुरुद्घाटितमरण्यामिति।

श्लोक ८०

३१–लता निकुञ्जों में (वल्लराणि घ) :

यह देश्य शब्द है। इसके सात अर्थ है—अरण्य, महिष, क्षेत्र, युवा, समीर, निर्जन-देश और वन।[1]

टीकाकार ने इसके चार अर्थो का निर्देश किया है—अरण्य, निर्जल देश, वन और क्षेत्र।[2] यहाँ वल्लर का अर्थ—गहन (लता-निकुञ्ज) होना चाहिए।

श्लोक ६२

३२–वसूले से काटने और चन्दन लगाने पर सम रहने वाला (वासीचन्दणकप्पो ग) :

शान्त्याचार्य के अनुसार 'वासी' और 'चन्दन' शब्द के द्वारा उनका प्रयोग करने वाले व्यक्तियो का ग्रहण किया गया है। कोई व्यक्ति वसूले से छीलता है, दूसरा चन्दन का लेप करता है—मुनि दोनो पर समभाव रखे। यहाँ 'कल्प' शब्द का अर्थ 'सदृश' है।[3] जैन-साहित्य में यह साम्ययोग बार-बार प्रतिध्वनित होता रहा है—

जो चंदणेण बाहु आलिंपइ वासिणा वि तच्छेइ।
संथुणइ जो अ निंदइ महारिसिणो तत्थ समभावा॥

(उपदेशमाला, ६।२)

१–देशीनाममाला, ७।८६
वल्लरमरण्णमहिसक्खेत्तजुवसमीरणिज्जलवणेसु।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ४६०।
उक्तंच—''गहणमवाणियदेस रण्णे छेत्त च वल्लर जाण।'

३–वही, पत्र ४६५
वासीचन्दनशब्दाभ्या च तद्व्यापारकपुरुषावुपलक्षितौ, ततश्च यदि किलैको वास्या तक्ष्णोति, अपरश्च गोशीर्षादिना चदनेना-लिम्पति, तयाऽ पि रागद्वेषाभावतो द्वयोरपि तुल्य, कल्पशब्दस्येह सदृशपर्यायत्वात।

अध्ययन २०

महानियण्ठिज्जं

श्लोक २

१–रत्नों से (रयणो क) :

यहाँ 'रयण' शब्द के दो अर्थ है—(१) हीरा, पन्ना आदि रत्न तथा (२) विशिष्ट हाथी, घोडे ।[1]

राजाओं की ऋद्धि-सिद्धि मे विशिष्ट लक्षण-युक्त हाथी-घोडो को भी 'रत्न' माना गया है ।

श्लोक ७

२–प्रदक्षिणा (पयाहिणं ख) :

इस श्लोक मे वन्दन के पश्चात् 'प्रदक्षिणा' का कथन आया है । वन्दन के साथ ही 'प्रदक्षिणा' की विधि रही है तो यहाँ वन्दन के बाद प्रदक्षिणा का कथन कैसे—यह प्रश्न हो सकता है ।

वृहद् वृत्तिकार ने इसका समाधान यो दिया है कि पूज्य व्यक्तियो के दीखते ही वन्दना करनी चाहिए । इसकी सूचना देने के लिए प्रदक्षिणा का उल्लेख बाद मे किया गया है ।[2] किन्तु यह समाधान हृदय का स्पर्श नही करता । क्या इस श्लोक मे यह सूचना नही मिलती कि वन्दना के बाद प्रदक्षिणा दी जाती थी ?

श्लोक ९

३–नाथ (नाहो ख) :

अप्राप्य वस्तु की प्राप्ति को 'योग' और प्राप्य वस्तु के संरक्षण को 'क्षेम' कहा जाता है । जो योग क्षेम करने वाला होता है, वह 'नाथ' कहलाता है ।[3] अनाथी मुनि ने श्रेणिक से कहा—"गृहस्थ-जीवन में मेरा कोई नाथ नही था । मैं मुनि बना और नाथ हो गया—अपना, दूसरो का और सब जीवो का ।"[4]

बौद्ध-साहित्य मे १० नाथ-करण धर्मो का निरूपण इस प्रकार मिलता है—

कौन दस बस बहुत उपकारक हैं ? दश नाथ-करण धर्म—

(१) आवुसो ! भिक्षु शीलवान्, प्रातिमोक्ष (भिक्षुनियम)-संवर (कवच) मे संवृत (आच्छादित) होता है । थोडी सी बुराइयो (वद्य) में भी भय-दर्शी, आचार गोचर-युक्त हो विहरता है, (शिक्षापदो को) ग्रहण कर शिक्षापदो को सीखता है । जो यह आवुसो ! भिक्षु शीलवान्०, यह भी धर्म नाथ-करण (न अनाथ करने वाला) है ।

१–वृहद् वृत्ति, पत्र ४७२

रत्नानि—मरकतादीनि प्रवरगजाश्वादिरूपाणि वा ।

२–वही पत्र ४७३

पादवन्दनानन्तर प्रदक्षिणाऽभिधान पूज्यानामालोक एव प्रणाम क्रियत इति ख्यापनार्थम् ।

३–वही, पत्र ४७३

'नाथ' योगक्षेमविधाता ।

४–उत्तराध्ययन २०।३५

तत्तो ह नाहो जाओ अप्पणो य परस्स य ।

सव्वेसि चेव भूयाण तसाण थावराण य ॥

(२) भिक्षु बहुश्रुत, श्रुतधर, श्रुत-सचयवान् होता है । जो वह धर्म आदि-कल्याण, मध्य-कल्याण, पर्यवसान-कल्याण, सार्थक=सव्यजन हैं, (जिसे) केवल, परिपूर्ण, परिशुद्ध ब्रह्मचर्य कहते हें, वैसे धर्म, (भिक्षु) के बहुत सुने, ग्रहण किए, वाणी से परिचित, मन से अनुपेक्षित, दृष्टि से सुप्रतिविद्ध (=अन्तस्तल तक देखे) होते हैं , यह भी धर्म नाथ-करण होता है ।

(३) भिक्षु कल्याण-मित्र=कल्याण-सहाय=कल्याण-सप्रवक होता है । जो यह भिक्षु कल्याण-मित्र० होता है, यह भी० ।

(४) भिक्षु सुवच, सौवचस्य (=मधुरभाषिता) वाले धर्मो से युक्त होता है । अनुशासनी (=धर्म-उपदेश) में प्रदक्षिणग्राही=समर्थ (=क्षम) (होता है), यह भी० ।

(५) भिक्षु सब्रह्मचारियो के जो नाना प्रकार के कर्त्तव्य होते हैं, उनमें दक्ष=आलस्य-रहित होना है, उनमें उपाय=विमर्श से युक्त, करने में समर्थ=विधान में समर्थ होता है, यह भी ० ।

(६) भिक्षु अभिधर्म (=सूत्र में), अभि-विनय (=भिक्षु-नियमो मे), धर्म-काम (=धर्मेच्छु), प्रिय-समुदाहार (=दूसरे के उपदेश को सत्कार पूर्वक सुनने वाला, स्वय उपदेश करने में उत्साही), बडा प्रमुदित होता है, यह भी ० ।

(७) भिक्षु जैसे तैसे चीवर, पिंड्पात, शयनासन, ग्लान-प्रत्यय-भैषज्य-परिष्कार से सन्तुष्ट होता है० ।

(८) भिक्षु अकुशल-धर्मो के विनाश के लिए, कुशल-धर्मो की प्राप्ति के लिए उद्योगी (=आरब्ध-वीर्य), स्थामवान्=दृढपराक्रम होता है । कुशल-धर्मो में अनिक्षिप्त=धुर (=भगोडा नही) होता० ।

(९) भिक्षु स्मृतिमान्, अत्युत्तम स्मृति-परिपाक से युक्त होता है , बहुत पुराने किए, बहुत पुराने भाषण किए का भी स्मरण करने वाला, अनुस्मरण करने वाला होता है० ।

(१०) भिक्षु प्रज्ञावान् उदय-अस्त गामिनी, आर्य निर्वेधिक (=अन्तस्तल तक पहुँचने वाली), सम्यक्-दु ख क्षय गामिनी प्रज्ञा से युक्त होता है ० ।[1]

श्लोक २२

४—(आयरिया क, सत्थकुसला ग) :

'आयरिया'—यहाँ आचार्य शब्द का प्रयोग प्राणाचार्य—वैद्य के लिए हुआ है ।[2]

'सत्थकुसला'— इसके दो अर्थ हो सकते है—(१) शास्त्र-कुशल—आयुर्वेद विशारद और (२) शस्त्र-कुशल—शल्य-क्रिया में निपुण ।[3]

श्लोक २३

५—चतुष्पाद (चाउप्पाय ख) :

चिकित्सा के चार पाद होते हैं—वैद्य, औषध, रोगी और रोगी की शुश्रूषा करने वाले । जहाँ इन चारो का पूर्ण योग होता है, उसे 'चतुष्पाद-चिकित्सा' कहते है ।[4] स्थानाग में इन चारो अङ्गो को 'चिकित्सा' कहा गया है ।[5]

१—दीघ-निकाय ३।११, पृ० ३१२-३१३ ।

२—बृहद् वृत्ति, पत्र ४७५
'आचार्या ' इति प्राणाचार्या वैद्या इति यावत् ।

३—वही, पत्र ४७५
'सत्यकुसल' त्ति शस्त्रेषु शास्त्रेषु वा कुशला शस्त्रकुशला शास्त्रकुशला वा ।

४—वही, पत्र ४७५ ·
'चाउप्पाय' त्ति चतुष्पदा भिषग्भैषजातुरप्रतिचारकात्मकचतुर्भा(त्मकभा)गचतुष्टयात्मिकाम् ।

५—स्थानाग, ४।४।३४३
चउव्विहा तिगिच्छा पन्नत्ता, तजहा—विज्जो ओसधाइ आउरे परिचारते ।

श्लोक ४२

६—सिक्के (कहावणे ख) :

भारतवर्ष का अत्यधिक प्रचलित सिक्का 'कार्षापण' था। मनुस्मृति में इसे ही 'धरण' और 'राजत-पुराण' (चाँदी का पुराण) भी कहा गया है।[१] चाँदी के कार्षापण या पुराण का वजन ३२ रत्ती था। सोने और ताम्बे के 'कर्ष' का वजन ८० रत्ती था। ताम्बे के कार्षापण को 'पण' कहते थे।[२] पाणिनीय सूत्र पर वार्तिक लिखते हुए कात्यायन ने 'कार्षापण' को 'प्रति' कहा है और 'प्रति' से खरीदी जाने वाली वस्तु को 'प्रतिक' कहा गया है। पाणिनि ने इन सिक्कों को 'आहत' कहा है।[३] जातकों में 'कहापण' शब्द पाया जाता है। अष्टाध्यायी में 'कार्षापण' और 'पण' ये दोनों पाए जाते हैं।[४] सम्भव है चाँदी के सिक्कों का 'कार्षापण' और ताम्बे के कर्ष का नाम 'पण' रहा हो।[५]

श्लोक ४५

७–(कोऊहल ख, कुहेडविज्जा ग) :

'कोऊहल'—सन्तान प्राप्ति के लिए विशेष द्रव्यों से मिश्रित जल से स्नान आदि कराने को 'कौतुक' कहा जाता है।[६]

'कुहेडविज्जा'—मिथ्या-आश्चर्य प्रस्तुत करने वाली मन्त्र-तन्त्रात्मक विद्या को 'कुहेटक'-विद्या कहा जाता है।[७] दूसरे शब्दों में इसे 'इन्द्रजाल' कहा जा सकता है।

श्लोक ४७

८–(उद्देसियं कीयगडं नियागं क) :

देखिए—दसवेआलियं, (भाग २), ३।२ टिप्पण संख्या, ६,१०।

१–मनुस्मृति, ८।१३५, १३६

पल सुवर्णाश्चत्वार पलानि धरणं दश।
द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रूप्यमाषक ॥
ते षोडश स्याद्धरण पुराणश्चैव राजत ।
कार्षापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिक कार्षिक पण ॥

२–वही, ८।१३६।

३–पाणिनि अष्टाध्यायी, ५।२।१२०।

४–(क) पाणिनि अष्टाध्यायी, ५।१।२९।
(ख) वही, ५।१।३४।

५–पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० २५३।

६–बृहद् वृत्ति, पत्र ४७९
कौतुकं च अपत्यार्थं स्नपनादि।

७–वही, पत्र ४७९
कुहेटकविद्या—अलीकाश्चर्यविधायिमन्त्रतन्त्रज्ञानात्मिका।

अध्ययन २१

समुद्दपालीयं

श्लोक १

१–श्रावक (सावए ख) :

भगवान् महावीर का सघ चार भागो में विभक्त था—श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका।[1] भगवान् ने दो प्रकार का धर्म बताया—अगार-चारित्र-धर्म और अनगार-चारित्र-धर्म।[2] जो अगार-चारित्र-धर्म का पालन करता है, वह श्रावक या श्रमणोपासक कहलाता है।

श्लोक २

२–कोविद् (विकोविए ख) :

बहुत से श्रावक भी निर्ग्रन्थ प्रवचन के विद्वान् होते थे।[3] औपपातिक सूत्र में श्रावको को लब्धार्थ, पृष्टार्थ, गृहीतार्थ आदि कहा गया है।[4] राजीमती के लिए भी 'बहुश्रुत' विशेषण प्रयुक्त हुआ है।[5]

३–पोत से व्यापार करता हुआ (पोएण ववहरन्ते ग) :

भारत में नौका द्वारा व्यापार करने की परम्परा बहुत प्राचीन है। ऋग्वेद (१।२५।७, १।४८।३, १।५६।२, १।११६।३, २।४८।३, ७।८८।३-४) में समुद्र में चलने वाली नावो का उल्लेख आता है तथा भुज्युनाविक के बहुत दूर चले जाने पर मार्ग भूल जाने व पूषा की स्तुति करने पर सुरक्षित लौट आने का वर्णन है।

पण्डार जातक (२।१२८,५।७५) में ऐसे जहाजों का उल्लेख है, जिनमें लगभग पाँच सौ व्यापारी यात्रा कर रहे थे, जो कि डूब गए। विनय-पिटक में पूर्ण नामी एक भारतीय व्यापारी के छ वार समुद्र-यात्रा करने का वर्णन है। सयुक्त-निकाय (२।११५,५।५१) व अगुत्तर-निकाय (४।२७) में छ-छ महीनो तक नाव द्वारा की जाने वाली समुद्र-यात्रा का वर्णन है। दीघ-निकाय (१।२२२) में वर्णन आता है कि दूर-दूर देशों तक समुद्र-यात्रा करने वाले व्यापारी अपने साथ पक्षी रखते थे। जब जहाज स्थल से वहुत दूर पहुँच जाता और भूमि के कोई चिह्न दिखाई नही देते, तब उन पक्षियो को छोड दिया जाता था। यदि भूमि निकट ही रहती तो वे पक्षी वापस नहीं आते अन्यथा थोडी देर तक इधर-उधर उडकर वापस आ जाते थे।

आवश्यक निर्युक्ति के अनुसार जल-पोतो का निर्माण भगवान् ऋषभ के काल में हुआ था।[6] जैन-साहित्य में 'जलपत्तन' के अनेक उल्लेख मिलते हैं।[7] वहाँ नौकाओ के द्वारा माल आता था।

१–स्थानाग, ४।४।३६३

चउव्विहे सघे प० त०—समणा समणीओ सावया सावियाओ।

२–वही, २।१।७२

चरित्तधम्मे दुविहे प० त०—अगारचरित्तधम्मे चेव अणगारचरित्तधम्मे चेव।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ४८२

'नैर्ग्रन्थे' निर्ग्रन्थसम्बन्धिनि 'पावयणे'त्ति प्रवचने श्रावक स इति पालितो विशेषेण कोविद'—पडितो विकोविद।

४–औपपातिक, सूत्र ४१।

५–उत्तराध्ययन, २२।३२।

६–आवश्यक निर्युक्ति, २१४

पोता तह सागरमि वहणाइ।

७–(क) बृहत्कल्प, भाग २, पृ० ३४२।

(ख) आचाराग चूर्णि, पृ० २८१।

सूत्रकृताग, उत्तराध्ययन आदि में दुस्तर-कार्य की समुद्र-यात्रा से तुलना की गई है।[1] नालन्दा के लेप नामक गाहावई के पास अनेक यान-पात्र थे।[2] सिंहलद्वीप, जावा, सुमात्रा आदि मे अनेक व्यापारी जाते थे। ज्ञाता-धर्मकथा (१।९) में जिनपालित और जिनरक्षित के बारह बार लवण समुद्र की यात्रा करने का उल्लेख है। लवण-समुद्र-यात्रा का प्रलम्ब वर्णन ज्ञाता-धर्मकथा (१।१७) में भी है।

श्लोक ६

४—बहत्तर कलाएँ (बावत्तरिं कलाओ [क]) :

बहत्तर कलाओ की जानकारी के लिए देखिए—समवायाग, समवाय ७२।

श्लोक ८

५—वध्य-जनोचित मण्डनो से शोभित (वज्झमण्डणसोभागं [ग]) :

इन शब्दो मे एक प्राचीन परम्परा का संकेत मिलता है। प्राचिन काल मे चोरी करने वाले को कठोर-दण्ड दिया जाता था। जिसे वध की सजा दी जाती थी, उसके गले में कणेर के लाल फूलो की माला पहनाई जाती, उसे लाल कपडे पहनाए जाते, उसके शरीर पर लाल चन्दन का लेप किया जाता और उसे सारे नगर में घुमाते हुए उसके वध्य होने की जानकारी देते हुए उसे श्मशान की ओर ले जाया जाता था।[3]

श्लोक १३

६—(दयाणुकम्पी [क], खन्तिक्खमे [ख]) :

'दयानुकम्पी'—बृहद्वृत्ति के अनुसार दया के दो अर्थ है—

(१) हितोपदेश देना।

(२) रक्षा करना।

जो हितोपदेश और सब प्राणियो की रक्षा—अहिंसा रूप दया—से कम्पन-शील होता है, वह 'दयानुकम्पी' कहलाता है।[4]

'खन्तिक्खमे'—जो क्षान्ति से कुवचनो को सहन करता है, वह 'क्षान्ति-क्षम' कहलाता है, किंतु अशक्ति से सहन करने वाला नहीं।[5]

१—(क) सूत्रकृताग, १।११।५।
(ख) उत्तराध्ययन, ८।६।

२—सूत्रकृताग, २।७।६९।

३—(क) सूत्रकृताग, १।६ वृत्ति पत्र १५०, चूर्णि, पृ० १८८
चोरो रक्तकणवीरकृतमुण्डमालो रक्तपरिधानो रक्तचन्दनोपलिप्तश्च प्रहतवध्यडिण्डिमो राजमार्गेण नीयमानः।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ४८३
वधमर्हति वध्यस्तस्य मण्डनानि—रक्तचन्दनकरवीरादीनि तैः शोभा—तत्कालोचितपरभागलक्षणा यस्यासौ वध्यमण्डनशोभाकस्तम्।

४—बृहद् वृत्ति, पत्र ४८४
दयया—हितोपदेशादिनानाविधया रक्षारूपया वाऽनु कम्पनशीलो दयानुकम्पी।

५—वही, पत्र ४८५-४८६
क्षान्त्या न त्वशक्तया क्षमते—प्रत्यनीकादिभिरुदीरितं दुर्वचनादिकं सहत इति क्षान्तिक्षमः।

श्लोक १४

७–कार्य (कालं [क]) :

यहाँ 'काल' शब्द समयोचित प्रतिलेखनादि कार्य करने के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है ।[1]

श्लोक १५

८–(न सव्व सव्वत्थऽभिरोयएज्जा [ग], न यावि ··गरहं [घ]) :

'न सव्व सव्वत्थऽभिरोयएज्जा'—शान्त्याचार्य के अभिमत से इसके दो अर्थ हैं—

(१) जो कुछ देखे उसी को न चाहे ।

(२) एक बार विशेष कारण से जिसका सेवन करे, उसका सर्वत्र सेवन न करे ।[2]

'न यावि गरह'—इसका अर्थ है कि मुनि गर्हा (परापवाद) की वाञ्छा न करे । कई व्यक्ति ऐसा मानते थे कि गर्हा (आत्म-गर्हा या हीन भावना) से भी कर्म-क्षय होता है । अत उस मत का खण्डन करने के लिए गर्हा का ग्रहण किया गया है—ऐसा टीकाकार का अभिमत है ।[3] इसका दूसरा अर्थ यह भी किया गया है कि परापवाद न करे ।

श्लोक २१

९–प्रधानवान् (सयमवान्) (पहाणवं [ख]) :

यहाँ 'प्रधान' शब्द का प्रयोग सयम के अर्थ में किया गया है । सयम मुक्ति का हेतु है, इसलिए उसे प्रधान कहा गया है । 'प्रधानवान्' अर्थात् सयँमी ।[4]

श्लोक २२

१०–विविक्त लयनों (एकान्त स्थानों) का (विवित्तलयणाइ [क]) :

शान्त्याचार्य ने इसका अर्थ 'स्त्री आदि रहित उपाश्रय' किया है ।[5] लयन का मुख्य अर्थ 'पहाडो में कुरेदा हुआ गृह (गुफा)' होता है । 'लेणी' इसी लयण या लेण का अपभ्र श है ।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४८६
कालमिति—कालोचित प्रत्युपेक्षणादि कुर्वन्निति शेष ।

२–वही, पत्र ४८६
'न सव्व' त्ति सर्वं वस्तु सर्वत्र स्थानेऽभ्यरोचयत, न यथादृष्टाभिलाषुकोऽभूदिति भाव, यदिवा यदेकत्र पुष्टालम्बनत सेवित न तत्सर्वम्—अभिमताहारादि सर्वत्राभिलषितवान् ।

३–वही, पत्र ४८६
इह च गर्हातोऽपि कर्मक्षय इति केचिदतस्तन्मतव्यवच्छेदार्थं गर्हाग्रहण, यद्वा गर्हा—परापवादरूपा ।

४–वही, पत्र ४८७
प्रधान स च सयमो मुक्तिहेतुत्वात् स यस्यास्त्यसौ प्रधानवान् ।

५–वही, पत्र ४८७
'विवित्तलयनानि' स्त्र्यादिविरहितोपाश्रयरूपाणि विविक्तत्वादेव च ।

अध्ययन २२

रहनेमिज्जं

श्लोक १

१–राज-लक्षणों से युक्त (रायलक्खणसजुए घ) :

सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार राजा के लक्षण चक्र, स्वस्तिक, अङ्कुश आदि होते हैं और योग्यता की दृष्टि से त्याग, सत्य, शौर्य आदि गुण।[1] तीसरे श्लोक की वृत्ति में राजा के लक्षण छत्र, चामर, सिंहासन आदि राज-चिह्न बताए गए हैं।[2]

श्लोक ५

२–(लक्खणस्सर ख, अट्ठसहस्सलक्खणधरो ग) :

'लक्खणस्सर'—शान्त्याचार्य ने स्वर के लक्षण सौन्दर्य, गाम्भीर्य आदि माने हैं।[3]

'अट्ठसहस्सलक्खणधरो'—शरीर के साथ-साथ उत्पन्न होने वाले छत्र, चक्र, अङ्कुश आदि रेखा-जनित आकारों को 'लक्षण' कहा जाता है।[4] साधारण मनुष्यों के शरीर में ३२, बलदेव, वासुदेव के १०८, चक्रवर्ती और तीर्थङ्कर के १००८ लक्षण होते है।[5]

श्लोक ६

३–(वज्जरिसहसंघयणो क, समचउरंसो ख) :

'वज्जरिसहसंघयणो'—संहनन का अर्थ है—अस्थि-बन्धन—हड्डियों के बन्धन। इसके छः प्रकार हैं—

(१) वज्र-ऋषभ-नाराच।

(२) ऋषभ-नाराच।

(३) नाराच।

(४) अर्ध नाराच।

(५) कीलिका।

(६) असंप्राप्तसृपाटिका।[6]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४८९

राजेव राजा तस्य लक्षणानि—चक्रस्वस्तिकाङ्कुशादीनि त्यागसत्यशौर्यादीनि वा।

२–वही, पत्र ४८९

राजलक्षणानि—छत्रचामरसिंहासनादीन्यपि गृह्यन्ते।

३–वही, पत्र ४८९

लक्षणानि—सौन्दर्यगाम्भीर्यादीनि।

४–प्रवचनसारोद्धार वृत्ति, पत्र ४१०

जं सरीरेण सह समुप्पन्नं तं लक्खणं।

५–वही वृत्ति, पत्र ४१०-४११।

६–प्रज्ञापना, पद २३।२ सूत्र २९३।

जिसमें सन्धि की दोनों हड्डियाँ आपस में आँटी लगाए हुए हों, उन पर तीसरी हड्डी का वेष्टन हो, चौथी हड्डी की कील उन तीनों को भेद कर रही हुई हो, ऐसे सुदृढतम अस्थि-बन्धन का नाम 'वज्र-ऋषभ-नाराच सहनन' है ।

'समचउरसो'—सस्थान का अर्थ है—शरीर की आकृति । उसके छ प्रकार है—

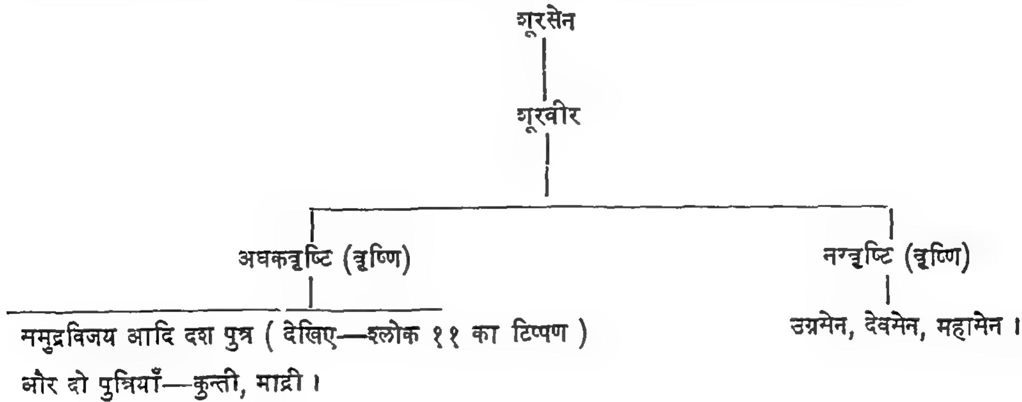
(१) समचतुरस्र ।
(२) न्यग्रोधपरिमण्डल ।
(३) स्वाति (सादि)
(४) वामन ।
(५) कुब्ज ।
(६) हुण्ड ।[1]

पालथी मार कर बैठे हुए जिस व्यक्ति के चारों कोण सम होते हैं, वह 'समचतुरस्र सस्थान' है ।

श्लोक ८

४—पिता उग्रसेन (जणओ क) :

राजीमती के पिता का नाम उग्रसेन था ।[2] उत्तरपुराण के अनुसार उग्रसेन का वश इस प्रकार है[3]—



विष्णुपुराण के अनुसार उग्रसेन के ९ पुत्र और ४ पुत्रियां थीं ।[4]

पुत्रों के नाम—कस, न्यग्रोध, सुनाम, आनकाह्व, शकु, सभूमि, राष्ट्रपाल, युद्धतुष्टि और सुतुष्टिमान् ।

पुत्रियों के नाम—कसा, कसवती, सुतनु और राष्ट्रपालिका ।

'सुतनु' राजीमती का दूसरा नाम है । देखिए—श्लोक सैंतीस का टिप्पण ।

१–प्रज्ञापना, पद २३।२, सूत्र २९३ ।
२–बृहद् वृत्ति, पत्र ४९०
जनकस्तस्या —राजीमत्या उग्रसेन इत्युक्तम् ।
३–उत्तरपुराण, ७०।९३-१०० ।
४–विष्णुपुराण, ४।१४।२०-२१ ।

श्लोक ९

५–(सव्वोसहीहि क, कयकोउयमंगलो ख, दिव्वजुयल ग) :

'सव्वोसहीहि'—शान्त्याचार्य ने स्नान में प्रयुक्त होने वाली निम्न औषधियाँ बतलाई हैं—

(१) जया।
(२) विजया।
(३) ऋद्धि।
(४) वृद्धि आदि।[1]

'कयकोउयमंगलो'—विवाह के पूर्व वर के ललाट से मूशल का स्पर्श करवाना आदि कार्य 'कौतुक' कहलाते हैं और दही, अक्षत, दूब, चन्दन आदि द्रव्य 'मंगल' कहलाते हैं।[2] इनका विवाह आदि मंगल-कार्य में उपयोग होता है।

वाल्मीकीय-रामायण के अनुसार समारोहों पर घर का अलंकरण किया जाता था, जो 'कौतुक-मंगल' कहलाता था।[3]

'दिव्वजुयल'—प्राचीन काल में प्रायः दो ही वस्त्र पहने जाते थे—(१) अन्तरीय—नीचे पहनने के लिए धोती और (२) उत्तरीय—ऊपर ओढ़ने के लिए चद्दर।[4]

श्लोक १०

६–गन्धहस्ती पर (गन्धहत्थिं क) :

गन्धहस्ती सब हस्तियों में प्रधान होता है, इसीलिए इसे ज्येष्ठक (पट्ट-हस्ती) कहा गया है।[5] इसकी गन्ध से दूसरे हाथी भाग जाते हैं या निर्वीर्य हो जाते हैं।

श्लोक ११

७–दसारचक्र से (दसारचक्केण ग) :

समुद्रविजय आदि दस यादव और उनका समूह 'दशार्ह चक्र' कहलाता था।

शान्त्याचार्य तथा अभयदेव सूरि ने 'दसार' का संस्कृत रूप 'दशार्ह' किया है।[6] दशवैकालिक चूर्णि में 'दसार' शब्द ही प्राप्त है।[7]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४९०
सर्वाश्च ता औषधयश्च—जयाविजयर्द्धिवृद्ध्यादयः सर्वौषधयस्ताभिः ।

२–वही, पत्र ४९०
कौतुकानि—ललाटस्य मुशलस्पर्शनादीनि मंगलानि च—दध्यक्षतदूर्वाचन्दनादीनि ।

३–रामायणकालीन संस्कृति, पृ० ३२ ।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ४९०
दिव्ययुगलमिति प्रस्तावाद् दूष्ययुगलम् ।

५–वही, पत्र ४९०
ज्येष्ठमेव ज्येष्ठकम्—अतिप्रशस्यतमं वृद्धं वा गुणैः पट्टहस्तिनमित्यर्थः ।

६–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ४९०
दसारचक्केण त्ति दशार्हचक्रेण यदुसमूहेन ।
(ख) अन्तकृद्दशा १।१, वृत्ति—
दश च ते अर्हाश्च—पूज्या इति दशार्हाः ।

७–दशवैकालिक जिनदास चूर्णि, पृ० ४१
तहा दसारा महुराओ [illegible] बारव[illegible]

समुद्रविजय, अक्षोभ्य, स्तिमित, सागर, हिमवान, अचल, धरण, पूरण, अभिचन्द्र, वसुदेव—ये दस भाई थे।[1] उत्तरपुराण में 'धरण' के स्थान में 'धारण' और 'अभिचन्द्र' के स्थान में 'अभिनन्दन' नाम मिलता है।[2] सम्भवत इन्हीं के कारण 'दसार' शब्द चला किन्तु आगे चलकर वह यदु-समूह के अर्थ में रूढ हो गया। अन्तकृतदशा में 'दसण्ह दसाराण' पाठ मिलता है। इसमें दसार के साथ दस शब्द और जुडा हुआ है। इससे लगता है कि दूसरा शब्द प्रत्येक भाई या यदुवशी के लिए प्रयुक्त होने लगा था।

श्लोक १३

८–वृष्णिपुङ्गव (वण्हिपुगवो घ) :

अन्धक और वृष्णि ये दो भाई थे। वृष्णि अरिष्टनेमि के दादा थे। उनसे वृष्णि-कुल का प्रवर्तन हुआ। अरिष्टनेमि वृष्णि-कुल में प्रधान पुरुष थे। अत उन्हें यहाँ वृष्णिपुङ्गव कहा गया है।[3] दशवैकालिक तथा इस अध्ययन के ४३ वें श्लोक में इनका कुल 'अन्धक-वृष्णि' कहा गया है।[4] अन्धक-वृष्णि-कुल दोनो भाइयो के सयुक्त नाम से प्रचलित था।

उत्तरपुराण में 'अन्धक वृष्टि' शब्द है और यह एक ही व्यक्ति का नाम है। कुशार्थ (कुशार्त ?) देश के सौर्यपुर नगर के स्वामी शूरसेन के शूरवीर नाम का पुत्र था। उसके दो पुत्र हुए अन्धकवृष्टि और नरवृष्टि। समुद्रविजय आदि अन्धकवृष्टि के पुत्र थे।[5]

देखिए—पृ० १५६ श्लोक ८ का टिप्पण।

१–अन्तकृद्दशाग, १।१, वृत्ति—

दसण्ह दसाराण ति तत्रैते दश—

समुद्रविजयोऽक्षोभ्य, स्तिमित: सागरस्तथा।
हिमवानचलश्चैव, धरण पूरणस्तथा॥
अभिचन्द्रश्च नवमो, वसुदेवश्च वीर्यवान्।
वसुदेवानुजे कन्ये, कुन्ती माद्री च विश्रुते॥

२–उत्तरपुराण, ७०।९५-९७

धर्मावान्धकवृष्टेश्च सुभद्रायाश्च तुग्वरा।
समुद्रविजयोऽक्षोभ्यस्तत स्तिमितसागर॥
हिमवान् विजयो विद्वान्, अचलो धारणाह्वय।
पूरण पूरितार्थीच्छो, नवमोऽप्यभिनन्दन॥
वसुदेवोऽन्तिमश्चैव, दशाभूवन् शशिप्रभा।
कुन्ती माद्री च सोमे वा, सुते प्रादुर्बभूवतु॥

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ४९०

'वृष्णिपुगव' यादवप्रधानो भगवानरिष्टनेमिरितियावत्।

४–दशवैकालिक, २।८।

५–उत्तरपुराण ७०।९२-९४

तदा कुशार्थविषये, तद्ध शाम्बरमास्वत।
अवार्यनिजशौर्येण, निर्जिताशेषविद्विष॥
ख्यातशौर्यपुराधीश-सूरसेनमहीपते॥
सुतस्य शूरवीरस्य, धारिण्याश्च तनूद्भवौ।
विख्यातोऽन्धकवृष्टिश्च, पतिर्वृष्टिर्नरादिवाक्॥

श्लोक १४-२२

९—श्लोक १४-२२ :

उत्तराध्ययन के अनुसार अरिष्टनेमि ने वाड़ों में रोके हुए जानवरो को देखा, उनके बारे में सारथि से पूछा। सारथि ने बताया—ये आपके विवाह के भोज के लिए है। अरिष्टनेमि ने इसे अपने लिए उचित न समझा। उन्होने अपने सारे आभरण उतार कर सारथि को दे दिए और वे अभिनिष्क्रमण के लिए तैयार हो गए।

वे जानवर कहाँ रोके हुए थे और किसने रोके थे ? मूल आगम में इसकी कोई चर्चा नही है। सुखबोधा के अनुसार वे उग्रसेन के द्वारा विवाह-मण्डप के आस-पास ही वाडो मे रोके हुए थे।[1]

उत्तरपुराण में इससे भिन्न कल्पना है। उसके अनुसार श्रीकृष्ण ने अरिष्टनेमि को विरक्त करने के लिए बाडो में हिरनो को एकत्रित करवाया था। श्रीकृष्ण ने सोचा—नेमिकुमार वैराग्य का कुछ कारण पाकर भोगो से विरक्त हो जाएँगे। ऐसा विचार कर वे वैराग्य का कारण जुटाने का प्रयत्न करने लगे। उनकी समझ में एक उपाय आया। उन्होने बडे-बडे शिकारियो से पकडवा कर अनेक मृगो का समूह बुलाया और उसे एक स्थान पर इकट्ठा कर उसके चारो ओर बाडा लगवा दो तथा वहाँ जो रक्षक नियुक्त किए थे उनसे कह दिया कि यदि भगवान् नेमिनाथ दिशाओ का अवलोकन करने के लिए आएँ और इन मृगो के विषय में पूछें तो उनसे साफ-साफ कह देना कि आपके विवाह में मारने के लिए चक्रवर्ती ने यह मृगो का समूह बुलवाया है।

एक दिन नेमिकुमार चित्रा नामकी पालकी पर आरूढ होकर दिशाओ का अवलोकन करने के लिए निकले। वहाँ उन्होने घोर करुण स्वर से चिल्ला-चिल्लाकर इधर उधर दौडते, प्यासे, दीनदृष्टि से युक्त तथा भय से व्याकुल हुए मृगो को देख दयावश वहाँ के रक्षको से पूछा कि यह पशुओ का बहुत भारी समूह यहाँ एक जगह किसलिए रोका गया है ? उत्तर में रक्षको ने कहा—"हे देव। आपके विवाहोत्सव में व्यय करने के लिए महाराज श्रीकृष्ण ने इन्हे बुलाया है।" यह सुनते ही भगवान् नेमिनाथ विचार करने लगे कि ये पशु जगल में रहते हैं, तृण खाते हैं और कभी किसी का कुछ अपराध नही करते हैं फिर भी लोग इन्हे अपने भोग के लिए पीडा पहुँचाते है। ऐसा विचार कर वे विरक्त हुए और लौट कर अपने घर आ गए। रत्नत्रय प्रकट होने से उसी समय लोकान्तिक देवो ने आकर उन्हें समझाया। अपने पूर्व-भवो का स्मरण कर वे भय से काँप उठे। उसी समय उन्होने आकर दीक्षा-कल्याण का उत्सव किया।[2]

किन्तु इसकी अपेक्षा उत्तराध्ययन का विवरण अधिक हृदयस्पर्शी है।

श्लोक १५

१०—(जीवियन्तं तु सपत्ते क, ममट्टा ख, महापन्ने ग, मारहिं घ) :

'जीवियन्तं तु सपत्ते'—यहाँ निकट भविष्य में मारे जाने वाले या जीवन की अन्तिम दशा में होने वाले प्राणियों को 'मृत्यु-सम्प्राप्त' कहा है।[3]

१—सुखबोधा, पत्र २७९।

२—उत्तरपुराण, ७१।१५२-१६८।

३—बृहद् वृत्ति, पत्र ४९०

जीवियन्तानो—जीवितान्तो मरणमित्यर्थस्तं सम्प्राप्तानिव सम्प्राप्तान्, अतिप्रत्यासन्नत्वात्तस्य, यद्वा जीवितान्तः—पर्यन्तवर्ती नात्यन्तमनुप्राप्तान् सम्प्राप्तान्।

'मसट्ठा'—(१) मास के लिए या (२) मांस से मास का उपचय होता है इसलिए अपना मास बढाने के लिए—ये दोनो 'मसट्ठा' के अर्थ हो सकते हैं।[1]

'महापन्ने'—इसका प्रकरणगत अर्थ है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान से सम्पन्न।[2]

'सारहिं'—अरिष्टनेमि राजभवन से गन्ध-हस्ती पर आरूढ होकर चले थे परन्तु सम्भवत विवाह-मण्डप के समीप पहुचकर वे रथ पर चढ गए—यह इस 'सारथि' शब्द से सूचित होता है या 'महाव्रत' के अर्थ मे ही सारथि शब्द प्रयुक्त हुआ है।[3]

श्लोक १७

११–भद्र (भद्दा ख) :

वे प्राणी 'श्रेष्ठ' या 'निरपराध' थे इसलिए उन्हें यहाँ 'भद्र' कहा गया है। कुत्ते, सियार आदि अभद्र माने जाते हैं।[4]

श्लोक १६

१२–परलोक में (परलोगे घ) :

भगवान् अरिष्टनेमि चरम-शरीरी और विशिष्ट-ज्ञानी थे। फिर भी 'परलोक में मेरे लिए श्रेयस्कर नहो होगा'—यह जो कहा—उसका तात्पर्य यह है कि यह पापकारी प्रवृत्ति है।[5] किसी भी पापकारी प्रवृत्ति के लिए—'यह परलोक में श्रेयस्कर नहो होगा'—इस सामान्य उक्ति का प्रयोग किया जाता है।

परलोक का एक अथ पशु-जगत् भी है।[6] इस सन्दर्भ में प्रस्तुत चरणो का अर्थ—'यह मेरा कार्य पशु-जगत् के प्रति कल्याणकर नही होगा'—यह भी किया जा सकता है।

श्लोक २२

१३–शिविका रत्न में (सीयारयणं ख) :

इस शिविका का नाम 'उत्तरकुरु' था और इसका निर्माण देवो ने किया था।[7]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४९०-४९१

'मासार्थं' मासनिमित्त च भक्षयितव्यान् मासस्यैवातिगृद्धिहेतुत्वेन तद्भक्षणनिमित्तत्वादेवमुक्त, यदिवा 'मासेनैव मासमुपचीयते' इति प्रवादतो मासमुपचित स्यादिति मासार्थम्।

२–वही, पत्र ४९१

महती प्रज्ञा— प्रक्रमान्मतिश्रुतावधिज्ञानत्रयात्मिका यस्यासौ महाप्रज्ञ।

३–वही, पत्र ४९१

'सारथि' प्रवर्त्तयितार प्रक्रमाद्गन्धहस्तिनो हस्तिपकमितियावत्, यद्वाऽत एव तदा रथारोहणमनुमीयत इति रथप्रवर्त्तयितारम्

४–वही, पत्र ४९१

'भद्दा उ' त्ति 'भद्रा एव' कल्याणा एव न तु श्वश्रृगालादया एव कुत्सिता, अनपराधतया वा भद्रा।

५–वही, पत्र ४९१-४९२

नैव 'निस्सेस' त्ति 'निःश्रेयस' कल्याण परलोके भविष्यति, पापहेतुत्वादस्येति भाव, भवान्तरेषु परलोकभीरुत्वस्यात्यन्तमभ्यस्तत-यैवमभिधानमन्यथा चरमशरीरत्वादतिशयज्ञानित्वाच्च भगवत कुत एवविधचिन्तावसर ?

६–आचाराग, २।११, चूर्णि पृ० ३७१।

७–बृहद् वृत्ति, पत्र ४९२

'शिविकारत्न' देवनिर्मितमुत्तरकुरुनामकमिति गम्यते।

श्लोक ४३

१८–भोजराज की (भोयरायस्स क) :

विष्णुपुराण में कस को भोजराज कहा है।[1] कीर्तिराज (वि० १४९५ से पूर्ववर्ती) द्वारा रचित नेमिनाथ चरित में उग्रसेन को भोजराज तथा राजीमती को भोज-पुत्री या भोजराज-पुत्री कहा गया है।[2] कुछ प्रतियों में 'भोगरायस्स' पाठ मिलता है। वहाँ या तो लिपिदोष के कारण ऐसा हुआ है अथवा यह हो सकता है कि किसी परम्परा में 'ज' को 'ग' आदेश कर 'भोगरायस्स' पाठ किया गया। जहाँ 'भोगरायस्स' पाठ है वहाँ भी उसका सस्कृत रूप 'भोजराजस्य' ही होना चाहिए।

१–विष्णु पुराण, ३।५।२६।

२–नेमिनाथ चरित

इतश्चाऽम्भोज तुल्याऽक्षो, भोजराजाग्रभूरभूत्।
उग्रसेनो महीजानिरुग्रसेनासमन्वित ॥९।४३॥
स्निग्धा विदग्धा नृपभोजपुत्री, साम्राज्यलक्ष्मी स्वजन च हित्वा।
पितृननुज्ञाप्य च माननीयान्, बभूव दीक्षाऽभिमुखोऽथनेमि ॥१०।४४॥
अथभोजनरेन्द्रपुत्रिका, प्रविमुक्ता प्रभुणा तपस्विनी।
व्यलपद् गलदश्रुलोचना, शिथिलांगा लुठिता महीतले ॥११।१॥

अध्ययन २३
केसिगोयमिज्जं

श्लोक २

१–कुमार-श्रमण (कुमारसमणे ग) :

कुमार शब्द का सम्बन्ध 'कुमार श्रमण' और 'केशीकुमार'—इस प्रकार दोनो रूपों में किया जा सकता है। शान्त्याचार्य ने प्रथम रूप मान्य किया है।[1]

श्लोक ११

२–आचार-धर्म की व्यवस्था (आयारधम्मपणिही ग) :

यहाँ 'आचार' का अर्थ है—वेष-धारण आदि बाह्य क्रिया-कलाप और प्रणिधि का अर्थ है—व्यवस्थापन। इसका समग्र अर्थ है—बाह्य क्रिया-कलापात्मक धर्म का व्यवस्थापन।[2] बाह्य क्रिया-कलापों को धर्म इसलिए कहा है कि वे भी आत्मिक-विकाश के हेतु बनते हैं।

श्लोक १२

३–श्लोक १२ :

मिलाइए—स्थानांग ४।१।२६६।

श्लोक १३

४–(अचेलगो ग, सन्तरुत्तरो ग) :

'अचेलग'—इसके दो अर्थ हैं—

(१) साधना का वह प्रकार जिसमें वस्त्र नहीं रखे जाते।

(२) साधना का वह प्रकार जिसमें श्वेत और अल्प-मूल्य वाले वस्त्र रखे जाते हैं।

उक्त अचेलक शब्द के द्वारा इन दोनों अर्थों की सूचना दी गई है।[3]

सन्तरुत्तर—शान्त्याचार्य ने 'सन्तर' का अर्थ विशेषित (विशेषता युक्त) और 'उत्तर' का अर्थ प्रधान किया है। दोनो की तुलना [illegible] भगवान् महावीर ने अचेल या कुचेल (केवल श्वेत और अल्प-मूल्य वस्त्र वाले) धर्म का निरूपण किया

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४९८
केशिनामा कुमारश्चासावपरिणीततया श्रमणश्च तपस्वितया कुमारश्रमणो।

२–वही, पत्र ४९९
आचार—आचारो—वेषधारणादिको बाह्यः क्रियाकलाप इत्यर्थः स एव सुगतिधारणाद्धर्मः, प्राप्यते हि बाह्यक्रियामात्रादपि नवमग्रैवेयकं निवृत्या, तस्य प्रणिधि—व्यवस्थापनमाचारधर्मप्रणिधि।

३–देखे, सन्तरुत्तर का अगला पाद-टिप्पण।

और भगवान् पार्श्वनाथ ने प्रमाण और वर्ण की विशेषता से विशिष्ट तथा मूल्यवान् वस्त्र वाले धर्म का अर्थात् सचेल धर्म का निरूपण किया।[1]

आचाराग (१।८।४।५१) तथा कल्पसूत्र (सू० २५६) में 'सतरुत्तर' शब्द मिलता है। शीलाकसूरि ने आचाराग के 'सतरुत्तर' शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है—उत्तर अर्थात् प्रावरणीय, सान्तर अर्थात् भिन्न-भिन्न समयो में। मुनि अपनी आत्मा को तोलने के लिए सान्तरोत्तर भी होता है। वह वस्त्र को क्वचित काम में लेता है, क्वचित् पास में रखता है और सर्दी की आशका से उसका विसर्जन नही करता।[2]

कल्पसूत्र के चूर्णिकार और टिप्पणकार ने 'अन्तर' शब्द के तीन अर्थ किए हैं—(१) सूती वस्त्र, (२) रजोहरण और (३) पात्र तथा उत्तर शब्द के दो अर्थ किए हैं—(१) कम्बल और (२) ऊपर ओढने का वस्त्र-उत्तरीय।[3] वहाँ प्रकरण प्राप्त अर्थ यह है कि भीतर सूती कपडा और ऊपर ऊनी कपडा ओढकर भिक्षा के लिए जाए। शान्त्याचार्य ने जो अर्थ किया है वह कुचेल शब्द की तुलना में सगत हो सकता है किन्तु अचेल के साथ उसकी पूरी सगति नही बैठती। वर्षा के समय भीतर सूती कपडा और उसके ऊपर ऊनी कपडा ओढकर बाहर जाने की परम्परा रही है।[4] शान्त्याचार्य ने भी ३० वें श्लोक के लिंग शब्द का अर्थ वर्षा-कल्प आदि रूप-वेष किया है[5] और ३२ वें श्लोक के 'नानाविध-विकल्पन' एवं 'यात्रार्थ' की व्याख्या में भी इसका उल्लेख किया है।[6] यहाँ अचेल और सचेल का वर्णन है इसलिए अन्तर का अर्थ अतरीय—अधोवस्त्र और उत्तर का अर्थ उत्तरीय—ऊपर का वस्त्र भी किया जा सकता है।

इस प्रकार सान्तरोत्तर के तीन अर्थ प्राप्त होते हैं—

(१) उत्तराध्ययन बृहद् वृत्ति—श्वेत और अल्प मूल्य वस्त्र का निरूपण करने वाला धर्म।

(२) आचाराग वृत्ति—वस्त्र को क्वचित् ओढने वाला और क्वचित् अपने पास में रखने वाला।

(३) कल्पसूत्र चूर्णि और टिप्पण—सूती वस्त्र को भीतर और ऊनी वस्त्र को ऊपर ओढकर भिक्षा के लिए जाने वाला।

ये तीनो अर्थ भिन्न दिशाओ में विकसित हुए है।

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ५००
'अचेलकश्च' उक्तन्यायेनाविद्यमानचेलक कुत्सितचेलको वा यो धर्मो वर्धमानेन देशित इत्यपेक्ष्यते, तथा 'जो इमो' त्ति पूर्ववद् यश्चाय सान्तराणि—वर्द्धमानस्वामिसत्कयतिवस्त्रापेक्षया कस्यचित्कदाचिन्मानवर्णविशेषतो विशेषितानि उत्तराणि च—महाधनमूल्यतया प्रधानानि प्रक्रमाद्वस्त्राणि यस्मिन्नसौ सान्तरोत्तरो धर्म पार्श्वेन देशित इतीहापेक्ष्यते।

२—आचाराग १।८।४।५१ वृत्ति, पत्र २५२—
अथवा क्षेत्रादिगुणाद् हिमकणिनि वाते वाति सति आत्मपरितुलनार्थ शीतपरीक्षार्थंच सातरोत्तरो भवेत्—सान्तरमुत्तर—प्रावरणीय यस्य स तथा, क्वचित् प्रावृणोति क्वचित् पार्श्ववर्ति बिभर्त्ति, शीताशंकया नाद्यापि परित्यजति।

३—(क) कल्पसूत्र चूर्णि, सूत्र २५६।
(ख) कल्पसूत्र टिप्पनक, सूत्र २५६।

४—(क) ओघनिर्युक्ति, गाथा ७२६ वृत्ति।
(ख) धर्मसग्रह वृत्ति, पत्र ६६
कम्बलस्य च वर्षासु बहिर्निर्गताना तात्कालिकदृष्टावप्कायरक्षणमुपयोग, यतो बालवृद्धग्लाननिमित्त वर्षत्यपि जलधरे भिक्षायै असह्योच्चारप्रस्रवणपरिष्ठापनार्थं च नि सरता कम्बलावृत्तदेहाना न तथाविधाप्कायविराधनेति।

५—बृहद् वृत्ति, पत्र ५०३
लिंग—वर्षाकल्पादिरूपो वेष।

६—(क) वही, पत्र ५०३
'नानाविधविकल्पन' प्रक्रमान्नानाप्रकारोपकरणपरिकल्पन, नानाविध हि वर्षाकल्पाद्युपकरण यथावद्यतिष्वेव समवतीति।
(ख) वही, पत्र ५०३
यात्रा—सयमनिर्वाहस्तदर्थं, विना हि वर्षाकल्पादिक वृष्ट्यादौ सयमबाधैव स्यात।

श्लोक १७

५—(पंचम कुसतणाणि ख) :

यहाँ पाँच प्रकार के तृणो का उल्लेख किया गया है—

(१) शाली—कमल शाली आदि का पलाल।

(२) व्रीहिक—साठी चावल आदि का पलाल।

(३) कोद्रव—कोद्रव धान्य, कोदो का पलाल।

(४) रालक—कगु का पलाल।

(५) अरण्य-तृण—श्यामाक आदि।[1]

श्लोक १९

६—(पासण्डा ख) :

पासंड शब्द श्रमण का पर्यायवाची नाम है।[2] जैन और बौद्ध-साहित्य मे 'पाषंड' शब्द श्रमण-सम्प्रदाय के अर्थ मे प्रयुक्त होता था। आयारो (४) में 'परपासंड पसंसा' और 'परपासंड संथवो' ये प्रयोग मिलते है। उत्तराध्ययन १७।१७ मे 'परपासण्ड' शब्द प्रयुक्त हुआ है। यहाँ पासंड के साथ 'पर' शब्द है, उससे 'आत्म-पाषंड' और 'पर-पाषंड'—ये दो प्रकार स्वय फलित हो जाते हैं।

अशोक अपने बारहवें शिलालेख मे कहता है—"देवोंका प्रिय प्रियदर्शी राजा सब प्रकार के श्रमणों की (पाषंडियो की), परिव्राजकों की और गृहस्थों की दान-धर्म से तथा अन्य अनेक प्रकारो मे पूजा करता है। पर देवोंका-प्रिय दान और पूजा को उतना महत्त्व नही देता जितना सब पाषंडियों की सार-वृद्धि को। सार-वृद्धि के अनेक प्रकार हैं। उसका मूल है वाचा-गुप्ति। उदाहरणार्थ आत्म-पाषण्डि की भरमार न करे और पर-पाषण्डि की निंदा न होने दे। यदि कोई झगड़े का कारण उपस्थित हो भी जाए तो उसे महत्त्व न दे। 'पर-पाषंड' का मान रखना अनेक प्रकार से उचित है। ऐसा करने से वह 'आत्म-पाषंड' की निश्चय से अभिवृद्धि करता है और 'पर-पाषंड' पर भी उपकार करता है।"

स्थानांग १०।७६० मे दस धर्मों में चौथा धर्म 'पाषंड-धर्म' है। अभयदेव सूरी ने इसका अर्थ—'पाखंडियो का आचार' किया है।[3] स्थानांग १०।७६४ में दस प्रकार के स्थविर बतलाए गए है। उनसे तुलना करने पर पाषण्ड का अर्थ 'धर्म सम्प्रदाय' होना चाहिए।

ग्राम-धर्म	ग्राम-स्थविर।
नगर-धर्म	नगर-स्थविर।
राष्ट्र-धर्म	राष्ट्र-स्थविर।
पाषंड-धर्म	प्रशास्तृ-स्थविर।
कुल-धर्म	कुल-स्थविर।
गण-धर्म	गण-स्थविर।
संघ-धर्म	संघ-स्थविर।

१—प्रवचनसारोद्धार, गाथा ६७५
तणपणगं पुण भणियं जिणेहिं जियरागदोसमोहेहिं।
साली वीहि कोद्दव रालय रण्णे तणाइं च ॥

२—दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा १६८, १६४।

३—स्थानांग १०।७६० वृत्ति, पत्र ४८०
पाषण्डधर्मः पाषण्डिनामाचारः।

सख्याक्रम से प्रशास्तृ-स्थविर चौथा है। इसका अर्थ है—धर्मोपदेशक। दस धर्मों में इसकी सख्याक्रम से पाषड-धर्म से तुलना होती है, इसलिए इसका अर्थ 'धर्म-सम्प्रदाय' ही होना चाहिए।

शान्त्याचार्य ने यहाँ[1] और तिरसठवें[2] श्लोक की व्याख्या में पाषण्ड का अर्थ 'व्रती' किया है।

मनुस्मृति में पाषण्ड का प्रयोग गर्हित अर्थ में हुआ है।[3] उसका तात्पर्य श्रमण-परम्परा के अर्चित शब्द का अर्थापकर्ष करना ही हो सकता है।

श्लोक २६

७–(उज्जुजडा क, वक्कजडा ख, उज्जुपन्ना ग) :

'उज्जुजडा'—ऋजु और जड। प्रथम तीर्थङ्कर के साधु 'ऋजु-जड' होते हैं। वे स्वभावत ऋजु होते हैं, अत उन्हें तत्व का बोध कराना अत्यन्त दुष्कर होता है।[4]

'वक्कजडा'—वक्र और जड। अन्तिम तीर्थङ्कर के मुनि 'वक्र-जड' होते है। वे स्वभावत वक्र होते हैं, उनके लिए तत्व का पालन अत्यन्त दुष्कर होता है।[5]

'उज्जुपन्ना'—ऋजु और प्राज्ञ। मध्यवर्ती बाईस तीर्थङ्करों के मुनि 'ऋजु-प्राज्ञ' होते है। वे स्वभावत सरल, सुबोध्य और आचार-प्रवण होते हैं।[6]

स्थानाङ्ग में बताया गया है कि प्रथम तथा अन्तिम तीर्थङ्कर के शासन में पाँच स्थान दुर्गम होते है—

(१) धर्म-तत्त्व का आख्यान करना।
(२) तत्त्व का अपेक्षा की दृष्टि से विभाग करना।
(३) तत्त्व का युक्तिपूर्वक निदर्शन करना।
उत्पन्न परीषहो को सहन करना।
(५) धर्म का आचरण करना।[7]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ५०१
पाषण्ड—व्रत तद्योगात् 'पाषण्डा' शेषव्रतिनः।

२–वही, पत्र ५०८
कुप्रवचनेषु—कपिलादिप्ररूपितकुत्सितदर्शनेषु पाषण्डिनो—व्रतिन।

३–मनुस्मृति, ४।३०
पाषण्डिनो विकर्मस्थान्बैडालव्रतिकाञ्छठान्।
हैतुकान्बकवृत्तीश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्॥

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ५०२
'उज्जुजड्डे' त्ति, ऋजवश्च प्राञ्जलतया जडाश्च तत एव दुष्प्रतिपाद्यतया ऋजुजडा।

५–वही, पत्र ५०२
'वक्कजड्डा य' त्ति, वक्राश्च वक्रबोधतया जडाश्च तत एव स्वकानेककुविकल्पतो विवक्षितार्थप्रतिपत्त्यक्षमतया वक्रजडा।

६–वही, पत्र ५०२।
'ऋजुप्रज्ञा' ऋजवश्च ते प्रकर्षेण जानन्तीति प्रज्ञाश्च सुखेनैव विवक्षितमर्थं ग्राहयितुं शक्यन्त इति ऋजुप्रज्ञा।

७–स्थानाङ्ग, ५।१।३९६।

मध्यवर्ती तीर्थङ्करों के शासन में पाँच स्थान सुगम होते हैं—

(१) धर्म-तत्त्व का आख्यान करना।

(२) तत्त्व का अपेक्षा दृष्टि से विभाग करना।

(३) तत्त्व का युक्तिपूर्वक निदर्शन करना।

(४) उत्पन्न परीषहों को सहन करना।

(५) धर्म का आचरण करना।[1]

श्लोक ५५

८—साहसिक (साहसिओ क) :

[illegible] के समय में [illegible] अर्थ 'बिना विचारे काम करने वाला' रहा है।[2] तदनन्तर इसके अर्थ का उत्कर्ष हुआ और आज इसका [illegible] 'साहस वाला' किया गया जाता है।

१—[illegible]

२—[illegible]

[illegible]

अध्ययन २४

पवयण-माया

श्लोक १

१–आठ प्रवचन-माताएँ (अट्ठ पवयणमायाओ क) :

'मायाओ' शब्द के 'माता' और 'मातर'—ये दो संस्कृत रूप किए जा सकते है। पाँच समितियों और तीन गुप्तियों—इन आठों में सारा प्रवचन समा जाता है, इसलिए इन्हें 'प्रवचन माता' कहा जाता है। इन आठों से प्रवचन का प्रसव होता है, इसलिए इन्हें 'प्रवचन-माता' कहा जाता है। पहले में 'समाने' का अर्थ है और दूसरे में 'माँ' का।[1] इसी अध्ययन के तीसरे श्लोक में 'समाने' के अर्थ में प्रयोग है।[2] 'माँ' का अर्थ वृत्ति में ही मिलता है।

श्लोक ३

२–आठ समितियाँ (अट्ठ समिईओ क) :

इसमें 'समितियाँ' आठ बतलाई गई हैं। प्रश्न होता है कि समितियाँ पाँच ही है तो यहाँ आठ का कथन क्यों ?

टीकाकार ने इसका समाधान करते हुए कहा है कि 'गुप्तियाँ' केवल निवृत्त्यात्मक ही नही होती, किन्तु प्रवृत्त्यात्मक भी होती हैं इसी अपेक्षा से उन्हें समिति कहा गया है। जो समित होता है वह नियमत गुप्त होता है और जो गुप्त होता है वह समित होता भी है और नहीं भी।[3]

श्लोक ७

३–युग-मात्र (गाड़ी के जुए जितनी) (जुगमित्तं ख) :

'युग' का अर्थ है शरीर या गाडी का जुआ। चलते समय साधु की दृष्टि युग-मात्र होनी चाहिए अर्थात् शरीर या गाडी के जुए जितनी लम्बी होनी चाहिए। जुआ जैसे प्रारम्भ में सकडा और आगे से विस्तृत होता है वैसे ही साधु की दृष्टि होनी चाहिए।[4] युग-मात्र का

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ५१३-५१४
ईर्यासमित्यादयो माता अभिधीयन्ते 'मातम्'—अन्तरवस्थित 'खलु' निश्चित 'प्रवचन' द्वादशाङ्ग 'यत्र' इति यासु। तदेव निर्युक्ति-कृता मातशब्दो निक्षिप्त, यदा तु 'माय' त्ति पदस्य मातर इति—संस्कारस्तदा द्रव्यमातरो जनन्यो भावमातरस्तु समितय, एताभ्य प्रवचनप्रसवात्, उक्त हि—'एया पवयणमाया दुवालसग पसूयातो' त्ति।

२–उत्तराध्ययन, २४।३
दुवालसग जिणक्खाय, माय जत्थ उ पवयण।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ५१४
गुप्तीनामपि 'प्रवचनविधिना मार्गव्यवस्थापनमुन्मार्गगमननिवारण गुप्ति' रिति वचनात्कथचित्सच्चेष्टात्मकत्वात्समितिशब्दवाच्यत्व-मस्तीत्येवमुपन्यास, यत्तु भेदेनोपादान तत्समितीना प्रवीचाररूपत्वेन गुप्तीना प्रवीचाराप्रवीचारात्मकत्वेनान्योऽन्य कथचिद्भेदात्, तथा चागम —

"समिओ णियमा गुत्तो गुत्तो समियत्तणमि भइयव्वो।
कुसलवइमुदीरतो ज वइगुत्तोऽवि समिओऽवि॥"

४–दशवैकालिक, ५।१।३, जिनदास चूर्णि पृ० १६८।

मध्यवर्ती तीर्थङ्करो के शासन में पाँच स्थान सुगम होते हैं—

(१) धर्म-तत्त्व का आख्यान करना ।

(२) तत्त्व का अपेक्षा दृष्टि से विभाग करना ।

(३) तत्त्व का युक्तिपूर्वक निदर्शन करना ।

(४) उत्पन्न परीषहो को सहन करना ।

(५) धर्म का आचरण करना ।[1]

श्लोक ५५

८—साहसिक (साहसिओ क) :

सूत्रकार के समय में इसका अर्थ 'बिना विचारे काम करने वाला' रहा है ।[2] तदन्तर इसके अर्थ का उत्कर्ष हुआ और आज इसका अर्थ 'साहस वाला' किया गया जाता है ।

१—स्थानाङ्ग, ५।१।३९६ ।

२—बृहद् वृत्ति, पत्र ५०७

सहसा असमीक्ष्य प्रवर्त्तत इति साहसिक' ।

अध्ययन २४

पवयण-माया

श्लोक १

१–आठ प्रवचन-माताएँ (अट्ठ पवयणमायाओ क) :

'मायाओ' शब्द के 'माता' और 'मातर'—ये दो सस्कृत रूप किए जा सकते हैं। पाँच समितियों और तीन गुप्तियों—इन आठों में सारा प्रवचन समा जाता है, इसलिए इन्हे 'प्रवचन माता' कहा जाता है। इन आठों से प्रवचन का प्रसव होता है, इसलिए इन्हें 'प्रवचन-माता' कहा जाता है। पहले में 'समाने' का अर्थ है और दूसरे में 'माँ' का।[1] इसी अध्ययन के तीसरे श्लोक में 'समाने' के अर्थ में प्रयोग है।[2] 'माँ' का अर्थ वृत्ति में ही मिलता है।

श्लोक ३

२–आठ समितियाँ (अट्ठ समिईओ क) :

इसमें 'समितियाँ' आठ बतलाई गई हैं। प्रश्न होता है कि समितियाँ पाँच ही है तो यहाँ आठ का कथन क्यों ?

टीकाकार ने इसका समाधान करते हुए कहा है कि 'गुप्तियाँ' केवल निवृत्त्यात्मक ही नहीं होती, किन्तु प्रवृत्त्यात्मक भी होती हैं इसी अपेक्षा से उन्हें समिति कहा गया है। जो समित होता है वह नियमत गुप्त होता है और जो गुप्त होता है वह समित होता भी है और नहीं भी।[3]

श्लोक ७

३–युग-मात्र (गाड़ी के जुए जितनी) (जुगमित्तं ख) :

'युग' का अर्थ है शरीर या गाडी का जुआ। चलते समय साधु की दृष्टि युग-मात्र होनी चाहिए अर्थात् शरीर या गाडी के जुए जितनी लम्बी होनी चाहिए। जुआ जैसे प्रारम्भ में सकडा और आगे से विस्तृत होता है वैसे ही साधु की दृष्टि होनी चाहिए।[4] युग-मात्र का

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ५१३-५१४

ईर्यासमित्यादयो माता अभिधीयन्ते 'मातम्'—अन्तरवस्थित 'खलु' निश्चित 'प्रवचन' द्वादशाङ्ग 'यत्र' इति यासु। तदेव निर्युक्तिकृता मातशब्दो निक्षिप्त, यदा तु 'माय' त्ति पदस्य मातर इति—सस्कारस्तदा द्रव्यमातरो जनन्यो भावमातरस्तु समितय, एताभ्य प्रवचनप्रसवात्, उक्त हि—'एया पवयणमाया दुवालसग पसूयातो' त्ति।

२–उत्तराध्ययन, २४।३

दुवालसग जिणक्खाय, माय जत्थ उ पवयण।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ५१४

गुप्तीनामपि 'प्रवचनविधिना मार्गव्यवस्थापनमुन्मार्गगमननिवारण गुप्ति' रिति वचनात्कथचित्सच्चेष्टात्मकत्वात्समितिशब्दवाच्यत्वमस्तीत्येवमुपन्यास, यत्तु भेदेनोपादान तत्समितीना प्रवीचाररूपत्वेन गुप्तीना प्रवीचाराप्रवीचारात्मकत्वेनान्योऽन्य कथचिद्भेदात्, तथा चागम —

"समिओ णियमा गुत्तो गुत्तो समियत्तणमि भइयव्वो।
कुसलवइमुदीरतो ज वइगुत्तोऽवि समिओऽवि॥"

४–दशवैकालिक, ५।१।३, जिनदास चूर्णि पृ० १६८।

दूसरा अर्थ है 'चार हाथ प्रमाण'। इसका तात्पर्य है कि मुनि चार हाथ प्रमाण भूमि को देखता हुआ चले।[1] विशुद्धिमार्ग में भी भिक्षु को युगमात्र-दर्शी कहा है—"इसलिए लोलुप स्वभाव को त्याग, आँखें नीची किए, युगमात्र-दर्शी—चार हाथ तक देखनेवाला हो। धीर (भिक्षु) ससार में इच्छानुरूप विचरने का इच्छुक सपदानचारी बने।"[2] आयुर्वेद के ग्रन्थो में भी युगमात्र भूमि को देखकर चलने का विधान है।[3] मिलाइए—दसवेआलिय (भाग २), ५।१।३ का टिप्पण, सख्या १५।

कही-कही 'युग' के स्थान पर 'कुक्कुट के उडान की दूरी जितनी भूमि पर दृष्टि डालकर चलने' की बात मिलती है। इस प्रकार चलने वाले भिक्षु 'कौक्केटिक' कहलाते थे।[4]

श्लोक १२

४–परिभोगैषणा में दोष-चतुष्क (परिभोयंमि चउक्कं ग):

इस चरण में यह बताया गया है कि मुनि परिभोग-एषणा में चार वस्तुओं—(१) पिंड, (२) शय्या-वसति, (३) वस्त्र और (४) पात्र—का विशोधन करे।[5]

दशवैकालिक (६।४७) में अकल्पनीय पिंड आदि चारो को लेने का निषेध किया गया है। प्रकारान्तर से चतुष्क के द्वारा सयोजना आदि दोषो का ग्रहण किया गया है। यद्यपि भोजन के सयोजना, अप्रमाण, अगार, धूम, कारण आदि पाँच दोष हैं, फिर भी शान्त्याचार्य ने अंगार और धूम दोनो को एक-कोटिक मान यहाँ इनकी सख्या चार मानी है।

श्लोक १३

५–(ओहोवहोवग्गहियं क, भण्डग ख):

'ओहोवहोवग्गहिय'—उपधि दो प्रकार के होते है—

(१) ओघ-उपधि।

(२) औपग्रहिक-उपधि।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ५१५ :
'युगमात्र च' चतुर्हस्तप्रमाण प्रस्तावात्क्षेत्र प्रेक्षेत।

२–विशुद्धिमार्ग, १।२, पृ० ६८
लोलुप्पचारञ्च पहाय तस्मा ओक्खित्तचक्खू युगमत्तदस्सी।
आकङ्खमानो भुवि सेरिचार चरेय्य धीरो सपदानचार॥

३–अष्टांगहृदय, सूत्र स्थान २।३२
विचरेद् युगमात्रदृक्।

४–पाणिनि अष्टाध्यायी ४।४।४६।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ५१७
'परिभोग' इति परिभोगैषणाया चतुष्क पिण्डशय्यावस्त्रपात्रात्मकम्, उक्त हि—'पिंड सेज्ज च वत्थ च, चउत्थ पायमेव य' त्ति, विशोधयेत्, इह चतुष्कशब्देन, तद्विषय उपभोग उपलक्षित, ततस्त विशोधयेदिति, कोऽर्थ ?—उद्गमादिदोषरयागत शुद्धमेव चतुष्क परिभुञ्जीत, यद्विवोद्गमादीना दोषोपलक्षणत्वात् 'उग्गम' त्ति उद्गमदोषान् 'उप्पायण' ति उत्पादनादोषान् 'एसण' त्ति एषणादोषान् विशोधयेत्, 'चउक्क च' सयोजनाप्रमाणाङ्गारधूमकारणात्मकम्, अङ्गारधूमयोर्मोहनीयान्तर्गतत्वेनैकतया विवक्षितत्वात्।

जो स्थायी रूप से अपने पास रखा जाता है उसे 'ओघ-उपधि' और जो विशेष कारण वश रखा जाता है उसे 'औपग्रहिक-उपधि' कहा जाता है ।[1]

जिन-कल्पिक मुनियो के बारह, स्थविर-कल्पिक मुनियो के चौदह और साध्वियो के पच्चीस ओघ-उपधि होते है । इससे अधिक उपधि रखे जाते है, वे सब औपग्रहिक होते है ।[2]

'भण्डग' (भण्डक) का अर्थ 'उपकरण' है । ओघनिर्युक्ति के अनुसार उपधि, उपग्रह, सग्रह, प्रग्रह, अवग्रह, भण्डक, उपकरण और करण—ये सब पर्यायवाची है ।[3]

श्लोक १६-१८

६—श्लोक १६-१८ :

इन श्लोको में परिष्ठापन विधि का समुचित निर्देश हुआ है। मुनि कहाँ और कैसे परिष्ठापन करे, इसकी विधि बतलाते हुए कहा है कि गाँव और उद्यानो से दूरवर्ती स्थानो में, कुछ समय पूर्व दग्ध स्थानों में मल आदि का विसर्जन करे। क्योकि स्वल्पकाल पूर्व के दग्ध-स्थान ही सर्वथा अचित्त (जीव-रहित) होते है । जो चिरकाल दग्ध होते हैं, वहाँ पृथ्वीकाय आदि के जीव पुन उत्पन्न हो जाते है ।[4]

पन्द्रह कर्मादानों में 'दव-दाह' एक प्रकार है । यह दो प्रकार का होता है—

(१) व्यसन से—अर्थात् फल की अपेक्षा किये बिना ही वनो को अग्नि से जला डालना ।

(२) पुण्य-बुद्धि से—अर्थात् कोई व्यक्ति मरते समय यह कह कर मरे की मेरे मरने के बाद इतने धर्म-दीपोत्सव अवश्य करना । ऐसी स्थिति में भी वन आदि जलाये जाते थे । अथवा धान्य आदि की समृद्धि के लिये खेतो में उगे हुए तृण आदि जलाये जाते थे ।[5]

उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ उस समय प्रचलित थी, अत मुनियो को दग्ध-स्थान सहज मिल जाते थे ।

१–ओघनिर्युक्ति, गाथा ६६७ ।
ओहे उवग्गहमि य दुविहो उवही उ होइ नायव्वो।

२–वही, गाथा ६७१-६७७ ।

३–वही, गाथा ६६६
उवही उवग्गहे सगहे य तह पग्गहुग्गहे चेव ।
भडग उवगरणे य करणे वि य हुति एगट्ठा ॥

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ५१८
'अचिरकालकृते च' दाहादिना स्वल्पकालनिर्वर्त्तिते, चिरकालकृते हि पुन समूर्छन्त्येव पृथ्वीकायादय ।

५–प्रवचन सारोद्धार, गाथा २६६ वृत्ति, पत्र ६२ ।

अध्ययन २५

जन्नइज्जं

श्लोक ४

१–यज्ञ (जन्न [घ]) :

यज्ञ वैदिक परम्परा का आधार है। शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ को सबसे श्रेष्ठ-कर्म कहा है।[1]

कर्म-काण्डी मीमासको का अभिमत है कि जो यज्ञ को छोड देता है, वह श्रौत-धर्म से वञ्चित हो जाता है। भगवान् महावीर के समय यज्ञो का प्रचलन अधिक था। केवल उत्तराध्ययन मे ही यज्ञो का विरोध दो स्थलो में पाया जाता है। श्रौत-यज्ञो के बन्द होने में जैन मुनियो के प्रयत्न बहुत महत्त्वपूर्ण रहे हैं।

लोकमान्य तिलक के अनुसार—"उपनिषदो में प्रतिपादित ज्ञान के कारण मोक्ष-दृष्टि मे इन कर्मो की गौणता आ चुकी थी (गीता २।४१-४६)। यही गौणता अहिंसा-धर्म का प्रचार होने पर आगे अधिकाधिक बढती गई। भागवत-धर्म में स्पष्टतया प्रतिपादित किया गया है कि यज्ञ-याग वेद-विहित है, तो भी उनके लिए पशु-वध नही करना चाहिए। धान्य से ही यज्ञ करना चाहिए। (देखिए—महाभारत शान्तिपर्व ३३६।१० और ३३७)। इस कारण (तथा कुछ अशो में आगे जैनियों के भी ऐसे ही प्रयत्न करने के कारण) श्रौत-यज्ञ मार्ग की आज-कल यह दशा हो गई है कि काशी सरीखे बडे-बडे धर्म-क्षेत्रो मे भी श्रौताग्निहोत्र पालन करने वाले अग्नि-होत्री बहुत ही थोडे दीख पडते है और ज्योतिष्टोम आदि पशु यज्ञो का होना तो दस-बीस वर्षो में कभी-कभी सुन पडता है।'[2]

धर्मानन्द कौशाम्बी के अनुसार यज्ञ के उन्मूलन की दिशा में पहला प्रयत्न भगवान् पार्श्व ने किया "इस प्रकार के लम्बे-चौडे यज्ञ लोगो को कितने अप्रिय होते जा रहे थे, इसके और भी बहुत-से उदाहरण बौद्ध-साहित्य मे मिलते है। इन यज्ञो से ऊब कर जो तापस जगलों में चले जाते थे वे यदि कभी ग्रामो में आते भी थे तो लोगों को उपदेश देने के फेर में नही पडते थे। पहले पहल ऐसा प्रयत्न सम्भवत पार्श्वनाथ ने किया। उन्होने जनता को दिखा दिया कि यज्ञ याग धर्म नही, चार याम ही सच्चा धर्म-मार्ग है। यज्ञ-याग से ऊबी हुई सामान्य जनता ने तुरन्त इस धर्म को अपनाया।"[3]

श्लोक ७

२—विप्र, द्विज (विप्पा [क], दिया [ख]) :

सामान्यत 'विप्र' और 'द्विज'—ये दोनो शब्द 'ब्राह्मण' के अर्थ में प्रयुक्त होते है। किन्तु इनके निरुक्त भिन्न-भिन्न है। जो व्यक्ति ब्राह्मण-जाति में उत्पन्न होते हैं उन्हें 'विप्र' कहा जाता है। यह 'जाति-वाचक' सज्ञा है। जो व्यक्ति ब्राह्मण-जाति में उत्पन्न होते है और योग्य वय को प्राप्त हो यज्ञोपवीत धारण करते है—सस्कारित होते है, उन्हे 'द्विज' कहा जाता है। यह एक विशिष्ट सस्कार है जो कि दूसरा जन्म ग्रहण करने के सदृश माना जाता है।[4]

१–शतपथ ब्राह्मण १।७।४।५ :
यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म।

२–गीता रहस्य, पृ० ३०५।

३–भारतीय सस्कृति और अहिसा, पृ० ६१।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ५२३ :
विप्रा जातित , ये 'द्विजा ' सस्कारापेक्षया द्वितीयजन्मान ।

यह भी सम्भव है कि जो वेदो के ज्ञाता होते थे, उन्हें 'विप्र' और जो यज्ञ आदि करने-कराने में निपुण होते थे, उन्हें 'द्विज' कहा जाता था। यह भाव स्वयं प्रस्तुत श्लोक के प्रथम और द्वितीय चरण में स्पष्ट है—

जे य वेयविऊ विप्पा,

जन्नट्ठा य जे दिया।

३–ज्योतिष आदि वेद के छहों अंगों को जानने वाले (जोइसंगविऊ ग) :

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष—ये छः वेदांग कहलाते हैं। इनमें शिक्षा वेद की नासिका है, कल्प हाथ, व्याकरण मुख, निरुक्त श्रोत्र, छन्द पैर और ज्योतिष नेत्र हैं। इसीलिए वेद-शरीर के ये अंग कहलाते हैं। इनके द्वारा वेदार्थ को समझने में मूल्यवान् सहायता प्राप्त होती है। वेद के प्रधान प्रतिपाद्य यज्ञों से ज्योतिष का विशिष्ट सम्बन्ध है।

आचार्य ज्योतिष (श्लोक ३६) में कहा गया है—"यज्ञ के लिए वेदों का अवतरण है और काल के उपयुक्त सन्निवेश में यज्ञों का सम्बन्ध है, इसलिए ज्योतिष को 'काल-विधायक-शास्त्र' कहा जाता है। फलतः ज्योतिष जानने वाला ही यज्ञ का ज्ञाता है।"[1] इसीलिए यहाँ ज्योतिषांग का प्रयोग किया गया है।[2]

श्लोक ९

४–श्लोक ९ :

यह श्लोक दशवैकालिक, अ० ५।२ के २७ और २८ श्लोक के उपदेश की याद दिलाता है

बहु परघरे अत्थि विविहं खाइमसाइमं।

न तत्थ पडिओ कुप्पे इच्छा देज्ज परो न वा॥

सयणासण वत्थं वा भत्तपाणं व संजए।

अदेंतस्स न कुप्पेज्जा पच्चक्खे वि य दीसओ॥

श्लोक १०

५–श्लोक १० :

यह श्लोक सूत्रकृताङ्ग के निम्न अंश से तुलनीय है

'से भिक्खू धम्मं किट्टमाणे—नन्नत्थ कम्मनिज्जरट्ठए धम्ममाइक्खेज्जा' (२।१)

श्लोक ११

६–श्लोक ११ :

इस श्लोक के चारों चरणों में 'मुह' शब्द का प्रयोग हुआ है। पहले और तीसरे चरण में प्रयुक्त 'मुह' का अर्थ 'प्रधान' और दूसरे तथा चौथे चरण में उसका अर्थ 'उपाय' है।[3]

श्लोक १६

७–श्लोक १६ :

इस श्लोक में चौदहवें श्लोक में पूछे गए चार प्रश्नों के उत्तर दिए गए हैं। पहला प्रश्न है—वेदों में प्रधान तत्त्व क्या है ? इसके

१–वैदिक साहित्य, पृ० २३३।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ५२३

अत्र च ज्योतिषस्योपादानं प्राधान्यख्यापकम्।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ५२४।

उत्तर में कहा गया है—वेदो मे प्रधान तत्त्व अग्निहोत्र है । अग्निहोत्र का अर्थ विजयघोष जानता था किन्तु जयघोष उसे अग्निहोत्र का वह अर्थ समझाना चाहते थे जिसका प्रतिपादन आरण्यक-काल में होने लगा था । आत्म-यज्ञ के सदर्भ मे जयघोष ने कहा है—"दही का सार जैसे नवनीत होता है वैसे ही वेदो के सार आरण्यक हैं । उनमे सत्य, तप, सतोष, सयम, चारित्र, आर्जव, क्षमा, धृति, श्रद्धा और अहिंसा—यह दस प्रकार का धर्म बतलाया गया है । वही सही अर्थ मे अग्निहोत्र है ।" इसमे यह फलित होता है कि जैन-मुनियो की दृष्टि में वेदो की अपेक्षा आरण्यको का अधिक महत्त्व था । वेदो को वे पशुबन्ध—छाग आदि पशुओ के वध के हेतुभूत मानते थे ।[१] आरण्यक-काल में वैदिक-ऋषियों का झुकाव आत्म-यज्ञ की ओर हुआ, इसलिए जयघोष ने वेदों की अपेक्षा आरण्यको की विशेषता का प्रतिपादन किया । शान्त्याचार्य ने आरण्यक तथा ब्रह्माण्डपुराणात्मक विद्या को ब्राह्मण-सम्पदा माना है ।[२]

दूसरा प्रश्न है यज्ञ का उपाय (प्रवृत्ति—हेतु) क्या है ? इसके उत्तर मे कहा गया है—यज्ञ का उपाय 'यज्ञार्थी' है । इस बात को विजयघोष भली-भाँति जानता था किन्तु जयघोष ने उसे यह बताया कि आत्म-यज्ञ के सदर्भ मे इन्द्रिय और मन का सयम करने वाले याजक की प्रधानता है ।

तीसरा प्रश्न है—नक्षत्रो मे प्रधान क्या है ? इसके उत्तर में कहा गया—नक्षत्रो में प्रधान चन्द्रमा है । इसकी तुलना गीता के—**नक्षत्राणामह शशी** (१०।२१) से होती है ।

चौथा प्रश्न है—धर्मो का उपाय (आदि कारण) कौन है ? इसके उत्तर मे कहा गया—धर्मो का उपाय काश्यप है । यहाँ काश्यप शब्द के द्वारा भगवान् ऋषभ का ग्रहण किया गया है । वृत्तिकार ने इसके समर्थन मे एक आरण्यक-वाक्य उद्धृत किया है—"**तथा चारण्यकम्—ऋषभ एव भगवान् ब्रह्मा, तेन भगवता ब्रह्मणा स्वयमेव चीर्णानि ब्रह्माणि, यदा च तपसा प्राप्त पद यद् ब्रह्मकेवल तदा च ब्रह्मर्षिणा प्रणीतानि, कानि पुनस्तानि ब्रह्माणि ?**"[३] इत्यादि ।

किन्तु यह वाक्य किस आरण्यक का है यह हमे ज्ञान नही हो सका । वृत्ति-रचनाकाल में हो सकता है, यह किसी आरण्यक में हो और वर्तमान सस्करणो में प्राप्त न हो । या यह भी हो सकता है कि जिन प्रतियो में यह वाक्य प्राप्त था वे आज उपलब्ध न हो ।

वृत्तिकार ने अपने प्रतिपाद्य का समर्थन ब्रह्माण्डपुराण के द्वारा भी किया है ।[४]

स्थानाङ्ग में सात मूल गोत्र बतलाए गए है । उनमें पहला काश्यप है ।[५] भगवान् ऋषभ ने वार्षिक तप के पारणा में 'काश्य' अर्थात् रस पिया था, इसलिए वे 'काश्यप' कहलाए । मुनि सुव्रत और नेमिनाथ इन दो तीर्थङ्करो के अतिरिक्त सभी तीर्थङ्कर काश्यप गोत्री थे ।[६]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ५२८
पशूना—छागाना बन्धो—विनाशाय नियमन यैर्हेतुभिस्तेऽमी पशुबन्धा', 'श्वेत छागमालभेत वायव्या दिशि भूतिकाम' इत्यादिवाक्योपलक्षिता ।

२–वही, पत्र ५२६
विद्यते—ज्ञायत आभिस्तत्त्वमिति विद्या—आरण्यकब्रह्माण्डपुराणात्मिकास्ता एव ब्राह्मणसम्पदो, विद्या ब्राह्मणसम्पद, तात्विक-ब्राह्मणाना हि निष्किचनत्वेन विद्या एव सम्पद ।

३–वही, पत्र ५२५ ।

४–वही, पत्र ५२५
"इह हि इक्ष्वाकुकुलवशोद्भवेन नाभिसुतेन मरुदेव्या नन्दनेन महादेवेन ऋषभेण दशप्रकारो धर्म स्वयमेव चीर्ण, केवलज्ञानलम्भाच्च महर्षिणो ये परमेष्ठिनो वीतरागा स्नातका निर्ग्रन्था नैष्ठिकास्तेषा प्रवर्तित आख्यात प्रणीतस्त्रेतायामादौ ।"

५–स्थानाङ्ग ७।५५१
सत्त मूलगोत्ता प० त०—कासवा, गोतमा, वच्छा, कोच्छा, कोसिता, मडवा, वासिट्ठा ।

६–वही, ७।५५१ वृत्ति
काशे भव: काश्य —रसस्त पीतवानिति काश्यपस्तदपत्यानि काश्यपा , मुनिसुव्रतनेमिवर्जा जिना ।

धनजय नाममाला में भगवान् महावीर का नाम 'अन्त्य-काश्यप'[1] है। भगवान् ऋषभ 'आदि-काश्यप' हुए। उनसे धर्म का प्रवाह चला, वे धर्मो के आदि-कारण हैं, इसलिए उन्हे धर्मो का आदि-कारण कहा गया है।[2]

सूत्रकृताङ्ग के एक श्लोक से इस तथ्य की पुष्टि होती है। वहाँ कहा गया है कि अतीत में जो तीर्थंकर हुए तथा भविष्य में जो होगे वे सब 'काश्यप' के द्वारा प्ररूपित धर्म का अनुसरण करेंगे।[3]

१–धनजय नाममाला, श्लोक ११५
सन्मतिर्महतिर्वीरो, महावीरोऽन्त्यकाश्यप ।
नाथान्वयो वर्धमानो, यत्तीर्थमिह साम्प्रतम् ॥

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ५२५
धर्माणा 'काश्यप' भगवानृषभदेव 'मुखम्' उपाय कारणात्मक, तस्यैवादितत्प्ररूपकत्वात।

३–सूत्रकृताङ्ग, १।२।३।२०
अभविंसु पुरावि भिक्खवो आएसा वि भवति सुव्वया ।
एयाइ गुणाइ आहु ते कासवस्स अणुधम्मचारिणो ॥

अध्ययन २६

सामायारी

श्लोक १-७

१—श्लोक १-७ :

दस सामाचारी का वर्णन भगवती (२५।७), स्थानाङ्ग (१०।७४९) और आवश्यक निर्युक्ति में भी है। उत्तराध्ययन में सामाचारी का क्रम उनसे भिन्न है। उनकी प्रथम तीन सामाचारियो को यहाँ छठा, सातवाँ और आठवाँ स्थान प्राप्त है। नौवें सामाचारी का नाम भी भिन्न है। भगवती आदि में उसका नाम 'निमत्रण' है। यहाँ उसका नाम 'अभ्युत्थान' है।

आवश्यक निर्युक्ति में सामाचारी तीन प्रकार की बतलाई गई है—(१) ओघ सामाचारी, (२) दस-विध सामाचारी और (३) पद-विभाग सामाचारी।[1]

'ओघ सामाचारी' का प्रतिपादन ओघनिर्युक्ति मे है। उसके सात द्वार है—(१) प्रतिलेखन, (२) पिण्ड, (३) उपधि-प्रमाण, (४) अनायतन(अस्थान)-वर्जन, (५) प्रतिसेवना—दोपाचरण, (६) आलोचना और (७) विशोधि।[2]

'पद-विभाग सामाचारी' छेद सूत्रो मे कथित विषय है। 'दस-विध सामाचारी' का वर्णन इस अध्ययन में है।

आवश्यकी, नैषेधिकी

सामान्य विधि यह है कि मुनि जहाँ ठहरा हो उस उपाश्रय से बाहर न जाए। विशेष विधि के अनुसार आवश्यक काय होने पर वह उपाश्रय से बाहर जा सकता है। किन्तु बाहर जाते समय इस सामाचारी का ध्यान रखते हुए वह आवश्यकी करे—आवश्यकी का उच्चारण करे।[3] 'आवश्यक कार्य के लिए बाहर जा रहा हूँ'—इसे निरन्तर ध्यान में रखे, अनावश्यक कार्य में प्रवृत्ति न करे। आवश्यकी का प्रतिपक्ष शब्द है नैषेधिकी। कार्य से निवृत्त होकर जब वह स्थान में प्रवेश करे तो नैषेधिकी का उच्चारण करे। 'मैं आवश्यक कार्य से निवृत्त हो चुका हूँ, अब मैं प्रवृत्ति के समय कोई अकरणीय कार्य हुआ हो उसका निषेध करता हूँ, उससे अपने आपको दूर करता हूँ'—इस भावना के साथ वह स्थान में प्रवेश करता है।[4] यह साधुओ के गमनागमन की सामाचारी है। गमन और आगमन काल में उसका लक्ष्य अबाधित रहे इसका इन दो सामाचारियो में सम्यक् चिन्तन है।

१—आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ६६५।

२—ओघनिर्युक्ति, २

पडिलेहण च पिंड, उवहिपमाण अणाययणवज्ज।
पडिसेवण मालोअण, जह य विसोही सुविहियाण॥

३—बृहद् वृत्ति, पत्र ५३४

'गमने' तथाविधालम्बनतो बहिर्निःसरणे आवश्यकेषु—अशेषावश्यकर्त्तव्यव्यापारेषु सत्सु भवाऽऽवश्यकी, उक्त हि—

"आवस्सिया उ आवस्सएहि सव्वेहि जुत्तजोगस्से" त्यादि, ता 'कुर्याद्' विदध्यात्।

४—वही, पत्र ५३४

स्थीयतेऽस्मिन्निति स्थानम्—उपाश्रयस्तस्मिन् प्रविशन्निति शेष, कुर्यात्, का ?—'नैषेधिकी' निषेधन निषेध—पापानुष्ठानेभ्य आत्मनो व्यावर्त्तन तस्मिन् भवा नैषेधिकी, निषिद्धात्मन एतत्सम्भवात्, उक्त हि—

"जो होइ निसिद्धप्पा निसीहिया तस्स भावओ होइ।"

आपृच्छा, प्रतिपृच्छा

सामान्य विधि यह है कि उच्छ्वास और निश्वास के सिवाय शेष सब कार्यों के लिए गुरु की आज्ञा लेनी चाहिए।[1] यहाँ आज्ञा के दो स्थान बतलाए गए है—

(१) स्वयकरण।

(२) परकरण।

प्रथम प्रवृत्ति को 'स्वयकरण' तथा अपर प्रवृत्ति को 'परकरण' कहा जाता है। स्वयकरण के लिए आपृच्छा (प्रथम बार पूछने) तथा परकरण के लिए प्रतिपृच्छा (पुन पूछने) का विधान है।[2]

आवश्यक निर्युक्ति के अनुसार प्रथम बार या द्वितीय बार किसी भी प्रवृत्ति के लिए गुरु से आज्ञा प्राप्त करने को 'आपृच्छा' कहा जाता है। प्रयोजनवश पूर्व-निषिद्ध कार्य करने की आवश्यकता होने पर गुरु से उसकी आज्ञा प्राप्त करने को 'प्रतिपृच्छा' कहा जाता है।[3] गुरु के द्वारा किसी कार्य पर नियुक्त किए जाने पर उसे प्रारम्भ करते समय पुन गुरु की आज्ञा लेनी चाहिए—यह भी प्रतिपृच्छा का आशय है।[4]

छन्दना, अभ्युत्थान

मुनि को भिक्षा में जो प्राप्त हो उसके लिए अन्य साधुओं को निमन्त्रित करना चाहिए तथा जो आहार प्राप्त न हो उसे लाने जाए तब दूसरे साधुओं से पूछना चाहिए 'क्या मैं आपके लिए भोजन लाऊँ ?' इन दोनों सामाचारियो को 'छन्दना' और 'अभ्युत्थान' कहा जाता है। अभ्युत्थान के अर्थ में निमत्रण का भी प्रयोग किया जाता है।[6]

इच्छाकार

सघीय व्यवस्था में परस्पर सहयोग लिया-दिया जाता है, किन्तु वह बल-प्रेरित न होकर इच्छा-प्रेरित होना चाहिए।[7] औत्सर्गिक-विधि

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ५३५

उच्छ्वासनिश्वासौ विहाय सर्वकार्येष्वपि स्वपरसम्बन्धिषु गुरव प्रष्टव्या।

२—वही, पत्र ५३४

आङिति—सकलकृत्याभिव्याप्त्या प्रच्छना आप्रच्छना—इदमह कुर्यां न वेत्येवरूपा ता स्वयमित्यात्मन करण—कस्यचिद्विवक्षित-कार्यस्य निर्वर्त्तन स्वयकरण तस्मिन्, तथा 'परकरणे' अन्यप्रयोजनविधाने प्रतिप्रच्छना।

३—आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ६९७

आपुच्छणा य कज्जे, पुव्वनिसिद्धेण होइ पडिपुच्छा।

४—बृहद् वृत्ति, पत्र ५३४

गुरुनियुक्तोऽपि हि पुन प्रवृत्तिकाले प्रतिपृच्छत्येव गुरु, स हि कार्यान्तरमप्यादिशेत् सिद्ध वा तदन्यत स्यादिति।

५—वही, पत्र ५३४,५३५

(क) छन्दना प्राग्गृहीतद्रव्यजातेन शेषयतिनिमन्त्रणात्मिका।

(ख) अभीत्याभिमुख्येनोत्थानम्—उद्यमनमभ्युत्थान तच्च आचार्यग्लानबालादीना यथोचिताहारभेषजादिसम्पादनम्, इह च सामान्याभिधानेऽप्यभ्युत्थान निमन्त्रणारूपमेव परिगृह्यते।

६—आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ६९७

पुव्वगहिएण छदण, निमतणा होअगहिएण।

७—(क) आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ६७३

अहय तुब्भ एअ, कज्ज तु करेमि इच्छकारेण।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ५३५

इच्छा—स्वकीयोऽभिप्रायस्तया करण—तत्कार्यनिर्वर्त्तनमिच्छाकार, 'सारणे' इत्यौचित्यत आत्मन परस्य वा कृत्य प्रति प्रवर्त्तने, तत्रात्मसारणे यथेच्छाकारेण युष्मच्चिकीर्षित कार्यमिदमह करोमीति।

के अनुसार बल प्रयोग सर्वथा वर्जित है। बड़ा साधु छोटे साधु से और छोटा साधु बड़े साधु से कोई काम कराना चाहे तो उसे 'इच्छाकार' का प्रयोग करना चाहिए—'यदि आपकी इच्छा हो तो मेरा काम आप करें', ऐसा कहना चाहिए।[1] आपवादिक-मार्ग में आज्ञा और बलाभियोग का व्यवहार भी किया जा सकता है।[2]

मिथ्याकार

साधक के द्वारा भूल होना संभव है किन्तु अपनी भूल का भान होते ही उसे 'मिथ्याकार' का प्रयोग करना चाहिए।[3] जो दुष्कृत को मिथ्या मानकर उससे निवृत्त होता है, उसी का दुष्कृत मिथ्या होता है।

तथाकार

जो मुनि कल्प और अकल्प को जानता है, महाव्रत में स्थित होता है, उसे 'तथाकार' का प्रयोग करना चाहिए। गुरु जब सूत्र पढ़ाएँ, सामाचारी आदि का उपदेश दें, सूत्र का अर्थ बताएँ अथवा कोई बात कहें तब तथाकार का प्रयोग करना चाहिए—'आप जो कहते हैं वह अवितथ है—सच है' यों कहना चाहिए।[4]

उपसंपदा

प्राचीन काल में साधुओं के अनेक गण थे। किन्तु व्यवस्था की दृष्टि से एक गण का साधु दूसरे गण में नहीं जा सकता था।[5] इसके कुछ अपवाद भी थे। आपवादिक-विधि के अनुसार तीन कारणों से दूसरे गण में जाना विहित था। दूसरे गण में जाने को उपसंपदा कहा जाता था। ज्ञान की वर्त्तना (पुनरावृत्ति या गुणन), संधान (त्रुटित ज्ञान को पूर्ण करने) और ग्रहण (नया ज्ञान प्राप्त करने) के लिए जो उपसंपदा स्वीकार की जाती उसे 'ज्ञानार्थ उपसंपदा' कहा जाता था। इसी प्रकार दर्शन की वर्त्तना (स्थिरीकरण), संधान और दर्शन विषयक शास्त्रों के ग्रहण के लिए जो उपसंपदा स्वीकार की जाती, उसे 'दर्शनार्थ उपसंपदा' कहा जाता था। वैयावृत्त्य और तपस्या की विशिष्ट आराधना के लिए जो उपसंपदा स्वीकार की जाती, उसे 'चारित्रार्थ उपसंपदा' कहा जाता था।[6]

१—आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ६७७

आणा बलाभिओगो, निग्गंथाण न कप्पए काउं।
इच्छा पउंजिअव्वा, सेहे रायणिए य तहा॥

२—वही, गाथा ६७७ वृत्ति, पत्र ३४४

अपवादतस्त्वाज्ञाबलाभियोगावपि दुर्विनीते प्रयोक्तव्यौ, तेन च सहोत्सर्गतः संवास एव न कल्पते, बहुस्वजनादिकारणप्रतिबद्धतया त्वपरित्याज्ये अयं विधिः, प्रथममिच्छाकारेण योज्यते अकुर्वन्नाज्ञया पुनर्बलाभियोगेनेति।

३—वही, गाथा ६८२

संजमजोगे अब्भुट्ठिअस्स, जं किंचि वितहमायरिअं।
मिच्छा एअंति विआणिऊण मिच्छत्ति कायव्वं॥

४—वही, गाथा ६८९ :

वायणपडिसुणणाए, उवएसे सुत्तअत्थकहणाए।
अवितहमेअंति तहा, पडिसुणणाए अ तहकारो॥

५—बृहद् वृत्ति, पत्र ५३५

'अच्छणे' त्ति आसने प्रक्रमादाचार्यान्तरादिसन्निधौ अवस्थाने उप—सामीप्येन सम्पादनं—गमनं सम्पदादिवाक्विवपि उपसंपद्—इयन्तं कालं भवदन्तिके मयाऽऽसितव्यमित्येवरूपा।

६—आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ६९८,६९९

उवसंपया य तिविहा, नाणे तह दंसणे चरित्ते अ।
दंसणनाणे तिविहा, दुविहा य चरित्तअट्ठाए॥
वत्तणा संधणा चेव, गहणं सुत्तत्थतदुभए।
वेयावच्चे खमणे, काले आवक्कहाइ अ॥

श्लोक ८

२—(पुव्विल्लमि चउब्भाए [क], आइच्चंमि समुट्ठिए [ख]) :

'पुव्विल्लमि चउब्भाए' यह आठवें तथा ईक्कीसवें दोनो श्लोको का प्रथम चरण है। शान्त्याचार्य ने आठवें श्लोक की व्याख्या में इसका अर्थ 'पौन-पौरुषी'[1] तथा इक्कीसवें की व्याख्या में इसका अर्थ 'प्रथम-प्रहर'[2] किया है। किन्तु बाईसवें श्लोक में पात्र-प्रतिलेखना का निर्देश है, वहाँ, पौन-पौरुषी के लिए 'पोरिसीए चउब्भाए' पाठ है और इक्कीसवें श्लोक में जहाँ वस्त्र-प्रतिलेखना का निर्देश है, वहाँ 'पुव्विल्लमि चउब्भाए' पाठ है। अत आठवें श्लोक में वस्त्र-प्रतिलेखना का ही निर्देश होना चाहिए। स्वाध्याय या वैयावृत्य का निर्देश वस्त्र-प्रतिलेखना के पश्चात् आचार्य से लिया जाता है।[3]

शान्त्याचार्य ने 'पुव्विल्लमि चउब्भाए' का वैकल्पिक अर्थ 'प्रथम-प्रहर' में तथा 'भण्डय पडिलेहित्ता' का अर्थ 'वस्त्र-प्रतिलेखना' किया है।[4] इक्कीसवें श्लोक के सदर्भ में यह वैकल्पिक अर्थ ही सगत लगता है।

जयाचार्य के अनुसार दिन के प्रथम चतुर्थ भाग का अर्थ 'प्रथम प्रहर का प्रथम चतुर्थ भाग' है।[5] साधारणतया यह कालमान सूर्योदय के २ घडी ४८ मिनट तक का है। ३ घण्टा १२ मिनट का प्रहर होने से ४८ मिनट का कालमान पूरा चौथा भाग होता है। जब दिन का प्रहर ३ घण्टा ३० मिनट का होता है, उस समय चौथा भाग ५२½ मिनट का होता है। उस समय ४८ मिनट चौथे भाग से कुछ कम होता है।

जयाचार्य का अभिप्राय उत्तरवर्ती साहित्य और परम्परा पर आधारित है। प्राचीन परम्परा के अनुसार वस्त्र-प्रतिलेखना सूर्योदय के साथ समाप्त हो जाती थी। इसीलिए शान्त्याचार्य ने लिखा है कि बहुतर प्रकाश होने से सूर्य के अनुत्थान या अनुदय को ही उत्थान या उदय कहा गया है।[6]

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ५३६
'पुव्विल्लमि'त्ति पूर्वस्मिश्चतुर्भागे आदित्ये 'समुत्थिते' समुद्गते, इह च यथा दशाविकलोऽपि पट पट एवोच्यते, एव किञ्चिद्नोऽपि चतुर्भागश्चतुर्भाग उक्त, ततोऽयमर्थ —बुद्धया नमश्चतुर्धा विभज्यते, तत्र पूर्वदिक्सबद्धे किञ्चिदूननभश्चतुर्भागे यदादित्य समुदेति तदा, पादोनपौरुष्यामित्युक्त भवति।

२—वही, पत्र ५४०
'पूर्वस्मिंश्चतुर्भागे' प्रथमपौरुषीलक्षणे प्रक्रमाद् दिनस्य।

३—ओघनिर्युक्ति वृत्ति, पत्र ११५
उक्ता वस्त्रप्रत्युपेक्षणा, तत्समाप्तौ च किं कर्त्तव्यमित्यत आह—'समत्तपडिलेहणाए सज्झाओ' समाप्तायां प्रत्युपेक्षणायां स्वाध्याय कर्त्तव्य सूत्रपौरुषीत्यर्थ पादोनप्रहर यावत्। इदानीं पात्रप्रत्युपेक्षणामाह।

४—बृहद् वृत्ति, पत्र ५३६
यद्वा पूर्वस्मिन्नभश्चतुर्भागे आदित्ये समुत्थिते इव समुत्थिते, बहुतरप्रकाशीभवनात्तस्य, भाण्डमेव भाण्डक ततस्तदिव धर्मद्रविणोपार्जनाहेतुत्वेन मुखवस्त्रिकावर्षाकल्पादीह भाण्डकमुच्यते, तत्प्रतिलेख्य।

५—उत्तराध्ययन जोड, पत्र ३७
दिवस तणा पहिला पोहर हैं माहि। धुरला चौथा भाग मे ताहि।
एतले दोय घडी ने विदेह। सूर्य उग्या थी ए लेह॥ ३२॥
वस्त्रादिक उपगरण सुमड। पडिलेही रुडी रीत सुमड।
पडिलेहणा किया पछे तिवार। गुरु प्रतिवदि करी नमस्कार॥३३॥

६—बृहद् वृत्ति, पत्र ५३६।

ओघनिर्युक्ति में प्रभातकालीन प्रतिलेखना-काल के चार अभिमतों का उल्लेख मिलता है—

(१) सूर्योदय का समय—प्रभास्फाटन का समय।
(२) सूर्योदय के पश्चात्—प्रभास्फाटन होने के पश्चात्।
(३) परस्पर जब मुख दिखाई दे।
(४) जिस समय हाथ की रेखा दिखाई दे।[1]

ये अनादेश माने गए हैं। निर्णायक पक्ष यह है कि प्रतिक्रमण के पश्चात्—

(१) मुख-वस्त्रिका, (२) रजोहरण, (३-४) दो निषद्याएँ—एक सूत्र की आभ्यन्तर निषद्या और दूसरी बाहरी पाद-प्रोञ्छन, (५) चोलपट्टक, (६-७-८) तीन उत्तरीय, (९) सस्तारक पट्ट और (१०) उत्तर-पट्ट की प्रतिलेखना के अनन्तर ही सूर्योदय हो जाय, वह उस (प्रतिलेखना) का काल है।[2] बहुमान्य अभिमत यही रहा है।

३–भाण्ड-उपकरणों की (भण्डयं ग) :

पौन-पौरुषी की प्रतिलेखना के प्रकरण में 'भण्डक' का अर्थ 'पात्र आदि उपकरण' तथा प्रभातकालीन प्रतिलेखना के प्रकरण में उसका अर्थ 'पछेवडी आदि उपकरण' होता है।

४–प्रतिलेखना करे (पडिलेहित्ता ग) :

प्रतिलेखना और प्रमार्जना ये दोनो परस्पर सम्बन्धित है। जहाँ प्रतिलेखना का निर्देश होता है, वहाँ प्रमार्जना स्वयं आ जाती है और जहाँ प्रमार्जना का निर्देश होता है, वहाँ प्रतिलेखना स्वय प्राप्त होती है। प्रतिलेखना का अर्थ है 'दृष्टि से देखना' और प्रमार्जन का अर्थ है 'झाडकर साफ करना'। पहले प्रतिलेखना और तत्पश्चात् प्रमार्जना की जाती है।

प्रतिलेखनीय

शरीर (खडे होते, बैठते और सोते समय), उपाश्रय, उपकरण, स्थण्डिल (मल-मूत्र के परिस्थापन की भूमि), अवष्टम्भ और मार्ग—ये प्रतिलेखनीय है—इनकी प्रतिलेखना की जाती है।[3] उपकरण-प्रतिलेखना दो प्रकार की होती है—(१) वस्त्र-प्रतिलेखना और (२) पात्र-प्रतिलेखना।[4] पात्र-प्रतिलेखना का क्रम और विधि तेईसवें श्लोक में प्रतिपादित है। वस्त्र-प्रतिलेखना की विधि चौबीस से अठाईसवें श्लोक तक प्रतिपादित है। ओघनिर्युक्ति में गाथा २८८ से २९५ (पत्र ११७-११९) तक पात्र-प्रतिलेखना का विवरण है और गाथा २६४ से २६९ (पत्र १०८-१११) तक वस्त्र-प्रतिलेखना का विवरण है।

१–ओघनिर्युक्ति, वृत्ति गा० २६९,२७०
अरुणावासग पुव्व परोप्पर पाणिपडिलेहा।
एते उ अणाएसा अधारे उग्गएविहु न दीसे॥

२-(क) ओघनिर्युक्ति, गा० २७०
मुहरयनिसिज्जचोले, कप्पतिगदुपट्टथुई सूरो।
(ख) प्रवचनसारोद्धार, गाथा ५९० वृत्ति, पत्र १६६
प्रतिक्रमणकरणानन्तर अनुद्गते सूरे—सूर्योद्गमादर्वाग्।
(ग) धर्मसग्रह, पृ० २२
प्रतिलेखना सूर्येनुद्गते एव कर्त्तव्या।

३–ओघनिर्युक्ति, गाथा २६३
ठाणे उवगरणे य, थडिलउवथभमग्गपडिलेहा।
किमाई पडिलेहा, पुव्वण्हे चेव अवरण्हे॥

४–ओघनिर्युक्ति भाष्य, गाथा १५८
उवगरण वत्थपाए, वत्थे पडिलेहण तु वोच्छामि।
पुव्वण्हे, अवरण्हे, मुहणतगमाइ पडिलेहा॥

प्रतिलेखना-काल

वस्त्र-प्रतिलेखना के दो काल हैं—पूर्वाह्न (प्रथम-प्रहर) और अपराह्न (चतुर्थ-प्रहर)।[1] पात्र-प्रतिलेखना का काल भी यही है।[2] काल-भेद से प्रतिलेखना के तीन काल हो जाते हैं—

(१) प्रभात, (२) अपराह्न—तीसरे प्रहर के पश्चात् और (३) उद्घाट-पौरुषी—पौन-पौरुषी।[3]

मुख-पोतिका आदि दस उपकरणो का प्रतिलेखना-काल प्रभात समय (प्रतिक्रमण के पश्चात्—सूर्योदय से पूर्व) है। तीसरा प्रहर बीतने पर चौदह उपकरणो की प्रतिलेखना का समय आता है। चौदह प्रतिलेखनीय उपकरणों का विवरण निम्न प्रकार पाया जाता है

ओघनिर्युक्ति

(१) पात्र
(२) पात्रबंध
(३) पात्र-स्थापन
(४) पात्र-केसरिका
(५) पटल
(६) रजस्त्राण
(७) गुच्छग
(८-१०) तीन पछेवडी
(११) रजोहरण
(१२) मुख-वस्त्रिका

प्रवचनसारोद्धार

(१) मुख-पोतिका
(२) चोलपट्टक
(३) गोच्छग
(४) पात्र-प्रतिलेखनिका
(५) पात्र-बंध
(६) पटल
(७) रजस्त्राण
(८) पात्र-स्थापन
(९) मात्रक
(१०) पात्र

१—(क) ओघनिर्युक्ति भाष्य, गाथा १५८ वृत्ति
पूर्वाह्णे वस्त्रप्रत्युपेक्षणा भवत्यपराह्णे च।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ५३७
तृतीयाया भिक्षाचर्या, पुनश्चतुर्थ्यां स्वाध्यायम्, उपलक्षणत्वात्तृतीयाया भोजनबहिर्गमनादीनि, इतरत्र तु प्रतिलेखनास्थण्डिल-प्रत्युपेक्षणादीनि गृह्यन्ते।

२—(क) ओघनिर्युक्ति भाष्य, गाथा १७३ वृत्ति
पात्रप्रत्युपेक्षणामाह—'चरिमाए' चरमाया पादोनपौरुष्या प्रत्युपेक्षेत 'ताहे' त्ति 'तदा' तस्मिन् काले स्वाध्यायानन्तरं पात्रकद्वितय प्रत्युपेक्षेत।

(ख) उत्तराध्ययन २६।२२, ३६।

३—प्रवचनसारोद्धार, गाथा ५९०-५९२
पडिलेहणाण गोसावराण्हउग्घाडपोरिसीसु तिग।
तत्थ पढमा अणुगय सूरे पडिक्कमणकरणाओ॥
मुहपोत्ति चोलपट्टो कप्पतिग दो निसिज्ज रयहरण।
सथारुत्तरपट्टो दस पेहाऽणुग्गए सूरे॥
उवगरणचउद्दसग पडिलेहिज्जइ दिणस्स पहरतिगे।
॥

(१३) मात्रक	(११) रजोहरण
(१४) चोलपट्टक[1]	(१२-१४) तीन पछेवडी[2]

पौन-पौरुषी के समय ७ उपकरणो की प्रतिलेखना की जाती थी। वे उपकरण ये है—

ओघनिर्युक्ति	*प्रवचनसारोद्धार*
(१) पात्र	(१) मुखपोतिका
(२) पात्र-बंध	(२) गोच्छग
(३) पात्र-स्थापन	(३) पटल
(४) पात्र-केसरिका	(४) पात्र-केसरिका
(५) पटल	(५) पात्र-बंध
(६) रजस्त्राण	(६) रजस्त्राण
(७) गुच्छग[3]	(७) पात्र-स्थापन[4]

श्लोक ११

५—उत्तर गुणों (स्वाध्याय आदि) की (उत्तरगुणे ग) :

पाँच महाव्रत मूल गुण है। स्वाध्याय, ध्यान आदि उनकी अपेक्षा उत्तरगुण कहलाते है। उत्तरगुण का सामान्य काल-विभाग इस प्रकार बतलाया गया है

प्रथम प्रहर में—स्वाध्याय।
द्वितीय प्रहर में—ध्यान—पढे हुए विषय का अर्थ-चिन्तन अथवा मानसिक एकाग्रता का अभ्यास।
तीसरे प्रहर मे—भिक्षाचरी, उत्सर्ग आदि।
चतुर्थ प्रहर मे—फिर स्वाध्याय।

यह दिनचर्या की स्थूल रूपरेखा है। इसमें मुख्य कार्यो का निर्देश किया गया है। प्रतिलेखना, वैयावृत्त्य आदि आवश्यक विधियो का इसमें उल्लेख नही है। प्रतिलेखना का उल्लेख २१-२० वें श्लोक मे स्वतत्र-रूप से किया गया है।

यह विभाग उस समय का है जब आगम—सूत्र लिखित नही थे। उन्हें कण्ठस्थ रखने के लिए अधिक समय लगाना होता था। सभवत इसीलिए प्रथम और चतुर्थ प्रहर मे स्वाध्याय की व्यवस्था की गई। इन्हें 'सूत्र-पौरुषी' भी कहा जाता था। दूसरे प्रहर में अर्थ समझा जाता था। इसीलिए उसे 'अर्थ-पौरुषी' कहा जाता था। जब भिक्षुओं के लिए एक वक्त भोजन—एक बार खाने की व्यवस्था थी तब भिक्षा के लिए तीसरा प्रहर ही सर्वाधिक उपयुक्त था और उस समय जनता के भोजन का समय भी सम्भवत यही था। कुछ आचार्यो के अभिमत मे यह अभिग्रहधारी भिक्षुओ की विधि है।[5] अठारहवें श्लोक में कथित नीद लेने की विधि से तुलना करने पर उक्त अभिमत सगत लगता है।

१—ओघनिर्युक्ति, गाथा ६६८-६७०
पत्त पत्ताबंधो, पायट्ठवण च पायकेसरिया।
पडलाइ रयत्ताण च, गुच्छओ पायनिज्जोगो॥
तिन्नेव य पच्छागा, रयहरण चेव होइ मुहपत्ती।
एसो दुवालसविहो, उवही जिणकप्पियाण तु॥
एए चेव दुवालस मत्तग अइरेग चोलपट्टो य।
एसो चउद्दसविहो, उवही पुण थेरकप्पम्मि॥
२—प्रवचनसारोद्धार, गाथा ५९२ वृत्ति, पत्र १६६।
३—ओघनिर्युक्ति, गाथा ६६८।
४—प्रवचनसरोद्धार, गाथा ५९२ वृत्ति, पत्र १६६।
५—(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ५४३।
(ख) उत्तराध्ययन जोड, ढाल २६।३८-४६।

छेद-सूत्रों द्वारा प्रथम एव चरम प्रहर की भिक्षा का भी समर्थन होता है।[1] ओघनिर्युक्ति में आपवादिक-विधि के अनुसार दो-तीन वार की भिक्षा का भी विधान मिलता है।[2] यह भी हो सकता है कि ये आपवादिक-विधियाँ छेद-सूत्रों के रचना-काल में मान्य हुई हों।

ओघनिर्युक्ति के अनुसार नींद लेने की विधि विभिन्न व्यक्तियों की अपेक्षा से इस प्रकार है—प्रथम और चतुर्थ प्रहर में सब साधु स्वाध्याय करते हैं, बिचले दो प्रहरों में नींद लेते हैं। वृषभ-साधु दूसरे प्रहर में भी जागते हैं, वे केवल तीसरे प्रहर ही सोते हैं। आचार्य तीसरे प्रहर में स्वाध्याय करते हैं।[3] शयन-विधि के इन विभिन्न प्रकारों को देखते हुए इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि तीसरे प्रहर में सोने की विधि या तो किसी विशिष्ट साधु-वर्ग के लिए है या ओघनिर्युक्ति का विधान पूर्वकालीन नहीं है।

मुनि के लिए सोने की निर्युक्ति-कालीन-विधि इस प्रकार है—

पहला प्रहर पूरा बीतने पर गुरु के पास जाए। "इच्छामि खमासमणो वंदिउं जावणिज्जाए निसीहियाए मत्थएण वंदामि, खमासमणा ! बहु पडिपुण्णा पोरिसी, अणु जाणह राइसथारय"—यह पाठ बोल कर सोने की आज्ञा माँगे। फिर प्रस्रवण करे। जहाँ सोने का स्थान हो वहाँ जाए। उपकरणो पर जो डोर बांधी हुई हो उसे खोले। सस्तार-पट्ट और उत्तर-पट्ट का प्रतिलेखन कर उन्हें उरु (साथल) पर रख दे। फिर सोने की भूमि का प्रतिलेखन और प्रमार्जन करे। वहाँ सस्तार-पट्ट बिछाए, उस पर उत्तर-पट्ट बिछाए। मुख-वस्त्रिका से उपरले शरीर का और रजोहरण से निचले शरीर का प्रमार्जन करे। उत्तरीय वस्त्र को बाएँ पार्श्व में रख दे। बिछौने पर बैठता हुआ पास में बैठे हुए ज्येष्ठ साधुओं की आज्ञा ले, फिर तीन बार सामायिक पाठ का उच्चारण कर सोए। बाँह का सिरहाना करे। बाएँ पार्श्व से सोए। पैर पसारे तब मुर्गी की भाँति पहले आकाश में पसारे, वैसे न रह सके तब भूमि का प्रमार्जन कर पैर नीचे रख दे। पैरों को समेटे तब ऊरु-सधि का प्रमार्जन करे।[4]

श्लोक १२

६—प्रहर (पोरिसिं क) :

पौरुषी के प्रकरण में 'पुरुष' शब्द के दो अर्थ हैं—(१) पुरुष-शरीर और (२) शकु। पुरुष के द्वारा उसका माप होता है, इसलिए उसे 'पौरुषी' कहा जाता है।[5] शकु २४ अंगुल प्रमाण का होता है और पैर से जानु तक का प्रमाण भी २४ अंगुल होता है।[6] जिस दिन वस्तु की छाया उसके प्रमाणोपेत होती है, वह दिन दक्षिणायन का प्रथम दिन होता है।[7] युग के प्रथम वर्ष (सूर्य-वर्ष) के श्रावण वदी १ को शकु की छाया, शकु के प्रमाण २४ अंगुल पडती है। १२ अंगुल प्रमाण का एक पाद होने से शकु की छाया दो पाद होती है।

१—बृहद् कल्प, ५।६।

२—ओघनिर्युक्ति भाष्य, गाथा १४९

एवंपि अपरिचत्ता, काले खवणे अ असहुपुरिसे य।
कालो गिम्हो उ भवे, खमगो वा पढमबिइएहिं॥

३—ओघनिर्युक्ति, गाथा ६६०

सव्वेवि पढमजामे, दोन्नि उ वसभा उ आइमा जामा।
तइओ होइ गुरूण, चउत्थओ होइ सव्वेसिं॥

४—बृहद् वृत्ति, पत्र ५३८,५३९।

५—काल लोकप्रकाश, २८।९९२

शकुः पुरुषशब्देन, स्याद्देहः पुरुषस्य वा।
निष्पन्ना पुरुषात् तस्मात्, पौरुषीत्यपि सिद्धयति॥

६—वही, २८।१०११

चतुर्विंशत्यगुलस्य, शकोश्छाया यथोदिता।
चतुर्विंशत्यगुलस्य, जानोरपि तथा भवेत॥

७—वही, २८।६६३

स्वप्रमाण भवेच्छाया, यदा सर्वस्य वस्तुन।
तदा स्यात् पौरुषी, याम्या-यानस्य प्रथमे दिने॥

युग के प्रथम सूर्य-वर्ष में श्रावण वदी १ को दो पग प्रमाण छाया होती है और माघ वदी ७ को चार पग प्रमाण।

दूसरे चन्द्र-वर्ष मे श्रावण वदी १३ से वृद्धि प्रारम्भ और माघ सुदी ४ से हानि प्रारम्भ है।

तीसरे वर्ष में श्रावण सुदी १० से वृद्धि प्रारम्भ और माघ वदी १ से हानि प्रारम्भ।

चौथे वर्ष में श्रावण वदी ७ से वृद्धि प्रारम्भ और माघ वदी १३ से हानि प्रारम्भ। पाँचवें वर्ष में श्रावण सुदी से वृद्धि प्रारम्भ और माघ सुदी १० से हानि प्रारम्भ।

पौरुषी का कालमान

पौरुषी का कालमान एक नही है। वह दिन सापेक्ष होता है। जब दिन का कालमान बढता है तब पौरुषी का कालमान भी बढता है। दिन का कालमान घटने से वह भी घट जाता है। दिन का $\frac{१}{४}$ भाग पौरुषी (प्रहर) होता है। दिन का कालमान जघन्य १२ मुहूर्त का होता है और उत्कृष्ट में १८ मुहूर्त का। इसलिए प्रहर का कालमान जघन्य १२ ― ४ = ३ मुहूर्त और उत्कृष्ट में १८ ― ४ = ४$\frac{१}{२}$ मुहूर्त का होता है।[1]

प्रतिदिन $\frac{१}{१२२}$ मुहूर्त पौरुषी बढती व घटती है।[2] और एक अयन में १८३ अहोरात्र होते हैं। इसलिए एक अयन में $\frac{१८३ \times १}{१२२}$ = $\frac{३}{२}$ = १$\frac{१}{२}$ मुहूर्त कालमान बढता है। जघन्य तीन मुहूर्त + १$\frac{१}{२}$ = ४$\frac{१}{२}$ मुहूर्त।

पौरुषी का उत्कृष्ट कालमान एक अयन में ४$\frac{१}{२}$ ही होगा। दिन की पौरुषी बढने से रात्रि की पौरुषी घटती है। जब दिन की पौरुषी ४$\frac{१}{२}$ मुहूर्त की होती है तब रात्रि की पौरुषी का कालमान तीन मुहूर्त का होता है। रात्रि की पौरुषी बढने से दिन की पौरुषी घटती है। जब रात्रि की पौरुषी ४$\frac{१}{२}$ मुहूर्त की होती है तब दिन की पौरुषी का कालमान तीन मुहूर्त का होता है।

श्लोक १३

७–श्लोक १३ :

एक वर्ष में दो अयन होते है—(१) दक्षिणायन और (२) उत्तरायण। दक्षिणायन श्रावण मास में प्रारम्भ होता है और उत्तरायण माघ मास मे।

एक मास में छाया ४ अगुल प्रमाण वढती है।[3] उत्तरायण के प्रथम दिन तक वह ४ पाद प्रमाण हो जाती है। उत्तरायण के वाद वह उसी क्रम से घटती हुई दक्षिणायन के प्रथम दिन तक वापस दो पाद प्रमाण हो जाती है। इस गणित से चैत्र और आश्विन में तीन पाद प्रमाण छाया होती है।

१–विशेषावश्यक भाष्य, गाथा २०७०

पौरिसीमाणमनियय, दिवस निसा वुड्ढि हाणि भावओ।
हीण तिन्नि मुहुत्तद्धपचममाणमुक्कोस॥

२–वही, गाथा २०७१

वुड्ढी वावीसुत्तर-सय भागोपइदिण मुहुत्तस्स।
एव हाणी विमया, अयण दिन भागओ नेया॥

३–(क) ओघनिर्युक्ति, गाथा २८३।
(ख) समवायाग, समवाय ३०।
(ग) चद्रप्रज्ञप्ति, प्राभृत १०,११।

१२ मास की पौरुषी छाया का प्रमाण

समय	*पाद अगुल*	*समय*	*पाद अगुल*
अषाढ पूर्णिमा	२-०	पौष पूर्णिमा	४-०
सावण पूर्णिमा	२-४	माघ पूर्णिमा	३-८
भाद्रपद पूर्णिमा	२-८	फाल्गुन पूर्णिमा	३-४
आश्विन पूर्णिमा	३-०	चैत्र पूर्णिमा	३-०
कार्तिक पूर्णिमा	३-४	वैशाख पूर्णिमा	२-८
मृगसर पूर्णिमा	३-८	ज्येष्ठ पूर्णिमा	२-४

श्लोक १४

८—श्लोक १४ :

सात दिनो मे एक अगुल, पक्ष में दो अगुल और मास मे चार अगुल प्रमाण छाया को बढना माना है, वह व्यवहार या स्थूल-दृष्टि से है। वहाँ पूर्ण दिन ग्रहण किया है। शेष दिन की विवक्षा नही की है। जयाचार्य ने इसी भाव को स्पष्ट करते हुए उत्तराध्ययन की जोड में लिखा है—"सात दिनो में दो पग से एक अगुल अधिक छाया तब बढती है जब कि पक्ष १४ दिनो का हो। यदि पक्ष १५ दिनो का हो तो ७½ दिन-रात में एक अगुल छाया बढती जाती है।"[१]

सूर्य-वर्ष के एक अयन में १८३ अहोरात्र होते है। एक अयन मे दो पाद अर्थात् २४ अगुल छाया बढने से एक अहोरात्र में $\frac{२४}{१८३}$ अगुल बढती है। एक अगुल छाया बढने में उसे $\frac{१८३}{२४}$ अर्थात् ७$\frac{१५}{२४}$ दिन लगते हैं। ओघनिर्युक्ति में भी एक दिन में अगुल के सातवें भाग से कम वृद्धि मानी है।[२] ज्योतिष्करण्डक में एक तिथि में $\frac{४}{३१}$ अगुल प्रमाण छाया बढती हुई मानी गई है।[३] लोक-प्रकाश में और ज्योतिष्करण्डक के फलित में कोई अन्तर नही है। केवल विवक्षा का भेद है। पहले में अहोरात्र की अपेक्षा से है और दूसरे में तिथि की अपेक्षा से। अहोरात्र की उत्पत्ति सूर्य मे होती है और तिथि की उत्पत्ति चन्द्रमा से।[४]

१—उत्तराध्यन जोड, २६।५१,५२
तेह थकी दिन सातरे बे पग आगुल अधिक।
पोहर दिवस तब थात रे, दिन चवदे नो पख तदा॥
जो पनरै दिन नो पक्ष रे, तो साढा सात अहोनिशे।
हुवे पौरिसी लक्ष रे, बे पग इक आगुल अधिक॥

२—ओघनिर्युक्ति, गाथा २८४ वृत्ति
दिवसे दिवसे अगुलस्स सत्तमो भागो किंचिप्पूणो वड्ढइ।

३—काल लोक प्रकाश, २८।१०२६
यत्तु ज्योतिष्करण्डादौ, वृद्धिहान्यो निरूपिता।
चत्वारोऽत्रागुलस्याशा, एकत्रिंशत् समुद्भवा॥

४—वही, २८।७६५,७६६
यद्वदेकोऽप्यहोरात्र, सूर्यजातो द्विधाकृत।
दिनरात्रिविभेदेन, सज्ञाभेदप्ररूपणात॥
तथैव तिथिरेकापि, शशिजाता द्विधा कृता।
दिनरात्रिविभेदेन, सज्ञाभेदप्ररूपणात॥

६१ अहोरात्र से ६२ तिथियाँ होती है ।[१] ६२ तिथियो में ६१ अहोरात्र होने से एक तिथि में $\frac{६१}{६२}$ अहोरात्र होते है । प्रत्येक अहोरात्र में अगली तिथि का $\frac{१}{६२}$ भाग प्रवेश करता है । अत. ६१ वें अहोरात्र में ६२ वी तिथि समा जाती है ।

१ अहोरात्र में $\frac{८}{६१}$ अगुल प्रमाण छाया बढती है । इसलिए ६१ अहोरात्र में $\frac{८}{६१} \times ६१ = ८$ अगुल ।

१ तिथि में $\frac{४}{३१}$ अगुल प्रमाण छाया बढती है इसलिए ६२ तिथियों में $\frac{४}{३१} \times ६२ = ८$ अगुल ।

इस प्रकार ८ अगुल छाया बढने में ६१ अहोरात्र या ६२ तिथियो का कालमान लगता है । ६१ अहोरात्र ६२ तिथियो के समान होने से दोनो के फलित होने में कोई अन्तर नही है ।

श्लोक १५

९–श्लोक १५ :

साधारणतया एक मास में ३० अहोरात्र होते हैं और एक पक्ष में १५ अहोरात्र । किन्तु आषाढ, भाद्रपद, कार्तिक, पौष, फाल्गुन और वैशाख मास के कृष्ण पक्ष मे १ अहोरात्र कम होता है । अत इनका पक्ष १४ अहोरात्र का ही होता है । एक वर्ष में ६ रात्रियाँ अवम होती है । लोकप्रकाश में भी ऐसा ही माना है ।[२] इसका कारण यह है कि एक अहोरात्र के कालमान से $\frac{१}{६२}$ भाग कम तिथि का कालमान है, अर्थात् $\frac{६१}{६२}$ अहोरात्र में एक तिथि पूरी होती है । इस प्रकार ६१ अहोरात्र में ६२ तिथियाँ होती है । प्रत्येक अहोरात्र मे अगली तिथि का $\frac{१}{६२}$ भाग प्रवेश करता है । अत ६१ वें अहोरात्र में ६२ वी तिथि समा जाती है ।[३] इस गणित से ३६६ अहोरात्रों में ६ तिथियाँ क्षय हो जाती है ।

लौकिक व्यवहार के अनुसार वर्षा ऋतु का प्रारम्भ आषाढ मास में होता है । इसे प्रधानता देकर ६१ वे अहोरात्र अर्थात् भाद्र कृष्ण पक्ष में तिथि का क्षय माना है । इस प्रकार ६१-६१ अहोरात्र मे होने वाला तिथि-क्षय भाद्र, कार्तिक, पौष, फाल्गुन और वैशाख मास में होता है । ज्योतिष्करण्डक मे भी वर्षा ऋतु का प्रारम्भ आषाढ मास मे मानकर तिथि-क्षय का वर्णन है ।

१–काल लोकप्रकाश, २८।७८३ वृत्ति

द्वाषष्ट्या हि तिथिभि परिपूर्णा एकषष्टिरहोरात्रा भवन्ति ।

२–काल लोकप्रकाश, २८।७८४,७८५

युगेऽयावमरात्राणा, स्वरूप किंचिदुच्यते ।
भवति ते च षड् वर्षे, तथा त्रिंशद्युगेऽखिले ॥
एकैकस्मिन्नहोरात्र एको द्वाषष्टिकल्पित ।
लभ्यतेऽवमरात्राश एवंवृद्धया यथोत्तरम् ॥

३–वही, २८।८००

एव च द्वाषष्टितमी, प्रविष्टा निखिला तिथि ।
एक षष्टिनागस्या ग्रैक्षष्टितमे दिने ॥

लोकप्रकाश में युग के प्रथम वर्ष के प्रथक मास श्रावण को प्रधान माना है। उसके अनुसार आसोज, मृगसर, माघ, चैत्र, ज्येष्ठ और श्रावण मास में तिथि-क्षय होता है। युग के पाँचो वर्षों का यत्र इस प्रकार है—

युग पूर्वार्ध

वर्ष	प्रथम चद्र वर्ष								द्वि॰ चद्र वर्ष				अर्धअभिवर्धित		
मास	आसो॰	मार्ग॰	माघ	चैत्र	ज्येष्ठ	श्रा॰	आ॰	मार्ग॰	माघ	चैत्र	ज्येष्ठ	श्रा॰	आ॰	मार्ग॰	पोष दूसरा
पक्ष	कृष्ण	कृष्ण	कृष्ण	कृष्ण	कृष्ण	कृष्ण	कृष्ण		शु॰	शु॰	शु॰	शु॰	शु॰	शु॰	शु॰
अवम तिथि	१	३	५	७	९	११	१३	०	२	४	६	८	१०	१२	१४
पात तिथि	२	४	६	८	१०	१२	१४	१	३	५	७	९	११	१३	१५

युग पश्चिमार्ध

वर्ष	अर्ध अभिवर्धित			चन्द्र वर्ष						अभिवर्धित वर्ष					
मास	चैत	ज्येष्ठ	श्रा॰	आ॰	मार्ग॰	माघ	चैत्र	ज्येष्ठ	श्रा॰	आ॰	मार्ग	माघ	चैत्र	ज्येष्ठ	आषाढ़ दूसरा
पक्ष	कृ॰	कृ॰	कृ॰	कृ॰	कृ॰	कृ॰	कृ॰	कृ॰	शु॰	शु॰	शु॰	शु॰	शु॰	शु॰	शुक्ल
अवम तिथि	१	३	५	७	९	११	१३	०	२	४	६	८	१०	१२	१४
पात तिथि	१	४	६	८	१०	१२	१४	१	३	५	७	९	११	१३	१५

श्लोक १६

१०—श्लोक १६ :

पौरुषी के पाद अर्थात् ¼ भाग कम को पादोन-पौरुषी कहते है। पौरुषी की छाया में यत्र निर्दिष्ट अगुल जोडने से पादोन-पौरुषी की छाया का मान होता है। सरलता के लिए १२ महीनों के तीन-तीन मास के चार त्रिक किए गए है—

पहला त्रिक— ज्येष्ठ, आषाढ और श्रावण।

दूसरा त्रिक— भाद्रव, आसोज और कार्तिक।

तीसरा त्रिक— मृगसर, पौष और माघ।

चतुर्थ त्रिक— फाल्गुन, चैत्र और वैशाख।

प्रथम त्रिक के मासों के पौरुषी प्रमाण में ६ अगुल जोडने से उन मासों के पादोन-पौरुषी का छाया-प्रमाण होता है। इसी प्रकार दूसरे त्रिक के मासों में ८ अगुल, तीसरे त्रिक के मासों में १० अंगुल और चौथे त्रिक के मासों में ८ अगुल बढाने से उन-उन मासों का पादोन-पौरुषी छाया-प्रमाण आता है। यत्र इस प्रकार है—

पौरुषी छाया प्रमाण					पादोन-पौरुषी छाया प्रमाग	
पाद	अगूल		अगुल		पाद	अगुल
२	४	+	६	=	२	१०
२	०	+	६	=	२	६
२	४	+	६	=	२	१०
२	८	+	८	=	३	४
३	०	+	८	=	३	८
३	४	+	८	=	४	०
३	८	+	१०	=	४	६
४	०	+	१०	=	४	१०
३	८	+	१०	=	४	६
३	४	+	८	=	४	०
३	०	+	८	=	३	८
२	८	+	८	=	३	४

यह श्लोक ओघनिर्युक्ति में ज्यो का त्यो प्राप्त है।[1]

११—ज्येष्ठ (जेट्ठामूले [क]) :

यहाँ 'जेट्ठामूले' शब्द में दो नक्षत्रो का योग है। जो नक्षत्र चन्द्रमा को निशी के अन्त तक पहुँचाता है, वह जब आकाश के चतुर्थ भाग में आता है, उस समय प्रथम पौरुषी का कालमान होता है। इसी प्रकार वह नक्षत्र जब सम्पूर्ण क्षेत्र का अवगाहन कर लेता है, तब चारों प्रहर बीत जाते है।

जो नक्षत्र पूर्णिमा को उदित होता है और चन्द्रमा को रात्रि के अन्त तक पहुँचाता है, उसी नक्षत्र के नाम पर महीनों के नाम रखे गए है। श्रावण और ज्येष्ठ मास इसके अपवाद है। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में इसका स्पष्ट व विस्तृत वर्णन है।

प्रथम मास श्रावण को ४ नक्षत्र पार लगाते हैं।

उत्तराषाढ नक्षत्र श्रावण के १४ दिन रात तक।
अभिजित् नक्षत्र ७ दिन-रात।
श्रवण नक्षत्र ८ दिन-रात।
धनिष्ठा नक्षत्र १ दिन-रात।

भाद्रव मास को ४ नक्षत्र।

धनिष्ठा १४ दिन-रात।
शतभिषा् ७ दिन-रात।
पूर्वाभाद्र पद ८ दिन-रात।
उत्तराभाद्रपद १ दिन-रात।

१–ओघनिर्युक्ति, गाथा २८६।

आसोज मास को ३ नक्षत्र ।

उत्तराभाद्रपद १४ दिन-रात ।

रेवति १५ दिन-रात ।

अश्विनी १ दिन-रात ।

कार्तिक मास को ३ नक्षत्र

अश्विनी १४ दिन-रात ।

भरणी १५ दिन-रात ।

कृत्तिका १ दिन-रात ।

मृगसिर मास को तीन नक्षत्र

कृत्तिका १४ दिन-रात ।

रोहिणी १५ दिन-रात ।

मृगसिर १ दिन-रात ।

पोष मास को ४ नक्षत्र

मृगसिर १४ दिन-रात ।

आर्द्रा ८ दिन-रात ।

पुनर्वसु ७ दिन-रात ।

पुष्य १ दिन-रात ।

माघ मास को ३ नक्षत्र

पुष्य १४ दिन-रात ।

अश्लेषा १५ दिन-रात ।

मघा १ दिन-रात ।

फाल्गुन मास को ३ नक्षत्र

मघा १४ दिन-रात ।

पूर्वा फाल्गुनी १५ दिन-रात ।

उत्तरा फाल्गुनी १ दिन-रात ।

चैत्र मास को ३ नक्षत्र

उत्तराफाल्गुनी १४ दिन-रात ।

हस्त १५ दिन-रात ।

चित्रा १ दिन-रात ।

वैसाख मास को ३ नक्षत्र

चित्रा १४ दिन-रात ।

स्वाति १५ दिन-रात ।

विशाखा १ दिन-रात ।

ज्येष्ठ मास को ४ नक्षत्र

विशाखा १४ दिन-रात ।

अनुराधा ८ दिन-रात ।

ज्येष्ठा ७ दिन-रात ।

मूल १ दिन-रात ।

आषाढ मास को ३ नक्षत्र

मूल १४ दिन-रात ।

पूर्वाषाढा १५ दिन-रात ।

उत्तराषाढा १ दिन-रात ।[1]

श्लोक १९,२०

१२–श्लोक १९,२० :

इन दो श्लोकों में काल-ग्रहण की विधि बतलाई गई है । मुनि की दिन-चर्या का यह प्रमुख सूत्र है कि वह सब कार्य ठीक समय पर करे—'काले कालं समायरे' (दशवैकालिक ५।२।४) । जिस प्रकार वैदिक परम्परा में काल-विज्ञान का मूल यज्ञ है वैसे ही जैन-परम्परा में उसका मूल साधुओं की दिनचर्या है ।

रात के चार भाग हैं—

(१) प्रादोषिक ।

(२) अर्द्धरात्रिक ।

(३) वैरात्रिक ।

(४) प्राभातिक ।[2]

प्रादोषिक और प्राभातिक इन दो प्रहरों में स्वाध्याय किया जाता है । अर्द्धरात्रि में ध्यान और वैरात्रिक में शयन किया जाता है ।

१–जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्ष ७ सूत्र १६२ ।

२–(क) ओघनिर्युक्ति, गाथा ६५८ वृत्ति, पत्र २०५

कालानां चतुष्कं कालचतुष्कं तत्रैकः प्रादोषिकः द्वितीयोऽर्द्धरात्रिकः तृतीयो वैरात्रिकः चतुर्थः प्राभातिकः काल इति, एतस्मिन् कालचतुष्के नानात्वं प्रदर्श्यते, तत्र प्रादोषिककाले सर्व एव समकं स्वाध्यायं प्रस्थापयन्ति, शेषेषु तु त्रिषु कालेषु समकं एककालं स्वाध्यायं प्रस्थापयन्ति विषमं वा—न युगपद्वा स्वाध्यायं प्रस्थापयतीति ।

(ख) ओघनिर्युक्ति गाथा, ६६२,६६३

पाओसिय अड्ढरत्ते उत्तरदिसि पुव्व पेहए कालं ।

वेरत्तियंमि भयणा, पुव्वदिसा पच्छिमे काले ॥

सज्झाय काउं पढमबितियासु दोसु जागरणं ।

अन्नं वावि गुणंती, सुणंति झायन्ति वा सुद्धं ॥

श्लोक २१,२२

१३–श्लोक २१,२२ :

'पुव्विल्लमि चउब्भाए' यहाँ 'आइच्चमि समुट्ठिए' इतना शेष है।[1] तथा 'पोरिसीए चउब्भाए' यहाँ 'अवशिष्यमाण' इतना शेष है।[2] 'अपडिक्कमित्ता कालस्स' यहाँ कायोत्सर्ग किए बिना ही पात्र-प्रतिलेखना का विधान है। उसका तात्पर्य यह है कि चतुर्थ पौरुषी में फिर स्वाध्याय करना है। कायोत्सर्ग एक कार्य की समाप्ति पर ही किया जाता है।[3]

श्लोक २३

१४–श्लोक २३ :

इस श्लोक में पात्र सम्बन्धी तीन उपकरणों—(१) मुख-वस्त्रिका, (२) गोच्छग और (३) वस्त्र (पटल) का उल्लेख है। ओघनिर्युक्ति में पात्र सम्बन्धी सात उपकरणों का उल्लेख मिलता है—(१) पात्र, (२) पात्र बन्ध, (३) पात्र-स्थापन, (४) पात्र-केशरिका, (५) पटल, (६) रजस्त्राण और (७) गोच्छग।

इन्हें पात्र-निर्योग (पात्र-परिकर) कहा जाता है।[4] पात्र को बाँधने के लिए पात्र बन्ध, उसे रज आदि से बचाने के लिए पात्र-स्थापन रखा जाता है।[5] पात्र-केशरिका का अर्थ 'पात्र की मुख-वस्त्रिका' है।[6] इससे पात्र की प्रतिलेखना की जाती है।[7]

भिक्षाटन काल में स्कन्ध और पात्र को ढाँकने के लिए तथा पुष्प-फल, रज-रेणु आदि से बचाव करने के लिए पटल रखा जाता है।[8]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ५४० :
'पूर्वस्मिंश्चतुर्भागे' प्रथमपौरुषीलक्षणे प्रक्रमाद् विनस्य प्रत्युपेक्ष्य 'भाण्डक' प्राग्वद्वर्षाकल्पादि उपधिमादित्योदय-समय इति शेष ।

२–वही, पत्र ५४०
द्वितीयसूत्रे च पौरुष्याश्चतुर्थभागेऽवशिष्यमाण इति गम्यते, ततोऽयमर्थ पादोनपौरुष्या भाजन प्रतिलेखयेदिति सम्बन्ध ।

३–वही, पत्र ५४० :
स्वाध्यायादुपरतश्चेत्कालस्य प्रतिक्रम्यैव कृत्यान्तरमारब्धव्यमित्याशङ्क्येतात आह—अप्रतिक्रम्य कालस्य, तत्प्रतिक्रमार्थं कायोत्सर्गमविधाय, चतुर्थपौरुष्यामपि स्वाध्यायस्य विधास्यमानत्वात् ।

४–ओघनिर्युक्ति, गाथा ६७४
पत्त पत्ताबंधो, पायट्ठवण च पायकेसरिया ।
पडलाइ रयत्ताण च, गोच्छओ पायनिज्जोगो ॥

५–वही, गाथा ६९५
रयमादिरक्खणट्ठा, पत्तट्ठवण जिणेहि पन्नत्त ।

६–वही, गाथा ६९६ वृत्ति—
'केसरिकाऽपि'—पात्रक-मुखवस्त्रिकाऽपि ।

७–वही, गाथा ६९६
पाय-पमज्जणहेउ, केसरिया ।

८–(क) वही, गाथा ७०१ वृत्ति—
स्कन्ध पात्रक चाच्छाद्यते यावता तत्प्रामाण पटलानामिति ।

(ख) वही, गाथा ७०२
पुप्फ-फलोदय-रयरेणु-सउण-परिहार-पाय-रक्खट्ठा ।
लिंगस्स य सवरणे, वेदोदयरक्खणे पडला ॥

चूहों तथा अन्य जीव-जन्तुओं, बरसात के पानी आदि से बचाव के लिए रजस्त्राण रखा जाता है।[1] पटलों का प्रमार्जन करने के लिए गोच्छग होता है।[2] इनमें पात्र-स्थापन और गोच्छग ऊन के तथा मुख-वस्त्रिका कपास की होती है।[3]

श्लोक २४-२८

१५—श्लोक २४-२८ :

प्रतिलेखना के तीन अंग हैं—

(१) प्रतिलेखना—वस्त्रों को आँखों से देखना।

(२) प्रस्फोटना—झटकाना।

(३) प्रमार्जना—प्रमार्जन करना, वस्त्र पर जीव-जन्तु हों, उन्हें हाथ में लेकर यतना-पूर्वक एकान्त में रख देना।

२५वें श्लोक में अनर्तित आदि छह प्रकार बतलाए गए हैं। वे स्थानांग (६।५०३) के अनुसार अप्रमाद-प्रतिलेखना के प्रकार हैं। इनमें 'अमोसली' शब्द मुशल से उत्पन्न है। अनाज कूटते समय मुशल जैसे ऊपर, नीचे और तिरछे में जाता है वैसे वस्त्र को नहीं ले जाना चाहिए। 'पुरिम' (पूर्व) शब्द का रूढ़ अर्थ है—'वस्त्र के दोनों ओर तीन-तीन विभाग कर उसे झटकाना'।

'खोटक' का अर्थ है—'प्रमार्जन'। वे प्रत्येक पूर्व में तीन-तीन बार किए जाते हैं। इस प्रकार एक भाग में नौ खोटक होते हैं, दोनों में अठारह।

२६ वें श्लोक में आरभटा आदि छह प्रकार बतलाए गए हैं। वे स्थानांग (६।५०३) के अनुसार प्रमाद प्रतिलेखना के प्रकार हैं। इनमें वेदिका के पाँच प्रकार हैं—

(१) ऊर्ध्ववेदिका—दोनों जानुओं पर हाथ रखकर प्रतिलेखना करना।

(२) अधोवेदिका—दोनों जानुओं के नीचे हाथ रखकर प्रतिलेखना करना।

(३) तिर्यग्-वेदिका—दोनों जानुओं के बीच में हाथ रखकर प्रतिलेखना करना।

(४) उभय-वेदिका—दोनों जानुओं को दोनों हाथों के बीच रखकर प्रतिलेखना करना।

(५) एक-वेदिका—एक जानु को दोनों हाथों के बीच रखकर प्रतिलेखना करना।

दृष्टि डालना, छह पूर्व करना—छह बार झटकाना और अठारह खोटक करना—अठारह बार प्रमार्जन करना—इस प्रकार प्रतिलेखना के (१+६+१८) = २५ प्रकार होते हैं।[4]

१—ओघनिर्युक्ति, गाथा ७०४
मूसयरउक्केरे, वासे सिण्हा रए य रक्खट्ठा।
होंति गुणा रयत्ताणे, पादे पादे य एक्केक्क॥

२—वही, गाथा ६९५
होइ पमज्जणहेउं तु गोच्छओ भाण-वत्थाणं।

३—वही, गाथा ६९४, वृत्ति—
अत्र च पात्रस्थापनकं गोच्छकश्च एते द्वे अपि ऊर्णामये वेदितव्ये, मुखवस्त्रिका क्षौमिया।

४—(क) बृहद् वृत्ति पत्र ५४०-५४२।
(ख) स्थानांग, ६।५०३ वृत्ति।

अठाइसवें श्लोक के अनुसार प्रतिलेखना के आठ विकल्प होते हैं। उनमें पहला प्रशस्त है, शेष सभी अप्रशस्त[1]—

(१) न्यून नही	अतिरिक्त नही	विपर्यास नही -	प्रशस्त
(२) न्यून नही	अतिरिक्त नही	विपर्यास है	अप्रशस्त
(३) न्यून नही	अतिरिक्त है	विपर्यास नही	,,
(४) न्यून नही	अतिरिक्त है	विपर्यास है	,,
(५) न्यून है	अतिरिक्त नही	विपर्यास नही	,,
(६) न्यून है	अतिरिक्त नहीं	विपर्यास है	,,
(७) न्यून है	अतिरिक्त है	विपर्यास नही	,,
(८) न्यून है	अतिरिक्त है	विपर्यास है	,,

१६—वस्त्र (वत्थं ख) :

यहाँ 'वस्त्र' शब्द उत्तरीय आदि वस्त्र के अर्थ में प्रयुक्त है। इससे पहले तेईसवें श्लोक में जो वस्त्र शब्द है वह पात्र के उपकरण—पटल के अर्थ में प्रयुक्त है।[2] इन सबकी प्रतिलेखना का प्रकार एक जैसा ही है।

श्लोक ३२

१७—श्लोक ३२ :

इस श्लोक में छह कारणो से मुनि को आहार करना चाहिए, ऐसा कहा गया है—

(१) क्षुधा की वेदना उत्पन्न होने पर।

(२) वैयावृत्य के लिए।

(३) ईर्या-पथ के शोधन के लिए।

(४) सयम-यात्रा के निर्वाह के लिए।

(५) अहिंसा के लिए।

(६) धर्म-चिन्तन के लिए।

मिलाइए—स्थानाग, ६।५००

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ५४२।

२—वही, पत्र ५४० :

'वस्त्र' पटलकरूपं, जातावेकवचनं, पटलकप्रक्रमेऽपि सामान्यवाचकवस्त्रशब्दाभिधानं वर्षाकल्पादिप्रत्युपेक्षणायामप्ययमेव विधिरिति ख्यापनार्थम्।

मूलाचार में तीसरे कारण 'इरियट्ठाए' के स्थान पर 'किरियट्ठाए' पाठ मिलता है ।[1] उसका अर्थ 'क्रिया के लिए—षडावश्यक आदि क्रिया का प्रतिपालन करने के लिए' किया गया है ।[2]

यह अन्तर यदि लिपि-दोष के कारण न हुआ हो तो यही मानना होगा कि उत्तराध्ययन में प्रतिपादित तीसरे कारण से आचार्य वट्टकेर सहमत नहीं है । बौद्ध-ग्रन्थों में आहार लेने या करने की मर्यादा का उल्लेख करते हुए कहा गया है—भिक्खु क्रीडा के लिए, मद के लिए, मण्डन करने के लिए, विभूषा के लिए—आहार न करे । परन्तु शरीर को कायम रखने के लिए, रोग के उपशमन के लिए, ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए (शासन-ब्रह्मचर्य और मार्ग-ब्रह्मचर्य के लिए) इस प्रकार आहार करता हुआ मैं भूख से उत्पन्न वेदना को क्षीण करूँगा और नई वेदना को उत्पन्न नहीं करूँगा, ऐसा करने से मेरी यात्रा (संयम-यात्रा या शारीरिक यात्रा) और प्रासु विहार-चर्या भी चलती रहेगी ।[3]

१८—वेदना (वेयण क)

भूख के समान कोई कष्ट नहीं है । भूखा आदमी वैयावृत्य (सेवा) नहीं कर सकता , ईर्या का शोधन नहीं कर सकता , प्रेक्षा आदि संयम-विधियों का पालन नहीं कर सकता , उसका बल क्षीण हो जाता है , गुणन और अनुप्रेक्षा करने में वह अशक्त हो जाता है इसलिए भगवान् ने कहा कि वेदना की शाँति के लिए मुनि आहार करे ।[4]

श्लोक ३४

१६—श्लोक ३४ :

इस श्लोक में छह कारणों से आहार नहीं करना चाहिए ऐसा कहा गया है—

(१) आतंक—ज्वर आदि आकस्मिक हो जाने पर ।

(२) राजा आदि का उपसर्ग हो जाने पर ।

(३) ब्रह्मचर्य की तितिक्षा—सुरक्षा के लिए ।

(४) प्राणि-दया के लिए ।

(५) तपस्या के लिए ।

(६) शरीर का व्युत्सर्ग करने के लिए ।

मिलाइए—स्थानांग ६।५००

ओघनिर्युक्ति भाष्य, गाथा २६३,२६४

१-मूलाचार, ६।६०

वेयणवेज्जावच्चे किरियाठाणे य संजमट्ठाए ।
तध पाणधम्मचिंता कुज्जा एदेहिं आहारं ॥

२-मूलाचार, ६।६० वृत्ति

क्रियार्थं षडावश्यकक्रिया मम भोजनमन्तरेण न प्रवर्तन्ते इति ताः प्रतिपालयामीति भुंक्ते ।

३-विसुद्धिमग्ग १।१।३५, पाद टिप्पण ८

पटिसङ्खा योनिसो पिण्डपातं पटिसेवति, नेव दवाय, न मदाय, न मण्डनाय, न विभूसनाय, यावदेव इमस्स कायस्स ठितिया यापनाय विहिंसूपरतिया ब्रह्मचरियानुग्गहाय, इति पुराणं च वेदनं पटिहङ्खामि, नवं च वेदनं न उप्पादेस्सामि, यात्रा च मे भविस्सति फासुविहारो चाति ।

४-ओघनिर्युक्ति, भाष्य, गाथा २६०,२६१

नत्थि छुहाए सरिसिया, वेयण भुंजेज्ज तप्प-समणट्ठा ।
छाओ वेयावच्चं, न तरइ काउं अओ भुंजे ॥
इरियं नवि सोहेइ, पेहाईयं च संजमं काउं ।
थामो वा परिहायइ, गुणणुप्पेहासु य असत्तो ॥

श्लोक ३५

२०–श्लोक ३५ :

मुनि जब भिक्षा के लिए जाए तब अपने सब उपकरणो को साथ ले जाए—यह 'औत्सर्गिक विधि' है। यदि सब उपकरणों को साथ ले जाने में असमर्थ हो तो आचार-भण्डक लेकर जाए—यह 'आपवादिक विधि' है।

निम्नलिखित छ आचार-भण्डक कहलाते है—

(१) पात्र।

(२) पटल।

(३) रजोहरण।

(४) दण्डक।

(५) दोकल्प—एक ऊनी और एक सूती पछेवड़ी।

(६) मात्रक।[1]

इस श्लोक का निर्युक्ति व भाष्य-काल में जो अर्थ था, वह टीका-काल में बदल गया।

शान्त्याचार्य ने अवशेष का अर्थ केवल 'पात्रोपकरण' किया है। वैकल्पिक रूप में अवशेप का अर्थ 'समस्त उपकरण' भी किया है किन्तु उन्हें भिक्षा में साथ ले जाना चाहिए, इसकी मुख्य रूप से चर्चा नही की है।[2]

२१–प्रदेश तक (विहारं घ) :

शान्त्याचार्य ने विहार का अर्थ 'प्रदेश' किया है।[3] व्यवहार-भाष्य की वृत्ति में विहार-भूमि का अर्थ 'भिक्षा-भूमि' मिलता है।[4] 'विहारं विहारए'—इसका अर्थ है—'भिक्षा के निमित्त पर्यटन करे'।

१–ओघनिर्युक्ति भाष्य, गाथा २२७ और वृत्ति

सव्वोवगरणमाया, असहू आयारमडगेण सह।

तत्रोत्सर्गत सर्वमुपकरणमादाय भिक्षागवेषणा करोति, अथासौ सर्वेण गृहीतेन भिक्षामटितुमसमर्थस्तत आचारभण्डकेन सम, आचारभण्डक—पात्रक पटलानि रजोहरण दण्डक कल्पद्वय—और्णिक क्षौमिकश्च मात्रक च, एतद्गृहीत्वा याति।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ५४४

'अवशेष' भिक्षाप्रक्रमात्पात्रनिर्योगोद्धरित, च शब्दस्य गम्यमानत्वादवशेष च पात्रनिर्योगमेव, यद्वापगत शेषमपशेष, कोऽर्थ ?—समस्त, भाण्डकम् उपकरण 'गिज्झ' त्ति गृहीत्वा चक्षुषा प्रत्युपेक्षेत, उपलक्षणत्वात्प्रतिलेखयेच्च, इह च विशेषत इति गम्यते, सामान्यतो ह्यप्रत्युपेक्षितस्य ग्रहणमपि न युज्यत एव यतीनाम्, उपलक्षणत्वच्चास्य तदादाय।

३–वही, पत्र ५४४

विहरन्त्यस्मिन् प्रदेश इति विहारस्तम्।

४–व्यवहार-भाष्य, ४१४० और वृत्ति

महती वियारभूमी, विहारभूमी य सुलभवित्ती य।

सुलभा वसही य जहिं, जहण्णय वासखेत्त तु॥

यत्र च महती विहारभूमिर्भिक्षानिमित्त परिभ्रमणभूमि ।

अध्ययन २७

खलुंकिज्जं

श्लोक १

१–(थेरे क, गणहरे क, गग्गे क, पडिसंधए घ) :

'थेरे'—शान्त्याचार्य ने 'थिरकरणा पुण थेरो' के आधार पर इसका अर्थ 'धर्म में अस्थिर व्यक्तियों को स्थिर करने वाला' किया है।[1] दशवैकालिक (९।४।१) की चूर्णि में स्थविर का अर्थ 'गणधर' किया गया है।[2] परन्तु यहाँ वह अर्थ नहीं है क्योंकि इसका अगला शब्द 'गणहरे' है। साधारणत जो मुनि प्रव्रज्या और वय में वृद्ध होते है उन्हें 'स्थविर' कहा जाता है। मुनि के लिए 'स्थविर कल्प' नामक आचार विशेष का भी उल्लेख आया है जिसका अर्थ है 'गच्छ में रहने वाले मुनियो का आचार'।

'गणहरे'—इसके प्रमुख अर्थ दो है—(१) तीर्थंकर के प्रमुख शिष्य और (२) अनुपम ज्ञानादि के धारक अचार्य।[3] यहाँ द्वितीय अर्थ अभिप्रेत है।

'गग्गे'—इसके दो संस्कृत रूप होते है—गर्ग और गार्ग्य। गर्ग व्यक्तिवाची शब्द है और गार्ग्य गोत्र सम्बन्धी। शान्त्याचार्य ने इसका संस्कृत रूप गार्ग्य देकर इसका अर्थ 'गर्गसगोत्र' किया है। नेमिचन्द्र ने इसे 'गर्ग' शब्द मानकर 'गर्गनामा' ऐसा अर्थ किया है।[4] स्थानाग सूत्र में गौतम-गोत्र के अन्तर्गत गर्ग-गोत्र का उल्लेख हुआ है।[5] इसलिए शान्त्याचार्य वाला अर्थ ही संगत लगता है। सरपेन्टियर ने लिखा है—यह गर्ग शब्द अति प्राचीन है और वैदिक-साहित्य में इसका प्रयोग हुआ है। इसके निकट के शब्द गार्गी और गार्ग्य भी ब्राह्मण युग में सुविदित रहे। संभव है कि उस समय में गर्ग नाम वाला कोई ब्राह्मण मुनि रहा हो और जैनो ने उस नाम का अनुकरण कर अपने साहित्य में उसका प्रयोग किया हो। उत्तराध्ययन में आए हुए 'कपिल' आदि शब्द के विषय में भी ऐसा ही हुआ है।[6] किन्तु ब्राह्मण लोग जैन-शासन में प्रव्रजित होते थे, इसलिए ब्राह्मण मुनि के नाम का अनुकरण कर यह अध्ययन लिखा गया। इस अनुमान के लिए कोई पुष्ट आधार प्राप्त नही है।

'पडिसंधए'—शान्त्याचार्य ने इसका अर्थ 'कर्मोदय से नष्ट हुई अविनीत शिष्यो की समाधि का पुन संधान करना—जोडना'[7] और

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ५५०।

२–अगस्त्य चूर्णि

थेरो पुण गणहरो।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ५५०

गण—गुणसमूह धारयति—आत्मन्यवस्थापयतीति गणधर।

४–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ५५०

'गार्ग्य' गर्गसगोत्र।

(ख) सुखबोधा, पत्र ३१६

गर्ग गर्गनामा।

५–स्थानाग ७।५५१ :

जे गोयमा ते सत्तविधा प० तं०—ते गोयमा, ते गग्गा, ते भारद्दा, ते अंगिरसा, ते सक्कराभा, ते भक्खराभा, ते उदगत्ताभा।

६—The Uttarādhyayana Sūtra, p 372.

७–बृहद् वृत्ति, पत्र ५५०

'प्रतिसंधत्ते' कर्मोदयात् त्रुटितमपि संघट्टयति, तथाविधशिष्याणामिति गम्यते।

नेमिचन्द्र ने 'शिष्यो द्वारा तोडी गई समाधि का पुन अपने आप में सधान करना'[1] किया है। इस अध्ययन की दृष्टि से दोनों अर्थ उचित हैं।

श्लोक ३

२–अयोग्य बैलों को (खलुंके क) :

'खलुक 'और' खुलुक'—ये दोनो रूप प्रचलित हैं। नेमिचन्द्र ने इसका अर्थ 'दुष्ट बैल' किया है।[2] स्थानाग वृति में भी खलुक का अर्थ 'अविनीत' किया गया है।[3] खलुक का अर्थ 'घोडा' भी होता है।[4]

सरपेन्टियर ने लिखा है—सभव है यह शब्द 'खल' से सम्बन्धित रहा हो और प्रारम्भ में 'खल' शब्द के भी ये ही—वक्र, दुष्ट आदि अर्थ रहे हो। परन्तु इसकी प्रामाणिक व्युत्पत्ति अज्ञात ही है। अनुमानत यह शब्द 'खलोक्ष' का निकटवर्ती रहा है। जैसे—खल-विहग का दुष्ट पक्षी के अर्थ में प्रयोग होता है, वैसे ही खल-उक्ष का दुष्ट बैल के अर्थ में प्रयोग हुआ हो।[5]

'खलुक' शब्द के अनेक अर्थ निर्युक्ति की गाथाओं (४८९-४९४) में मिलते है—

(१) जो बैल अपने जुए को तोडकर उत्पथगामी हो जाते हैं, उन्हें खलुक कहा जाता है—यह गाथा ४८९ का भावार्थ है।

(२) ४९० वी गाथा में खलुक का अर्थ वक्र, कुटिल, जो नमाया नही जा सकता आदि किया गया है।

(३) ४९१ वी गाथा में हाथी के अकुश, करमदी, गुल्म की लकडी और लालवृन्त के पखे आदि को खलुक कहा गया है।

(४) ४९२ वीं गाथा में दस, मश्क, जोक आदि को खलुक कहा गया है।

(५) ४९३ और ४९५ वी गाथाओं में गुरु के प्रत्यनीक, शबल, असमाधिकर, पिशुन, दूसरों को सतप्त करने वाले, अविश्वस्त आदि शिष्यो को खलुक कहा गया है।[6]

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि दुष्ट, वक्र आदि के अर्थ में 'खलुक' शब्द का प्रयोग होता है। जब यह मनुष्य या पशु के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है तब इसका अर्थ होता है—दुष्ट मनुष्य या पशु, अविनीत मनुष्य या पशु और जब यह लता, गुल्म, वृक्ष आदि के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है, तब इसका अर्थ वक्र लता या वृक्ष, ठूँठ, गाँठो वाली लकडी या वृक्ष होता है।

श्लोक ४

३–(एगं डसइ पुच्छंमि क) :

शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने इसका सम्बन्ध क्रुद्ध गाडी-वाहक—सारथि से किया है।[7] परन्तु प्रकरण की दृष्टि से यह सगत नही लगता। डॉ० हरमन जेकोबी ने इसका सम्बन्ध दुष्ट बैल के साथ जोडा है।[8] क्योकि अगला सारा प्रकरण बैलों से सम्बन्धित है। अत यह ठीक है।

१–सुखबोधा, पत्र ३१६
'प्रतिसन्धत्ते' कुशिष्यैस्त्रोटितमपि सङ्घट्टयति आत्मन इति गम्यते।

२–वही, पत्र ३१६
खलुंकान् गलिवृषमान्।

३–स्थानाग, ४।३।३२७ वृत्ति, पत्र २३८
खलुको—गलिरविनीत।

४–अभिधानप्पदीपिका, ३७०
घोटको, (तु) खलुको (थ)।

५ The Uttarādhayayana Sūtra, p 372

६–वृहद् वृत्ति, पत्र ५४८-५५०।

७–(क) वृहद् वृत्ति, पत्र ५५१।
(ख) सुखबोधा, पत्र ३१७।

८–The Sacred Books of the East, Vol XLV, Uttarādhyayana, p 150, Foot note 2

श्लोक ५

४–तरुण गाय की ओर (वालगवी [ख]) :

शान्त्याचार्य ने इसके दो अर्थ किए हैं—(१) युवा गाय और (२) दुष्ट बैल ।[1] प्रथम अ

श्लोक ७

५–छिनाल (छिन्नाले [क]) :

'छिन्नाले' का अर्थ है 'जार' । भारतवर्ष में घोडा-गाडी-वाहक इसका बहुधा प्रयोग करते हैं
स्त्रीलिंग में भी प्रयोग होता है, यथा—छिनाली, छिनाल स्त्री, छिन्ना आदि ।[2] पुंश्चली को छिनाल क
छिनालिया-पुत्र की संस्कृत छाया 'पुंश्चलिपुत्रक' दी है—ऐसा सरपेन्टियर ने लिखा है ।[3] टी
करते हैं ।[4]

६–रास को (सेल्लिं [क]) :

यह देशी शब्द है । इसका अर्थ है 'रज्जु' ।[5] सम्भव है इस शब्द का सम्बन्ध अपभ्रंश शब्द 'सेल्लु' से
ने प्राकृत-व्याकरण (४।३८७) में किया है । पिशल ने 'सेल्लु' का अर्थ हल किया है । सरपेन्टियर ने इस अर्थ के
है कि यह हल का कोई भाग होना चाहिए ।[6] देशीनाममाला में 'सेल्लु' के दो अर्थ किए गए है—(१) मृग-शिशु अ

श्लोक ६

७–(इड्ढीगारविए [क], रसगारवे [ख], सायागारविए [ग]) :

देखिए—३१।४ का टिप्पण ।

श्लोक १०

८–श्लोक १० :

डॉ० हरमन जेकोबी ने इस श्लोक के विषय में यह अनुमान किया है कि मूलत यह श्लोक 'आर्या' छन्द में था
इसे 'अनुष्टुप छन्द' में बदलने का प्रयत्न किया गया ।[8] टीकाओं में इस विषयक कोई उल्लेख नही है ।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ५५१
(क) 'वालगवी वए'त्ति 'बालगवीम्' अवृद्धा गाम् ।
(ख) यदिवाऽऽर्षत्वाद्वालगवीति व्यालगवो—दुष्टबलीवर्द ।
२–देशीनाममाला, ३।२७, पृ० १४० ।
३–The Uttarādhyayana Sūtra, p 373
४–बृहद् वृत्ति, पत्र ५५१
'छिन्नाल' तथाविधदुष्टजाति ।
५–बृहद् वृत्ति, पत्र ५५१
'सिल्लि' ति रश्मि सयमनरज्जुमितियावत् ।
६–The Uttarādhyayana Sūtra, p 373
७–देशीनाममाला, ८।५७
मिगसिसुसरेसु सेल्लो ।
८–The Sacred Books of the East, Vol XLV, Uttarādhyayana, p 151, Foot note 1

९–अपमान-भीरु (ओमाणभीरुए ख) :

इसका तात्पर्य है कि जिस किसी के घर मे वह भिक्षा के लिए नही जाता क्योंकि उसे प्रतिपल अपमानित होने का भय रहता है ।[1] शान्त्याचार्य ने 'ओमाणभीरुए' का वैकल्पिक अर्थ 'प्रवेश-भीरु' किया है ।[2]

श्लोक १३

१०–(पलिउंचन्ति क) :

इसका तात्पर्यार्थ समझाते हुए शान्त्याचार्य ने लिखा है कि आदेश के अनुसार कार्य न होने पर गुरु अपने शिष्य को इसका कारण पूछते हैं तब शिष्य कहता है—"आपने हमें इस कार्य के लिए कब कहा था ?" अथवा वह यों कह देता है—"हम वहाँ गए थे परन्तु वह वहाँ नही मिली ।" यह अपलाप करना है ।[3] डॉ० हरमन जेकोबी ने इस अर्थ को मान्य नही किया है । उनके अनुसार इसका अर्थ है 'आदेशानुसार कार्य नही किया ।'[4] मूल धातु को देखते हुए परिकुच का अर्थ मायापूर्ण प्रयोग या अपलाप ही होना चाहिए ।

११–राजा की बेगार (रायवेट्ठिं ग) :

'रायवेट्ठि' का अर्थ है 'राजा की बेगार' ।[5] राजस्थान में इसे 'बेठ' कहते है । (विट्ठि>वेट्ठि>वेठ) यह देशी शब्द है । देशीनाममाला में इसका अर्थ 'प्रेषण' किया है ।[6] उपदेशरत्नाकर (६।११) में इसका अर्थ 'बेगार' किया है । प्राचीन समय में यह परम्परा थी कि राजा या जमींदार गाँव के प्रत्येक व्यक्ति से बिना पारिश्रमिक दिए ही काम कराते थे । बारी-बारी से सबको कार्य करना पडता था । इसी की ओर यह शब्द सकेत करता है । डॉ० हरमन जेकोबी 'विट्ठि' का अर्थ 'भाडा'—'किराया' करते है ।[7] किन्तु यहाँ यह उपयुक्त नही है ।

श्लोक १५

१२–खिन्न होकर (समागओ ख) :

'समागओ' के अर्थ में नेमिचन्द्र का मत शान्त्याचार्य से भिन्न है । शान्त्याचार्य ने समागत का अर्थ 'श्रमागत' (श्रम-प्राप्त) किया है[8] और नेमिचन्द्र ने इसका अर्थ 'सयुक्त' किया है ।[9]

१–सुखबोधा, पत्र ३१७
अपमानभीरु भिक्षा भ्रमन्नपि न यस्य तस्यैव गृहे प्रवेष्टुमिच्छति ।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ५५२
'ओमाण' ति प्रवेश स च स्वपक्षपरपक्षयोस्तद्भीरुर्गृहिप्रतिबन्धेन मा मा प्रविशन्तमवलोक्यान्ये साधव सौगतादयो वाऽत्र प्रवेक्ष्यन्तीति ।

३–वही, पत्र ५५३
'पलिउचति' त्ति तत्प्रयोजनानिष्पादने पृष्टा सन्तोऽपह्नुवते—क्व वयमुक्ता ?, गता वा तत्र वय, न त्वसौ दृष्टेति ।

४–The Sacred Books of the East, Vol XLV, Uttarādhyayana, p 151

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ५५३
'राजवेष्टिमिव' नृपतिहठप्रवर्त्तितकृत्यमिव ।

६–देशीनाममाला, २।४३, पृ० ६६ ।

७–The Sacred Books of the East, Vol XLV, Uttarādhyayana, p 151, foot Note No 3

८–बृहद् वृत्ति, पत्र ५५३
श्रम—खेदमागत —प्राप्त श्रमागत ।

९–सुखबोधा, पत्र ३१७
समागता —सयुक्ता ।

अध्ययन २८
मोक्खमग्गगई

श्लोक २

१–श्लोक २ :

इस श्लोक में मोक्ष के चार मार्ग—(१) ज्ञान, (२) दर्शन, (३) चारित्र और (४) तप—का नाम निर्देश है। 'तप' चारित्र का ही एक प्रकार है किन्तु इसके कर्म-क्षय करने की विशिष्ट शक्ति होने के कारण इसे यहाँ स्वतन्त्र स्थान दिया गया है।[1] उमास्वाति ने "सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गः"[2]—इस सूत्र में तपस्या को स्वतंत्र स्थान नहीं दिया है। इस प्रकार मोक्ष-मार्ग की संख्या के सम्बन्ध में दो परम्पराएँ प्राप्त हैं। इनमें केवल अपेक्षा-भेद है। तप को चारित्र के अन्तर्गत मान लेने पर मोक्ष के मार्ग तीन बन जाते हैं और इसे स्वतंत्र मान लेने पर चार।

बौद्ध-साहित्य में अष्टांगिक-मार्ग को मुक्ति का कारण माना गया है। (१) सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वचन, (४) सम्यक् कर्मान्त, (५) सम्यक् आजीव, (६) सम्यक् व्यायाम, (७) सम्यक् स्मृति और (८) सम्यक् समाधि—ये अष्टांगिक-मार्ग कहलाते हैं।[3]

श्लोक ४

२–श्लोक ४ :

इस श्लोक में जैनदर्शनाभिमत पाँच ज्ञानों—(१) श्रुतज्ञान, (२) आभिनिबोधिकज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मनःज्ञान (मनःपर्यव ज्ञान) और (५) केवलज्ञान—का उल्लेख हुआ है। इसी ग्रन्थ (३३।४) में ज्ञानावरण के भेदों में इन पाँच ज्ञानों का उल्लेख हुआ है। वहाँ भी यही क्रम है। साधारणतः ज्ञान के उल्लेख का क्रम है—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवल। परन्तु इस श्लोक में श्रुत के बाद आभिनिबोधिक (मति) का उल्लेख हुआ है। टीकाकारों ने इसका कारण बतलाते हुए कहा है कि शेष सभी ज्ञानों (मति, अवधि, मनःपर्यव और केवल) का स्वरूप-ज्ञान इस श्रुतज्ञान से ही होता है। अतः इसकी प्रधानता दिखाने के लिए ऐसा किया गया है।[4] इसकी पुष्टि अनुयोगद्वार सूत्र से भी होती है।[5] यह भी सम्भव है कि छन्द की दृष्टि से ऐसा किया गया हो।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ५५६ :
इह च चारित्रभेदत्वेऽपि तपसः पृथगुपादानमस्यैव क्षपणं प्रत्यसाधारणहेतुत्वमुपदर्शयितुं, तथा च वक्ष्यति—'तवसा (उ) विसुज्झइ'।

२–तत्त्वार्थ सूत्र, १।१।

३–संयुत्तनिकाय (३४।३।५।१), भाग २, पृ० ५०५।

४–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ५५७।
(ख) सुखबोधा, पत्र ३१९।

५–अनुयोगद्वार, सूत्र २ :
तत्थ चत्तारि नाणाइं ठप्पाइं ठवणिज्जाइं णो उद्दिसंति णो समुद्दिसंति णो अणुण्णविज्जंति, सुयनाणस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो य पवत्तइ।

'आभिनिवोधिकज्ञान' मतिज्ञान का ही पर्यायवाची है। नन्दी सूत्र में दोनो शब्दों का प्रयोग हुआ है।[1] अनुयोगद्वार में केवल 'आभिनिवोधिक' का ही प्रयोग है। नदी में ईहा, उगोह, विमश, मार्गणा, गवेषणा, सज्ञा, स्मृति, मति और प्रज्ञा को आभिनिबोधिक ज्ञान माना है।[2] तत्त्वार्थ (१।१३) में मति, स्मृति, सज्ञा, चिन्ता और आभिनिबोध को एकार्थक माना गया है।

मति और श्रुत अन्योन्याश्रित है—'ज याभिणिबोहियनाण तत्थ सुयनाण, ज य सुयनाण तत्थाभिणिबोहियनाण"—जहाँ मति है, वहाँ श्रुत है और जहाँ श्रुत है, वहाँ मति है।[3]

श्रुतज्ञान मति-पूर्वक ही होता है, परन्तु मतिज्ञान श्रुत-पूर्वक नही होता।[4] सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक में भी इसी मत का समर्थन है।[5] श्रुतज्ञान मति पूर्वक ही होता है, जबकि मतिज्ञान के लिए यह आवश्यक नही कि वह श्रुत-पूर्वक ही हो।[6] जिनभद्र कहते हैं कि जो ज्ञान श्रुतानुसारी है, वह भाव-श्रुत है, शेष मति है।[7]

मतिज्ञान दो प्रकार का है—(१) श्रुत-निश्रित और (२) अश्रुत-निश्रित।[8]

श्रुत निश्रित के चार भेद है—(१) अवग्रह, (२) ईहा, (३) अवाय और (४) धारणा।[9] इन्हें साव्यावहारिक प्रत्यक्ष भी कहा गया है।[10]

अश्रुत-निश्रित के चार भेद है—(१) औत्पत्तिकी, (२) वैनयिकी, (३) कर्मजा और (४) पारिणामिकी।[11]

पाँच इन्द्रिय और मन के साथ अवग्रह आदि का गुणन करने से मतिज्ञान २८ प्रकार का होता है। चक्षु और मन का व्यञ्जनावग्रह नही होता।[12] तालिका इस प्रकार होती है

१–नन्दी सूत्र (सशोधित प्रति), सूत्र ३४,३५।

२–वही, गाथा ७७ :

ईहा अपोह वीमसा, मग्गणा य गवेसणा।
सन्ना सई मई पन्ना, सव्व आभिणिबोहियम्॥

३–वही, सूत्र ३५।

४–वही, सूत्र ३५।

५–सर्वार्थसिद्धि, १।३०, तत्वार्थ राजवार्तिक, १।६।

६–तत्त्वार्थ सूत्र १।३१ भाष्य

श्रुतज्ञानस्य मतिज्ञानेन नियत सहभाव तत्पूर्वकत्वात्। यस्य श्रुतज्ञान तस्य नियत मतिज्ञान, यस्य तु मतिज्ञान तस्य श्रुतज्ञान स्याद् वा न वेति।

७–विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १००

इन्द्रिय मणो निमित्त, ज विण्णाण सुयाणुसारेण।
निययत्युत्तिसमत्थ, त भावसुय मई इयरा॥

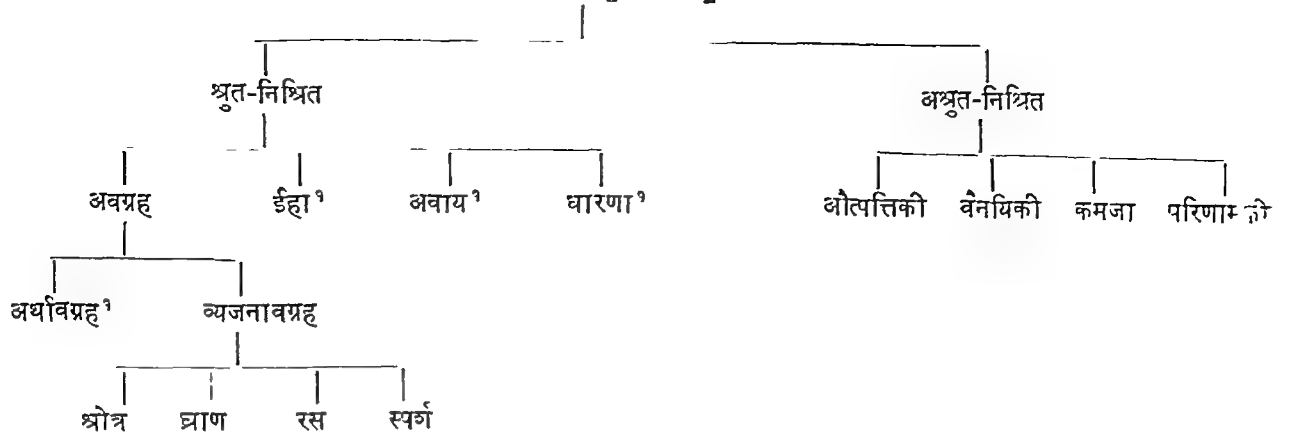
८–नदी सूत्र (सशोधित प्रति), सूत्र ३७।

९–वही, सूत्र ३६।

१०–जैन तर्कभाषा, पृ० ७।

११–नदी सूत्र (सशोधित प्रति), गाथा ५८-७१।

१२–वही, सूत्र ४० ४२।



सिद्धसेन दिवाकर श्रुतज्ञान को मतिज्ञान से भिन्न नही मानते। उनके अनुसार इनको भिन्न मानने मे वैयर्थ्य और अतिप्रसग दोष आते है।[2]

सिद्धसेन दिवाकर की यह मान्यता निराधार नही है। क्योकि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान—दोनो की कारण-सामग्री एक है। इन्द्रिय और मन दोनो के साधन है तथा श्रुतज्ञान मति के ही आगे की एक अवस्था है। श्रुत मति-पूर्वक ही होता है—इन सभी अपेक्षाओ से श्रुत को अलग मानने की कोई आवश्यकता नही रहती। श्रुत 'शाब्द-ज्ञान' है। इसकी अपनी विशेषता है। कारण सामग्री एक होने पर भी मतिज्ञान केवल वर्तमान को ही ग्रहण करता है। परन्तु श्रुतज्ञान का विषय 'त्रैकालिक' है। इसका विशेष सम्बन्ध 'मन' से रहता है। मात्र आगम-ज्ञान श्रुतज्ञान है। इस अपेक्षा से इसका भिन्न निरूपण भी युक्ति-सगत है।

प्रमाण के दो भेद है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान—इन दोनो का परोक्ष में समावेश किया गया है और शेष तीनो—अवधिज्ञान, मन पर्यवज्ञान और केवलज्ञान का प्रत्यक्ष में।[3]

परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद है—स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम।[4]

इनमें प्रथम चार मतिज्ञान के प्रकार है और आगम श्रुतज्ञान है। वस्तुत ज्ञान एक ही है—केवलज्ञान। शेष सभी ज्ञान की अविकसित अवस्था के द्योतक हैं। सभी का अन्तर्भाव केवलज्ञान में सहज ही हो जाता है।

एक अपेक्षा से ज्ञान दो प्रकार का है—इन्द्रिय-ज्ञान और अतीन्द्रिय-ज्ञान। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन्द्रिय-ज्ञान है। अवधि, मन पर्यव और केवल—अतीन्द्रिय-ज्ञान है।

अथवा ज्ञान तीन है—(१) मति-श्रुत, (२) अवधि-मन पर्यव, (३) केवलज्ञान।

मति-श्रुत की एकात्मकता के बारे में पहले लिखा जा चुका है। अवधि और मन पर्यव भी विषय की दृष्टि से एक हैं, इसीलिए इस अपेक्षा से उन्हें एक विभाग में मान लेना अयुक्त नही है। केवलज्ञान की अपनी स्वतत्र सत्ता है ही।

श्रुतज्ञान

आप्त पुरुष द्वारा प्रणीत आगम या अन्य शास्त्रो से जो ज्ञान होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते है अथवा शब्द, सकेत आदि से होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है अथवा वाच्य और वाचक के सम्बन्ध से होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान साक्षर होने के साथ-साथ वचनात्मक होता है।

१—प्रत्येक के श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रस, स्पर्श और नोइन्द्रिय-मन ये छ भेद हैं।
२—वैयर्थ्यातिप्रसगाभ्या, न मत्यभ्यधिक श्रुतम्।
३—नदी सूत्र (सशोधित प्रति), सूत्र २, ६, ३३।
४—प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३।२।

मतिज्ञान साक्षर हो सकता है, वचनात्मक नहीं श्रुत ज्ञान त्रैकालिक होता है, उसका विषय प्रत्यक्ष नहीं होता। शब्द के द्वारा उसके वाच्यार्थ को जानना और शब्द के द्वारा ज्ञात अर्थ को फिर से प्रतिपादित करना—यही इसकी समर्थता है। मति और श्रुत में कार्य-कारणभाव सम्बन्ध है। मति कारण है और श्रुत कार्य। श्रुतज्ञान का वास्तविक कारण श्रुत-ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम है। मतिज्ञान उसका बहिरंग कारण है।

श्रुतज्ञान के दो प्रकार है—अंग-बाह्य और अंग-प्रविष्ट।

तीर्थङ्कर द्वारा उपदिष्ट और गणधरों द्वारा प्रणीत शास्त्र अंग-प्रविष्ट कहलाते हैं। स्थविर या आचार्यों द्वारा प्रणीत शास्त्र अंग-बाह्य कहलाते है। अंग-प्रविष्ट के बारह भेद हैं।[1] अंग-बाह्य के कालिक, उत्कालिक आदि अनेक भेद हैं।[2]

आवश्यक निर्युक्ति में कहा गया है कि जितने अक्षर हैं और उनके जितने विविध संयोग है, उतने ही श्रुतज्ञान के भेद हैं।[3] इसके मुख्य भेद १४ हैं—

(१) अक्षर श्रुत
(२) अनक्षर श्रुत
(३) संज्ञी श्रुत
(४) असंज्ञी श्रुत
(५) सम्यक् श्रुत
(६) मिथ्या श्रुत
(७) सादि श्रुत
(८) अनादि श्रुत
(९) सपर्यवसित श्रुत
(१०) अपर्यवसित श्रुत
(११) गमिक श्रुत
(१२) अगमिक श्रुत
(१३) अंग-प्रविष्ट श्रुत
(१४) अनंग-प्रविष्ट श्रुत।[4]

विशेष विवरण के लिए देखिए—नंदी सूत्र (संशोधित प्रति), सूत्र ५१-६७।

अवधिज्ञान

यह नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान का एक प्रकार है।[5] यह मूर्त द्रव्यों को साक्षात् जानता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अवधियों से यह बंधा रहता है, अतः इसे अवधिज्ञान कहते हैं।

इसके दो प्रकार हैं—भव-प्रत्ययिक और क्षायोपशमिक।

देव और नारक को होने वाला अवधिज्ञान 'भव-प्रत्ययिक' कहलाता है। यह जन्म-जात होता है अर्थात् देवगति और नरकगति में उत्पन्न होते ही यह ज्ञान हो जाता है। तिर्यञ्च और मनुष्य को उत्पन्न होने वाला अवधिज्ञान 'क्षायोपशमिक' कहलाता है। दोनों में आवरण का क्षयोपशम तो होता ही है।[6] अन्तर केवल प्राप्ति के प्रकार में होता है। भव-प्रत्ययिक में जन्म ही प्रधान निमित्त होता है और क्षायोपशमिक में वर्तमान साधना ही प्रधान निमित्त होती है। अवधिज्ञान के छह प्रकार है—

(१) अनुगामी—जो सर्वत्र अवधिज्ञानी का अनुगमन करे।
(२) अननुगामी—उत्पत्ति-क्षेत्र के अतिरिक्त क्षेत्र में जो न रहे।

१–नंदी सूत्र (संशोधित प्रति), सूत्र ६६।
२–वही, सूत्र ६८-७३।
३–आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १७
पत्तेयमक्खराइं, अक्खरसंजोगा जत्तियालोए।
एवइया सुयनाणे, पयडीओ होंति नायव्वा॥
४–नंदी सूत्र (संशोधित प्रति), सूत्र ५५।
५–वही, सूत्र ६।
६–वही, सूत्र ७-८।

(३) वर्द्धमान—उत्पत्ति-काल से जो क्रमश बढता रहे ।

(४) हीयमान—जो क्रमश घटता रहे ।

(५) प्रतिपाती—उत्पन्न होकर जो वापस चला जाए ।

(६) अप्रतिपाती—जो आजीवन रहे अथवा केवलज्ञान उत्पन्न होने तक रहे ।[1]

विस्तृत वर्णन के लिए देखिए—नदी सूत्र (सशोधित प्रति), सूत्र ४-२२ ।

मन पर्यवज्ञान

यह मन के पर्यायो को साक्षात् करने वाला ज्ञान है। इसके दो भेद है—ऋजुमति और विपुलमति ।

यह द्रव्य की अपेक्षा से मन रूप मे परिणत पुद्गल को, क्षेत्र की अपेक्षा से मनुष्य क्षेत्र तक, काल की अपेक्षा से असख्य काल तक के अतीत और भविष्य को और भाव की अपेक्षा से मनोवर्गणा की अनन्त अवस्थाओ को जानता है ।[2]

मन पर्यव के विषय में दो परम्पराएँ है । एक परम्परा यह मानती है कि मन पर्यवज्ञानी चिन्तित अर्थ का प्रत्यक्ष कर लेता है ।[3] दूसरी परम्परा यह मानती है कि मन पर्यवज्ञानी मन की विविध अवस्थाओ का तो प्रत्यक्ष करता है, किन्तु उनके अर्थ को अनुमान से जानता है ।[4] आधुनिक भाषा में इसे मनोविज्ञान का विकसित रूप कहा जा सकता है ।

अवधि और मन पर्यव

दोनो ज्ञान रूपी द्रव्य तक सीमित है, अपूर्ण हैं । इन्हे विकल-प्रत्यक्ष कहा जाता है । चार दृष्टियों से दोनों में भिन्नता है—

(१) विषय की दृष्टि से—मन पर्यवज्ञान अवधिज्ञान की अपेक्षा सूक्ष्मता से और विशदता से जानता है । अवधिज्ञान का विषय सभी रूपी द्रव्य है, मन पर्यवज्ञान का विषय केवल मन है ।

(२) क्षेत्र की दृष्टि से—अवधिज्ञान का विषय अगुल के असख्यातवें भाग से लेकर सारा लोक है, मन पर्यव का विषय मनुष्य लोक पर्यन्त है ।

(३) स्वामी की दृष्टि से—अवधिज्ञान का स्वामी देव, नारक, मनुष्य और तिर्यञ्च कोई भी हो सकता है, मन पर्यवज्ञान का अधिकारी केवल मुनि ही हो सकता है ।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि दोनो एक ही ज्ञान की दो अवस्थाएँ है । मति-श्रुत की तरह इन्हें भी कथचित् एक मान लेना अयुक्त नही है ।

केवलज्ञान

यह पूर्ण ज्ञान है । इसे सकल-प्रत्यक्ष कहा जाता है । इसका विषय है—सर्व द्रव्य और सर्व पर्याय । केवलज्ञान प्राप्त होने पर ज्ञान एक ही रह जाता है ।

श्लोक ६

३-जो गुणो का आश्रय होता है, वह द्रव्य है (गुणाणमासओ दव्व क) :

जो गुणो का आश्रय—अनन्त गुणो का अखण्ड पिण्ड है, वह द्रव्य है । यह आगम-कालीन परिभाषा है ।

१-नदी सूत्र (सशोधित प्रति), सूत्र ९ ।

२-वही, सूत्र २४-२५ ।

३-सर्वार्थसिद्धि, १ ९ ।

४-विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ८१७ वृत्ति, पत्र २६४ ।

उत्तरवर्ती साहित्य में द्रव्य की जो परिभाषा हुई, उसमें कुछ अधिक जुड़ा है। वह दो प्रकार से प्राप्त होती है—

(१) जो गुण-पर्यायवान् है, वह द्रव्य है।[1]

(२) जो सत् है (या उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है), वह द्रव्य है।[2]

वाचक उमास्वाति ने 'पर्याय' शब्द और अधिक जोड़ा है, उसकी तुलना महर्षि कणाद के 'क्रिया' शब्द से होती है।[3] दूसरी परिभाषा जैन-परम्परा की अपनी मौलिक है।

जैन-साहित्य में 'द्रव्य' शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—

द्रव्य—जिसमें पूर्व रूप का प्रलय और उत्तर रूप का निर्माण होता रहता है।

द्रव्य—सत्ता का अवयव।

द्रव्य—सत्ता का विकार।

द्रव्य—गुण-समूह।

द्रव्य—भावी पर्याय के योग्य।

द्रव्य—भूत पर्याय के योग्य।[4]

वैशेषिक दर्शन के अनुसार जिसमें 'क्रिया और गुण हो और जो समवायी कारण हो', उसे द्रव्य कहते है।[5] उनके द्वारा सम्मत छह पदार्थों में 'द्रव्य' एक पदार्थ है। 'द्रव्य' आश्रय है, गुण और कर्म उस पर आश्रित हैं। वैशेषिकों ने द्रव्य नौ माने है[6] और उनको तीन श्रेणियों में विभक्त किया है—

(१) प्राकृत— पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश।

(२) अप्राकृत—अचेतन—काल और देश।

(३) चेतन— आत्मा और मन।[7]

पाश्चात्य दार्शनिक प्लेटो ने पाँच परतम—जातियाँ मानी हैं—(१) द्रव्य, (२) अन्यत्व, (३) विभिन्नता, (४) गति और (५) अगति।[8] इनकी संगति जैन पारिभाषिक शब्दों में इस प्रकार है—अन्यत्व अस्तित्व का सूचक है। विभिन्नता नास्तित्व का सूचक है। गति उत्पाद और व्यय की तथा अगति ध्रौव्य की सूचक है।

१–तत्त्वार्थ सूत्र, ५।३७
गुणपर्यायवद् द्रव्यम्।

२–(क) तत्त्वार्थ सूत्र, ५।२९
उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।

(ख) पंचास्तिकाय, १०
दव्वं सल्लक्खणियं, उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणपज्जयासयं वा, तं जं भण्णंति सव्वण्हू॥

३–वैशेषिक दर्शन, १।१।१५।

४–विशेषावश्यक भाष्य, गा० २८।

५–वैशेषिक दर्शन, १।१।१५
क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्।

६–वही, १।१।१५।

७–दर्शन संग्रह, पृ० १६३।

८–वही, पृ० १६०।

सामान्य गुण छह है—(१) अस्तित्व, (२) वस्तुत्व, (३) द्रव्यत्व, (४) प्रमेयत्व, (५) प्रदेशत्व और (६) अगुरुलघुत्व।

विशेष गुण सोलह हैं—(१) गति-हेतुत्व, (२) स्थिति-हेतुत्व, (३) अवगाह-हेतुत्व, (४) वर्तना-हेतुत्व, (५) स्पर्श, (६) रस, (७) गध, (८) वर्ण, (९) ज्ञान, (१०) दर्शन, (११) सुख, (१२) वीर्य, (१३) चेतनत्व, (१४) अचेतनत्व, (१५) मूर्त्तत्व और (१६) अमूर्त्तत्व।

द्रव्य छह है—(१) धर्मास्तिकाय, (२) अधर्मास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय, (४) काल, (५) पुद्गलास्तिकाय और (६) जीवास्तिकाय। इन छहों में द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, नित्यत्व आदि सामान्य धर्म पाए जाते हैं। ये इनके सामान्य गुण हैं। ये द्रव्य के लक्षण नही बनते। इन छहो द्रव्यो में एक-एक व्यवच्छेदक-धर्म—विशेष-धर्म भी है। जैसे—धर्मास्तिकाय का—गति-हेतुत्व गुण, अधर्मास्तिकाय का—स्थिति-हेतुत्व गुण, आकाशास्तिकाय का—अवगाहना-हेतुत्व गुण आदि-आदि।

वैशेषिक मत में ससार की सब वस्तुएँ सात विभागों में बाँटी गई हैं। उनमें 'गुण' भी एक विभाग है। उनका मत है कि कार्य का असमवायि कारण 'गुण' है अर्थात् अनपेक्ष होने पर भी जो कारण नही बनता, वह 'गुण' है। ये गुण चौबीस हैं—(१) रूप, (२) रस, (३) गन्ध, (४) स्पर्श, (५) सख्या, (६) परिणाम, (७) पृथक्त्व, (८) सयोग, (९) विभाग, (१०) परत्व, (११) अपरत्व, (१२) गुरुत्व, (१३) द्रवत्व, (१४) स्नेह, (१५) शब्द, (१६) ज्ञान, (१७) सुख, (१८) दुःख, (१९) इच्छा, (२०) द्वेष, (२१) प्रयत्न, (२२) धर्म, (२३) अधर्म और (२४) सस्कार।

गुण द्रव्य ही में रहते है। वे दो प्रकार के हैं—(१) विशेष और (२) साधारण। रूप, रस, गन्ध, शब्द, ज्ञान, सुख आदि विशेष गुण है।

प्रभाकर २१ गुण मानते हैं। वैशेषिक मत के २४ गुणो में से सख्या, विभाग, पृथक्त्व तथा द्वेष के स्थान पर 'वेग' का समावेश किया गया है।

भट्ट मत में १३ गुण माने गए है—(१) रूप, (२) रस, (३) गन्ध, (४) स्पर्श, (५) परिणाम, (६) पृथक्त्व, (७) सयोग, (८) विभाग, (९) परत्व, (१०) गुरुत्व, (११) अपरत्व, (१२) द्रवत्व और (१३) स्नेह।[१]

साख्य मत में सत्त्व, रजस् और तमस्—ये तीन गुण माने गए हैं। उनका मत है कि इन्ही तीन गुणों के सस्थान-भेद से वस्तुओ में भेद होता है। सत्त्व का स्वरूप है—प्रकाश तथा हलकापन, तमस् का धर्म है—अवरोध, गौरव, आवरण आदि और 'रजस्' का धर्म है—सतत क्रियाशील रहना।

५—पर्याय का (पज्जवाणं ग) :

जो द्रव्य और पर्याय दोनों के आश्रित होता है, उसे 'पर्याय' कहा जाता है। विशेष के दो भेद है—गुण और पर्याय।

द्रव्य का जो 'सहभावी-धर्म' है, वह 'गुण' है और जो 'क्रमभावी-धर्म' है, वह 'पर्याय' है।[२] इसे 'पर्यव' भी कहा जाता है। न्यायालोक की तत्त्वप्रभा विवृत्ति में पर्याय की परिभाषा करते हुए लिखा है—"जो उत्पन्न होता है, विपत्ति (विनाश) को प्राप्त होता है अथवा जो समग्र द्रव्य को व्याप्त करता है, उसे 'पर्याय' (पर्यव) कहते हैं।"[३] नयप्रदीप में भी यही व्याख्या दी गई है।[४] वादिवेताल शाँति सूरि के अनुसार समस्त द्रव्यो और समस्त गुणो में जो व्याप्त होते हैं, उन्हें 'पर्यव' कहा जाता है।[५]

न्यायालोक की परिभाषा का प्रथम अंश 'क्रमभावी धर्म' की अपेक्षा से है और द्वितीय अश 'सहभावी-धर्म' की अपेक्षा से है।

१—गगानाथ झा, पूर्व मीमासा, पृ० ६५।

२—प्रमाणनयतत्त्वालोक, ५।७-८।

३—न्यायालोक,तत्त्वप्रभा विवृत्ति, पत्र २०३

पर्येत्युत्पत्तिं विपत्तिं चाप्नोति, पर्यवति वा व्याप्नोति समस्तमपि द्रव्यमिति पर्याय पयवो वा।

४—नयप्रदीप, पत्र ९९

पर्येति उत्पादमुत्पत्तिं विपत्तिं च प्राप्नोतीति पर्याय।

५—बृहद् वृत्ति, पत्र ५५७

परि—सर्वत —द्रव्येषु गुणेषु सर्वेष्ववन्ति—गच्छन्तीति पर्यवाः।

परिवर्तन जीव में भी होता है और अजीव में भी। इसके आधार पर परिवर्तन के दो रूप बनते है—(१) जीव-पर्याय और (२) अजीव-पर्याय।

परिवर्तन स्थूल भी होता है और सूक्ष्म भी। इसके आधार पर परिवर्तन के दो रूप बनते हैं—(१) व्यञ्जन-पर्याय और (२) अर्थ-पर्याय। स्थूल और कालान्तरस्थायी पर्याय को 'व्यञ्जन-पर्याय' कहते है तथा सूक्ष्म और वर्तमानकालवर्ती पर्याय को 'अर्थ-पर्याय' कहते हैं।

परिवर्तन स्वभाव से भी होता है और पर-निमित्त से भी। इसके आधार पर परिवर्तन के दो रूप बनते हैं—(१) स्वभाव-पर्याय और (२) विभाग-पर्याय। अगुरुलघुत्व आदि पर्याय स्वाभाविक है और मनुष्य, देव, नारक आदि वैभाविक पर्याय है। इन प्रत्येक का अनन्त, असंख्यात और सख्यात भाग गुण-वृद्धि से तीन, तथा अनन्त, असख्यात और अनन्त भाग गुण-हानि से तीन—यों छह-छह प्रकार करने से पर्याय के बारह भेद हो जाते है।

प्रथम कोटि के दो रूप परिवर्तन की सीमा का सूचन करते है। परिवर्तन जीव और अजीव दोनों मे होता है। यह विश्व जीव-अजीवमय है। इसलिए कहना होगा कि समूचा विश्व परिवर्तन का क्षेत्र है।

द्वितीय कोटि के दो रूप परिवर्तन के स्वरूप का बोध कराने वाले है। परिवर्तन व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकार का होता है।

तृतीय कोटि के दो रूपो में परिवर्तन के दो कारणो का निर्देशन है।

एकत्व, पृथक्त्व, सख्या, सस्थान, सयोग, विभाग आदि पर्याय के लक्षण है।[1]

कहा है कि लोक का सामर्थ्य ही ऐसा है कि उसके अन्त तक पहुँचते ही जीव-पुद्गल की गति स्खलित हो जाती है। अत धर्म और अधर्म का फल ही क्या है?

आचार्य सिद्धसेन की उक्ति में तार्किकता है पर दर्शन की परिपूर्णता नही है। उन्होने इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत नही किया कि धर्म और अधर्म को माने बिना लोक और अलोक का विभाजन कैसे होगा? वस्तुत. ये दो ही द्रव्य लोक-अलोक की सीमा-रेखाएँ हैं।

ये द्रव्य की दृष्टि से एक द्रव्य हैं, क्षेत्र की दृष्टि से समूचे लोक मे व्याप्त है, काल की दृष्टि से अनादि-अनन्त हैं, भाव की दृष्टि से अमूर्त हें, गुण की दृष्टि से धर्म—गति-सहायक है और अधर्म—स्थिति-सहायक।

वैज्ञानिको मे सबसे पहले न्यूटन ने गति-तत्त्व (medium of motion) को स्वीकार किया। प्रसिद्ध गणितज्ञ अलबर्ट आइस्टीन ने भी गति-तत्त्व स्थापित किया है। उन्होने कहा—"लोक परिमित है, लोक के परे अलोक अपरिमित है। लोक के परिमित होने का कारण यह है कि द्रव्य अथवा शक्ति लोक के बाहर नही जा सकती। लोक के बाहर उस शक्ति—द्रव्य—का अभाव है जो गति में सहायक होता है।"[2] वैज्ञानिक गति-तत्त्व को 'ether' (ईथर) कहते है। इस ईथर के स्वरूप और उसकी उपयोगिता के विषय में सभी वैज्ञानिक एक मत नहीं हैं।[3]

श्लोक ७

६–श्लोक ७ :

इस श्लोक में 'लोक' क्या है, इसका समाधान दिया गया है। जैन-दृष्टि से जो धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीवमय है, वह लोक है। इसी आगम के अन्य स्थलो में तथा दूसरे आगमो में भी 'लोक' की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ आई हैं। कही धर्मास्तिकाय को लोक

१–उत्तराध्ययन, २८।१३।

२–Cosmology Old and New, pp 43-44

३–विशेष जानकारी के लिए देखिए—(1) The Short History of Science (by Dempiyan), (2) The Nature of the Physical World (by Sir Eddington) and (3) Mysterious Universe (by Sir James Jeans)

कहा गया है,[1] तथा कहीं जीव और अजीव को लोक कहा गया है।[2] कहीं कहा है—लोक पचास्तिकायमय है।[3] इन परिभाषाओं का निरूपण अपेक्षा-भेद से किया गया है, अत इन सबमें कोई विरोध नहीं है।

७—धर्म-अधर्म (धम्मो अहम्मो क) :

जैन-साहित्य मे जहाँ धर्म-अधर्म शब्द का प्रयोग शुभ-अशुभ के अर्थ मे होता है, वहाँ दो स्वतंत्र द्रव्यो के अर्थ में भी होता है। यहाँ उनका प्रयोग द्रव्य के अर्थ में है। धर्म अर्थात् गति-तत्त्व, अधर्म अर्थात् स्थिति तत्त्व। नौवें श्लोक में इनकी परिभाषा करते हुए कहा है—धर्म का लक्षण है गति और अधर्म का लक्षण है स्थिति।[4] भगवती में भी यह संक्षिप्त परिभाषा मिलती है।[5] वहाँ इनके कार्य पर प्रकाश डालने वाला एक संवाद भी है—

गौतम ने भगवान् से पूछा—"भगवन्! धर्मास्तिकाय से क्या होता है?"

भगवान् ने कहा—"गौतम! जीवो के गमन, आगमन, भाषा, उन्मेष, मन-वचन और काया के योगो की प्रवृत्ति तथा इसी प्रकार के दूसरे चल-भाव धर्मास्तिकाय से ही होते हैं।"[6]

जीवो की स्थिति, निषीदन, शयन, मन का एकत्व-भाव तथा इसी प्रकार के अन्य स्थिर-भाव अधर्मास्तिकाय से होते हैं।[7]

सिद्धसेन दिवाकर इन्हे स्वतंत्र द्रव्य मानने की आवश्यकता नहीं समझते। वे लिखते हैं—

प्रयोगविस्रसाकर्म, तदभावस्थितिस्तथा।
लोकानुभाववृत्तान्त, किं धर्माधर्मयो फलम्॥[8]

इसका तात्पर्यार्थ है—गति दो प्रकार की होती है—(१) प्रायोगिक और (२) स्वाभाविक। जीव और पुद्गल में दोनो प्रकार की गति होती है। अत गति के लिए धर्मास्तिकाय की कोई उपयोगिता नहीं रहती। उसी प्रकार गति का अभाव ही स्थिति है। उसमे भी अधर्मास्तिकाय का कोई उपयोग नहीं है। यहाँ यह भी प्रश्न होता है कि यदि गति-स्थिति स्वतंत्र है तो फिर जीव या पुद्गल अलोक में क्यों नहीं जा सकते? इसका समाधान भी उक्त श्लोक में आ गया है।

श्लोक ८

८—श्लोक ८ :

संख्या की दृष्टि से द्रव्यो के दो वर्गीकरण हैं—(१) एक संख्या वाला और (२) अनेक संख्या वाला। धर्म, अधर्म और आकाश

१—भगवती, २।१०।
२—(क) उत्तराध्ययन, ३६।२।
(ख) स्थानांग, २।४।१३०।
३—(क) भगवती, १३।४।
(ख) लोक-प्रकाश, २।३।
४—उत्तराध्ययन, २८।९
गइलक्खणो उ धम्मो, अहम्मो ठाणलक्खणो।
५—भगवती, १३।४
गइलक्खणेण धम्मत्थिकाए।
ठाणलक्खणेण अधम्मत्थिकाए॥
६—वही, १३।४।
७—वही, १३।४।
८—निश्चयद्वात्रिंशिका, श्लो० २४।

सख्या से एक हैं तथा पुद्गल और जीव सख्या से अनेक । यह विभाग निष्कारण नहीं है । जो व्यापक होता है वह एक ही होता है, उसमें विभाग नहीं होते । 'एक ब्रह्म'—मानने वाले ब्रह्म को व्यापक मानते हैं । उसी प्रकार धर्म-अधर्म सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है तथा आकाश लोक और अलोक दोनो मे । अत व्यक्तिश ये एक द्रव्य है ।

श्लोक १०

६—काल का (कालो क) :

काल छह द्रव्यो में एक द्रव्य भी है और जीव-अजीव की पर्याय भी है ।[१] ये दोनो कथन सापेक्ष है, विरोधी नही । निश्चय-दृष्टि में काल जीव-अजीव की पर्याय है और व्यवहार-दृष्टि में वह द्रव्य है । उसे द्रव्य मानने का कारण उसकी उपयोगिता है । वह परिणाम का हेतु है, यही उसका उपकार है । इसी कारण वह द्रव्य माना जाता है । काल के समय (अविभाज्य-विभाग) अनन्त है ।[२]

काल को जीव-अजीव की पर्याय या स्वतत्र द्रव्य मानना—ये दोनो मत आगम-ग्रन्थो में तथा उत्तरवर्ती-साहित्य मे पाए जाते है । प्रस्तुत श्लोक के अनुसार काल का लक्षण है वर्तना है—'वत्तणालक्खणो कालो ।' उमास्वाति ने काल का लक्षण—'वर्तना परिणाम क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य' (तत्त्वार्थ ५।२) दिया है । इसकी आशिक तुलना वैशेपिक दर्शन के 'अपरस्मिन्नपर, युगपच्चिर क्षिप्रमिति काललिंगानि' (२।२।२६)—इस सूत्र से की जा सकती है ।

श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार व्यावहारिक-काल मनुष्य क्षेत्र प्रमाण है और औपचारिक द्रव्य है । नैश्चयिक काल लोक-अलोक प्रमाण है ।

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार 'काल' लोकव्यापी और अणुरूप है ।[३] काल को स्वतत्र न मानने की परम्परा प्राचीन मालूम पडती है । क्योकि लोक क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रन्थो में एक-सा ही है कि 'लोक पचास्तिकायमय है ।'[४] जैनेतर दर्शनो में काल के सम्बन्ध में नैश्चयिक और व्यावहारिक दोनो पक्ष मिलते है । नैयायिक और वैशेपिक काल को सर्वव्यापी और स्वतत्र द्रव्य मानते है ।[५] साख्य, योग तथा वेदान्त आदि दर्शन काल को स्वतत्र द्रव्य न मान कर उसे प्रकृति-पुरुप का ही रूप मानते है । पहला पक्ष व्यवहार मूलक है और दूसरा निश्चय-दृष्टि मूलक ।

श्वेताम्बर-परम्परा की दृष्टि से औपचारिक और दिगम्बर-परम्परा की दृष्टि से वास्तविक काल के उपकार या लिंग पाँच है—(१) वर्तना, (२) परिणाम, (३) क्रिया, (४) परत्व और (५) अपरत्व ।[६]

१—स्थानाग, २।४।९५
समयाति वा, आवलियाति वा, जीवाति वा, अजीवाति वा पवुच्चति ।

२—तत्त्वार्थ सूत्र, ५।४०
सोऽनन्तसमय ।

३—द्रव्यसग्रह, २२
लोगागासपदेसे, एक्केक्के जे ठिया हु एक्केक्का ।
रयणाण रासी इव, ते कालाणू असखदव्वाणि ॥

४—(क) भगवती, १३।४ ।
(ख) पचास्तिकाय, गाथा ३ ।
(ग) तत्त्वार्थ, भाष्य ३।६ ।

५—(क) न्यायकारिका, ४५
जन्याना जनक कालो, जगतामाश्रयो मत ।
(ख) वैशेपिक दर्शन, २।२।६-१० ।

६—तत्त्वार्थ सूत्र, ५।२२ ।

नैयायिकों के अनुसार परत्व, अपरत्व आदि काल के लिंग है ।[1] और वे वैशेषिकों द्वारा प्रस्तुत काल सम्बन्धी वर्णन को मान्य करते है ।[2] वैशेषिक दर्शन ने पूर्व, अपर, युगपत्, अयुगपत्, चिर और क्षिप्र—ये काल के लिंग माने है ।[3] काल सम्बन्धी यह पहला सूत्र है । इसके द्वारा वे काल-तत्व को स्वतंत्र स्थापित करते है और आगे के तीन सूत्रों से इसको द्रव्य, नित्य, एक और समस्त कार्यों के निमित्त रूप मे वर्णित करते हैं ।[4]

नैयायिकों ने काल को नित्य माना है परन्तु मध्वाचार्य ने काल का प्रकृति से उत्पन्न होना और उसी में लय होना माना है ।[5] प्रलय-काल मे भी काल की उत्पत्ति मानी जाती है और इसीलिए काल का आठवाँ हिस्सा 'प्रलय-काल' कहलाता है ।[6] काल में भी काल होता है—जैसे, 'इदानी प्रात काल' । यहाँ इदानी काल वाचक है ।[7] काल सबका आधार है। अनित्य होने पर भी काल का प्रवाह नित्य है। यह सब कार्यों की उत्पत्ति का कारण भी है ।[8]

पूर्व मीमासा के समर्थ व्याख्याकार पार्थसार्थ मिश्र शास्त्रदीपिका की युक्तिस्नेहप्रपूरणी सिद्धान्तचन्द्रिका में काल तत्त्व विषयक मान्यता को स्पष्ट करते हुए वैशेषिक दर्शन की मान्यता को स्वीकार करते हैं । केवल एक बात में भेद है—वैशेषिक काल को परोक्ष मानते है, मीमासक प्रत्यक्ष मानते हैं ।

साख्य दर्शन में 'काल' नामक कोई स्वतंत्र तत्त्व नही । उनके अनुसार काल प्राकृतिक परिणमन मात्र है । जड जगत् प्रकृति का विकार है । इस विकार और परिणाम के आधार पर ही साख्यों ने विश्वगत समस्त काल-साध्य व्यवहारों की उत्पत्ति मानी है ।[9]

डॉ० आइन्स्टीन के अनुसार आकाश और काल कोई स्वतंत्र तथ्य नही है । ये द्रव्य या पदार्थ के धर्म मात्र है । उन्होंने वस्तु का अस्तित्व चार दिशाओं में—लम्बाई, चौडाई, गहराई और ऊँचाई—माना है । वस्तु का रेखागणित (ऊँचाई, लम्बाई, चौडाई) में प्रसार आकाश है और उसका क्रमानुगत प्रसार काल है । काल और आकाश दो भिन्न तथ्य नही हैं । ज्यो-ज्यो काल बीतता है, त्यो-त्यों वह लम्बा होता जा रहा है । काल आकाश-सापेक्ष है । काल की लम्बाई के साथ-साथ आकाश का भी प्रसार हो रहा है । इस प्रकार काल और आकाश दोनो वस्तु धर्म है ।[10] काल अस्तिकाय नही है, क्योंकि उसका स्कन्ध या तिर्यक् प्रचय नही होता । काल के अतीत समय नष्ट हो जाते हैं, अनागत समय अनुत्पन्न होते हैं इसलिए उसका स्कन्ध नही होता । वर्तमान समय एक होता है, इसलिए उसका तिर्यक-प्रचय नही होता ।

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार कालाणुओ की सख्या लोकाकाश के तुल्य है ।[11]

१–न्यायकारिका, ४६ :
परापरत्वधीहेतु क्षणादि स्यादुपाधितः ।
२–पचाध्यायी, पृ० २५४
दिग्देशकालाकाशेष्वप्येव प्रसग
३–वैशेषिक, सूत्र २।२।६ ।
४–वही, सूत्र २।२।७,८,९ ।
५–पदार्थसग्रह, पृ० ६३ ।
६–मध्वसिद्धान्तसार, पृ० ६३ ।
७–वही, पृ० ६५ ।
८–पदार्थसंग्रह, पृ० ६५ ।
९–साख्य प्रवचन, २।१२
दिक्कालाकाशादिभ्य ।
१०–मानव की कहानी, पृ० १२४५ ।
११–द्रव्यसंग्रह, २२ ।

काल के विभाग

काल चार प्रकार का होता है—

(१) प्रमाणकाल—पदार्थ मापने का काल।

(२) यथायुर्निवृत्तिकाल— } जीवन के अवस्थान को यथायुर्निर्वृत्ति काल और उसके 'अन्त' को मरणकाल कहते हैं।

(३) मरणकाल— }

(४) अद्धाकाल— सूर्य, चन्द्र आदि की गति से सम्बन्धित काल।[1]

काल के अन्य विभागों की जानकारी के लिए देखिए—अनुयोगद्वार, सूत्र १३४-१४०।

१०—जीव का लक्षण है उपयोग (जीवो उवओगलक्खणो ख)

संक्षेप में जीव का लक्षण 'उपयोग है'। उपयोग का अर्थ है—चेतना की प्रवृत्ति। चेतना के दो भेद हैं—(१) ज्ञान और (२) दर्शन। इनके आधार पर उपयोग के दो रूप होते हैं—(१) साकार और (२) अनाकार।

विश्व में दो प्रकार के पदार्थ हैं—(१) जड़ और (२) चेतन। इन दोनों में भेद करने वाला गुण 'उपयोग' है। जिसमें उपयोग है—ज्ञान, दर्शन की प्रवृत्ति है, वह जीव है और जिसमें यह नहीं है, वह अजीव है।

इसके अगले श्लोक में जीव के लक्षण का विस्तार से निरूपण हुआ है। उसमें कहा गया है कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग जीव के लक्षण हैं। इन सबको हम दो भागों में बाँट सकते हैं। यह कहा जा सकता है कि जीव के लक्षण दो हैं—(१) वीर्य और (२) उपयोग। ज्ञान और दर्शन का उपयोग में समावेश हो जाता है तथा चारित्र और तप का वीर्य में। इस प्रकार अपेक्षा-भेद से दोनों श्लोकों में जीव के लक्षण का निरूपण किया गया है।

गति, घटना, बढ़ना, फैलना आदि चेतन के लक्षण नहीं बन सकते। ये सभी क्रियाएँ चेतन और अचेतन दोनों में होती हैं। ज्ञान-दर्शन की प्रवृत्ति ही उनकी भेद-रेखा हो सकती है।

श्लोक १२

११—श्लोक १२ :

इस श्लोक में पुद्गल के १० लक्षण गिनाए गए हैं। उनमें चार—वर्ण, रस, गंध और स्पर्श—पुद्गल के गुण हैं और शेष छह—शब्द, अंधकार, उद्योत, प्रभा, छाया और आतप—पुद्गल के परिणाम या कार्य हैं। लक्षण दोनों ही बनते हैं। गुण सदा साथ ही रहते हैं, कार्य निमित्त मिलने पर अभिव्यक्त होते हैं। ये चारों गुण परमाणु और स्कन्ध—दोनों में विद्यमान रहते हैं परन्तु शब्द आदि कार्य स्कन्धों के ही होते हैं।[2]

१२—शब्द (सद्द क) :

जैन-दर्शन के अनुसार शब्द पौद्गलिक, मूर्त्त और अनित्य है।[3] यह पुद्गल का लक्षण या परिणाम माना जाता है।[4] शब्द का अर्थ है—पुद्गलों के संघात और विघात से होने वाले ध्वनि-परिणाम।[5]

१—स्थानांग, ४।१।२६४।

२—तत्त्वार्थ राजवार्तिक, पृ० २३४

स्पर्शादयः परमाणूनां स्कन्धानां च भवन्ति, शब्दादयस्तु स्कन्धानामेव व्यक्तिरूपेण भवन्ति।

३—भगवती, १३।७

रूवी भंते! भासा, अरूवी भासा? गोयमा! रूवी भासा नो अरूवी भासा।

४—नवतत्त्व साहित्य संग्रह, भाग २, पृ० २२

शब्दान्धकारोद्योतप्रभाच्छायाऽऽतपवर्णगन्धरसस्पर्शा एते पुद्गलपरिणामाः पुद्गललक्षणं वेति भावः।

५—स्थानांग, २।३।८१।

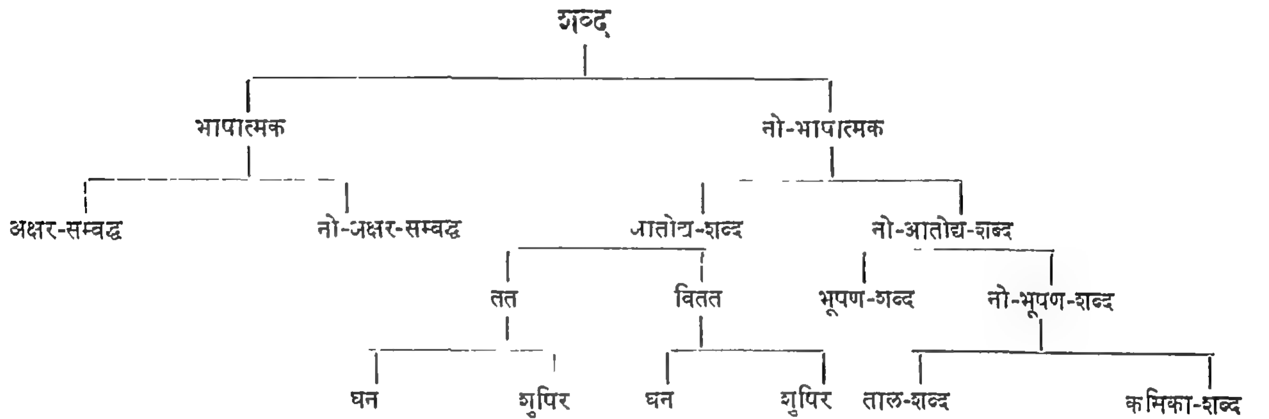
काय-योग के द्वारा शब्द-प्रायोग्य पुद्गलो का ग्रहण होता है और वे शब्द रूप मे परिणत होते है। परन्तु जब वे वाक्-प्रयत्न द्वारा मुख से बोले जाते है तभी उन्हे 'शब्द' सज्ञा से व्यवहृत किया जाता है। जब तक उनका वचन-योग के द्वारा विसर्जन नही हो जाता तब तक उन्हे शब्द नही कहा जाता।

शब्द के तीन प्रकार है—(१) जीव-शब्द, (२) अजीव-शब्द और (३) मिश्र-शब्द। जीव-शब्द आत्म-प्रयत्न का परिणाम है और वह भाषा या सकेतमय होता है। अजीव-शब्द केवल अव्यक्त ध्वन्यात्मक होता है। मिश्र दोनो के सयोग मे होता है।

तत्त्वार्थ भाष्य के अनुसार शब्द के छह प्रकार हैं—(१) तत, (२) वितत, (३) घन, (४) शुषिर, (५) सघर्ष और (६) भाषा।[1]

शब्द के दस प्रकार है—(१) निर्हारी, (२) पिंडिम, (३) रूक्ष, (४) भिन्न, (५) जर्जरित, (६) दीर्घ, (७) ह्रस्व, (८) पृथक्त्व, (९) काकिणी और (१०) किंकिणीस्वर।[2]

शब्द जीव के द्वारा भी होता है और अजीव के द्वारा भी होता है। अजीव का शब्द अनक्षरात्मक ही होता है। जीव का शब्द साक्षर और निरक्षर दोनो प्रकार का होता है। इनके वर्गीकरण के लिए निम्न यत्र देखिए—



शब्द की उत्पत्ति पुद्गलो के सघात-विघात और जीव के प्रयत्न—इन दोनो हेतुओ से होती है। इसलिए प्रकारान्तर से इसके दो वर्ग बनते है—(१) वैस्रसिक और (२) प्रायोगिक।

(१) वैस्रसिक—पुद्गलो के सघात-विघात मे होने वाला।

(२) प्रायोगिक—जीव के प्रयत्न से होने वाला।

शब्द प्रसरणशील है। उससे दो व्यक्ति सम्बन्धित होते है—वक्ता और श्रोता। इसलिए इन दोनों की मीमासा आवश्यक होती है कि वक्ता कैसे बोलता है और श्रोता उसे कैसे सुनता है? पुद्गलो की अनेक वर्गणाएँ हैं। उनमें एक भाषा-वर्गणा है। कोई भी प्राणी जब बोलने का प्रयत्न करता है, तब वह सबसे पहले भाषा-वर्गणा के परमाणु-स्कन्धो को ग्रहण करता है, उन्हें भाषा के रूप में परिणत करता है और उसके पश्चात् उनका विसर्जन करता है। इस विसर्जन को 'भाषा' कहा जाता है।[3]

शब्द गतिशील है, इसलिए वह वक्ता के मुँह से निकलते ही लोक में फैलने लगता है। वक्ता का प्रयत्न तीव्र होता है तो शब्द के परमाणु-स्कन्ध भिन्न होकर फैलते है और यदि उसका प्रयत्न मद होता है तो शब्द के परमाणु-स्कन्ध अभिन्न होकर फैलते हैं। जो भिन्न होकर फैलते हैं, वे सूक्ष्म हो जाते है और दूसरे-दूसरे अनन्त परमाणु-स्कन्धो को प्रभावित कर लोकान्त तक फैल जाते है। जो अभिन्न होकर फैलते है, वे असख्य योजन तक पहुँच कर नष्ट हो जाते हैं—भाषा रूप से च्युत हो जाते हैं।[4]

१—तत्त्वार्थ, सूत्र ५।२४, भाष्य पृ० ३५६।
२—स्थानाग, १०।७०५।
३—भगवती, १३।७
भासिज्जमाणी भासा।
४—प्रज्ञापना, पद ११।

१३–अन्धकार (अन्धयार [क]) :

जैन-दृष्टि के अनुसार अन्धकार पुद्गल द्रव्य है, क्योंकि इसमें गुण है। जो-जो गुणवान् होता है वह-वह द्रव्य होता है, जैसे आलोक आदि।[1] वह प्रकाश की तरह भावात्मक द्रव्य है, अभावात्मक नहीं। जिस प्रकार प्रकाश का भास्कर रूप और उष्ण स्पर्श प्रसिद्ध है, उसी प्रकार अंधकार का कृष्ण रूप और शीत स्पर्श प्रसिद्ध है।

गणधर गौतम ने भगवान् से पूछा—"भगवन्! क्या दिन में उद्योत और रात्रि में अन्धकार होता है?"

भगवान् ने कहा—"हाँ गौतम! दिन में उद्योत और रात्रि में अन्धकार होता है।"

"ऐसा क्यों होता है भगवन्?" गौतम ने पूछा।

भगवान् ने कहा—"गौतम! दिन में शुभ-पुद्गल शुभ-पुद्गल परिणाम में परिणत होते हैं और रात्रि में अशुभ-पुद्गल अशुभ-पुद्गल परिणाम में परिणत होते हैं। इसलिए दिन में उद्योत और रात्रि में अन्धकार होता है।"[2]

अन्धकार पुद्गल का लक्षण है—कार्य है, इसलिए वह पौद्गलिक है।[3] वह पुद्गल का एक पर्याय है।[4] वैद्यक शास्त्र में भी अन्धकार को स्वतन्त्र मान कर उसके गुण का उल्लेख किया है। अन्धकार समस्त रोगों को करने वाला होता है।[5] अन्धकार भयावह, तिक्त और दृष्टि के तेज का आवारक होता है।[6] वैयाकरणों ने अन्धकार को अनुरूप माना है।[7] कई अन्य दार्शनिक भी अन्धकार को द्रव्य मानते हैं।[8]

मध्वाचार्य ने अन्धकार को स्वतन्त्र द्रव्य माना है। वे कहते हैं—यह तेज का अभाव नहीं है। यह प्रकाश का नाशक है। नील रूप तथा चलन रूप क्रिया के आश्रय होने के कारण 'अन्धकार' मूर्त्त द्रव्य है।[9]

१–न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ६६९।

२–भगवती, ५।९।२२०।

३–(क) स्याद्वादमञ्जरी (कारिका ५)

न च तमसः पौद्गलिकत्वमसिद्धम्, चाक्षुषत्वाऽन्यथानुपपत्तेः प्रदीपालोकवत्। रूपवत्त्वाच्च स्पर्शवत्त्वमपि प्रतीयते शीतस्पर्शप्रत्ययजनकत्वात्।

(ख) रत्नाकरावतारिका, पृ० ६९

तमः स्पर्शवत्, रूपवत्त्वात्, पृथिवीवत् न च रूपवत्त्वमसिद्धं अन्धकारः कृष्णोयमिति कृष्णाकारप्रतिभासात्।

४–द्रव्यसंग्रह, गाथा १६।

५–राजनिघण्टु कोष, सत्वादिरेकविंशवर्ग, ३८

आतपः कटुको रूक्षः, छाया मधुरशीतला।
त्रिदोषशमनी ज्योत्स्ना, सर्वव्याधिकरं तमः॥

६–राजवल्लभकोष, ५।२२

तमो भयावहं तिक्तं, दृष्टितेजोवरोधनम्।

७–वाक्यपदीय, १।१११

अणवः सर्वशक्तित्वाद् भेदसंसर्गवृत्तयः।
छायातपतमः शब्दभावेन परिणामिनः॥

८–(क) विधिविवेकन्यायकर्णिका, टीका, पृ० ६९-७९

(ख) मानमेयोदय, पृ० १५२

गुणकर्मादिसद्भावादस्तीति प्रतिभासतः।
प्रतियोग्यस्मृतश्चैव भावरूपं ध्रुवं तमः॥

(ग) तत्त्वप्रदीपिका चित्सुखी, ५५।२८

तमालश्यामलं ज्ञाने निर्बाधं जागृति स्फुटे।
द्रव्यान्तरं तमः कस्मादकस्मादपलप्यते॥

(घ) प्रशस्तपाद भाष्य की व्योमवती टीका, पृ० ४९।

(ङ) स्याद्वाद रत्नाकर, पृ० ८५१-८५५।

९–मध्व सिद्धान्तसार पृ० ६०।

अंधकार जड प्रकृति रूप उपादान से उत्पन्न होता है और वह इतना घनीभूत हो जाता है[१] कि दूसरे कठोर द्रव्य के समान वह भी हथियार से काटा जाता है।[२] महाभारत के युद्ध में जब सूर्य चमक रहा था, उसी समय श्रीकृष्ण ने अन्धकार को उत्पन्न किया। भाव रूप द्रव्य होने के कारण ही ब्रह्मा ने इसका पान किया था। स्वतंत्र रूप से इसकी उपलब्धि लोगों को होती है और वह अन्य वस्तुओं को ढाँक देता है, इसलिए इसका भाव रूप होना निश्चित है।[३]

कुमारिल भट्ट ने अन्धकार को 'अभावात्मक' माना है।[४]

संक्षेप में नैयायिक, वैशेषिक[५] और प्रभाकर दर्शन-प्रणाली में अन्धकार को अभावात्मक माना गया है। जैन, भर्तृहरि, भाट्ट और सांख्य-दर्शन उसे भावात्मक मानते हैं। आयुर्वेद-शास्त्र सांख्य से प्रभावित है, इसलिए उसके प्रणेताओं ने अन्धकार को भावात्मक माना है। विज्ञान में मानी जाने वाली इन्ट्रा अल्ट्रा रेज (Intra ultra rays) और अंधकार में कुछ साम्य संभव है।

१४–छाया (छाया ख) :

प्रत्येक स्थूल पौद्गलिक पदार्थ चय उपचयधर्मक और रश्मिवान् होता है। इसका तात्पर्य है कि पौद्गलिक वस्तु का प्रति समय चय-उपचय होता रहता है और उसमें से तदाकार रश्मियाँ निकलती रहती हैं। यथायोग्य निमित्त मिलने पर ये रश्मियाँ प्रतिबिम्बित होती हैं। इस प्रतिबिम्ब को 'छाया' कहते हैं।

छाया के दो प्रकार हैं—(१) तद्वर्णादिविकार और (२) प्रतिबिम्ब। दर्पण आदि स्वच्छ पदार्थों में जो ज्यों का त्यों आकार देखा जाता है, उसे तद्वर्णादिविकार छाया कहते हैं और अन्य द्रव्यों पर अस्पष्ट प्रतिबिम्ब मात्र पड़ना प्रतिबिम्ब रूप छाया है।

मीमांसाकार यह मानते हैं—दर्पण में छाया नहीं पड़ती, किन्तु नेत्र की किरणें दर्पण में टकरा कर वापिस आती हैं और अपने मुख को देखती हैं।[६]

राजवल्लभकोष (५।२२) में 'छाया दाहश्रमस्वेदहरा मधुरशीतला' कहा गया है। यही बात राजनिघण्टुकोष में भी कही गई है।

न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका (पृ० ३४५) में छाया को 'अभावरूप' माना गया है। विशेष विवरण के लिए देखिए—न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ६६७-६७२।

कुमारिल भट्ट प्रतिबिम्ब को अभावरूप मानते हैं।[७]

१–मध्व सिद्धान्तसार, पृ० ६१।

२–पदार्थसंग्रह, पृ० ६१।

३–वही, पृ० ६१।

४–मीमांसा श्लोकवार्तिक न्यायरत्नाकराख्या टीका, पृ० ७४०

किमिदं तमो नाम ? द्रव्यगुणनिष्पत्तिवैधर्म्याद् अभावस्तम. इति।

५–(क) वैशेषिक, सूत्र ५।२।१९

द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तम।

(ख) वैशेषिक सूत्रोपस्कार, ५।२।२०

उद्भूतरूपवद्यावत्तेज संसर्गाभावस्तम।

६–मीमांसा श्लोकवार्तिक, १८०-१८१

अत्र ब्रूमो यदा तावज्जले सौर्येण तेजसा।
स्फुरता चाक्षुषं तेज प्रतिस्रोतः प्रवर्तितम्॥
स्वदेशमेव गृह्णाति सवितारमनेकधा।
भिन्नमूर्तिर्यथापात्रं तदास्यानेकता कुतः॥

७–तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, पृ० ४१८, ६९७

अतो नास्त्येव किञ्चिद् वस्तु भूतं प्रतिबिम्बकं नाम।

श्लोक १४

१५-श्लोक १४ :

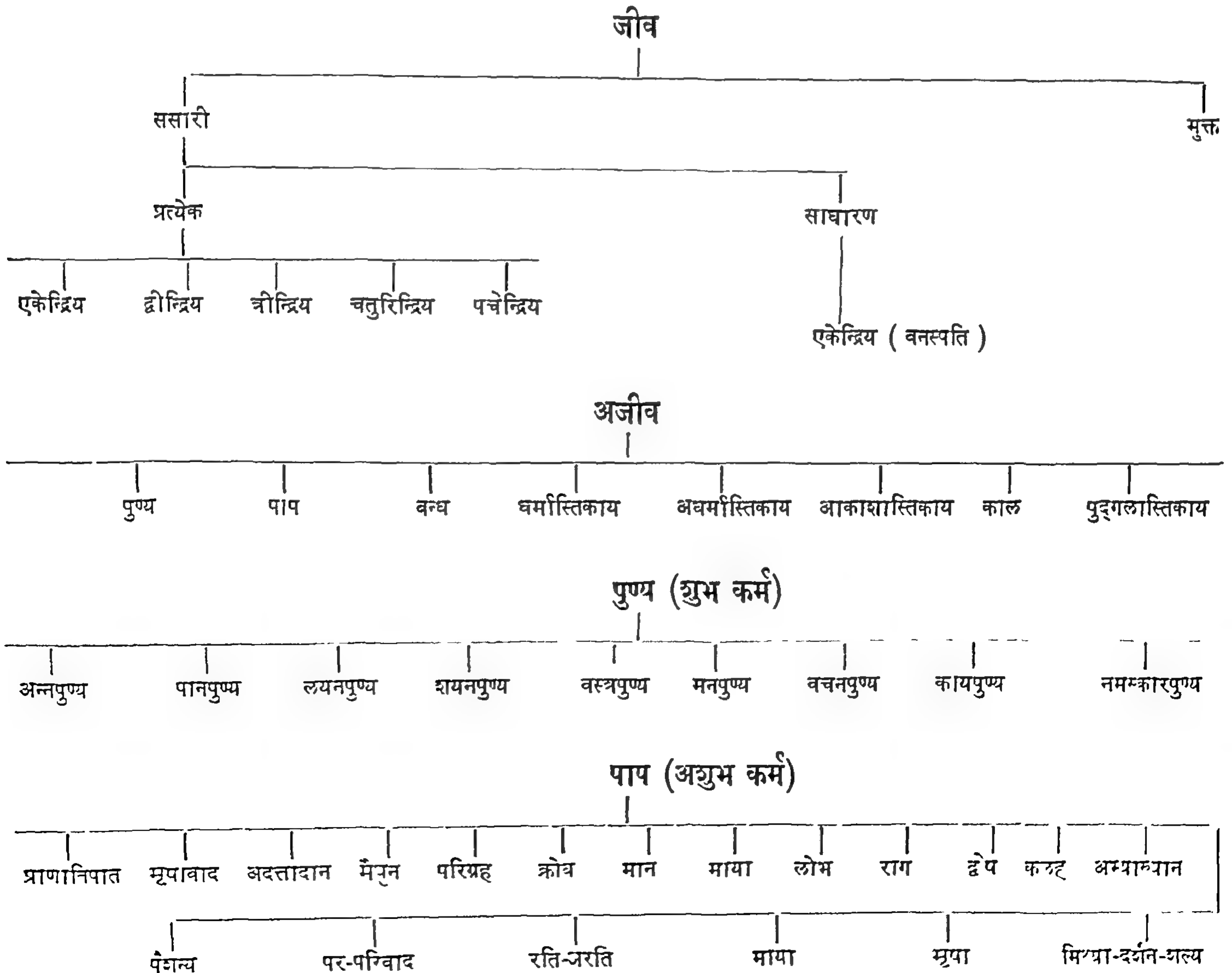
इस श्लोक में नौ तत्त्वों का उल्लेख हुआ है। वस्तुवृत्या तत्त्व दो ही हैं—(१) जीव और (२) अजीव।

नौ तत्त्व इन दो विभागों में समाविष्ट हो जाते हैं। यथा—जीव, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष—जीव में। अजीव, पुण्य, पाप और बन्ध—अजीव में।

आस्रव आदि आत्मा के ही विशेष परिणाम हैं और पुण्य, पाप आदि पौद्गलिक कर्म अजीव के ही विशेष परिणाम हैं। जिस प्रकार लोक की व्यवस्था के लिए छह द्रव्य आवश्यक है, उसी प्रकार आत्मा के आरोह और अवरोह को जानने के लिए नौ तत्त्व उपयोगी हैं। इनके बिना आत्मा के विकास या ह्रास की प्रक्रिया बुद्धिगम्य नहीं हो सकती।

दिगम्बर-ग्रन्थों में नौ तत्त्वों के स्थान पर सात तत्त्व माने गए हैं। पुण्य-पाप को बन्ध के अन्तर्गत माना गया है। दोनों मान्यताएं आपेक्षिक है, उनमें स्वरूप-भेद कुछ भी नहीं है।

नौ तत्त्व तथा उनके भेद-प्रभेद



आस्रव

आस्रव—शुभ-अशुभ कर्म को ग्रहण करने वाला जीव का अध्यवसाय, परिणाम एवं प्रवृत्ति को 'आस्रव' कहा जाता है ।

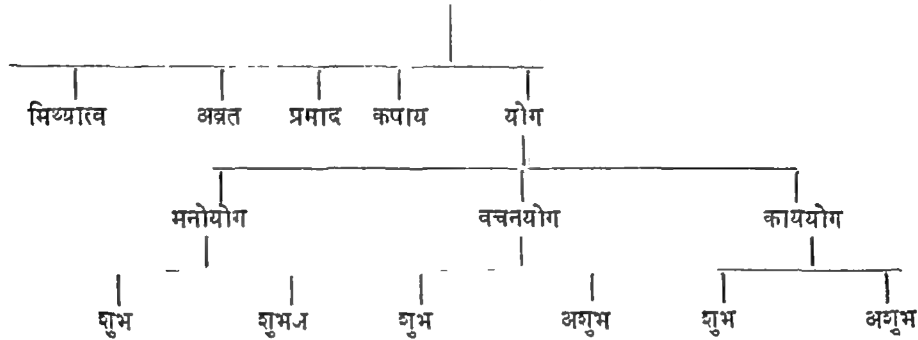
सांख्य-योग में वर्णित 'क्लेश' आस्रव के अति निकट है । महर्षि पतञ्जलि ने कहा है—'कर्म वासना का मूल क्लेश है ।'[1] बौद्ध-दर्शन में अविद्या को अनादि दोष माना है । इस अविद्या के जो निमित्त आत्म-परिणामों के प्रेरक बनते हैं, उन्हें 'आस्रव' कहा जाता है । आस्रव का अर्थ है—मद उत्पन्न करने वाला रस । ये आस्रव चार हैं—(१) काम-आस्रव, (२) भव-आस्रव, (३) दृष्टि-आस्रव और (४) अविद्या आस्रव ।

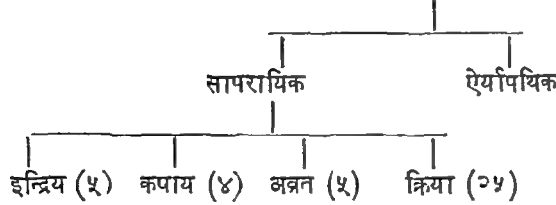
(१) काम-आस्रव— शब्दादि विषयों को प्राप्त करने की इच्छा-कामना या राग ।

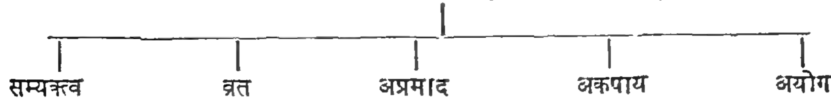
(२) भव-आस्रव— जीवन की अभिलाषा ।

(३) दृष्टि-आस्रव— बौद्ध-दृष्टि से विपरीत दृष्टि का सेवन ।

(४) अविद्या-आस्रव— अनित्य पदार्थों में नित्यता की बुद्धि ।





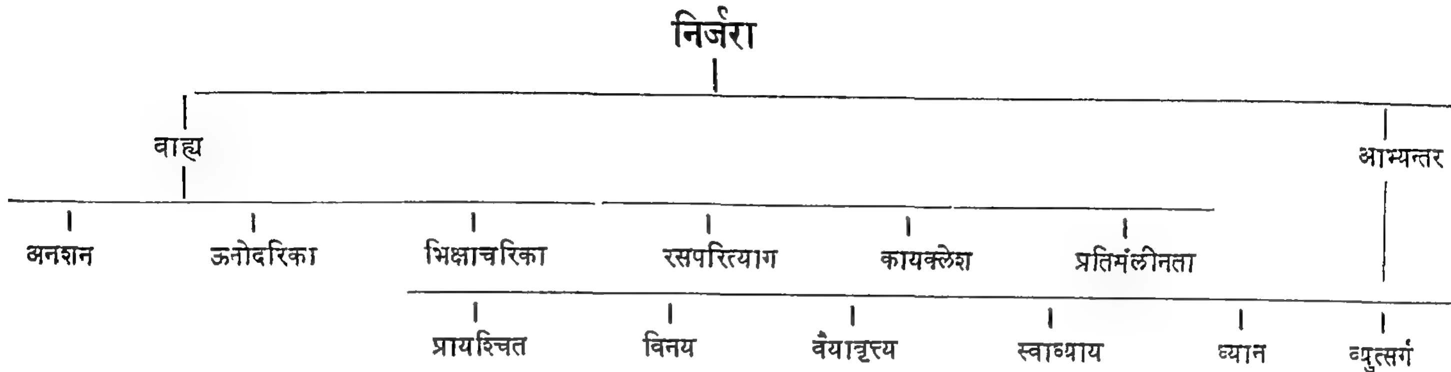




१–योगदर्शन, २।१२ :
क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ।

निर्जरा (तप)

निर्जरा—तपस्या के द्वारा कर्मों का विच्छेद होने पर जो आत्मा की निर्मलता होती है, उसे 'निर्जरा' कहते हैं। निर्जरा के साधन को भी निर्जरा कहा जाता है। उसके आधार पर इसके बारह भेद होते हैं—



मोक्ष—जैन-दृष्टि के अनुसार 'समस्त कर्मों का क्षय कर अपने आत्म-स्वभाव में रमण करना' मोक्ष है। आत्मा का स्वभाव है—ज्ञान, दर्शन और पवित्रता। इन तीनों की पूर्णता ही मोक्ष है। जैन-दृष्टि के अनुसार मुक्त-जीवों के वास-स्थान को भी मोक्ष कहा गया है। सिद्धालय, मुक्ति, ईषत् प्राग्भारा पृथ्वी आदि उसके अपर नाम हैं। यह स्थान मनुष्य क्षेत्र के बराबर लम्बा-चौड़ा है। इसके मध्य भाग की मोटाई आठ योजन की है और अन्तिम भाग मक्खी के पर से भी अधिक पतला है और वह लोक के अग्रभाग में स्थित है। उसका आकार सीधे छत्ते जैसा है और वह श्वेत स्वर्णमयी है।

बौद्ध-दर्शन में तृष्णा के आत्यन्तिक क्षय को 'मोक्ष' कहा है। धम्मदिन्ना नामक भिक्षुणी ने निर्वाण के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर विशाख को इस प्रकार उत्तर दिया—

विशाख—आर्ये! विद्या का क्या प्रतिभाग है ?

धम्मदिन्ना—विमुक्ति०।

विशाख—विमुक्ति का क्या प्रतिभाग है ?

धम्मदिन्ना—निर्वाण०।

विशाख—और निर्वाण का क्या प्रतिभाग है ?

धम्मदिन्ना—विशाख! ब्रह्मचर्य निर्वाण पर्यन्त है, निर्वाण-परायण है, निर्वाण-पर्यवसान है।[1]

भाट्टमत के अनुसार भोगायतन—शरीर, भोग-साधन—इन्द्रियाँ और भोग्य-विषय—इन तीनों के आत्यन्तिक नाश को मोक्ष कहा गया है।[2] अथवा 'प्रपञ्च सम्बन्ध के विलय' को मोक्ष कहा गया है। मोक्षावस्था में जीव में न सुख है, न आनन्द और न ज्ञान है—'तस्मात् निःसम्बन्धो निरानन्दश्च मोक्षः।'[3] मुक्तावस्था में आत्मा में 'ज्ञानशक्तिमात्र' ज्ञान रहता है। साथ ही साथ उसकी सत्ता तथा द्रव्यत्व आदि धर्म तो उसमें रहते ही हैं। यही आत्मा का निजी-स्वरूप है, जिसमें वह मोक्ष में स्थित रहता है—

'यदस्य स्वं नैजं रूपं ज्ञानशक्तिसत्ताद्रव्यत्वादि तस्मिन्नवतिष्ठते।'[4]

१–मज्झिमनिकाय, चूलवेदल्ल सुत्त (१।५।४), पृ० १८३।

२–शास्त्रदीपिका, पृ० १२५

त्रिविधस्यापि बन्धस्यात्यन्तिको विलयो मोक्षः।

३–वही, पृ० १२५-१३०।

४–वही, पृ० १३०।

प्रभाकर धर्म तथा अधर्म का सम्पूर्ण नाश होने से देह के आत्यन्तिक उच्छेद को 'मोक्ष' कहते हैं।[1] इनका मत है कि आत्म-ज्ञान के द्वारा धर्माधर्म का नाश होता है और वही मुक्ति है। मुक्तावस्था में जीव की सत्ता मात्र रहती है।[2]

भास्कर वेदान्त के अनुसार उपाधियों से मुक्त होकर अपने स्वाभाविक स्वरूप को धारण करना मोक्ष है। इसके दो भेद हैं—(१) सद्योमुक्ति और (२) क्रम-मुक्ति। जो साक्षात् कारण-स्वरूप-ब्रह्म की उपासना करने पर मुक्ति पाते हैं, वह 'सद्योमुक्ति' है और जो कार्य-स्वरूप ब्रह्म के द्वारा मुक्ति पाते हैं, उनकी मुक्ति 'क्रम-मुक्ति' है अर्थात् वे देवयान मार्ग से अनेक लोकों में घूमते हुए मुक्त होते हैं।[3] मुक्त-जीव मन के द्वारा मुक्ति में आनन्द का अनुभव करता है। मुक्त-दशा में 'सम्बोध' या 'ज्ञान' आत्मा में रहता ही है। ध्यान, धारणा और समाधि मुक्ति के साधन हैं।

रामानुजाचार्य ने तीन प्रकार की जीवात्माएँ मानी हैं—(१) बद्ध, (२) मुक्त और (३) नित्य। उनके अभिमतानुसार सत्प्रवृत्तियों के द्वारा जीव ईश्वर के पास जाता है, तब उसमें सब तरह के, सभी अवस्था के उपयुक्त भगवान् के प्रति सेवक-भाव तथा स्नेह आविर्भूत हो जाता है और इन सबका अनुभव जीव को होने लगता है। ऐसे 'जीव' मुक्त कहलाते हैं। ये 'मुक्त जीव' ब्रह्म के समान भोग करते हैं। ये भी अनेक हैं तथा सब लोकों में अपनी इच्छा से विचरण करते हैं।[4] मुक्तावस्था में मुक्त-पुरुषों का ज्ञान कभी-कभी व्यापक रहता है।[5]

निम्बार्काचार्य ने दो प्रकार के मुक्त-जीव माने हैं—नित्य-मुक्त और दूसरे वे जो सत्कर्म करते हुए पूर्व-जन्म के कर्मों का भोग सम्पन्न कर संसार के बंधन से मुक्त हो जाते हैं। मुक्त होने पर ये सब अर्चिरादि मार्ग से 'पर ज्योति' स्वरूप को पा कर अपने यथार्थ स्वरूप में प्रकट हो जाते हैं और पुनः संसार में नहीं जाते। इनमें से कई केवल आत्म-साक्षात्कार करके ही तृप्त हो जाते हैं और कई ईश्वर तुल्य बन जाते हैं। इनके अनुसार मुक्त-जीव भी भोग भोगते हैं।[6]

मध्वाचार्य के अनुसार मुक्त-जीव अपनी इच्छा से शुद्ध सत्त्वमय देह धारण कर यथेष्ठ भोग का अनुभव करते हैं और पुनः स्वेच्छा से उसे त्याग देते हैं। किसी-किसी के मत में मुक्त-जीव पाँच भौतिक शरीर के द्वारा भी भोग कर सकता है। यह शरीर उसका 'स्वेच्छा-स्वीकृत शरीर' कहलाता है।[7] इसके अनुसार संसार तथा मोक्ष दोनों ही अवस्था में जीवों में भी परस्पर भेद है। परमात्मा इन सबसे भिन्न है।[8] ज्ञान की तरतमता के कारण परम आनन्द की अनुभूति में भी तारतम्य रहता है।

सांख्य के अनुसार प्रकृति का वियोग हो जाना ही मोक्ष है अथवा विवेक-ख्याति या विवेक-बुद्धि को प्राप्त करना मुक्ति है। मोक्षा-वस्था में भी प्रकृति का सात्त्विक अंश रहता है। मुक्ति में मुक्त-जीवों की संख्या अनन्त है।[9]

वैष्णव तन्त्र

मोक्ष प्राप्ति के लिए जीव को भगवद्-भक्ति द्वारा शरणागति प्राप्त करनी चाहिए।[10] मुक्त-दशा में जीव ब्रह्म से एकाकार हो जाता है और उसका पुनरावर्तन नहीं होता।[11] 'ब्रह्मभावापत्ति' मुक्ति का अपर नाम है।

१—प्रकरणपंचिका, पृ० १५६ :
आत्यन्तिकस्तु देहोच्छेदो मोक्षः।
२—वही, पृ० १५६-१५७।
३—भास्कर भाष्य।
४—यतिपतिमतदीपिका, पृ० ३२-३६।
५—तत्त्वत्रयभाष्य, पृ० ३५-३६।
६—वेदान्तपारिजात सौरभ, ४।४।१३,१५।
७—मध्वसिद्धान्तसार, पृ० ३६-३७।
८—पदार्थसंग्रह, पृ० ३२।
९—सांख्यकारिका, ७० की माठर वृत्ति।
१०—अहिर्बुध्न्यसंहिता, ३७।२७-३१।
११—वही, ६।२७-२८।

शैव तंत्र

'क्रिया' मुक्ति का साधन है, 'ज्ञान' नही । अनुग्रह शक्ति द्वारा जीव ससार के बन्धन से छूट सकता है ।[1]

शाक्त तंत्र

'भोगात्मक-साधना' से मुक्ति प्राप्त होती है ।[2] भोग और मोक्ष में कोई अन्तर नही है । इस मत में माता, भगिनी और पुत्री का भोग करने वालो को भी मुक्ति प्राप्त हो सकती है, ऐसा विधान है ।[3]

वैशेषिक

द्रव्य, गुण आदि षट्पदार्थो मे ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है ।[4] 'धर्म' मोक्ष का साधन है, इसमे तत्त्व-ज्ञान और मोक्ष की प्राप्ति होती है ।[5]

न्याय-दर्शन

प्रमाण-प्रमेय आदि सोलह पदार्थो के ज्ञान से मिथ्या-ज्ञान नष्ट हो जाता है । तदनन्तर राग-द्वेष और मोह का नाश होता है । इससे धर्म-अधर्म रूप प्रवृत्ति का नाश होता है । इससे जन्म का क्षय होता है और इससे दु ख क्षय होता है । दु ख का अत्यन्त क्षय ही मुक्ति है—अपवर्ग है ।[6] मुक्तावस्था मे बुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा सस्कार का मूलोच्छेद हो जाता है ।[7]

इस प्रकार भारतीय तत्त्व-चिन्तन में मोक्ष विषयक अनेक मान्यताऐं प्राप्त होती हैं ।

श्लोक १६

१६–श्लोक १६ :

इस श्लोक में दस रुचियो का उल्लेख हुआ है । रुचि का अर्थ है—सत्य की श्रद्धा ।[8] इन दस रुचियो में विभिन्न अपेक्षाओं से होने वाले सम्यक्त्व के विभिन्न रूपो का वर्गीकरण किया गया है । स्थानाग में इन्हें 'सराग सम्यग्-दर्शन' कहा है ।[9] तत्त्वार्थ राजवार्तिक में दस प्रकार के दर्शन-आर्य बतलाए गए हैं ।[10]

१—सर्वदर्शनसग्रह, पृ० १७४-१८९ ।

२—श्री गुह्यसमाजतत्र, पृ० २७

दुष्करैर्नियमैस्तीव्रै , सेव्यमानो न सिद्धयति ।
सर्वकामोपभोगैस्तु, सेवयश्चाशु सिद्धयति ॥

३—वही, अध्याय ५ ।

४—वैशेषिक सूत्र, १।१।४ ।

५—वही, १।१।२ ।

६—न्यायसूत्र, १।१।२२ ।

७—जयन्तन्यायमजरी, पृ० ५०८ ।

८—बृहद्वृत्ति, पत्र ५६३ ।

९—स्थानाग, १०।७५१ ।

१०—तत्त्वार्थ राजवार्तिक, ३।३६, पृ० २०१ ।

ये दस दर्शन-आर्य दस रुचियो से कुछ समान और कुछ भिन्न हैं—

उत्तराध्ययन	तत्त्वार्थ राजवार्त्तिक
(१) निसर्ग रुचि	आज्ञा-रुचि दर्शन-आर्य—वीतराग की आज्ञा में विश्वास होने के कारण जिन्हें सम्यग्-दर्शन प्राप्त हुआ हो।
(२) उपदेश-रुचि	मार्ग-रुचि दर्शन-आर्य—मोक्ष-मार्ग सुनने से जिन्हें सम्यग्-दर्शन प्राप्त हुआ हो।
(३) आज्ञा-रुचि	उपदेश-रुचि दर्शन-आर्य—तीर्थङ्कर आदि के पवित्र आचरण के उपदेश को सुन कर जिन्हें सम्यग्-दर्शन प्राप्त हुआ हो।
(४) सूत्र-रुचि	सूत्र-रुचि दर्शन-आर्य—आचाराग आदि सूत्रो को सुनने से जिन्हें सम्यग्-दर्शन प्राप्त हुआ हो।
(५) बीज-रुचि	बीज-रुचि दर्शन-आर्य—बीज पदो के निमित्त से जिन्हें सम्यग्-दर्शन प्राप्त हुआ हो।
(६) अभिगम-रुचि	सक्षेप-रुचि दर्शन-आर्य—जीव आदि पदार्थो के सक्षिप्त निरूपण से बोध प्राप्त कर जिन्हें सम्यग्-दर्शन प्राप्त हुआ हो।
(७) विस्तार-रुचि	विस्तार-रुचि दर्शन-आर्य—जीव आदि पदार्थों के विस्तृत निरूपण से बोध प्राप्त कर जिन्हें सम्यग्-दर्शन प्राप्त हुआ हो।
(८) क्रिया-रुचि	अर्थ-रुचि दर्शन-आर्य—वचन विस्तार के बिना केवल अर्थ-ग्रहण से जिन्हें सम्यग्-दर्शन प्राप्त हुआ हो।
(९) सक्षेप-रुचि	अवगाढ-रुचि दर्शन-आर्य—आचाराग आदि बारह अगो (द्वादशागी) में जिनका श्रद्धान अति दृढ हो।
(१०) धर्म-रुचि	परम-अवगाढ दर्शन-आर्य—परम अवधि, केवलज्ञान, दर्शन से प्रकाशित जीव आदि पदार्थों के ज्ञान से जिनकी आत्मा निर्मल हो।

श्लोक ३१

१७—श्लोक ३१ :

सम्यग्-दर्शन का अर्थ है—सत्य की आस्था, सत्य की रुचि। वह दो प्रकार का होता है—(१) नैश्चयिक और (२) व्यावहारिक। नैश्चयिक-सम्यग्-दर्शन का सम्बन्ध केवल आत्मा की आन्तरिक शुद्धि या सत्य की आस्था से होता है। व्यावहारिक-सम्यग्-दर्शन का सम्बन्ध सघ, गण या सम्प्रदाय से भी होता है।

सम्यग्-दर्शन के आठ अगो का निरूपण इन दोनो दृष्टियो को सामने रख कर किया गया है। सम्यग्-दर्शन के आठ अग ये है—(१) निःशकित, (२) निष्काक्षित, (३) निर्विचिकित्सा, (४) अमूढ-दृष्टि, (५) उपबृहण, (६) स्थिरीकरण, (७) वात्सल्य और (८) प्रभावना।

सम्यग्-दर्शन के पाँच अतिचार है—(१) शका, (२) काक्षा, (३) विचिकित्सा, (४) पर-पाषण्ड-प्रशसा और (५) पर-पाषण्ड-सस्तव।

आचार का उल्लघन अतिचार होता है और 'अतिचार' का वर्जन आचार। आचार के अग आठ है और अतिचार के पाँच। इस सख्या-भेद पर सहज ही प्रश्न होता है।

श्रुतसागर सूरि ने इसका समाधान किया है। उनके अनुसार, व्रत और शीलो के पाँच-पाँच अतिचार बतलाए है। अत अतिचारों के वर्णन में सम्यग्-दर्शन के पाँच ही अतिचार बतलाए गए है। शेष तीन अतिचारों का मिथ्यादृष्टि-प्रशसा और मिथ्यादृष्टि-सस्तव में अतर्भाव हो जाता है। जो मिथ्या-दृष्टियो की प्रशसा और स्तुति करता है, वह मूढ-दृष्टि तो है ही। वह उपबृहण नहीं करता, स्थितिकरण नहीं करता।

उससे वात्सल्य और प्रभावना भी सभव नही है ।[1] इस भावना के अनुसार सम्यग्-दर्शन के आठ आचारात्मक और आठ अतिचारात्मक अग होते है ।

(१) नि शकित और शका

शका का अर्थ सदेह भी होता है और भय भी । इन दोनों अर्थों के आधार पर इसकी व्याख्या हुई है । शान्त्याचार्य, हरिभद्र सूरि अभयदेव सूरि, हेमचन्द्राचार्य, नेमिचन्द्राचार्य, स्वामी समन्तभद्र और शिवकोट्याचार्य ने शका का अर्थ 'सदेह' किया है ।[2] आचार्य कुन्दकुन्द ने शका का अर्थ 'भय' किया है ।[3] श्रुतसागर सूरि ने दोनों अर्थ किये हैं ।[4] सक्षेप में—

(१) जिन भाषित-तत्त्व के प्रति जो सदेह होता है, वह शका है ।

(२) जिसका मन सात प्रकार के भयो से व्यथित होता है—वह शका है । यह सम्यग्-दर्शन का अतिचार है । निश्शकित सम्यग्-दर्शन का आचार है । सम्यग्-दृष्टि को असदिग्ध और अभय होना चाहिए ।

(२) निष्काक्षित और काक्षा

काक्षा के दो अर्थ मिलते हैं—(१) एकान्त-दृष्टि वाले दर्शनो के स्वीकार की इच्छा[5] और (२) धर्माचरण के द्वारा सुख-समृद्धि पाने की इच्छा[6] ।

विजयोदया के अनुसार भोग और सुख-सपदा की जो इच्छा है, वह सम्यग्-दर्शन का अतिचार नही है किन्तु दर्शन, व्रत आदि के द्वारा भोग प्राप्ति की इच्छा करना अतिचार है ।[7] निष्काक्षित सम्यग्-दर्शन का आचार है ।

१–तत्त्वार्थ, ७।२३, श्रुतसागरीय वृत्ति, पृ० २४८ ।

२–(क) बृहद्वृत्ति, पत्र ५६७
शङ्कनं शङ्कित—देशसर्वशङ्कात्मक तस्याभावो नि शङ्कितम् ।
(ख) श्रावकधर्मप्रकरण, वृत्ति पत्र २०
भगवदर्हत्प्रणीतेषु धर्माधर्माकाशादिष्वत्यन्तगहनेषु मतिमान्द्यादिभ्योऽनवधार्यमाणेषु सशय इत्यर्थ किमेव स्यात् ? नैवम् इति ।
(ग) स्थानाग, ३।४।२२३, वृत्ति पत्र १७६
शकितो—देशत सर्वतो वा संशयवान् ।
(घ) योगशास्त्र, २।१७ ।
(ङ) प्रवचनसारोद्धार, पत्र ६९ ।
(च) रत्नकरड श्रावकाचार, १ ११ ।
(छ) मूलाराधना, १।४४ विजयोदया
शका—सशयप्रत्यय किंस्विदित्यनवधारणात्मक ।

३–समयसार, गाथा २२८
सम्मदिट्ठी जीवा, णिस्सका होति णिब्भया तेण ।
सत्तभयविप्पमुक्का, जम्हा तम्हा दु णिस्सका ॥

४–तत्त्वार्थ, ७।२३, वृत्ति
तत्र शका—यथा निर्ग्रन्थाना मुक्तिरुक्ता तथा सग्रन्थानामपि गृहस्थादीना किं मुक्तिर्भवति इति शका । अथवा, भयप्रकृति शका ।

५–पुरुषार्थसिध्द्युपाय, २४
इह जन्मनि विभवादीन्यमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन् ।
एकान्तवाद्दूषितपरसमयानपि च नाकाङ्क्षेत ॥

६–तत्त्वार्थ, ७।२३, वृत्ति
इहपरलोकभोगाकाक्षणं काक्षा ।

७–मूलाराधना, १।४४ विजयोदया
न काक्षामात्रमतीचार किंतु दर्शनात् व्रताद्दानाद्देवपूजायास्तपसश्च जातेन पुण्येन ममेद कुल, रूप, वित्त, स्त्रीपुत्रादिक, शत्रुमर्दन, स्त्रीत्व, पुस्त्व वा सातिशय स्यादिति काक्षा इह गृहीता एषा अतिचारो दर्शनस्य ।

(३) निर्विचिकित्सा और विचिकित्सा

विचिकित्सा के भी दो अर्थ मिलते हैं—(१) धर्म के फल में संदेह[1] और (२) जुगुप्सा—घृणा।[2]

आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार भूख-प्यास, शीत-उष्ण आदि नाना प्रकार के भावों तथा मल आदि पदार्थों में घृणा नहीं करनी चाहिए।[3]

स्वामी समन्तभद्र के शब्दों में स्वभावतः अपवित्र किन्तु रत्नत्रयी से पवित्र शरीर में ग्लानि न करना, गुणों में प्रीति करने का नाम निर्विचिकित्सा है।[4]

अमितगति श्रावकाचार में तीसरा अतिचार निन्दा है।[5] हेमचन्द्राचार्य ने भी विचिकित्सा का वैकल्पिक अर्थ 'निन्दा' किया है।[6]

(४) अमूढ-दृष्टि और पर-पाषण्ड-प्रशंसा, पर-पाषण्ड-सम्स्तव—

मूढता का अर्थ है—मोहमयी दृष्टि। स्वामी समन्तभद्र ने उसे तीन भागों में विभक्त किया है

(१) लोक-मूढता—नदी-स्नान आदि में धार्मिक विश्वास।

(२) देव-मूढता—राग-द्वेष वशीभूत देवों की उपासना।

(३) पाषण्ड-मूढता—हिंसा में प्रवृत्त साधुओं का पुरस्कार।[7]

१–प्रवचनसारोद्धार, २६८ वृत्ति, पत्र ६४

विचिकित्सा—मतिविभ्रमः युक्त्यागमोपपन्नेऽप्यर्थे फलं प्रति सम्मोहः।

२–वही, २६८ वृत्ति, पत्र ६४

यद्वा विद्वज्जुगुप्सा—मलमलिना एते इत्यादिसाधुजुगुप्सा।

३–पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, २५

क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु।

द्रव्येषु पुरीषादिषु, विचिकित्सा नैव करणीया॥

४–रत्नकरण्डक श्रावकाचार, १।१३

स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते।

निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता॥

५–अमितगति श्रावकाचार, ७।१६

शंकाकांक्षा निंदा, परशंसासंस्तवौ मलाः पञ्च।

परिहर्तव्या सद्भिः, सम्यक्त्वविशोधिभिः सततम्॥

६–योगशास्त्र, २।१७ वृत्ति, पत्र ६७

यद्वा विचिकित्सा निन्दा सा च सदाचारमुनिविषया यथा अस्नानेन प्रस्वेदजलक्लिन्नमलत्वात् दुर्गन्धवपुष एते इति।

७–रत्नकरण्डक श्रावकाचार, १।२२, २३, २४

आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम्।

गिरिपातोऽग्निपातश्च, लोकमूढं निगद्यते॥

वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः।

देवता यदुपासीत, देवतामूढमुच्यते॥

सग्रन्थारम्भहिंसानां, संसारावर्त्तवर्तिनाम्।

पाषण्डिनां पुरस्कारो, ज्ञेयं पाषण्डिमोहनम्॥

आचार्य हरिभद्र के अनुसार एकान्तवादी तीर्थिको की विभूति देख कर जो मोह उत्पन्न होता है, उसे 'मूढता' कहा जाता है। मिथ्या-दृष्टि की प्रशसा और उसका सस्तव ये दोनो मूढता के ही परिणाम है।[1]

स्वामी समन्तभद्र ने मूढता का अर्थ 'कुपथगामियो का सम्पर्क और उनकी स्तुति' किया है।[2]

मूलाराधना में 'पर-पाषण्ड-सस्तव' के स्थान पर 'अनायतन-सेवा' का प्रयोग किया गया है। अनायतन के छह प्रकार हैं—(१) मिथ्यात्व, (२) मिथ्या-दृष्टि, (३) मिथ्या-ज्ञान, (४) मिथ्या-ज्ञानी, (५) मिथ्या-चारित्र और (६) मिथ्या-चारित्री। इनकी सेवा को 'अनायतन सेवा' कहा जाता है।[3] प्रवचन सारोद्धार मे इसे 'परतीर्थिकोपसेवन' कहा है।[4]

आचार्य हेमचन्द्र ने सस्तव का अर्थ परिचय किया है।[5] परिचय और सेवा ये लगभग समान हैं।

श्रुतसागर सूरि ने सस्तव का अर्थ स्तुति किया है। उनके अनुसार मानसिक श्लाघा—प्रशसा और वाचिक श्लाघा—सस्तव है।[6]

(५) उपबृहण

सम्यग्-दर्शन की पुष्टि करने को 'उपबृहण' कहा जाता है। वसुनन्दि ने 'उपबृहण' के स्थान पर 'उपगूहन' माना है। उसका अ[र्थ] है—प्रमादवश हुए दोषो का प्रचार न करना व अपने गुणो का गोपन करना।[7]

१–श्रावकधर्मविधि प्रकरण, ५८-६०
इड्ढीओ णेगविहा, विज्जाजणिया तवोमयाओ य।
वेउव्वियलद्धिकया, नहगमणाई य दट्ठूण ॥
पूय च असणपाणाइवत्थपत्ताइएहि विविहेहि।
परपासडत्थाण, सक्कोलयाइण दट्ठूण ॥
धिज्जाईयगिहीण, पासत्थाईण वावि दट्ठूण।
जस्स न मुज्झइ दिट्ठी, अमूढदिट्ठि तय विंति ॥

२–रत्नकरण्डक श्रावकाचार, १।१४
कापथे पथि दु खाना, कापथस्थेऽप्यसम्मति।
असपृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढादृष्टिरुच्यते ॥

३–मूलाराधना, १।४४
सम्मत्तादीचारा, सका कखा तहेव विदिगिंछा।
परदिट्ठीण पससा, अणायदणसेवणा चेव ॥
विजयोदया—
अणायदणसेवणा चेव—अनायतन षड्विध मिथ्यात्व, मिथ्यादृष्टय, मिथ्याज्ञान, तद्वन्त, मिथ्याचारित्र मिथ्याचारित्रवन्त इति

४–प्रवचनसारोद्धार, २७३ वृत्ति, पत्र ७०
सका कखा य तहा, वितिगिच्छा अन्नतित्थियपससा।
परतित्थिओवसेवणमइयारा पच सम्मत्ते ॥
'परतीर्थिकोपसेवन'—परतीर्थिकै सह एकत्र सवासात परस्परालापादिजनित परिचय।

५–योगशास्त्र, २।१७ वृत्ति, पत्र ६७
तैर्मिथ्यादृष्टिभिरेकत्र सवासात्परस्परालापादिजनित परिचय सस्तव।

६–तत्त्वार्थ वृत्ति (श्रुतसागरी) ७।२३
मिथ्यादृष्टीना मनसा ज्ञानचारित्रगुणोद्भावन प्रशसा, विद्यमानानामविद्यमानाना मिथ्यादृष्टिगुणाना वचनेन प्रकटन सस्तव उच्यते

७–वसुनन्दि श्रावकाचार, ४८
निस्सका णिक्कखा, णिव्विदिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उवगूहण ठिदियरण, वच्छल्ल पहावणा चेव ॥

आचार्य अमृतचन्द्र ने उपगूहन को उपबृंहण का ही एक प्रकार माना है। उनके अनुसार अपने आत्म-गुणों (मृदुता आदि) की वृद्धि करना तथा पराए दोषों का निगूहन करना—ये दोनों उपबृंहण के अंग हैं।[1]

(६) स्थिरीकरण

धर्म-मार्ग या न्याय-मार्ग से विचलित हो रहे व्यक्तियों को पुनः उसी मार्ग में स्थिर करना यह 'स्थिरीकरण' या 'स्थितिकरण' है।[2]

(७) वात्सल्य

मोक्ष के कारणभूत धर्म, अहिंसा और साधर्मिकों में वत्सल-भाव रखना, उनकी यथायोग्य प्रतिपत्ति रखना, साधर्मिक साधुओं को आहार, वस्त्र आदि देना, गुरु, ग्लान, तपस्वी, शैक्ष, पाहुने साधुओं की विशेष सेवा करना—यह वात्सल्य है।[3]

(८) प्रभावना

तीर्थ की उन्नति हो वैसी चेष्टा करना, रत्नत्रयी—सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चारित्र से अपनी आत्मा को प्रभावित करना, जिन-शासन की महिमा बढ़ाना—यह 'प्रभावना' है।[4] आठ प्रकार के व्यक्ति प्रभावक माने जाते हैं—

(१) प्रवचनी—द्वादशांगी धर, युगप्रधान आगम-पुरुष।
(२) धर्मकथी—धर्म-कथा-कुशल।
(३) वादी—वाद-विद्या में निपुण।
(४) नैमित्तिक—निमित्तविद्।
(५) तपस्वी—तपस्या करने वाला।
(६) विद्याधर—प्रज्ञप्ति आदि विद्याओं का पारगामी।
(७) सिद्ध—सिद्धिप्राप्त।
(८) कवि—कवित्व-शक्ति-सम्पन्न।[5]

१–पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, २७
धर्मोऽभिवर्द्धनीयः सदात्मनो मार्दवादिभावनया।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम्॥

२–(क) प्रवचनसारोद्धार, २६८ वृत्ति, पत्र ६४
स्थिरीकरणं तु धर्माद्विषीदतां तत्रैव चाटुवचनचातुर्यादवस्थापनम्।
(ख) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, २८
कामक्रोधमदादिषु, चलयितुमुदितेषु वर्त्मनो न्याय्यात्।
श्रुतमात्मनः परस्य च, युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यम्॥
(ग) रत्नकरण्डक श्रावकाचार, १।१६
दर्शनाच्चरणाद्वापि, चलतां धर्मवत्सलैः।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितिकरणमुच्यते॥

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ५६७
वत्सलभावो वात्सल्यं—साधर्मिकजनस्य भक्तपानादिनोचितप्रतिपत्तिकरणम्।

४–वही, पत्र ५६७
प्रभावना च—तथा तथा स्वतीर्थोन्नतिहेतुचेष्टासु प्रवर्त्तनात्मिका।

५–योगशास्त्र, २।१६ वृत्ति, पत्र ६५।

आचार्य हरिभद्र ने सिद्ध के स्थान में अतिशय-ऋद्धि-सम्पन्न और कवि के स्थान में राजाओं द्वारा सम्मत व्यक्ति को प्रभावक माना है।[1]

सम्यक्त्व के पाँच भूषण माने जाते हैं—(१) स्थैर्य, (२) प्रभावना, (३) भक्ति, (४) जिन-शासन में कौशल और (५) तीर्थ-सेवा।[2]

स्थैर्य, प्रभावना और भक्ति क्रमशः स्थिरीकरण, प्रभावना और वात्सल्य है। जिन-शासन में कौशल और तीर्थ-सेवा भी वात्सल्य के विविध रूपों का स्पर्श करते हैं।

सम्यग् दर्शन के आठों अंग सत्य की आस्था के परम अंग हैं। कोई भी व्यक्ति शंका (भय या संदेह), कांक्षा (आसक्ति या वैचारिक अस्थिरता), विचिकित्सा (घृणा या निंदा), मूढ़-दृष्टि (अपनी नीति के विरोधी विचारों के प्रति सहमति) से मुक्त हुए बिना सत्य की आराधना कर नहीं सकता और उसके प्रति आस्थावान् रह नहीं सकता। स्व सम्मत धर्म या सार्धर्मिकों का उपबृंहण, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना किए बिना कोई व्यक्ति सत्य की आराधना करने में दूसरों का सहायक नहीं बन सकता। इस दृष्टि से ये आठों अंग बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं।

श्लोक ३२-३३

१८–श्लोक ३२-३३ :

जिससे कर्म का चय रिक्त होता है, वह चारित्र है। यह 'चारित्र' शब्द का निरुक्त है। ३५वें श्लोक में बताया गया है—चारित्र से निग्रह होता है। रिक्त करना और निग्रह करना वस्तुतः एक नहीं है। प्रश्न होता है यह भेद क्यों?

शान्त्याचार्य ने इसके समाधान में लिखा है—तपस्या भी चारित्र के अन्तर्गत है, इसलिए चारित्र के दो कार्य होते हैं—(१) कर्म का निग्रह और (२) कर्म-चय का रिक्तीकरण।[3]

(१–२) सामायिक और छेदोपस्थापनीय—

चारित्र के पाँच प्रकार बतलाए गए हैं। वस्तुतः वह एक ही है। ये भेद विशेष दृष्टियों से किए गये हैं। सर्व सावद्य प्रवृत्ति का त्याग किया जाता है, वह सामायिक चारित्र है। छेदोपस्थापनीय आदि चारित्र इसी के विशेष रूप हैं।[4] बाईस तीर्थङ्करों ने सामायिक चारित्र का उपदेश दिया था। छेदोपस्थापनीय का उपदेश भगवान् ऋषभ और भगवान् महावीर ने दिया था।[5]

१–श्रावकधर्मविधि प्रकरण श्लोक ६७

अइसेसइड्ढि धम्मकहिवाइआयरियखवगनेमित्ती।
विज्जारायागणसम्मया य तित्थं पभावेंति॥

२–योगशास्त्र, २।१६

स्थैर्यं प्रभावना भक्तिः, कौशलं जिनशासने।
तीर्थसेवा च पञ्चास्य, भूषणानि प्रचक्षते॥

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ५६९

'एतद्' अनन्तरोक्तं सामायिकादि चयस्य—राशेः प्रस्तावात्कर्मणां रिक्तं—विरेकोऽभाव इत्यावन् तत्करोतीत्येवंशीलं चयरिक्तकरं चारित्रमिति नैरुक्तो विधिः, आह—वक्ष्यति—"चरित्तेण णिगिण्हाति तवेण य वि (परि) सुज्झति' त्ति" कथं न तेनास्य विरोधः?, उच्यते तपसोऽपि तत्त्वतश्चारित्रान्तर्गतत्वात्।

४–तत्त्वार्थ राजवार्तिक ९।१८

सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षणसामायिकापेक्षया एकं व्रतं, भेदपरतन्त्रच्छेदोपस्थापनापेक्षया पञ्चविधं व्रतम्।

५–(क) मूलाचार, ७।३६

बावीसं तित्थयरा, सामाइय संजमं उवदिसंति।
छेदोवट्ठावणियं पुण, भयवं उसहो य वीरो य॥

(ख) आवश्यक निर्युक्ति, १२८६।

सामायिक-चारित्र दो प्रकार का होता है—

(१) इत्वर—भगवान् ऋषभ और भगवान् महावीर के शिष्यों के यह इत्वर—अल्पकाल के लिए होता है। इसकी स्थिति सात दिन, चार मास या छह मास है। तत्पश्चात् इसके स्थान पर छेदोपस्थापनीय-चारित्र स्वीकार किया जाता है।

(२) यावत्कथिक—शेष बाईस तीर्थङ्करों के शिष्यों के सामायिक-चारित्र यावज्जीवन के लिए होता है।[1]

श्रुतसागर सूरि ने तत्त्वार्थ वृत्ति में इसके दो भेद—परिमित-काल और अपरिमित-काल—किए हैं। स्वाध्याय आदि के समय जो सामायिक किया जाता है, वह परिमित-काल-सामायिक होता है। ईर्यापथ आदि में अपरिमित-काल सामायिक होता है।[2]

पूर्व पर्याय (सामायिक-चारित्र) का छेद कर महाव्रतों में उपस्थित करने को 'छेदोपस्थापनीय' कहा जाता है।[3] सामायिक-चारित्र स्वीकार करते समय सर्व सावद्य योग का त्याग किया जाता है, सावद्य योग का विभागशः त्याग नहीं किया जाता। छेदोपस्थापनीय में विभागशः त्याग किया जाता है। पाँच महाव्रतों का पृथक्-पृथक् त्याग किया जाता है, इसलिए आचार्य वीरनन्दि ने छेद का अर्थ भेद या विभाग किया है।[4] पूज्यपाद के अनुसार तीन गुप्ति (मनो-वाक-काय), पाँच समिति (ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप और उत्सर्ग) तथा पाँच महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह)—इन तेरह भेद वाले चारित्र का निरूपण भगवान् महावीर ने किया था। उनके पूर्ववर्ती तीर्थङ्करों ने ऐसे विभागात्मक चारित्र का निरूपण नहीं किया था।[5]

श्रुतसागर सूरि ने सकल्प-विकल्प के त्याग को भी छेदोपस्थापनीय माना है।[6] छेदोपस्थापनीय के दो प्रकार होते हैं—

(१) सातिचार—दोष सेवन करने वाले मुनि को पुनः महाव्रतों का आरोपण कराया जाता है, वह सातिचार-छेदोपस्थनीय होता है।

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ५६८

एतच्च द्विधा—इत्वर यावत्कथिक च, तत्रेत्वर भरतैरावतयो प्रथमचरमतीर्थकरतीर्थयोरुपस्थापनायां छेदोपस्थापनीयचारित्रभावेन तत्र तद्व्यपदेशाभावात्, यावत्कथिक च तयोरेव मध्यमतीर्थकरतीर्थेषु महाविदेहेषु चोपस्थापनाया अभावेन तद्व्यपदेशस्य यावज्जीवमपि सम्भवात्।

२—तत्त्वार्थ, ९।१८ वृत्ति

तत्र सामायिक द्विप्रकारम्—परिमितकालमपरिमितकालञ्चेति। स्वाध्यायादौ सामायिकग्रहण परिमितकालम्। ईर्यापथादावपरिमितकाल वेदितव्यम्।

३—बृहद् वृत्ति, पत्र ५६८।

४—आचारसार, ५।६-७

व्रत-समिति-गुप्तिगै, पच पच त्रिभिर्मतैः।
छेदै भेदै रुपेत्यार्थ, स्थापन स्वस्थितिक्रिया॥
छेदोपस्थापन प्रोक्त, सर्वसावद्यवर्जने।
व्रत हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्म सगेष्वसगम॥

५—चारित्रभक्ति, श्लोक ७

तिस्र सत्तमगुप्तय स्तनुमनोभाषानिमित्तोदया।
पचेर्यादिसमाश्रया समितयः पचव्रतानीत्यपि॥
चारित्रोपहित त्रयोदशतय पूर्व न दिष्ट परै-
राचार परमेष्ठिनो जिनपते वीरान् नमामो वयम्॥

६—तत्त्वार्थ, ९।१८ वृत्ति

सकल्पविकल्पनिषेधो वा छेदोपस्थापना भवति।

(२) निरतिचार—शैक्ष (नव-दीक्षित) मुनि सामायिक-चारित्र के पश्चात् अथवा एक तीर्थङ्कर के तीर्थ में से दूसरे तीर्थङ्कर के तीर्थ दीक्षित होने वाले मुनि, जो छेदोपस्थापनीय-चारित्र स्वीकार करते हैं, वह निरतिचार होता है।[1]

(३) परिहार विशुद्धि— यह दो प्रकार का होता है—(१) निर्विशमानक और (२) निर्विष्टकायिक।

इसकी आराधना नौ साधु मिल कर करते है। इसका काल-मान अठारह मास का है। प्रथम छह माही में चार साधु तपस्या क... है, चार साधु सेवा करते हैं और एक वाचनाचार्य (गुरुस्थानीय) रहता है। दूसरी छह माही में तपस्या करने वाले सेवा और सेवा करने .. तपस्या में सलग्न हो जाते है। तीसरी छह माही में वाचनाचार्य तप करते है, एक साधु वाचनाचार्य हो जाता है, शेष सेवा में सलग्न होते हैं तपस्या में सलग्न होते है वे 'निर्विशमानक' और जो कर चुकते है वे 'निर्विष्टकायिक' कहलाते है। उनकी तपस्या का क्रम इस प्रकार है—

	जघन्य	मध्यम	उत्कृष्ट
(१) ग्रीष्म	उपवास	बेला	तेला
(२) शिशिर	बेला	तेला	चौला
(३) वर्षा	तेला	चौला	पचौला

पारणा मे आचामाम्ल (आम्ल-रस के साथ एक अन्न व जल लेकर) तप किया जाता है। जो तप में सलग्न नही होते, वे भ... आचामाम्ल करते है। उनकी चारित्रिक विशुद्धि विशिष्ट होती है। परिहार का अर्थ 'तप' है। तप से विशेष शुद्धि प्राप्त की जाती है।[2]

श्रुतसागर सूरि ने परिहार का अर्थ 'प्राण-वध की निवृत्ति' किया है। जिसमे अहिंसा की विशिष्ट साधना हो, वह परिहार-विशुद्धि चारि... है। उनके अनुसार जिस मुनि की आयु बत्तीस वर्ष की हो, जो बहुत काल तक तीर्थङ्कर के चरणो मे रह चुका हो, प्रत्याख्यान नाम... नवम पूर्व मे वर्णित सम्यक् आचार का जानने वाला हो, प्रमाद-रहित हो और तीनो सन्ध्याओ को छोड कर केवल दो गव्यूति (चार मील) गमन करने वाला हो, उस मुनि के परिहार-विशुद्धि-चारित्र होता है। तीर्थङ्कर के पाद-मूल मे रहने का काल वर्ष-पृथक्त्व (तीन वर्ष से अधिक और नौ वर्ष से कम) है।[3]

(४।५) सूक्ष्म सपराय और यथाख्यात

सामायिक या छेदोपस्थापनीय-चारित्र की आराधना करते-करते क्रोध, मान और माया के अणु उपशान्त या क्षीण हो जाते है, ... लोभाणुओ का सूक्ष्म रूप मे वेदन होता है, उस समय की चारित्र-स्थिति को 'सूक्ष्म-सपराय चारित्र' कहा जाता है।[4] चौदह गुणस्थानों मे सूक्ष्म सपराय नामक दसवाँ गुणस्थान यही है। जब क्रोध, मान, माया और लोभ सर्वथा उपशान्त या क्षीण हो जाते है, उस समय की चारित्र-स्थिति को 'यथाख्यात चारित्र' कहा जाता है। यह वीतराग-चारित्र है। गुणस्थानो में यह चारित्र दो भागो में विभक्त है। 'उपशमात्मक-यथाख्यात चारित्र' उपशान्त-मोह नामक ग्यारहवें और 'क्षयात्मक-यथाख्यात चारित्र' क्षीण-मोह नामक बारहवें आदि गुणस्थान में समाते हैं।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ५६८

छेद—सातिचारस्य यतेर्निरतिचारस्य वा शिक्षकस्य तीर्थान्तरसम्बन्धिनो वा तीर्थान्तर प्रतिपद्यमानस्य पूर्वपर्यायव्यवच्छेदरूप- स्तद्युक्तोपस्थापना महाव्रतारोपणरूपा यस्मिंस्तच्छेदोपस्थापनम्।

२–(क) स्थानांग ५।४२८ वृत्ति, पत्र ३२४।

(ख) प्रवचनसारोद्धार, ६०२-६१०।

३–तत्त्वार्थ, ९।१८ वृत्ति

परिहरणं परिहारः प्राणिवधनिवृत्तिरित्यर्थः। परिहारेण विशिष्टा शुद्धिः कर्ममलकलङ्कप्रक्षालनं यस्मिन् चारित्रे तत्परिहार- विशुद्धि चारित्रमिति वा विग्रहः। तल्लक्षणं यथा—द्वात्रिंशद्वर्षजातस्य बहुकालतीर्थकरपादसेविनः प्रत्याख्याननामधेयनवम पूर्वप्रोक्तसम्यगाचारवेदिनः प्रमादरहितस्य अतिपुष्कलचर्यानुष्ठायिनस्तिस्रः सन्ध्या वर्जयित्वा द्विगव्यूतिगामिनो मुनेः परिहार- विशुद्धिचारित्रं भवति। त्रिवर्षादुपरि नववर्षाभ्यन्तरे वर्षपृथक्त्वमुच्यते।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ५६८

सूक्ष्मः—किट्टीकरणतः सम्परैति—पर्यटति अनेन संसारमिति सम्परायो—लोभाख्यः कषायो यस्मिंस्तत्सूक्ष्मसम्परायम्।

अध्ययन २९

सम्मत्तपरक्कमे

सूत्र १,२

१–संवेग (मोक्ष की अभिलाषा) से निर्वेद से (संवेगेण निव्वेएणं) :

सम्यग्-दर्शन के पाँच लक्षणों मे संवेग दूसरा और निर्वेद तीसरा है। संवेग का अर्थ है 'मोक्ष की अभिलाषा'[1] और निर्वेद का अर्थ है 'संसार-त्याग की भावना या काम-भोगों के प्रति उदासीन-भाव।'[2]

श्रुतसागर सूरि ने निर्वेद के तीन अर्थ किए है—(१) संसार-वैराग्य, (२) शरीर-वैराग्य और (३) भोग-वैराग्य।[3]

प्रस्तुत दो सूत्रो में कहा गया है कि संवेग से धर्म-श्रद्धा उत्पन्न होती है और निर्वेद से विषय-विरक्ति। इन परिणामो के अनुसार संवेग और निर्वेद की उक्त परिभाषाएँ समीचीन है। कई आचार्य संवेग का अर्थ 'भव-वैराग्य' और निर्वेद का अर्थ 'मोक्षाभिलाषा' भी करते है। किन्तु इस प्रकरण से वे फलित नही होते।

विशुद्धिमग्ग दीपिका के अनुसार जो मनोभाव उत्तम-वीर्य वाली आत्मा को वेग के साथ कुशलाभिमुख करता है, वह 'संवेग' कहलाता है।[4] इसका अभिप्राय भी मोक्षाभिलाषा से भिन्न नही है।

संवेग और धर्म-श्रद्धा का कार्य-कारण-भाव है। मोक्ष की अभिलाषा होती है तब धर्म मे रुचि उत्पन्न होती है और जब धर्म में रुचि उत्पन्न हो जाती है तब मोक्ष की अभिलाषा विशिष्टतर हो जाती है। जब संवेग विशिष्टतर होता है तब अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ क्षीण हो जाते हैं, दर्शन विशुद्ध हो जाता है।

जिसका दर्शन विशुद्ध हो जाता है, उसके कर्म का बन्ध नहीं होता। वह उसी जन्म मे या तीसरे जन्म मे अवश्य ही मुक्त हो जाता है। 'कम्मं न बंधई' इस पर शान्त्याचार्य ने लिखा है कि अशुभ-कर्म का बंध नहीं होता।[5] सम्यग्-दृष्टि के अशुभ-कर्म का बंध नही होता, ऐसा नही कहा जा सकता। अशुभ-योग की प्रवृत्ति छठे गुणस्थान तक हो सकती है और कषाय जनित अशुभ-कर्म का बन्ध दसवें गुणस्थान तक होता है। इसलिए इसे इस रूप में समझना चाहिए कि जिसका दर्शन विशुद्ध हो जाता है, अनन्तानुबंधी चतुष्क सर्वथा क्षीण हो जाता है, उसके नये सिरे से मिथ्या-दर्शन के कर्म-परमाणुओं का बंध नही होता। वह उसी जन्म में या तीसरे जन्म में अवश्य ही मुक्त हो जाता है। इसका सम्बन्ध दर्शन की उत्कृष्ट आराधना से है। जघन्य और मध्यम आराधना वाले अधिक जन्मों तक संसार में रह सकते हैं। किन्तु उत्कृष्ट आराधना वाले

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ५७७
संवेगो—मुक्त्यभिलाषः।

२–वही, पत्र ५७८
'निर्वेदेन' सामान्यतः—संसारविषयेण कदाऽसौ त्यक्ष्यामीत्येवंरूपेण।

३–षट् प्राभृत, पृ० ३६३, मोक्ष प्राभृत ८२ टीका
निर्वेदः संसार-शरीर-भोग-विरागता।

४–विशुद्धिमग्ग दीपिका ८, पृ० ६८
'संवेगो' ति उत्तमविरियं य दुमगं वेगेन कुशलाभिमुखं करोति।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ५७७
'कर्म' प्रस्तावादशुभप्रकृतिरूपं 'न बध्नाति'।

तीसरे जन्म का अतिक्रमण नहीं करते । यह तथ्य भगवती (८।१०) से भी समर्थित है । गौतम ने पूछा—"भगवन् ! उत्कृष्ट दर्शनी कितने ज में सिद्ध होता है ?" भगवान् ने कहा—"गौतम ! वह उसी जन्म में ही सिद्ध हो जाता है और यदि उस जन्म में न हो तो तीसरे जन्म में अ हो जाता है ।"

जैन साधना-पद्धति का पहला सूत्र है—मिथ्यात्व-विसर्जन या दर्शन-विशुद्धि । दर्शन की विशुद्धि का हेतु संवेग है, जो नैसर्गिक होता है और आधिगमिक भी । साधना का दूसरा सूत्र है—प्रवृत्ति-विसर्जन या आरम्भ-परित्याग । उसका हेतु निर्वेद है । जब तक नि- नहीं होता, तब तक विषय-विरक्ति नहीं होती और उसके बिना आरम्भ का परित्याग नहीं होता । दशवैकालिक निर्युक्ति में भिक्षु के सतरह लि बताए गए हैं, वहाँ संवेग और निर्वेद को प्रथम स्थान दिया गया है ।

सूत्र ४

२—श्लाघा, गुण-प्रकाशन, भक्ति और बहुमान के द्वारा (वण्णसंजलणभत्तिबहुमाणयाए) :

वर्ण, सञ्ज्वलन, भक्ति और बहुमान—ये चारों विनय-प्रतिपत्ति के अंग हैं । वर्ण का अर्थ है 'श्लाघा' ।[1] कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक—ये चारों पर्याय-शब्द हैं । इनमें कुछ अर्थ-भेद भी है ।[2]

सञ्ज्वलन का अर्थ है 'गुण-प्रकाशन' ।[3]

भक्ति का अर्थ है 'हाथ जोड़ना, गुरु के आने पर खड़ा होना, आसन देना आदि-आदि ।'[4]

बहुमान का अर्थ है 'आन्तरिक अनुराग ।'[5]

दशवैकालिक चूर्णि में भक्ति और बहुमान में जो अन्तर है, उसे एक उदाहरण द्वारा समझाया है ।[6]

सूत्र ५

३—माया, निदान और मिथ्या-दर्शन-शल्य को (मायानियाणमिच्छादंसणसल्लाणं) :

जो मानसिक वृत्तियाँ और अध्यवसाय शल्य (अन्तर्व्रण) की तरह क्लेशकर होते हैं, उन्हें 'शल्य' कहा जाता है । वे तीन हैं—

(१) माया ।

(२) निदान—तप के फल की आकांक्षा करना, भोग की प्रार्थना करना ।[7]

(३) मिथ्या-दर्शन—मिथ्या-दृष्टिकोण ।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ५७०
वर्णः—श्लाघा ।

२–दसवेआलियं (भाग २), सार्थ सटिप्पण, पृ० ५०९ ।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ५७९
सञ्ज्वलनम्—गुणोद्भासनम् ।

४–वही, पत्र ५७९
भक्तिः—अञ्जलिप्रग्रहादिका ।

५–वही, पत्र ५७९
बहुमानम्—आन्तरप्रीतिविशेषः ।

६–दशवैकालिक जिनदास चूर्णि, पृ० ९० ।

७–बृहद् वृत्ति, पत्र ५८०
निदानम्—ममानेन प्रकृष्टादेरिदं स्यात् इति प्रार्थनात्मकम् ।

ये तीनो मोक्ष-मार्ग के विघ्न और अनन्त संसार के हेतु है। स्थानांग (१०।७३३) मे कहा है—आलोचना वही व्यक्ति कर सकता है, जो मायावी नही होता।

सूत्र ६

४–परिणाम-धारा को (करणगुणसेढिं) :

सक्षेप में 'करण-सेढि' का अर्थ है 'क्षपक-श्रेणि'। मोह-विलय की दो प्रक्रियाएँ है। जिसमें मोह का उपशम होते होते वह सर्वथा उपशान्त हो जाता है, उसे 'उपशम-श्रेणि' कहा जाता है। जिसमें मोह क्षीण होते-होते पूर्ण क्षीण हो जाता है, उसे 'क्षपक-श्रेणि' कहा जाता है। उपशम-श्रेणि से मोह का सर्वथा उद्घात नही होता, इसलिए यहाँ क्षपक-श्रेणि ही प्राप्त है।[1] करण का अर्थ 'परिणाम' है। क्षपक-श्रेणि का प्रारम्भ आठवें गुणस्थान से होता है। वहाँ परिणाम-धारा वैसी शुद्ध होती है, जैसे पहले कभी नही होती। इसीलिए आठवें गुणस्थान को 'अपूर्व करण' कहा जाता है। अपूर्व-करण से जो गुण-श्रेणि प्राप्त होती है, उसे 'करण-गुण-श्रेणि' कहा जाता है।[2] यह जब प्राप्त होती है तब मोहनीय-कर्म के परमाणुओ की स्थिति अल्प हो जाती है और उनका विपाक मन्द हो जाता है। इस प्रकार मोहनीय-कर्म निर्वीर्य बन जाता है।

सूत्र ७

५–अनादर को (अपुरक्कार) :

यहाँ 'अपुरक्कार'-अपुरस्कार का अर्थ 'अनादर' या 'अवज्ञा' है। यह व्यक्ति गुणवान है, कभी भूल नही करता—इस स्थिति का नाम पुरस्कार है। अपने प्रमादाचरण को दूसरो के सामने प्रस्तुत करने वाला इससे विपरीत स्थिति को प्राप्त होता है, वही अपुरस्कार है।

६–अनन्त-विकास का घात करने वाले ज्ञानावरण आदि कर्मों की परिणतियों को (अणन्तघाइपज्जवे) :

आत्मा के चार गुण अनन्त हैं—(१) ज्ञान, (२) दर्शन, (३) वीतरागता और (४) वीर्य। इनके आवारक परमाणुओ को ज्ञानावरण और दर्शनावरण, सम्मोहक प्रमाणुओं को मोह तथा विघातक प्रमाणुओ को अंतराय-कर्म कहा जाता है। इनकी अनन्त-परिणतियों से आत्मा के अनन्त गुण आवृत्त, सम्मोहित और प्रतिहत होते है।

सूत्र १२

७–कायोत्सर्ग—ध्यान की मुद्रा से (काउस्सग्गेण) :

सामाचारी-अध्ययन में कायोत्सर्ग को 'सव-दुःख विमोचक' कहा है।[3] शान्त्याचार्य ने कायोत्सर्ग का अर्थ—'आगमोक्त-नीति के अनुसार शरीर को त्याग देना' किया है।[4] क्रिया-विसर्जन और ममत्व-विसर्जन ये दोनो आगमोक्त-नीति के अंग है।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ५८०
प्रक्रमात्क्षपकश्रेणिरेव गृह्यते।

२–वही, पत्र ५७९
करणेन—अपूर्वकरणेन गुणहेतुका श्रेणि करणगुणश्रेणि।

३–उत्तराध्ययन, २६।३८, ४१, ४६ ४९।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ५८१
काय —शरीर तस्योत्सर्ग—आगमोक्तनीत्या परित्याग कायोत्सर्ग।

सूत्र १४

८—स्तव और स्तुति (थवथुइ) :

सामान्यत 'स्तुति' और 'स्तव' इन दोनो का अर्थ 'भक्ति और बहुमानपूर्ण श्रद्धाञ्जलि अर्पित करना' है। किन्तु साहित्य-शास्त्र की विशेष परम्परा के अनुसार एक, दो या तीन श्लोक वाली श्रद्धाञ्जलि को 'स्तुति' और तीन से अधिक श्लोक वाली श्रद्धाञ्जलि को 'स्तव' कहा जाता है कुछ लोग सात श्लोक तक की श्रद्धाञ्जलि को भी स्तुति मानते है।[1]

सूत्र १५

९—काल-प्रतिलेखना से (कालपडिलेहणयाए) :

श्रमण की दिन-चर्या में काल-मर्यादा का बहुत बडा स्थान रहा है। दशवैकालिक में कहा है—"वह सब काम ठीक समय पर करे।"[2] यही बात सूत्रकृताग मे कही गई है।[3] व्यवहार में बताया गया है—अस्वाध्याय में स्वाध्याय न किया जाए।[4] काल-ज्ञान के प्राचीन साधनो मे 'दिक्-प्रतिलेखन' और 'नक्षत्र अवलोकन' भी प्रमुख थे। मुनि स्वाध्याय से पूर्व काल की प्रतिलेखना करते थे। जिन्हें नक्षत्र-विद्या का कुशल ज्ञान होता, वे इस कार्य के लिए नियुक्त होते थे। यान्त्रिक घडियों के अभाव में इस कार्य को बहुत महत्त्व दिया जाता था। विशेष विवरण के लिए देखिए—ओघनिर्युक्ति, गा० ६४१-६५४।

सूत्र १६

१०—मार्ग (सम्यक्त्व) (मग्ग) :

शान्त्याचार्य ने मार्ग के तीन अर्थ किये हैं—(१) सम्यक्त्व,[5] (२) सम्यक्त्व एव ज्ञान[6] और (३) मुक्ति-मार्ग।[7]

मार्ग-फल का अर्थ 'ज्ञान' किया गया है।[8] उत्तराध्ययन (२८।२) मे ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—इन चारों को 'मार्ग' कहा है। प्रायश्चित्त के प्रकरण में मार्ग का अर्थ सम्यक्त्व अधिक उपयुक्त है। प्रायश्चित्त तपस्या-मय होता है, इसलिये तप उसका परिणाम नही हो

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ५८१

एगदुगतिसिलोगा (थुइओ) अन्नेसि जाव हुति सत्तेव।
देविंदत्थवमाई तेण पर थुतया होति॥

२—दशवैकालिक, ५।२।४

काले कालं समायरे।

३—सूत्रकृताग, २।१।१५

अन्न अन्नकाले, पाण पाणकाले, वत्थ वत्थकाले, लेण लेणकाले, सयण सयणकाले।

४—व्यवहार सूत्र ७।१०६

नो कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा असज्झाए सज्झाय करित्तए।

५—बृहद् वृत्ति, पत्र ५८३

मार्गं—इह ज्ञानप्राप्तिहेतु सम्यक्त्वम्।

६—वही, पत्र ५८३

यद्वा मार्गं—चारित्रप्राप्तिनिबन्धनतया दर्शनज्ञानाख्यम।

७—वही, पत्र ५८३

अथवा मार्गं च मुक्तिमार्गं क्षायोपशमिकदर्शनादि।

८—वही पत्र ५८३

तत्फल च ज्ञानम्।

सकता।[1] चारित्र (आचार-शुद्धि) इसी सूत्र में आगे प्रतिपादित है। शेष ज्ञान और दर्शन (सम्यक्त्व) दो रहते हैं। उनमें दर्शन 'मार्ग' है और उसकी विशुद्धि से ज्ञान विशुद्ध होता है, इसलिए वह 'मार्ग-फल' है।

आचार्य वट्टकेर ने श्रद्धान (दर्शन) को प्रायश्चित्त का एक प्रकार माना है।[2] वृत्तिकार वसुनन्दि ने उसके दो अर्थ किए हैं—(१) तत्त्व रुचि का परिणाम और (२) क्रोध आदि का परित्याग।[3]

सूत्रकार का आशय यह है कि प्रायश्चित्त से दर्शन की विशिष्ट विशुद्धि होती है। इसलिये ज्ञान और दर्शन को प्रायश्चित्त भी माना जा सकता है और परिणाम भी।

सूत्र १७

११—सूत्र १७ :

सत्य की प्राप्ति उसी व्यक्ति को होती है, जो अभय होता है। भय के हेतु हैं—राग और द्वेष। उनसे वैर-विरोध बढ़ता है। वैर-विरोध होने पर आत्मा की सहज प्रसन्नता नष्ट हो जाती है। सब जीवों के साथ मैत्री-भाव नहीं रहता। मन भय से भर जाता है। इस प्रकार व्यक्ति सत्य से दूर हो जाता है।

जो सत्य को पाना चाहता है, उसके मन में राग-द्वेष की गाँठ तीव्र नहीं होती। वह सबके साथ मैत्री-भाव रखता है। उसकी आत्मा सहज प्रसन्नता से परिपूर्ण होती है।[4] उससे प्रमादवश कोई अनुचित व्यवहार हो जाता है तो वह तुरन्त उसके लिए अनुताप प्रकट कर देता है—क्षमा माँग लेता है। जिस व्यक्ति में अपनी भूल के लिए अनुताप व्यक्त करने की क्षमता होती है, उसी में सहज प्रसन्नता, मैत्री और अभय—ये सभी विकसित होते हैं।

सूत्र १८

१२—सूत्र १८ :

स्वाध्याय[5] के पाँच प्रकार है—

(१) वाचना— अध्यापन करना।[6]

(२) प्रतिपृच्छा— अज्ञात-विषय की जानकारी या ज्ञात-विषय की विशेष जानकारी के लिए प्रश्न करना।

(३) परिवर्तना— परिचित-विषय को स्थिर रखने के लिए बार-बार दोहराना।[7]

(४) अनुप्रेक्षा— परिचित और स्थिर विषय पर चिन्तन करना।[8]

(५) धर्म-कथा— स्थिरीकृत और चिन्तित-विषय का उपदेश करना।

१९वें से लेकर २३वें सूत्र तक स्वाध्याय के इन्हीं पाँच प्रकारों के परिणाम बतलाए गए हैं।

१—मूलाचार, पंचाचाराधिकार, गाथा १६४
पायच्छित्त ति तवो, जेण विसुज्झदि हु पुव्वकयपाव।

२—वही, गाथा १६५।

३— वही, गाथा १६५ वृत्ति
श्रद्धान तत्त्व-रुचौ परिणाम क्रोधादिपरित्यागो वा।

४—तुलना कीजिए—योग-दर्शन, समाधि-पाद ३३
मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणा सुखदु खपुण्यापुण्यविषयाणा भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

५—उत्तराध्ययन, ३०।३४।

६—बृहद् वृत्ति, पत्र ५८४
वाचना—पाठनम्।

७—वही, पत्र ५८४
परावर्त्तना—गुणनम्।

८—वही, पत्र ५८४
अनुप्रेक्षा—चिन्तनिका।

सूत्र १९

१३—तीर्थ-धर्म का अवलम्बन करता है (तित्थधम्मं अवलम्बइ) :

शान्त्याचार्य ने तीर्थ के दो अर्थ किए हैं—(१) गणधर और (२) प्रवचन। भगवती में चतुर्विध संघ को 'तीर्थ' कहा गया है।

गौतम ने पूछा—"भंते ! तीर्थ को तीर्थ कहा जाता है या तीर्थङ्कर को तीर्थ कहा जाता है ?"

भगवान् ने कहा—"गौतम ! अर्हत् तीर्थ नहीं होते, वे तीर्थङ्कर होते हैं। चतुर्वर्ण श्रमण-संघ—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका का संघ—तीर्थ कहलाता है।"[1]

आवश्यक निर्युक्ति में प्रवचन का एक नाम तीर्थ है।[2] इस प्रकार तीर्थ के तीन अर्थ हुए। इनके आधार पर तीर्थ-धर्म के तीन होते हैं—

(१) गणधर का धर्म—शास्त्र-परम्परा को अविच्छिन्न रखना।[3]

(२) प्रवचन का धर्म—स्वाध्याय करना।[4]

(३) श्रमण-संघ का धर्म।

यहाँ अध्यापन के प्रकरण में प्रथम अर्थ ही उपयुक्त लगता है।

तीर्थ शब्द की विशेष जानकारी के लिए देखिए—विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १०३२-१०५१।

सूत्र २०

१४—काङ्क्षा-मोहनीय-कर्म (कंखामोहणिज्जं कम्मं) :

शान्त्याचार्य ने काङ्क्षा-मोहनीय का अर्थ 'अनाभिग्रहिक-मिथ्यात्व' किया है।[5] अभयदेव सूरि के अनुसार इसका अर्थ है—मिथ्यात्व मोहनीय।[6]

सत्य की व्याख्या करने वाले अनेक मतवाद हैं। उनके जाल में फंस कर मनुष्य मिथ्या-दृष्टिकोणों की ओर झुक जाता है। इस झुकाव का मूल कारण काङ्क्षा-मोहनीय-कर्म होता है। विशद जानकारी के लिए देखिए—भगवती, १।३।

१—भगवती, २०।८
तित्थं भंते ! तित्थं तित्थगरे तित्थं ? गोयमा ! अरहा ताव नियमं तित्थगरे, तित्थं पुण चाउवण्णाइन्ने समण संघे, तं जहा—समणा समणीओ सावगा सावियाओ।

२—आवश्यक निर्युक्ति, गाथा [illegible]
सुय धम्म तित्थ मग्गो पावयणं पवयणं च एगट्ठा।
सुत्त तंत गंथो, पाढो सत्थं च एगट्ठा॥

३—बृहद् वृत्ति, पत्र ५८८
तीर्थमिह गणधरस्तस्य धर्मः—आचारः श्रुतधर्मप्रदानलक्षणस्तीर्थधर्मः।

४—वही, पत्र ५८८
यदि वा तीर्थं—प्रवचनं श्रुतमित्यर्थस्तद्धर्मः—स्वाध्यायः।

५—वही, पत्र ५८८
काङ्क्षामोहनीयं कर्म अनभिग्रहिकमिथ्यात्वरूपम्।

६—भगवती, १।३ वृत्ति
मोहयतीति मोहनीयं कर्म तच्च चारित्रमोहनीयमपि भवतीति विशेष्यते—काङ्क्षा—अन्यान्यदर्शनग्रह, [illegible]
[illegible] तद्रूपं मोहनीयं काङ्क्षामोहनीयम्—मिथ्यात्वमोहनीयमित्यर्थः।

सूत्र २१

१५—व्यंजन-लब्धि को (वंजणलद्धिं) :

बृहद् वृत्ति में व्यञ्जन-लब्धि की कोई व्याख्या नहीं है। 'वजण-लद्धि च'—इस 'च'कार को वहाँ 'पदानुसारिता-लब्धि' का सूचक बतलाया गया है।[1] एक पद के अनुसार शेष पदों की प्राप्ति हो जाए, उस शक्ति का नाम 'पदानुसारिता-लब्धि' है। इसी प्रकार एक व्यञ्जन के आधार पर शेष व्यञ्जनों को प्राप्त करने वाली क्षमता का नाम 'व्यञ्जन-लब्धि' होना चाहिए।

सूत्र २५

१६—सूत्र २५ :

इस सूत्र में एकाग्र मन की स्थापना (मन को एक अग्र—आलम्बन पर स्थित करने) का परिणाम 'चित्त-निरोध' बतलाया गया है। तिरपनवें सूत्र में बतलाया गया है कि मन-गुप्ति से एकाग्रता प्राप्त होती है। इसमें मन की तीन अवस्थाएँ फलित होती हैं—(१) गुप्ति, (२) एकाग्रता और (३) निरोध।

मन को चंचल बनाने वाले हेतुओं से उसे बचाना—सुरक्षित रखना 'गुप्ति' कहलाती है। ध्येय-विषयक ज्ञान की एकतानता 'एकाग्रता' कहलाती है। मन की विकल्प-शून्यता को 'निरोध' कहा जाता है।

महर्षि पतञ्जलि ने चित्त के चार परिणाम बतलाए है—(१) व्युत्थान, (२) समाधि-प्रारम्भ, (३) एकाग्रता और (४) निरोध। यहाँ एकाग्रता और निरोध तुलनीय है।[2]

सूत्र २६-२८

१७—सूत्र २६-२८ :

स्थानांग में उपासना के दस फल बताए गए हैं। उनमें से संयम और अनास्रव (अनाश्रव), तप और व्यवदान तथा अक्रिया और सिद्धि का कार्य-कारण-माला के रूप में उल्लेख है। बौद्ध-दर्शन में बाईस इन्द्रियाँ मानी गई हैं। उनमें श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा—इन पाँच इन्द्रियों तथा अज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय, आज्ञेन्द्रिय और आज्ञातावीन्द्रिय—इन तीन अन्तिम इन्द्रियों से विशुद्धि का लाभ होता है, इसलिए इन्हें व्यवदान का हेतु माना गया है। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा के बल से क्लेश का विष्कम्भन और आर्य-मार्ग का आवाहन होता है। अन्तिम तीन इन्द्रिय-अनास्रव है। निर्वाणादि के उत्तरोत्तर प्रतिलम्भ में इनका आधिपत्य है।[3] व्यवदान का अर्थ 'कर्म-क्षय' या 'विशुद्धि' है। यहाँ निर्जरा के स्थान में इसका प्रयोग हुआ है।

सूत्र २९

१८—सूत्र २९ :

उत्सुकता, निर्दयता, उद्धत मनोभाव, शोक और चारित्र-विकार—इन सबका मूल सुख की आकांक्षा है। उसे छोड़ कर कोई भी व्यक्ति अनुत्सुक, दयालु, उपशान्त, अशोक और पवित्र आचरण वाला हो सकता है। उत्सुकता आदि सुख की आकांक्षा के परिणाम हैं। वे कारण के रहते परित्यक्त नहीं होते। आवश्यक यह है कि कारण के त्याग का प्रयत्न किया जाए, परिणाम अपने आप व्यक्त हो जाएँगे।

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ५८४
चशब्दाद् व्यञ्जनसमुदायात्मकत्वाद्वा पदस्य तल्लब्धि च पदानुसारितात्मिकामुत्पादयति।
२—पातञ्जल योगदर्शन, ३।९, ३।१२।
३—बौद्ध धर्म-दर्शन, पृ० ३२८-३२९।

सूत्र ३०

१९—सूत्र ३० :

संग और असंग—ये दो शब्द समाज और व्यक्ति के सूचक हैं। अध्यात्म की भाषा में समुदाय-जीवी वह होता है, जिसका मन संमन (अनेकता में लिप्त) होता है और व्यक्ति-जीवी या अकेला वह होता है, जिसका मन असंग होता है—किसी भी वस्तु या व्यक्ति से लिप्त न होना। इसी तथ्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि असंग मन वाला समुदाय में रह कर भी अकेला रहता है और संग-लिप्त मन वाला अकेले में रह कर भी समुदाय में रहता है।

कहा जाता है चित्त चंचल है, अनेकाग्र है। वह किसी एक अग्र (लक्ष्य) पर नहीं टिकता। किन्तु इस मान्यता में थोड़ा परिवर्तन करने की आवश्यकता है। चित्त अपने आप में चंचल या अनेकाग्र नहीं है। उसे हम अनेक विषयों में बाँध देते हैं, तब वह संग-लिप्त बन जाता और यह संग-लिप्तता ही उसकी अनेकाग्रता का मूल है। अनासक्त मन कभी चंचल नहीं होता और आसक्ति के रहते हुए कभी उसे एकाग्र नहीं किया जा सकता। निश्चय की भाषा में कहा जा सकता है कि जितनी आसक्ति उतनी अनेकाग्रता। जितनी अनासक्ति उतनी एकाग्रता। पूर्णानासक्ति मन का अस्तित्व समाप्त।

सूत्र ३१

२०—विविक्त-शयनासन (विवित्तसयणासण) :

बाह्य-तप का छठा प्रकार विविक्त-शयनासन है। तीसवें अध्ययन में बताया गया है—एकान्त, आवागमन-रहित और स्त्री-पशु-वर्जित स्थान में शयनासन करने का नाम विविक्त-शयनासन है।[1] बौद्ध-साहित्य में विविक्त स्थान के नौ प्रकार बतलाए गए हैं—(१) अरण्य, (२) वृक्ष-मूल, (३) पर्वत, (४) कन्दरा, (५) गिरि-गुहा, (६) श्मशान, (७) वन-प्रस्थ, (८) अभ्यवकाश और (९) पलाल-पुञ्ज।[2]

एकान्त शयनासन करने वाले का मन आत्म-लीन हो जाता है, इसलिए इसे 'संलीनता' भी कहा जाता है।[3] बौद्ध-पिटकों में एकान्तवास के लिए 'प्रति-संलयन' भी प्रयुक्त होता है।[4] औपपातिक में विविक्त-शयनासन के लिए 'प्रतिसंलीनता' का प्रयोग हुआ है।[5] इस प्रकार प्राचीन-साहित्य में एकान्त स्थान या कामोत्तेजक इन्द्रिय-विषयों से वर्जित स्थान के लिए विविक्त-शयनासन-संलीनता, प्रति-संलयन और प्रति-संलीनता—ये शब्द प्रयुक्त होते रहे हैं।

सूत्र ३२

२१—सूत्र ३२ :

प्रवृत्ति और निवृत्ति—ये दो सापेक्ष शब्द हैं। प्रवर्तन का अर्थ है 'करना' और निवर्तन का अर्थ है 'करने से दूर होना'। जो नहीं करता—मन, वचन और काया की प्रवृत्ति नहीं करता, वही व्यक्ति पाप-कर्म नहीं करने के लिए तत्पर होता है। जहाँ पाप-कर्म का कारण नहीं होता, वहाँ पूर्व-अर्जित कर्म स्वयं क्षीण हो जाते हैं। बन्धन आश्रव के साथ ही टिकता है। संवर होते ही वह टूट जाता है। इसीलिए पूर्ण संवर और निर्जरा—ये दोनों सहवर्ती होते हैं।

१—उत्तराध्ययन, ३०।२८।

२—विसुद्धिमग्ग दीपिका, पृ० १४५
'विवित्तमासनं' ति अरञ्ञं रुक्खमूलं ति आदि नवविध सेनासनं।

३—उत्तराध्ययन, ३०।२८।

४—बुद्धचर्या, पृ० ४३०।

५—औपपातिक सूत्र १९।

सूत्र ३३

२२–सम्भोग-प्रत्याख्यान (मण्डली-भोजन) का त्याग (संभोगपच्चक्खाणेण) :

श्रमण-संघ में सामान्य प्रथा मण्डली-भोजन (सह-भोजन) की रही है। किन्तु साधना का अग्रिम लक्ष्य है—आत्म-निर्भरता। मुनि प्रारम्भिक दशा में सामुदायिक-जीवन में रहे और दूसरों का आलम्बन भी प्राप्त करे। फिर भी उसे इस बात की विस्मृति नहीं होनी चाहिए कि उसका अग्रिम लक्ष्य स्वावलम्बन है। स्थानांग में इस जीविका-सम्बन्धी स्वावलम्बन को 'सुख-शय्या' कहा है। उसका संकेत इसी सूत्र में प्राप्त है। चार सुख-शय्याओं में यह दूसरी सुख-शय्या है। उसका स्वरूप इस प्रकार है—कोई व्यक्ति मुण्ड हो कर अगार से अनगारत्व में प्रव्रजित हो कर अपने लाभ से सतुष्ट होता है, दूसरे के लाभ का आस्वाद नहीं करता, स्पृहा नहीं करता, प्रार्थना नहीं करता, अभिलाषा नहीं करता, वह दूसरे के लाभ का आस्वाद नहीं करता हुआ, स्पृहा नहीं करता हुआ, प्रार्थना नहीं करता हुआ, अभिलाषा नहीं करता हुआ, मन में समता को धारण करता हुआ धर्म में स्थिर हो जाता है।[1]

सूत्र ३४

२३–उपधि (वस्त्र आदि उपकरणों) के प्रत्याख्यान से (उवहिपच्चक्खाणेणं) :

मुनि के लिए वस्त्र आदि उपधि रखने का विधान किया गया है। किन्तु विकास-क्रम की दृष्टि से उपधि-परित्याग को अधिक महत्त्व दिया गया है। उपधि रखने में दो बाधाओं की संभावना है—(१) परिमन्थ और (२) संक्लेश। उपधि-प्रत्याख्यान से ये दोनों संभावनाएँ समाप्त हो जाती है। परिमन्थ—उपधि की प्रतिलेखना से जो स्वाध्याय-ध्यान की हानि होती है, वह उपधि के परित्याग से समाप्त हो जाती है।[2] संक्लेश—जो उपधि का प्रत्याख्यान करता है उसके मन में 'मेरा वस्त्र पुराना हो गया है, फट गया है, सूई माग कर लाऊँ, उसे साधूँ'—ऐसा कोई संक्लेश नहीं होता। असंक्लेश का यह रूप आचारांग में प्रतिपादित है।[3] मूलाराधना में इसे 'परिकर्म-वर्जन' कहा गया है।[4]

सूत्र ३५

२४–आहार-प्रत्याख्यान से (आहारपच्चक्खाणेणं) :

आहार-प्रत्याख्यान के दो अर्थ हो सकते है—(१) जीवन-पर्यन्त अनशन और (२) निश्चित अवधि-पर्यन्त अनशन।

शान्त्याचार्य ने आहार-प्रत्याख्यान का अर्थ 'अनेषणीय (अयोग्य) भक्त-पान का परित्याग' किया है।[5] किन्तु इसके परिणामों को देखते हुए इसका अर्थ और अधिक व्यापक हो सकता है।

१–स्थानांग, ४।३।३२५।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ५८८
परिमन्थ —स्वाध्यायादिक्षतिस्तदभावोऽपरिमन्थ ।

३–आचारांग, १।६।३
जे अचेले परिवुसिए, तस्स ण भिक्खुस्स णो एवं भवइ—परिजुण्णे मे वत्थे वत्थं जाइस्सामि, सुत्तं जाइस्सामि, सूइं जाइस्सामि, संधिस्सामि, सीविस्सामि, उक्कसिस्सामि, वुक्कसिस्सामि, परिहिस्सामि, पाउणिस्सामि।

४–मूलाराधना, २।८३ विजयोदया
याचनसीवनशोषणप्रक्षालनादिरनेको हि व्यापारः स्वाध्यायध्यानविघ्नकारी अचेलस्य तन्न तथेति परिकर्मविवर्जनम्।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ५८८।

जीवन के झंझावातों में अपनी समाधि को सुरक्षित नहीं पाता। सामुदायिक-जीवन मे कलह, क्रोध आदि कषाय और तुमतुम—थोडा-सा अपराध होने पर 'तू ने पहले ही ऐसा किया था, तू सदा ऐसा ही करता है', इस प्रकार बार-बार टोकना—ये हो जाते है। साधु को ऐसा नही करना चाहिए, फिर भी प्रमादवश वे ऐसा कर लेते हैं। इस स्थिति में मानसिक- समाधि उत्पन्न हो जाती है। जो मुनि सघ में रहते हुए भी स्वावलम्बी हो जाता है, किसी भी कार्य के लिए दूसरों पर निर्भर नही होता, वह समुदाय मे रहते हुए भी अकेले का जीवन जीता है। उसे कलह, क्रोध आदि कषाय और तुमतुम आदि से सहज ही मुक्ति मिल जाती है। इससे सयम और सवर बढता जाता है। मानसिक-समाधि अभग हो जाती हैं। सामुदायिक-जीवन मे रहते हुए भी अकेला रहने की साधना बहुत बडी साधना है।

सूत्र ४०

२८—भक्त-प्रत्याख्यान (अनशन) से (भत्तपच्चक्खाणेण) :

भक्त-प्रत्याख्यान आमरण-अनशन का एक प्रकार है। इसका परिणाम जन्म-परम्परा का अल्पीकरण है। इसका हेतु आहार-त्याग का दृढ-अध्यवसाय है।[1] देह का आधार आहार और आहार-विषयक आसक्ति है। आहार की आसक्ति और आहार—दोनों के त्याग से केवल स्थूल देह का ही नही, अपितु सूक्ष्म देह का भी बन्धन शिथिल हो जाता है। फलत सहज ही जन्म-मरण की परम्परा अल्प हो जाती है।

सूत्र ४१

२९—सद्भाव-प्रत्याख्यान (पूर्ण संवर रूप शैलेशी) से (सब्भावपच्चक्खाणेणं) :

सद्भाव-प्रत्याख्यान का अर्थ 'परमार्थ रूप से होनेवाला प्रत्याख्यान' है।[2] इस अवस्था को पूर्ण सवर या शैलेशी, जो चौदहवें गुणस्थान में अयोगी केवली के होती है, कहा जाता है। इससे पूर्ववर्ती सब प्रत्याख्यान इसलिए अपूर्ण होते हैं कि उनमें और प्रत्याख्यान करने की आवश्यकता शेष रहती है। इस भूमिका में परिपूर्ण प्रत्याख्यान होता है। उसमें फिर किसी प्रत्याख्यान की अपेक्षा नही रहती। इसीलिए इसे 'पारमार्थिक-प्रत्याख्यान' कहा गया है। इस भूमिका को प्राप्त आत्मा का फिर से आस्रव, प्रवृत्ति या बन्धन की भूमिका में प्रवेश नही होता, इसलिए इसके परिणाम को 'अनिवृत्ति' कहा गया है। 'अनिवृत्ति' अर्थात् जिस स्थिति से निवर्तन नही होता—लौटना नही पडता।[3] यह शुक्ल-ध्यान का चतुर्थ चरण है। इस अनिवृत्ति ध्यान की दशा में केवली के जो चार अघात्यकर्म विद्यमान रहते हैं, वे क्षीण हो जाते हैं—यह 'चत्तारि केवलि-कम्मंसे खवेइ' का भावार्थ है। 'केवलिकम्मसे' शब्द का प्रयोग इस सूत्र के अतिरिक्त अट्ठावनवें और इकसठवें सूत्र में भी हुआ है। 'कम्मसे' शब्द इकहत्तरवें और बहत्तरवें सूत्र में प्रयुक्त हुआ है। 'कम्मस' में जो 'अस' शब्द है, उसका अर्थ कर्म-ग्रन्थ की परिभाषा के अनुसार 'सत्'—विद्यमान है।[4]

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ५८९
तथाविधदृढाध्यवसायतया ससारात्पत्वापादनात्।

२—वही, पत्र ५८९ :
तत्र सद्भावेन—सर्वथा पुन करणासमवात्परमार्थेन प्रत्याख्यान सद्भावप्रत्याख्यान सर्वसवररूपा शैलेशीतियावत्।

३—वही, पत्र ५८९
न विद्यते निवृत्ति —मुक्तिमप्राप्य निवर्त्तन यस्मिस्तद् अनिवृत्ति शुक्लध्यानं चतुर्थभेदरूप जनयति।

४—वही, पत्र ५८९
'कम्मस' त्ति कार्मग्रन्थिकपरिभाषया ऽशशब्दस्य सत्पर्यायित्वात् सत्कर्माणि केवलिसत्कर्माणि—भवोपग्राहीणि क्षपयति।

सूत्र ४२

३०—सूत्र ४२ :

शान्त्याचार्य के अनुसार 'प्रतिरूप' वह होता है, जिसका वेश स्थविर-कल्पिक मुनि के सरीखा हो और 'प्रतिरूपता' का अर्थ है 'अधिक उपकरणों का त्याग।'[1] इस सूत्र में अप्रमत्त, प्रकट-लिङ्ग, प्रशस्त-लिङ्ग, विशुद्ध-सम्यक्त्व, समाप्त-सत्त्व-समिति, सर्व प्राण-भूत-जीव-सत्त्वों में विश्वसनीय रूप, अप्रतिलेख, जितेन्द्रिय और विपुलतप समिति-समन्वागत—ये महत्त्वपूर्ण पद हैं। बताया गया है कि प्रतिरूपता का फल लाघव है। जो लघुभूत होता है, वह अप्रमत्त आदि हो जाता है। शान्त्याचार्य के अनुसार प्रत्येक शब्द का अर्थ इस प्रकार है—

अप्रमत्त—	प्रमाद के हेतुओं का परिहार करने वाला।
प्रकट-लिङ्ग—	स्थविर-कल्पिक मुनि के रूप में समझा जाने वाला।
प्रशस्त-लिङ्ग—	जीव-रक्षा के हेतुभूत रजोहरण आदि को धारण करने वाला।
विशुद्ध-सम्यक्त्व—	सम्यक्त्व की विशुद्धि करने वाला।
समाप्त-सत्त्व-समिति—	सत्त्व (पराक्रम) और समिति (सम्यक् प्रवृत्ति) को प्राप्त करने वाला।
सर्व प्राण-भूत-जीव-सत्त्वों में विश्वसनीय रूप—	किसी को भी पीड़ा नहीं देने के कारण सबका विश्वास प्राप्त करने वाला।
अप्रतिलेख—	उपकरणों की अल्पता के कारण अल्प प्रतिलेखन वाला।
जितेन्द्रिय—	इन्द्रियों को वश में रखने वाला।
विपुलतप समिति-समन्वागत—	विपुलतप और समितियों का सर्वत्र प्रयोग करने वाला।[2]

प्रतिरूपता के परिणामों को देखते हुए 'प्रतिरूप' का अर्थ 'स्थविर-कल्पिक के सदृश वेश वाला' और 'प्रतिरूपता' का अर्थ 'अधिक उपकरणों का त्याग' सही नहीं लगता। मूलाराधना में अचेलत्व को 'जिन-प्रतिरूप' कहा है।[3] 'जिन' अर्थात् तीर्थङ्कर अचेल होते हैं।

'जिन' के समान रूप (लिङ्ग) धारण करने वाले को 'जिन-प्रतिरूप' कहा जाता है। प्रवचनसारोद्धार के अनुसार गच्छ में रहते भी जिन-कल्पिक जैसे आचार का पालन करने वाला 'जिन-कल्पिक-प्रतिरूप' कहलाता है।[4] यहाँ भी प्रतिरूप का अर्थ यही—'जिन के समान

१-बृहद् वृत्ति, पत्र ५८९ :
प्रति —सादृश्ये, ततः प्रतीति—स्थविरकल्पिकादिसदृश रूप—वेषो यस्य स तथा तद्भावस्तत्ता तया—अधिकोपकरणपरिहार-रूपया।

२-वही, पत्र ५८९-५९०
'अप्रमत्त' प्रमादहेतूना परिहारतः इतरेषा चागीकरणतः, तथा 'प्रकटलिङ्ग' स्थविरादिकल्परूपेण प्रतीति विषयः। ... 'प्रशस्तलिङ्ग' जीवरक्षणहेतु रजोहरणादिधारकत्वाद्, 'विशुद्धसम्यक्त्व' तयाप्रतिपत्त्या सम्यक्त्वविशोधनात्, तथा 'सत्त्व च' आपत्स्ववैकल्यकरमध्यवसानकर च, 'समितयश्च'—उक्तरूपा, 'समाप्ता'—परिपूर्णा यस्य स समाप्तसत्त्वसमिति, सूत्रे ... प्राकृतत्वात्परनिपातः, ततः एव सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वेषु विश्वसनीयरूपः तत्पीडापरिहारित्वात्, 'अपडिलेह' त्ति अल्पार्थे नञ्, ततो प्रत्युपेक्षित इत्यल्पोपकरणत्वादल्पप्रत्युपेक्षः पठ्यते च—'अप्पपडिलेहि' त्ति जितानि—वशीकृतानि ... परिणामान्यथात्वेऽपीन्द्रियाणि येन स तथा, विपुलेन—अनेकभेदतया विस्तीर्णेन तपसा समितिभिश्च सर्वविषय... विपुलाभिरेव समन्वागतो—युक्तो विपुलतपः समितिसमन्वागतश्चापि भवति।

३-मूलाराधना, २।८५
जिण पडिरूव वीरियायारो।

४-प्रवचनसारोद्धार, गाथा ५४०, वृत्ति पत्र १२७
जिनकल्पिकप्रतिरूपो गच्छे।

वाला' यानि जिन-कल्पिक होना चाहिए। अप्रमत आदि सारे विशेषणों पर विचार किया जाए तो यही अर्थ सगत लगता है। मूलाराधना में अचेलकता के जो गुण बतलाए हैं वे इस सूत्र के अप्रमत आदि विशेषणों के बहुत निकट है—

उत्तराध्ययन	मूलाराधना
(१) प्रतिरूपता का फल—लाघव	अचेलकता का एक गुण—लाघव[1]
(२) अप्रमत्त	विषय और देह सुखो मे अनादर[2]
(३) प्रकट-लिङ्ग	नग्नता-प्राप्त[3]
(४) प्रशस्त-लिङ्ग	प्रशस्त-लिङ्ग[4] (अचेलकता उसी के लिए विहित है जिसका लिंग प्रशस्त है)
(५) विशुद्ध-सम्यक्त्व	रागादि दोष-परिहरण[5]
(६) समाप्त-सत्त्व-समिति	वीर्याचार[6]
(७) सर्व प्राण-भूत-जीव-सत्त्वो में विश्वसनीय रूप	विश्वासकारी रूप[7]
(८) अप्रतिलेख	अप्रतिलेखन[8]
(९) जितेन्द्रिय	सर्व समित-करण (इन्द्रिय)[9]
(१०) विपुलतप समिति-समन्वागत	परीषह सहन[10]

उक्त तुलना से प्रतिरूपता का अर्थ 'अचेलता' ही प्रमाणित होता है। अचेल को सचेल की अपेक्षा बहुत अप्रमत्त रहना होता है। उसके पास विकार को छिपाने का कोई साधन नही होता। जो अचेल होता है, उसका लिङ्ग सहज ही प्रकट होता है। अचेल उसी को होना चाहिए, जिसका लिङ्ग प्रशस्त हो—विकृत आदि न हो। अचेल व्यक्ति का सम्यक्त्व—देह और आत्मा का भेद-ज्ञान—विशुद्ध होता है। समाप्त-सत्त्व-समिति—अचेल सत्त्व प्राप्त होता है अर्थात् अभय होता है। इसकी तुलना मूलाराधना (२।८३) के 'गत-भयत्व' शब्द से भी हो सकती है। समिति का अर्थ 'विविध प्रकार के आसन करने वाला' हो सकता है। अचेल की निर्विकारता प्रशस्त होती है, इसलिए वह सबका विश्वासपात्र होता है। अप्रतिलेखन अचेलता का सहज परिणाम है। अचेलता से जितेन्द्रिय होने की प्रबल प्रेरणा मिलती है। अचेल होना एक प्रकार का तप है। नग्नता, शीत, उष्ण, दश-मशक—ये परीषह सचेल की अपेक्षा अचेल को अधिक सहने होते हैं, इसलिए उसके विपुल तप होता है। इस प्रकार सारे पदो में एक शृङ्खला है। उससे अचेलकता के साथ उनकी कडी जुड जाती है। यहाँ मूलाराधना (२।७७ से ८६ तक) की गाथाएँ और उनकी विजयोदया वृत्ति मननीय है।

स्थानाग में पाँच कारणों—(१) अप्रतिलेखन, (२) प्रशस्त लाघव, (३) वैश्वासिक रूप (४) तप-उपकरण-सलीनता और (५) महान् इन्द्रिय-निग्रह से अचेलक को प्रशस्त कहा है।[11]

ये पाँचों कारण प्रतिरूपता के परिणामो में आए हुए है। अत प्रतिरूपता का अर्थ 'अचेलकता' करने मे बहुत बडा आधार प्राप्त होता है।

१–मूलाराधना, २।८३।
२–वही, २।८४।
३–वही, २।८६।
४–वही, २।७७।
५–वही, २।८५।
६–वही, २।८५।
७–वही, २।८४।
८–वही, २।८३।
९–वही, २।८६।
१०–वही, २।८५।
११-स्थानाग, ५ ४५५

पचहिं ठाणेहिं अचेलए पसत्थे भवति, तं०—अप्पा पडिलेहा, लाघविए पसत्थे, रूवे वेसासिए, तवे अणुन्नाते, विउले इंदियनिग्गहे।

सूत्र ४३

३१–सूत्र ४३ :

तीर्थङ्कर-पद-प्राप्ति के बीस हेतु बतलाए गए है। उनमे एक वैयावृत्य—सेवा भी है। देखिए—ज्ञाताधर्मकथा, अध्ययन ८।

सूत्र ४४

३२–सर्व-गुण-सम्पन्नता से (सव्वगुणसंपन्नयाए) :

आत्म-मुक्ति के लिए ज्ञान, दर्शन और चारित्र—ये तीन गुण प्रयोजनीय होते है। जब तक निरावरण ज्ञान, पूर्ण दर्शन (क्षायिक सम्यक्त्व) और पूर्ण चारित्र (सर्व सवर) की प्राप्ति नही होती, तब तक सर्वगुण-सम्पन्नता उपलब्ध नही होती। इसका अभिप्राय यह है कि कोरे ज्ञान, दर्शन या चारित्र की पूर्णता से मुक्ति नही होती। किन्तु जब तीनो परिपूर्ण होते हैं, तभी वह होती है। पुनरावर्तन, शारीरिक और मानसिक दुःख सब गुण-विकलता के परिणाम है। सर्व-गुण-सम्पन्नता होने पर ये नही होते।

सूत्र ४५

३३–सूत्र ४५ :

'वीतराग' स्नेह और तृष्णा की बधन-परम्परा का विच्छेद कर देता है। पुत्र आदि में जो प्रीति होती है, उसे स्नेह और धन आदि के प्रति जो लालसा होती है, उसे 'तृष्णा' कहा जाता है। स्नेह और तृष्णा की परम्परा उत्तरोत्तर बढती रहती है, इसलिए इनके बधन को अनुबन्ध कहा गया है।

सूत्र ४६

३४–क्षमा से (खन्तीए) :

शान्त्याचार्य ने क्षान्ति का अर्थ 'क्रोध-विजय' किया है।[1] इस अर्थ के अनुसार यहाँ उन्हीं परीषहो पर विजय पाने की स्थिति प्राप्त है जो क्रोध-विजय से सबधित है।[2] क्रोधी मनुष्य गाली, वध आदि को नही सह सकता। क्रोध पर विजय पाने वाला उन्हें सह लेता है। क्षान्ति का अर्थ यदि 'सहिष्णुता' किया जाए तो परीषह-विजय का अर्थ व्यापक हो जाता है। सहिष्णुता से सभी परीषहो पर विजय पाई जा सकती है केवल गाली और वध पर ही नही।

सूत्र ४८

३५–सूत्र ४८ :

माया और असत्य तथा ऋजुता और सत्य का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। इस सूत्र मे ऋजुता के चार परिणाम बतलाए गए है (१) काया की ऋजुता, (२) भाव की ऋजुता, (३) भाषा की ऋजुता और (४) अविसवादन।

ऋजुता का परिणाम ऋजुता कैसे हो सकता है, सहज ही यह प्रश्न होता है। उसका समाधान स्थानाग के एक सूत्र में मिलता है।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ५९०
 क्षान्ति —क्रोधजयः।

२–वही, पत्र ५९०
 'परीषहान्' अर्थात् वधादीन् जयति।

वहाँ कहा गया है—सत्य के चार प्रकार होते हैं—(१) काया की ऋजुता, (२) भाषा की ऋजुता, (३) भाव की ऋजुता और (४) अविसंवादन योग।[1]

काया की ऋजुता— यथार्थ-अर्थ की प्रतीति कराने वाली काया की प्रवृत्ति। वेष-परिवर्तन, अंग-विकार आदि का अकरण।

भाषा की ऋजुता— यथार्थ-अर्थ की प्रतीति कराने वाली वाणी की प्रवृति। उपहास आदि के निमित्त वाणी में विकार न लाना।

भाव की ऋजुता— जैसा मानसिक चिन्तन हो वैसा ही प्रकाशित करना।

अविसंवादन-योग— किसी कार्य का संकल्प कर उसे करना। दूसरों को न ठगना।

इस सूत्र के आधार पर कहा जा सकता है कि ऋजुता का परिणाम सत्य है।

सूत्र ४६

३६—सूत्र ४६ :

क्षान्ति, मुक्ति, आर्जव और मार्दव—ये चारों क्रमशः क्रोध, लोभ, माया और मान की विजय के परिणाम हैं। देखिए—सूत्र ६७-७०।

जिसमें मार्दव का विकास होता है, वह जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ और ऐश्वर्य—इन आठ मद-हेतुओं पर विजय पा लेता है।

सूत्र ५०-५२

३७—सूत्र ५०-५२ :

भाव-सत्य का अर्थ अन्तरात्मा की सचाई है। सत्य और शुद्धि में कार्य-कारण-भाव है। भाव की सचाई से भाव की विशुद्धि होती है। बावनवें सूत्र में योग-सत्य का उल्लेख है। उसका एक प्रकार मन-सत्य है। सहज ही भाव और मन का भेद समझने की जिज्ञासा होती है। इन्द्रिय से सूक्ष्म मन और मन से सूक्ष्म भाव (आत्मा का आन्तरिक अध्यवसाय) होता है। मन के परिणाम को भी भाव कहा जाता है किन्तु प्रकरण के अनुसार यहाँ इसका अर्थ अन्तर-आत्मा ही संगत है।

करण-सत्य का सम्बन्ध भी योग-सत्य से है। करने का अर्थ है मन, वचन और काया की प्रवृत्ति। फिर भी करने की विशेष स्थिति को लक्ष्य कर उसे योग-सत्य से पृथक् बतलाया गया है। करण-सत्य का अर्थ है विहित कार्य को सम्यक् प्रकार से और तन्मय होकर करना। योग-सत्य का अर्थ है—मन, वचन और काया को अवितथ स्थिति में रखना।

इन तीन सूत्रों में विशेष चर्चनीय पद 'परलोगधम्मस्स आराहए' और 'करणसत्ति' हैं। परलोक-धर्म की आराधना का अर्थ यह है कि भाव-सत्य से आगामी जन्म में भी धर्म की प्राप्ति सुलभ होती है।

करण-शक्ति का अर्थ है—वैसा कार्य करने का सामर्थ्य जिसका पहले कभी अध्यवसाय या प्रयत्न भी न किया गया हो। करण-सत्यता और करण-शक्ति के अभाव में ही कथनी और करनी में अन्तर होता है। उन दोनों के विकसित होने पर मनुष्य 'यथावादी तथाकारी' बन जाता है।

१—स्थानांग, ४।१।२५४

चउव्विहे सच्चे प० तं०—काउज्जुयया, भासुज्जुयया, भावुज्जुयया, अविसंवायणाजोगे।

सूत्र ५३-५५

३८—सूत्र ५३-५५ :

इन तीन सूत्रो मे गुप्ति के परिणामों का निरूपण है । गुप्तियाँ तीन हैं—(१) मन-गुप्ति, (२) वचन-गुप्ति, और (३) काय-गुप्ति ।

जो समित (सम्यक्-प्रवृत्त) होता है, वह नियमत गुप्त होता है और जो गुप्त होता है वह समित हो भी सकता है और नहीं भी। अकुशल मन का निरोध करने वाला मनोगुप्त ही होता है और कुशल मन की प्रवृत्ति करने वाला मनोगुप्त भी होता है और समित भी। इसी प्रकार अकुशल वचन और काया का निरोध करने वाला वचो-गुप्त और काय-गुप्त ही होता है तथा कुशल वचन और काया की प्रवृत्ति करने वाला वचन गुप्त और काय-गुप्त भी होता है और समित भी ।

अकुशल मन का निरोध और कुशल मन की प्रवृत्ति का परिणाम एकाग्रता है । एकाग्रता में चित्त का निरोध नही होता किन्तु उसकी प्रवृत्ति अनेक आलम्बनों से हटकर एक आलम्बन पर टिक जाती है । जब एकाग्रता का अभ्यास पूर्ण परिपक्व हो जाता है तब चित्त का निरोध होता है । देखिए—सूत्र २५ ।

अकुशल वचन के निरोध और कुशल वचन की प्रवृत्ति का परिणाम निर्विकार—विकथा से मुक्त होना है । 'निव्वियार' का अर्थ यदि निर्विचार किया जाए तो वचन-गुप्ति का अर्थ मौन करना चाहिए । बोलने की इच्छा से विचार उत्तेजित होते हैं और मौन से विचार-शून्यता प्राप्त होती है और आत्म-लीनता बढती है ।

काय-गुप्ति का परिणाम सवर बतलाया गया है । यहाँ प्रकरण के अनुसार सवर का अर्थ 'अकुशल कायिक प्रवृत्ति से समुत्पन्न आस्रव का निरोध' होना चाहिए । जब अकुशल आस्रव का सवरण होता है तब हिंसा आदि पापास्रव निरुद्ध होने लग जाते है । प्रवृत्ति का मुख्य केन्द्र काया है । इसलिए आस्रव और सवर का भी उसके साथ गहरा सम्बन्ध है ।

जिनभद्रगणि के अनुसार मुख्य योग एक ही है। वह है काय-योग ।[1] वचन-योग और मनोयोग के योग्य-पुद्गलों (भाषावर्गणा और मनोवर्गणा) का ग्रहण काय-योग से ही होता है । उसके स्थिर होने पर सहज ही सवर हो जाता है । काया की चचलता या आस्रवाभिमुखता के बिना वचन-व्यापार और मन की चचलता स्वय समाप्त हो जाती है ।

सूत्र ५६-५८

३९—सूत्र ५६-५८ :

इन तीन सूत्रो में समाधारणा का निरूपण है । समाधारणा का अर्थ है—सम्यग्-व्यवस्थापन या सम्यग्-नियोजन । उसके तीन प्रकार है—(१) मन -समाधारणता—मन का श्रुत में व्यवस्थापन या नियोजन[2], (२) वच -समाधारणता—वचन का स्वाध्याय में व्यवस्थापन या नियोजन[3] और (३) काय-समाधारणता—काया का चारित्र की आराधना में व्यवस्थापन या नियोजन[4] ।

१–विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ३५९ :

किं पुण तणुसरंभेण जेण मुचइ स वाइओ जोगो ।
मण्णइ य स माणसिओ, तणुजोगो चेव य विभत्तो ॥

२–वृहद् वृत्ति, पत्र ५९२

मनस समिति—सम्यग् आङिति—मर्यादयाऽऽगमाभिहितभावाभिव्याप्त्याऽवधारणा—व्यवस्थापन मन समाधारणा तया ।

३–वही, पत्र ५९२

'वाक्समाधारणया' स्वाध्याय एव वाग्निवेशनात्मिकया ।

४–वही, पत्र ५९२ :

'कायसमाधारणया' सयमयोगेषु शरीरस्य सम्यग्व्यवस्थापनरूपया ।

मन को ज्ञान (तत्त्वोपासना) में लीन करने से एकाग्रता उत्पन्न होती है। उससे ज्ञान-पर्यव (ज्ञान के सूक्ष्म-सूक्ष्मतर रूप) उदित होते है। उन ज्ञान-पर्यवो के उदय से सम्यग् दृष्टिकोण प्राप्त होता है और मिथ्या दृष्टिकोण समाप्त होता है। वचन को स्वाध्याय (शब्दोपासना) में लगाने से प्रज्ञापनीय दर्शन पर्यव विशुद्ध बनते हैं—अन्यथा निरूपण नही हो पाता। दर्शन की विशुद्धि ज्ञान-पर्यवो के उदय से हो जाती है। इसीलिए यहाँ वाक्-साधारण अर्थात् वचन के द्वारा प्रतिपादनीय-दर्शन-पर्यवो की विशुद्धि ही अभिप्रेत है। वाक्-साधारण दर्शन-पर्यवो की विशुद्धि से सुलभ-बोधिता प्राप्त और दुर्लभ-बोधिता क्षीण होती है।

काया को सयम की विविध प्रवृत्तियो (चारित्रोपासना) में लगाने से चारित्र के पर्यव विशुद्ध होते हैं। उनकी विशुद्धि होते-होते वीतराग-चारित्र प्राप्त होता है और अन्त में मुक्ति।

सूत्र ५९-६१

४०—सूत्र ५९-६१ :

पूर्ववर्ती तीन सूत्रो में ज्ञान दर्शन और चारित्र के पर्यवो की शुद्धि को समाधारणा का परिणाम बतलाया गया है और इन तीन सूत्रों में ज्ञान, दर्शन और चारित्र सम्पन्न होने का परिणाम बतलाया गया है।

ज्ञान-सम्पन्नता—यहाँ ज्ञान का अर्थ 'श्रुत (शास्त्रीय) ज्ञान' है। श्रुत-ज्ञान से सब भावो का अधिगम (ज्ञान) होता है। इसका समर्थन नदी से भी होता है।[1]

'सघायणिज्जे'—जो श्रुत-ज्ञान-सम्पन्न होता है, उसके पास स्व-समय और पर-समय के विद्वान् व्यक्ति आते हैं और उससे प्रश्न पूछकर अपने सशय उच्छिन्न करते है। इसी दृष्टि से श्रुत-ज्ञानी को 'सघातनीय'—जन-मिलन का केन्द्र कहा गया है।[2]

शैलेशी—शैलेशी शब्द शिला और शील इन दो रूपो से व्युत्पन्न होता है

(१) 'शिला' से शैल और 'शैल+ईश' से शैलेश होता है। शैलेश अर्थात् मेरु-पर्वत। शैलेश की भाँति अत्यन्त स्थिर अवस्था को शैलेशी कहा जाता है। 'सेलेसी' का एक सस्कृत रूप शैलर्षि भी किया गया है। जो ऋषि शैल की तरह सुस्थिर होता है, वह शैलर्षि कहलाता है।

(२) शील का अर्थ समाधान है। जिस व्यक्ति को पूर्ण समाधान मिल जाता है—पूर्ण सवर की उपलब्धि हो जाती है, वह 'शील का ईश' होता है। शील+ईश=शीलेश। शीलेश की अवस्था को शैलेशी कहा जाता है।[3] शैलेशी का प्रयोग इकतालिसवें सूत्र में भी आ चुका है।

सूत्र ७१

४१—सूत्र ७१ :

ज्ञान, दर्शन और चारित्र की विराधना राग, द्वेष और मिथ्या-दर्शन से होती है। इन पर विजय प्राप्त करने से ज्ञान, दर्शन, और चारित्र की आराधना स्वय प्राप्त हो जाती है। जो व्यक्ति ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना करता है, वह आठ कर्मों में जो कर्म-ग्रन्थि—घाति-कर्म का समुदय है, उसे तोड डालता है। वह सर्वप्रथम मोहनीय-कर्म की अठाईस प्रकृतियों को क्षीण करता है। क्षीण करने का क्रम इस प्रकार है—वह सर्वप्रथम अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ के बहुल भाग को अन्तर्मुहूर्त में एक-साथ क्षीण करता है और उसके अनन्तवें भाग

१—नदी, सूत्र ५७

तत्थ दव्वओ ण सुयनाणी उवउत्ते सव्वदव्वाइ जाणइ पासइ, खित्तओ ण सुयनाणी उवउत्ते सव्व खेत्त जाणइ पासइ, कालओ णं सुयनाणी उवउत्ते सव्व काल जाणइ पासइ, भावओ ण सुयनाणी उवउत्ते सव्वे भावे जाणइ पासइ।

२—बृहद् वृत्ति, पत्र ५९३

स्वसमयपरसमययो सघातनीय —प्रमाणपुरुषतया मीलनीय स्वसमयपरसमयसघातनीयो भवति, इह च स्वसमयपरसमयशब्दाभ्यां तद्वेदिन पुरुषा उच्यन्ते, तेष्वेव सशयादिव्यवच्छेदाय मीलनसभवात्।

३—विशेषावश्यक भाष्य, ३६८३-३६८५।

को मिथ्यात्व के पुद्गलों में प्रक्षिप्त कर देता है। फिर उन प्रक्षिप्त पुद्गलों के साथ मिथ्यात्व के बहुल भाग को क्षीण करता है और उसके अंश को सम्यग्-मिथ्यात्व में प्रक्षिप्त कर देता है। फिर उन प्रक्षिप्त पुद्गलो के साथ सम्यक्-मिथ्यात्व को क्षीण करता है। इसी प्रकार सम्यग्-मिथ्यात्व के अश सहित सम्यक्त्व-मोह के पुद्गलो को क्षीण करता है। तत्पश्चात् सम्यक्त्व-मोह के अवशिष्ट पुद्गलो सहित अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान-चतुष्क (क्रोध, मान, माया, लोभ) को क्षीण करना शुरू कर देता है। उसके क्षय-काल में वह दो गति (नरक गति और तिर्यंच गति), दो आनुपूर्वी (नरकानुपूर्वी और तिर्यंचानुपूर्वी), जाति-चतुष्क (एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय) आतप, उद्योत, स्थावर नाम, सूक्ष्म नाम, साधारण, अपर्याप्त, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला और स्त्यानर्द्धि को क्षीण करता है। फिर इनके अवशेष को नपुंसक-वेद में प्रक्षिप्त कर उसे क्षीण करता है। उसके अवशेष को स्त्री-वेद में प्रक्षिप्त कर उसे क्षीण करता है। उसके अवशिष्ट अश को हास्यादि-षट्क (हास्य, रति, अरति, भय, शोक और जुगुप्सा) में प्रक्षिप्त कर उसे क्षीण करता है। मोहनीय-कर्म को क्षीण करने वाला यदि वह पुरुष होता है तो पुरुष-भेद के दो खण्डो को और यदि स्त्री या नपुंसक होता है तो वह अपने-अपने वेद के दो-दो खण्डों को हास्यादि षट्क के अवशिष्ट अश सहित क्षीण करता है। फिर वेद के तृतीय खण्ड सहित सज्वलन क्रोध को क्षीण करता है। इसी प्रकार पूर्वांश सहित सज्वलन मान, माया और लोभ को क्षीण करता है।[1]

यन्त्र देखिए—

क्षय	अवशिष्ट अश का प्रक्षेप
(१) अनन्तानुबन्धी चतुष्क (क्रोध, मान, माया, लोभ)	मिथ्यात्व के पुद्गलों में
(२) पूर्वांश सहित मिथ्यात्व	सम्यग्-मिथ्यात्व के पुद्गलो में
(३) पूर्वांश सहित सम्यग्-मिथ्यात्व	सम्यक्त्व के पुद्गलों में
(४) पूर्वांश सहित सम्यक्त्व	अप्रत्याख्यान-चतुष्क और प्रत्याख्यान-चतुष्क में
(५) पूर्वांश सहित अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान चतुष्क	नपुंसक-वेद में
(६) पूर्वांश सहित नपुंसक वेद	स्त्री-वेद में
(७) पूर्वांश सहित स्त्री-वेद	हास्यादि षट्क (हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा) में
(८) पूर्वांश सहित हास्यादि षट्क	पुरुष-वेद के दो खण्डों में
(९) पूर्वांश सहित पुरुष-वेद के दो खण्ड	तृतीय खण्ड के सज्वलन क्रोध में
(१०) पूर्वांश सहित सज्वलन क्रोध	सज्वलन मान में
(११) पूर्वांश सहित सज्वलन मान	सज्वलन माया में
(१२) पूर्वांश सहित सज्वलन माया	सज्वलन लोभ में
(१३) पूर्वांश सहित सज्वलन लोभ	०

सज्वलन लोभ के फिर सख्येय खण्ड किए जाते है। उनमें से प्रत्येक खण्ड को एक-एक अन्तर्मुहूर्त में क्षीण किया जाता है। उनका क्षय होते-होते उनमें से जो चरम खण्ड बचता है उसके फिर असख्य सूक्ष्म खण्ड होते है। उनमें से प्रत्येक खण्ड को एक-एक समय में क्षीण किया जाता है। उनका चरम खण्ड भी फिर असख्य सूक्ष्म खण्डो की रचना करता है। उनमें से प्रत्येक खण्ड को एक एक समय मे क्षीण किया जाता है। इस प्रकार मोहनीय-कर्म सर्वथा क्षीण हो जाता है। उसके क्षीण होने पर यथाख्यात या वीतराग-चारित्र की प्राप्ति होती है। वह अन्तर्मुहूर्त तक रहता है। उसके अन्तिम दो समय जब शेष होते है, तब पहले समय में निद्रा, प्रचला, देव-गति, आनुपूर्वी, वैक्रिय-शरीर, वज्र-ऋषभ को छोडकर शेष सब सहनन, सस्थान, तीर्थङ्कर-नाम कर्म और आहारक-नाम कर्म क्षीण होते है। चरम समय में जो क्षीण होता है वह सूत्र में प्रतिपादित है, जैसे—पचविध ज्ञानावरणीय, नव-विध दर्शनावरणीय और पच-विध अन्तराय—ये सारे एक ही साथ क्षीण होते हैं। इस प्रकार चारो घाति-कर्मों के क्षीण होते ही निरावरण ज्ञान—केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन का उदय हो जाता है।

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ५९४-५९६।

केवली होने के पश्चात् भवोपग्राही (जीवन धारण के हेतुभूत)-कर्म शेष रहते है, तब तक वह इस संसार मे रहता है। इसकी काल-मर्यादा जघन्यत अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टत देश-ऊन (नौ वर्ष कम) करोड पूर्व की है। इस अवधि मे केवली जब तक सयोगी (मन, वचन और काया की प्रवृत्ति युक्त) रहता है, तब तक उसके ईर्यापथिक-कर्म[1] का बन्ध होता है। उसकी स्थिति दो समय की होती है। उसका बन्ध गाढ नही होता—निधत्त और निकाचित अवस्थाएँ नही होती। इसीलिए उसे 'बद्ध और स्पृष्ट' कहा है। जिस प्रकार घडा आकाश से स्पृष्ट होता है, उसी प्रकार ईर्यापथिक कर्म केवली की आत्मा से बद्ध-स्पृष्ट होता है। जिस प्रकार चिकनी भित्ति पर फेंकी हुई धूलि उससे स्पृष्ट मात्र होती है, उसी प्रकार ईर्यापथिक-कर्म केवली की आत्मा से स्पृष्ट मात्र होता है। प्रथम समय में वह बद्ध-स्पृष्ट होता है और दूसरे समय में वह उदीरित[2]—उदय-प्राप्त और वेदित—अनुभव-प्राप्त होता है। तीसरे समय में वह निर्जीर्ण हो जाता है और चौथे समय मे वह अकर्म बन जाता है—फिर वह उस जीव के कर्म-रूप में परिणत नही होता।

सूत्र ७२-७३

४२—सूत्र ७२-७३ :

केवली का जीवन-काल जब अन्तर्मुहूर्त्त मात्र शेष रहता है, तब वह योग-निरोध (मन, वचन और काया की प्रवृत्ति का पूर्ण निरोध) करता है। उसकी प्रक्रिया इस प्रकार है—शुक्ल-ध्यान के तृतीय चरण (सूक्ष्म-क्रिय-अप्रतिपाति) मे वर्तता हुआ वह सर्व प्रथम मनोयोग का निरोध करता है। प्रति समय मन के पुद्गल और व्यापार का निरोध करते-करते असंख्य समयो मे उसका पूर्ण निरोध कर पाता है। फिर वचन-योग का निरोध करता है। प्रति समय वचन के पुद्गल और व्यापार का निरोध करते-करते असंख्य समयो में उसका पूर्ण निरोध कर पाता है। फिर उच्छ्वास-निश्वास का निरोध करता है। प्रति समय काय-योग के पुद्गल और व्यापार का निरोध करते-करते असंख्य समयो मे उसका पूर्ण (उच्छ्वास-निश्वास सहित) निरोध कर पाता है। औपपातिक में उच्छ्वास-निश्वास-निरोध के स्थान पर काय-योग के निरोध का उल्लेख है।[3]

मुक्त होने वाला जीव शरीर की अवगाहना का तीसरा भाग जो पोला होता है, उसे पूरित कर देता है[4] और आत्मा की शेष दो भाग जितनी अवगाहना रह जाती है।[5] यह क्रिया काय-योग-निरोध के अन्तराल मे ही निष्पन्न होती है।[6]

योग-निरोध होते ही अयोगी या शैलेशी अवस्था प्राप्त हो जाती है। उसे 'अयोगी गुणस्थान' भी कहा जाता है। न विलम्ब से और न शीघ्रता से, किन्तु मध्यम-भाव से पाँच ह्रस्व अक्षरो (—अ, इ, उ, ऋ, लृ) का उच्चारण करने में जितना समय लगता है, उतने समय तक

१—विशेष जानकारी के लिए देखिए—सूत्रकृताग, २।२, तेरहवाँ क्रिया स्थान।

२—बृहद् वृत्ति, पत्र ५९६

उदीरित का अर्थ उदय प्राप्त है। किन्तु उदीरणा के द्वारा उदय-प्राप्त नहीं है। क्योंकि वहाँ उदीरणा होती ही नहीं—'उदीरणाया स्तत्रासमवात'।

३—औपपातिक, सूत्र ४३।

४—विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ३८३६

देहतिभागो सुसिर, तप्पूरणओ तिभागहीणोत्ति।
से जोगनिरोहेच्चिय, जाओ सिद्धोवि तदवत्थो॥

५—(क) उत्तराध्ययन, ३६।६४।

(ख) औपपातिक, सूत्र ४३।

६—(क) विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ३६८१

'देह तिभाग च मुचन्तो'।

(ख) वही, गाथा ३६८२

'सम्नई स काय-जोग।

अयोगी-अवस्था रहती है। उस अवस्था में शुक्ल-ध्यान का चतुर्थ चरण—'समुच्छिन्न-क्रिय-अनिवृत्ति' नामक ध्यान होता है। वहाँ चार अघात्म या भवोपग्राही-कर्म एक साथ क्षीण हो जाते है। उसी समय औदारिक, तैजस और कार्मण शरीर को सर्वथा छोड कर ऊर्ध्व-लोकान्त तक चला जाता है।

यहाँ मूलपाठ में 'ओरालिय-कम्माइ' इतना ही है। तैजस का उल्लेख नही है। बृहद् वृत्तिकार ने उपलक्षण से उसका स्वीकार किया है।[1] औपपातिक में तैजस-शरीर का प्रत्यक्ष ग्रहण है।[2]

गति दो प्रकार की होती है—(१) ऋजु और (२) वक्र। मुक्त-जीव का ऊर्ध्व-गमन ऋजु श्रेणी (ऋजु आकाश प्रदेश की पंक्ति) से होता है, इसलिए उसकी गति ऋजु होती है। वह एक क्षण मे ही सम्पन्न हो जाती है।

गति के पाँच भेद बतलाए गए हैं—(१) प्रयोग गति, (२) तत गति, (३) बन्धन-छेदन गति, (४) उपपात गति और (५) विहायो गति। विहायो गति १७ प्रकार की होती है। उसके प्रथम दो प्रकार है—(१) स्पृशद् गति और (२) अस्पृशद् गति।[3] एक परमाणु पुद्गल दूसरे परमाणु पुद्गलो व स्कन्धो का स्पर्श करते हुए गति करता है, उस गति को 'स्पृशद् गति' कहा जाता है। एक परमाणु दूसरे परमाणु पुद्गलों व स्कधो का स्पर्श करते हुए गति करता है, उस गति को 'अस्पृशद् गति' कहा जाता है।[4]

मुक्त-जीव अस्पृशद् गति से ऊपर जाता है। शान्त्याचार्य के अनुसार अस्पृशद् गति का अर्थ यह नही है कि वह आकाश-प्रदेशों का स्पर्श नही करता, किन्तु उसका अर्थ यह है कि वह मुक्त जितने आकाश-प्रदेशो में अवगाढ होता है, उतने ही आकाश-प्रदेशों का स्पर्श करता है। उनसे अतिरिक्त प्रदेशो का नही[5], इसलिए उसे 'अस्पृशद् गति' कहा गया है।

अभयदेव सूरि के अनुसार मुक्त-जीव अन्तरालवर्ती आकाश-प्रदेशों का स्पर्श किए विना ही ऊपर चला जाता है। यदि अन्तरालवर्ती आकाश-प्रदेशो का स्पर्श करता हुआ वह ऊपर जाए तो एक समय में वह वहाँ पहुँच ही नही सकता।[6] इसके आधार पर अस्पृशद् गति का अर्थ होगा—'अन्तरालवर्ती आकाश-प्रदेशो का स्पर्श किए बिना मोक्ष तक पहुँचने वाला'।

आवश्यक चूर्णि के अनुसार अस्पृशद् गति का अर्थ यह होगा कि मुक्त-जीव दूसरे समय का स्पर्श नहीं करता, एक समय में ही मोक्ष स्थान तक पहुँच जाता है।[7] किन्तु 'एग समएण अविग्गहेण' पाठ की उपस्थिति में यह अर्थ यहाँ अभिप्रेत नही है।

शान्त्याचार्य और अभयदेव सूरि द्वारा कृत अर्थ इस प्रकार है—(१) मुक्त-जीव स्वावगाढ आकाश-प्रदेशो से अतिरिक्त प्रदेशो का स्पर्श नही करता हुआ गति करता है और (२) अन्तरालवर्ती आकाश-प्रदेशो का स्पर्श किए विना ही गति करता है। ये दोनो ही अर्थ घटित हो सकते है।

उपयोग दो प्रकार का होता है—(१) साकार और (२) अनाकार। जीव साकार-उपयोग अर्थात् ज्ञान की धारा में ही मुक्त होता है।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ५९७
औदारिककार्मणे शरीरे उपलक्षणत्वात्तैजस च।

२–औपपातिक, सूत्र ४३।

३–प्रज्ञापनापद, १६।

४–वही, १६।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ५९७
अस्पृशद्गतिरिति, नायमर्थो यथा नायमाकाशप्रदेशान्न स्पृशति अपि तु यावत्सु जीवोऽवगाढस्तावत एव स्पृशति न तु ततोऽतिरिक्तमेकमपि प्रदेशम्।

६–औपपातिक, सूत्र ४३, वृत्ति पृ० २१६
अस्पृशन्ती—सिद्धयन्तरालप्रदेशान् गतिर्यस्य सोऽस्पृशद्गति, अन्तरालप्रदेशस्पर्शने हि नैकेन समयेन सिद्धि, इष्यते च तत्रैक एव समय, य एव चायुष्कादिकर्मणा क्षयसमय स एव निर्वाणसमय, अतोऽन्तराले समयान्तरस्याभावादन्तरालप्रदेशानामसंस्पर्शनमिति

७–आवश्यक चूर्णि
अफुसमाणगती बितिय समय ण फुसति (अभिधान राजेन्द्र, भाग १, पृ० ६७५)।

अध्ययन ३०
तवमग्गगई
श्लोक ७

१—बाह्य और आभ्यन्तर (बाहिरब्भन्तरो ख) :

स्वरूप और सामग्री के आधार पर तप को दो भागों में विभक्त किया गया है—(१) बाह्य और (२) आभ्यन्तर। बाह्य-तप—अनशन आदि—निम्न कारणो से बाह्य-तप कहलाते हैं

(१) इनमें बाहरी द्रव्यो की अपेक्षा होती है—अशन आदि द्रव्यो का त्याग होता है,

(२) वे सर्व-साधारण के द्वारा तपस्या के रूप में स्वीकृत होते है,

(३) उनका प्रत्यक्ष प्रभाव शरीर पर अधिक होता है और

(४) वे मुक्ति के बहिरग कारण होते है।[1]

मूलाराधना के अनुसार जिसके आचरण से मन दुष्कृत के प्रति प्रवृत्त न हो, आंतरिक-तप के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो और पूर्वगृहीत योगो (—स्वाध्याय आदि योगो या व्रत विशेषो) की हानि न हो, वह 'बाह्य-तप' होता है।[2]

आभ्यन्तर-तप—प्रायश्चित्त आदि—निम्न कारणो से ऐसे कहलाते हैं

(१) इनमें बाहरी द्रव्यो की अपेक्षा नही होती,

(२) वे विशिष्ट व्यक्तियो के द्वारा ही तप-रूप में स्वीकृत होते हैं,

(३) उनका प्रत्यक्ष प्रभाव अन्तःकरण में होता है और

(४) वे मुक्ति के अन्तरग कारण होते है।[3]

महर्षि पतञ्जलि ने भी योग के अगो को अन्तरग और बहिरग—इन दो भागो मे विभक्त किया है। धारणा, ध्यान और समाधि—ये पूर्ववर्ती यम आदि पांच साधनो की अपेक्षा अतरग है। निर्बीज-योग की अपेक्षा वे बहिरग भी हैं।[4] इसका फलितार्थ यह है कि यम आदि पाँच अग बहिरग हैं और धारणा आदि तीन अग अतरग और बहिरग दोनो है। निर्बीज-योग केवल अतरग हैं।

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ६००।

२—मूलाराधना, ३।२३६

सो णाम बाहिरतवो, जेण मणो दुक्कड ण उट्ठेदि।
जेण य सड्ढा जायदि, जेण य जोगा ण हायति॥

३—बृहद् वृत्ति, पत्र ६००

'बाह्य' बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात प्रायो मुक्त्यवाप्तिबहिरङ्गत्वाच्च 'अभ्यन्तर' तद्विपरीत, यदिवा 'लोकप्रतीतत्वात्कुतीर्थिकैश्च स्वाभिप्रायेणासेव्यमानत्वाद्बाह्य तदितरत्त्वाभ्यन्तरम उक्तञ्च—

"लोके परसमयेषु च यत्प्रथित तत्तपो भवति बाह्यम्।
आभ्यन्तरमप्रथित कुशलजनेनैव तु ग्राह्यम॥"

अन्ये त्वाहु—"प्रायेणान्तःकरणव्यापाररूपमेवाभ्यन्तर, बाह्य त्वन्यथे" ति।

४—पातञ्जल योगदर्शन, ३।७-८

त्रयमन्तरङ्ग पूर्वेभ्य। तदपि बहिरङ्ग निर्बीजस्य॥

बाह्य-तप के प्रकार

बाह्य-तप के छह प्रकार है—(१) अनशन, (२) अवमौदर्य, (३) वृत्ति-सक्षेप, (४) रस-परित्याग, (५) काय-क्लेश और (६) विविक्त-शय्या ।

बाह्य-तप के परिणाम

बाह्य-तप के निम्न परिणाम होते हैं—

(१) सुख की भावना स्वय परित्यक्त हो जाती है ।
(२) शरीर कृश हो जाता है ।
(३) आत्मा सवेग मे स्थापित होती है ।
(४) इन्द्रिय-दमन होता है ।
(५) समाधि-योग का स्पर्श होता है ।
(६) वीर्य-शक्ति का उपयोग होता है ।
(७) जीवन की तृष्णा विच्छिन्न होती है ।
(८) सक्लेश-रहित दु ख-भावना (कष्ट-सहिष्णुता) का अभ्यास होता है ।
(९) देह, रस और सुख का प्रतिबध नही रहता ।
(१०) कषाय का निग्रह होता है ।
(११) विषय-भोगो के प्रति अनादर (उदासीन भाव) उत्पन्न होता है ।
(१२) समाधि-मरण का स्थिर अभ्यास होता है ।
(१३) आत्म-दमन होता है । आहार आदि का अनुराग क्षीण होता है ।
(१४) आहार-निराशता—आहार की अभिलाषा के त्याग का अभ्यास होता है ।
(१५) अगृद्धि बढती है ।
(१६) लाभ और अलाभ मे सम रहने का अभ्यास सधता है ।
(१७) ब्रह्मचर्य सिद्ध होता है ।
(१८) निद्रा-विजय होती है ।
(१९) ध्यान की दृढता प्राप्त होती है ।
(२०) विमुक्ति (विशिष्ट त्याग) का विकास होता है ।
(२१) दर्प का नाश होता है ।
(२२) स्वाध्याय-योग की निर्विघ्नता प्राप्त होती है ।
(२३) सुख-दु ख मे सम रहने की स्थिति बनती है ।
(२४) आत्मा, कुल, गण, शासन—सबकी प्रभावना होती है ।
(२५) आलस्य त्यक्त होता है ।
(२६) कर्म-मल का विशोधन होता है ।
(२७) दूसरो को सवेग उत्पन्न होता है ।
(२८) मिथ्या-दृष्टियो मे भी सौम्यभाव उत्पन्न होता है ।
(२९) मुक्ति-मार्ग का प्रकाशन होता है ।

(३०) तीर्थङ्कर की आज्ञा की आराधना होती है।

(३१) देह-लाघव प्राप्त होता है।

(३२) शरीर-स्नेह का शोषण होता है।

(३३) राग आदि का उपशम होता है।

(३४) आहार की परिमितता होने से नीरोगता बढ़ती है।

(३५) संतोष बढ़ता है।[1]

बाह्य-तप के प्रयोजन—

(१) अनशन के प्रयोजन (क) संयम-प्राप्ति, (ख) राग-नाश, (ग) कर्म-मल विशोधन, (घ) सद्ध्यान की प्राप्ति और (ङ) शास्त्राभ्यास।

(२) अवमौदर्य के प्रयोजन (क) संयम में सावधानता, (ख) वात, पित्त, श्लेष्म आदि दोषों का उपशमन और (ग) ज्ञान, ध्यान आदि की सिद्धि।

(३) वृत्ति-संक्षेप के प्रयोजन (क) भोजन-सम्बन्धी आशा पर अंकुश और (ख) भोजन-सम्बन्धी संकल्प-विकल्प और चिन्ता का नियंत्रण।

(४) रस-परित्याग के प्रयोजन (क) इन्द्रिय-निग्रह, (ख) निद्रा-विजय और (ग) स्वाध्याय, ध्यान की सिद्धि।

(५) विविक्त-शय्या के प्रयोजन (क) बाधाओं से मुक्ति, (ख) ब्रह्मचर्य-सिद्धि और (ग) स्वाध्याय, ध्यान की सिद्धि।

(६) काय-क्लेश के प्रयोजन (क) शारीरिक कष्ट-सहिष्णुता का स्थिर अभ्यास, (ख) शारीरिक सुख की वाञ्छा से मुक्ति और (ग) जैन-धर्म की प्रभावना।[2]

आभ्यन्तर-तप के प्रकार—

आभ्यन्तर-तप के छह प्रकार हैं—(१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैयावृत्त्य, (४) स्वाध्याय, (५) ध्यान और (६) व्युत्सर्ग।

आभ्यन्तर-तप के परिणाम—

भाव-शुद्धि, चंचलता का अभाव, शल्य-मुक्ति, धार्मिक-दृढ़ता आदि प्रायश्चित्त के परिणाम हैं।[3]

ज्ञान-लाभ, आचार-विशुद्धि, सम्यक्-आराधना आदि विनय के परिणाम हैं।[4]

चित्त-समाधि का लाभ, ग्लानि का अभाव, प्रवचन-वात्सल्य आदि वैयावृत्त्य के परिणाम हैं।

प्रज्ञा का अतिशय, अध्यवसाय की प्रशस्तता, उत्कृष्ट संवेग का उदय, प्रवचन की अविच्छिन्नता, अतिचार-विशुद्धि, संदेह-नाश, मिथ्या-वादियों के भय का अभाव आदि स्वाध्याय के परिणाम हैं।[6]

कषाय से उत्पन्न ईर्ष्या, विषाद, शोक आदि मानसिक दुःखों से बाधित न होना। सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास आदि शरीर को प्रभावित करने वाले कष्टों से बाधित न होना ध्यान के परिणाम हैं।[7]

१—मूलाराधना, ३।२३७-२४४।

२—तत्त्वार्थ, ९।२०, श्रुतसागरीय वृत्ति।

३—वही, ९।२२, श्रुतसागरीय वृत्ति।

४—वही, ९।२३, श्रुतसागरीय वृत्ति।

५—वही, ९।२४, श्रुतसागरीय वृत्ति।

६—वही, ९।२५, श्रुतसागरीय वृत्ति।

७—ध्यानशतक, १०५-१०६।

निर्ममत्व, निर्भयता, जीवन के प्रति अनासक्ति, दोषो का उच्छेद, मोक्ष-मार्ग में तत्परता आदि व्युत्सर्ग के परिणाम हैं।[१] आभ्यान्तर-तप के प्रयोजन स्पष्ट है।

श्लोक ९

२–इत्वरिक (इत्तिरिया क) :

औपपातिक (सूत्र १९) मे इत्वरिक के चौदह प्रकार वतलाए गए है—

(१) चतुर्थ भक्त— उपवास।
(२) षष्ट-भक्त— २ दिन का उपवास।
(३) अष्टम-भक्त— ३ दिन का उपवास।
(४) दशम-भक्त— ४ दिन का उपवास।
(५) द्वादश-भक्त— ५ दिन का उपवास।
(६) चतुर्दश-भक्त— ६ दिन का उपवास।
(७) षोडश-भक्त— ७ दिन का उपवास।
(८) अर्धमासिक-भक्त— १५ दिन का उपवास।
(९) मासिक-भक्त— १ मास का उपवास।
(१०) द्वैमासिक-भक्त— २ मास का उपवास।
(११) त्रैमासिक-भक्त— ३ मास का उपवास।
(१२) चतुरमासिक-भक्त— ४ मास का उपवास।
(१३) पचमासिक-भक्त— ५ मास का उपवास।
(१४) छहमासिक-भक्त— ६ मास का उपवास।

इत्वरिक-तप कम से कम एक दिन और अधिक से अधिक ६ मास तक का होता है।

प्रस्तुत प्रकरण मे इत्वरिक-तप छह प्रकार का वतलाया गया है—(१) श्रेणि तप, (२) प्रतर तप, (३) घन तप, (४) वर्ग तप, (५) वर्ग-वर्ग तप और (६) प्रकीर्ण तप।

(१) **श्रेणि तप**—उपवास से लेकर छह मास तक क्रमपूर्वक जो तप किया जाता है, उसे श्रेणि तप कहा जाता है। इसकी अनेक अवान्तर श्रेणियाँ होती है। जैसे—उपवास, वेला—यह दो पदो का श्रेणि तप है। उपवास, वेला, तेला, चोला—यह चार पदो का श्रेणि तप है।

(२) **प्रतर तप**—एक श्रेणि तप को जितने क्रम—प्रकारो से किया जा सकता है, उन सब क्रम—प्रकारों को मिलाने से प्रतर-तप होता है। उदाहरण स्वरूप उपवास, वेला, तेला और चोला—इन चार पदो की श्रेणि लें। इसके निम्नलिखित चार क्रम—प्रकार वनते है—

क्रम प्रकार	१	२	३	४
१	उपवास	वेला	तेला	चौला
२	वेला	तेला	चौला	उपवास
३	तेला	चौला	उपवास	वेला
४	चौला	उपवास	वेला	तेला

यह प्रतर तप है। इसमें कुल पदो की सख्या १६ है। इस तरह यह तप श्रेणि को श्रेणि-पदों से गुणा करने से वनता है।

(३) घन तप—जितने पदो की श्रेणि है, प्रतर को उतने पदों से गुणा करने से घन तप वनता है। यहाँ चार पदों की श्रेणि है। अत उपर्युक्त प्रतर तप को चार से गुणा करने से अर्थात् उसे चार वार करने से घन तप होता है। घन तप के ६४ पद वनते हैं।

१–तत्त्वार्थ, ९।२६, श्रुतसागरीय वृत्ति।

(४) वर्ग तप—घन को घन से गुणा करने पर वर्ग तप बनता है अर्थात् घन तप को ६४ बार करने से वर्ग तप बनता है। इसके ६४×६४=४०९६ पद बनते हैं।

(५) वर्ग-वर्ग तप—वर्ग को वर्ग से गुणा करने पर वर्ग-वर्ग तप बनता है अर्थात् वर्ग तप को ४०९६ बार करने से वर्ग-वर्ग तप बनता है। इसके ४०९६×४०९६=१६७७७२१६ पद बनते है।

(६) प्रकीर्ण तप—यह पद श्रेणि आदि निश्चित पदो की रचना बिना ही अपनी शक्ति के अनुसार किया जाता है। यह अनेक प्रकार का है।

शान्त्याचार्य ने नमस्कार-सहिता आदि तथा यवमध्य, वज्रमध्य, चन्द्र-प्रतिमा आदि तपो को प्रकीर्ण तप के अन्तर्गत माना है।[1]

श्लोक ११

३–नाना प्रकार के मनोवाञ्छित फल देने वाला (मणइच्छियचित्तत्थो ग) :

टीकाकार ने इसका अर्थ 'मनो-वाञ्छित विचित्र प्रकार का फल देने वाला' किया है।[2] फल-प्राप्ति के लिए तप नहीं करना चाहिए, टीकाकार का अर्थ इस मान्यता का विरोधी नहीं है। 'मणइच्छियचित्तत्थो' यह वाक्य तप के गौण फल का सूचक है। आगम-साहित्य में इस प्रकार के अनेक उल्लेख मिलते हैं। इसका अर्थ 'मन इच्छित विचित्र प्रकार से किया जाने वाला तप' भी हो सकता है।

श्लोक १२-१३

४–श्लोक १२-१३ :

इन दो श्लोको में मरण-काल-भावी अनशन का निरूपण है। औपपातिक में उसके दो प्रकार निर्दिष्ट हैं—(१) पादपोपगमन और (२) भक्त-प्रत्याख्यान।[3]

पादपोपगमन नियमत अप्रतिकर्म है और उसके दो प्रकार हैं—(१) व्याघात और (२) निर्व्याघात।

भक्त-प्रत्याख्यान नियमत सप्रतिकर्म है और उसके भी दो प्रकार हैं—(१) व्याघात और (२) निर्व्याघात।

समवायाग में इस अनशन के तीन प्रकार निर्दिष्ट है—(१) भक्त-प्रत्याख्यान, (२) इगिनी और (३) पादपोपगमन।[4]

प्रस्तुत अध्ययन में मरण-काल भावी अनशन के प्रकारो (भक्त-प्रत्याख्यान आदि) का उल्लेख नहीं है। केवल उनका सात विधाओं से विचार किया गया है।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ६०१
तच्च नमस्कारसहितादि पूर्वपुरुषाचरित यवमध्यवज्रमध्यचन्द्रप्रतिमादि च।

२–वही, पत्र ६०१
मनस —चित्तस्य ईप्सित—इष्टश्चित्र —अनेकप्रकारोऽर्थ —स्वर्गापवर्गादिस्तेजोलेश्यादिर्वा यस्मात्तन्मनईप्सितचित्रार्थं ज्ञातव्य भवति।

३–औपपातिक, सूत्र १९।

४–समवायाग, समवाय १७।

(१) सविचार — हलन-चलन सहित
(२) सपरिकर्म[1] — शुश्रूपा या सलेखना-सहित
(३) निर्हारि — उपाश्रय से बाहर गिरी कदरा आदि एकान्त स्थानों में किया जाने वाला।
(४) अविचार — स्थिरता युक्त
(५) अपरिकर्म — शुश्रूपा या सलेखना-रहित
(६) अनिर्हारि — उपाश्रय में किया जाने वाला।
(७) आहारच्छेद।

भक्त-प्रत्याख्यान मे जल-वर्जित त्रिविध आहार का भी प्रत्याख्यान किया जाता है और चतुर्विध आहार का भी। इगिनी और पादपोपगमन—इन दोनो में चतुर्विध आहार का परित्याग किया जाता है।

भक्त-प्रत्याख्यान अनशन करने वाला अपनी इच्छा के अनुसार आ-जा सकता है। इगिनी अनशन करने वाला नियत प्रदेश मे इधर-उधर आ-जा सकता है, किन्तु उससे बाहर नही जा सकता है। पादपोपगमन अनशन करने वाला वृक्ष के समान निश्चेष्ट होकर लेटा रहता है—या जिस आसन में अनशन प्रारम्भ करता है, उसी आसन मे स्थिर रहता है—हलन-चलन नही करता।

भक्त-प्रत्याख्यान अनशन करने वाला स्वय भी अपनी शुश्रूपा करता है और दूसरो से भी करवाता है। इगिनी अनशन करने वाला दूसरो से शुश्रूपा नहीं करवाता, किन्तु स्वय अपनी शुश्रूपा कर सकता है। पादपोपगमन अनशन करने वाला अपने शरीर की शुश्रूपा न स्वय करता है और न किसी दूसरे से करवाता है।

शान्त्याचार्य ने निर्हारि और अनिर्हारि—ये दोनो पादपोपगमन के प्रकार बतलाए है।[2] किन्तु स्थानाग मे ये दो प्रकार भक्त-प्रत्याख्यान के भी किए गए है।[3]

दिगम्बर आचार्य शिवकोटि और अनशन

१-भक्त-प्रत्याख्यान :

उनके अनुसार भक्त-प्रत्याख्यान अनशन के दो प्रकार है—(१) सविचार और (२) अविचार।[4]

जो उत्साह—बलयुक्त है, जिसकी मृत्यु तत्काल होने वाली नही है, उस मुनि के भक्त-प्रत्याख्यान को 'सविचार भक्त-प्रत्याख्यान' कहा जाता है।[5] इसका अर्ह, लिंग आदि ४० प्रकरणो द्वारा विचार किया गया है।[6]

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ६०२-६०३ :
सह परिकर्मणा—स्थाननिषदनत्वग्वर्त्तनादि विश्रामणादिना च वर्त्तते यत्तत्सपरिकर्मअपरिकर्म च तद्विपरीतम्—यद्वा परिकर्म—सलेखना सा यत्रास्ति तत्सपरिकर्म, तद्विपरीत त्वपरिकर्म।

२—बृहद् वृत्ति, पत्र ६०३
एतच्च प्रकारद्वयमपि पादपोपगमनविषय, तत्प्रस्ताव एवागमेऽस्याभिधानात।

३—स्थानाग, २।४।१०२
पाओवगमणे दुविहे प० त०—णीहारिमे चेव अनीहारिमे चेव णियम अपडिक्कमे
भत्तपच्चक्खाणे दुविहे प० त०—णीहारिमे चेव अणीहारिमे चेव णियम सपडिक्कमे :

४—मूलाराधना, २।६५ :
दुविह तु भत्तपच्चक्खाण सविचारमध अविचार।

५—वही, २।६५
सविचारमणागाढे, मरणे सपरक्कमस्स हवे।

६—वही, २।६६
सविचारभत्तपच्चक्खाणस्सिणमो उवक्कमो होई।
तत्थ य सुत्तपदाइ, चत्ताल होति णेयाइ॥

मृत्यु की आकस्मिक संभावना होने पर जो भक्त-प्रत्याख्यान किया जाता है, उसे 'अविचार भक्त-प्रत्याख्यान' कहा जाता है।[1] उसके तीन प्रकार हैं

(१) निरुद्ध जो रोग और आतंक से पीड़ित हो, जिसका जघाबल क्षीण हो और जो दूसरे गण में जाने में असमर्थ हो, उस मुनि के भक्त-प्रत्याख्यान को 'निरुद्ध अविचार भक्त-प्रत्याख्यान' कहा जाता है।[2]

जब तक उसमें बल-वीर्य होता है, तब तक अपना काम स्वयं करता है और जब वह असमर्थ हो जाता है, तब दूसरे मुनि उसकी परिचर्या करते हैं।[3] जघाबल क्षीण होने पर अन्य गण में जाने में असमर्थ होने के कारण जो मुनि अपने गण में ही निरुद्ध रहता है, उसके भक्त-प्रत्याख्यान को 'अनिर्हारि' भी कहा जाता है।[4] इसमें अनियत विहार आदि की विधि नहीं होती, इसलिए उसे 'अविचार' कहा जाता है।

निरुद्ध दो प्रकार का होता है—(१) जन-ज्ञात और (२) जन-अज्ञात।[5]

(२) निरुद्धतर मृत्यु का तात्कालिक कारण (सर्प-दंश, अग्नि आदि) उपस्थित होने पर तत्काल भक्त-प्रत्याख्यान किया जाता है, उसका नाम निरुद्धतर है। बल-वीर्य की तत्काल हानि होने पर वह पर-गण में जाने में अत्यन्त असमर्थ होता है, इसलिए उसका अनशन 'निरुद्धतर' कहलाता है। यह अनिर्हारि होता है।[6]

(३) परमनिरुद्ध सर्प-दंश आदि कारणों से जब वाणी रुक जाती है, उस स्थिति के भक्त-प्रत्याख्यान को 'परमनिरुद्ध' कहा जाता है।[7]

२—इंगिनी :

इस अनशन की अधिकांश विधि भक्त-प्रत्याख्यान के समान होती है। केवल इतना विशेष होता है कि इंगिनी अनशन करने

१—मूलाराधना, ७।२०११
तत्थ अविचारभत्त-पइण्णा मरणम्मि होइ आगाढो। अपरक्कम्मस्स मुणिणो, कालम्मि असंपुहुत्तम्मि॥

२—वही, ७।२०१३
तस्स णिरुद्धं भणिदं, रोगादंकेहिं जो समभिभूदो। जंघाबलपरिहीणो, परगणगमणम्मि ण समत्थो।

३—वही, ७।२०१४
जावय बलविरियं से, सो विहरदि ताव णिप्पडीयारो।
पच्छा विहरति पडिजग्गिज्जंतो तेण सगणेण॥

४—वही, ७।२०१५
इय सण्णिरुद्धमरणं, भणियं अणिहारिमं अवीचारं।
सो चेव जधाजोग्गं, पुव्वुत्तविधी हवदि तस्स॥

५—वही, ७।२०१५।

६—वही, ७।२०१६।१७
दुविधं तं पि अणीहारिमं, पगासं च अप्पगासं च।
जणणादं च पगासं, इदरं च जणेण अण्णादं॥
खवयस्स चित्तसारं, खित्तं कालं पडुच्च सजणं वा।
अण्णम्मि य तारिसयम्मि कारणे अप्पगासं तु॥

७—वही, ७।२०२१
एवं णिरुद्धदरयं, विदियं अणिहारियं अवीचारं।
सो चेव जधाजोग्गो, पुव्वुत्तविधी हवदि तस्स॥

८—वही, ७।२०२२
वालादिएहिं जइया, अक्खित्ता होज्ज भिक्खुणो वाया।
तइया परमणिरुद्धं, भणिदं मरणं अविचारं॥

वाला दूसरे मुनियों से सेवा नहीं लेता, अपना काम स्वयं करता है।[१] उपसर्ग होने पर भी निष्प्रति-कर्म होता है—प्रतिकार-रहित उन्हें सहता है।[२]

३—प्रायोपगमन :

इसमें तृणसंस्तर (घास का बिछौना) नहीं किया जाता, स्वयं परिचर्या करना भी वर्जित होता है, यह सर्वथा अपरिकर्म होता है।[३]

भक्त-प्रत्याख्यान में शारीरिक परिचर्या स्वयं की जाती है, दूसरों से कराई भी जाती है। इंगिनी में वह स्वयं की जाती है, दूसरों से नहीं कराई जाती। प्रायोपगमन में वह न स्वयं की जाती है और न दूसरों से कराई जाती है।[४]

प्रायोपगमन अनशन करने वाला शरीर को इतना कृश कर लेता है कि उसके मल-मूत्र आदि होते ही नहीं।[५] वह अनशन करते समय जहाँ अपना शरीर टिका देता है, वहीं स्थिर-भाव से टिकाए रहता है। इस प्रकार वह निष्प्रति-कर्म होता है। वह अचल होता है, इसलिए अनिर्हार होता है। दूसरा कोई व्यक्ति उसे उठा कर किसी दूसरे स्थान में डाल देता है तो पर-कृत चालन की अपेक्षा वह निर्हार भी हो जाता है।[६]

श्वेताम्बर और दिगम्बर-परम्परा में अनशन के तीनों प्रकार और अनेक नाम समान हैं। 'पाओअगमण' का संस्कृत रूप श्वेताम्बर आचार्यों ने 'पादपोपगमन'[७] किया है, वहाँ दिगम्बर आचार्यों ने 'प्रायोपगमन'।[८] अर्थ की दृष्टि से 'पादपोपगमन' अधिक उपयुक्त है किन्तु छाया

१—मूलाराधना, ८।२०४२

सयमेव अप्पणो सो, करेदि आउटणादि किरियाओ।
उच्चारादीणि तधा, सयमेव विकिंचिदे विधिणा॥

२—वही, ८।२०४३ :

जाधे पुण उवसग्गे, देवा माणुस्सिया व तेरिच्छा।
ताधे णिप्पडियम्मो, ते अधियासेदि विगदभओ॥

३—वही, ८।२०६४

णवरि तणसथारो, पाओवगदस्स होदि पडिसिद्धो।
आदपरपओगेण, य पडिसिद्धं सव्वपरियम्मं॥

४—वही, ८।२०६४, वृत्ति

विजयोदया—स्वपरसपाद्यप्रतीकारापेक्षं भक्तप्रत्याख्यानविधिं, परनिरपेक्षमात्मसंपाद्यप्रतीकारमिंगिणीमरणं, सर्वप्रतीकाररहितं प्रायोपगमनमित्यमीषां भेदः।

५—वही, ८।२०६५

सो सल्लेहिददेहो, जम्हा पाओवगमणमुवजादि।
उच्चारादिविकिंचण, मवि णत्थि पवोगदो तम्हा॥

६—वही, ८।२०६८-६९-७०

वोसट्ठचत्तदेहो, दु णिक्खिवेज्जो जहिं जधा अंगं।
जावज्जीवं तु सयं, तहिं तमंगं ण चालेज्ज॥
एवं णिप्पडियम्मं, भणंति पाओवगमणमरहंता।
णियमा अणिहारं तं, सिया य णीहारमुवसग्गे॥
उवसग्गेण य साहरिदो, सो अण्णत्थ कुणदि जं कालं।
तम्हा वुत्तं णीहारं, मदो अण्णं अणीहारं॥

७—औपपातिक वृत्ति, पृ० ७१

पादपस्येवोपगमनम्—अस्पन्दतयाऽवस्थानं पादपोपगमनम्।

८—मूलाराधना, ८।२०६३

पाओवगमणमरणम्।
विजयोदया—प्रायोपगमनमरणम्।

की दृष्टि से 'प्रायोपगमन' होना चाहिए। महाभारत में अनशनकर्ता के अर्थ में 'प्रायोपविष्ट' शब्द का प्रयोग मिलता है।[1] काश्मीर में अनशन के प्रबन्ध के लिए एक पदाधिकारी नियुक्त था, जो 'प्रायोपवेश' कहलाता था।[2]

सविचार और अविचार, निर्हारि और अनिर्हारि—इनका अर्थ दोनों परम्पराओं में भिन्न है

	श्वेताम्बर	दिगम्बर
(१) सविचार—	गमनागमन-सहित[3]	अर्ह, लिंग आदि विकल्प-सहित।[4]
(२) अविचार—	गमनागमन-रहित[5]	अर्ह, लिंग आदि विकल्प-रहित।[6]
(३) निर्हारि—	उपाश्रय के एक देश में, जिसमें मृत्यु के पश्चात् शरीर का निर्हरण किया जाए—बाहर ले जाया जाए[7]।	स्व-गण का त्याग कर पर-गण में जा सके, वह।
(४) अनिर्हारि—	गिरि-गुफा आदि में जिसमें मृत्यु के पश्चात् निर्हरण करना आवश्यक न हो।[8]	स्व गण का त्याग कर पर-गण में न जा सके, वह।[9]

प्रायोपगमन के वर्णन में आचार्य शिवकोटि ने अनिर्हार और निर्हार का अर्थ 'अचल' और 'चल' भी किया है।[10] मूलाराधना के

१–महाभारत, शान्तिपर्व, ७७।२४
प्रायोपविष्टं जानीध्वमथ मां गुरुघातिनम्।

२–प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृ० १०४।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ६०२
'कायचेष्टाम्' उद्वर्त्तनपरिवर्त्तनादिककायप्रवीचार 'प्रती' ति आश्रित्य 'भवेन' स्यात्, तत्र सविचार भक्तप्रत्याख्यानमिङ्गिनी-मरण च।

४–मूलाराधना, २।६५, विजयोदया वृत्ति
विचरण नानागमन विचार। विचारेण वर्तते इति सविचार एतदुक्त भवति। वक्ष्यमाणार्हलिगादिविकल्पेन सहित भक्त-प्रत्याख्यान इति।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ६०२
अविचार तु पादपोपगमन, तत्र हि सव्याघाताव्याघातभेदतो द्विभेदेऽपि पादपवन्निश्चेष्टतयैव स्थीयते।

६–(क) मूलाराधना, २।६५, विजयोदया वृत्ति
अविचार वक्ष्यमाणार्हादिनानाप्रकाररहितम्।
(ख) मूलाराधना दर्पण, ७।२०१५
अवीचार अनियतविहारादिविचारणाविरहात्।

७–स्थानांग २।४।१०२, वृत्ति
यद्वसतेरेकदेशे विधीयते ततस्त शरीरस्य निर्हरणात्—निस्सारणान्निर्हारिमम्।

८–वही, २।४।१०२, वृत्ति
यत्पुनर्गिरिकन्दरादौ तदनिर्हरणादनिर्हारिमम्।

९–मूलाराधना दर्पण, ७।२०१५
अणिहारिम सविचारभक्तप्रत्याख्यानोक्तस्वगणपरित्यागाभावात्।
अर्थ—सविचार भक्त के प्रत्याख्यान में स्व-गण का परित्याग कर पर-गण में जाने की विधि बतलाई है, वह इसमें नहीं है इसलिए इसको 'अणिहारिम' कहते हैं।

१०–मूलाराधना ८।२०६९
एवं णिप्पडियम्मं भणंति पाओवगमणमरहंता।
णियमा अणिहारं तं सिया य णीहारमुवसग्गे॥
विजयोदया—तत्प्रायोपगमनमनिहारमचलं स्यादिति इतरो पादोपगमने च।

भक्त-प्रत्याख्यान के निरुद्धतर और परमनिरुद्ध की तुलना औपपातिक के पादपोपगमन और भक्त-प्रत्याख्यान के एक प्रकार—व्याघात सहित से होती है। व्याघात-सहित का अर्थ है—सिंह, दावानल आदि का व्याघात उत्पन्न होने पर किया जाने वाला अनशन।[1]

औपपातिक के अनुसार पादपोपगमन और भक्त-प्रत्याख्यान दोनों अनशनों के दो-दो प्रकार होते हैं—(१) व्याघात-सहित और (२) व्याघात रहित।

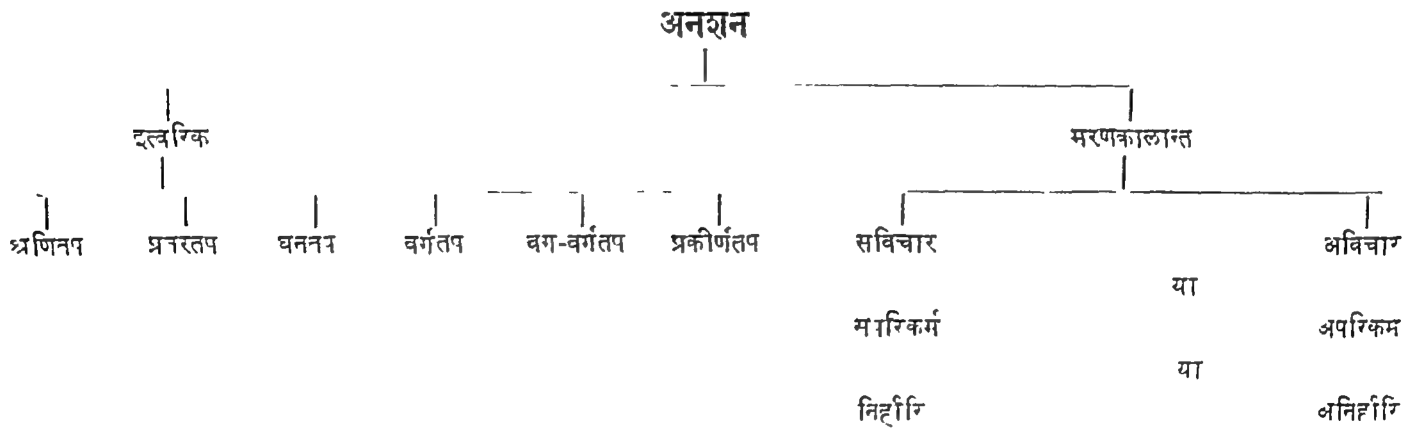
इनसे यह फलित होता है कि अनशन व्याघात उत्पन्न होने पर भी किया जाता है और व्याघात न होने पर भी किया जाता है। सूत्रकृतांग के अनुसार शारीरिक बाधा उत्पन्न होने या न होने पर भी अनशन किया जाता है।[2]

अनशन का हेतु शरीर के प्रति निर्ममत्व है। जब तक शरीर-ममत्व होता है, तब तक मनुष्य मृत्यु से भयभीत रहता है और जब वह शरीर-ममत्व से मुक्त होता है, तब मृत्यु के भय से भी मुक्त हो जाता है। अनशन को देह-निर्ममत्व या अभय की साधना का विशिष्ट प्रकार कहा जा सकता है। मृत्यु अनशन का उद्देश्य नहीं, किन्तु उसका गौण परिणाम है। उसका मुख्य परिणाम है—आत्म-लीनता। इसी प्रकार का एक अनुभव है—"मुझे मालूम होता है कि किसी कारण से आदमी को मरना ही हो अथवा मालूम हो जाए कि मरना है, तो खाए हुए से उपवास करके मरना कहीं बढ़कर है अथवा इन दोनों का मुकाबला ही उचित नहीं है। मैं नहीं जानता कि खाए हुए मरने से वृत्ति कैसी रहती होगी पर जान पड़ता है कि अच्छी तो नहीं रहती होगी और उपवास में वृत्ति का क्या पूछना है? जान पड़ता है ब्रह्मानन्द में लीन है।"[3]

तात्कालिक व्याघात या बाधा उत्पन्न न होने पर किया जाने वाला अनशन सलेखना-पूर्वक होता है।

आगम-सूत्रों में मरण एवं अनशन के भेद इस प्रकार हैं—

(१) उत्तराध्ययन, ३०।९-१३



१—औपपातिक वृत्ति, पृ० ७१

व्याघातवत्—सिंहदावानलाद्यभिभूतो यत् प्रतिपद्यते।

२—(क) सूत्रकृतांग, २।२।३८

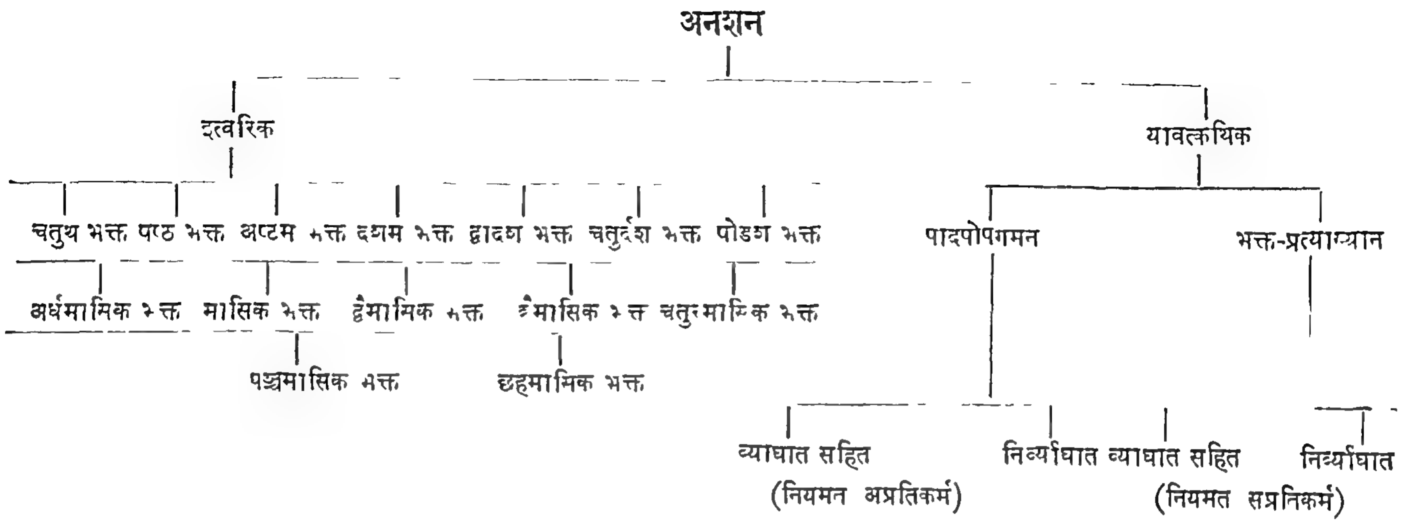
ते णं एतेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं सामन्नपरियागं पाउणंति, २ त्ता आबाहंसि उप्पन्नंसि वा अणुप्पन्नंसि वा बहूइं भत्ताइं पच्चक्खंति।

(ख) वही, २।२।३९

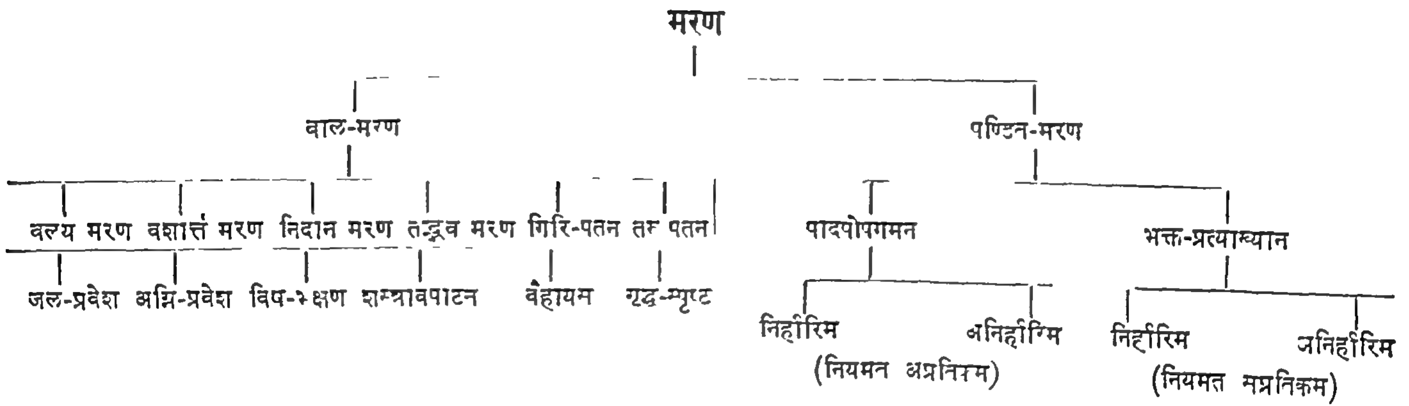
ते णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं समणोवासगपरियागं पाउणंति, २ त्ता आबाहंसि उप्पण्णंसि वा अणुप्पण्णंसि वा बहूइं भत्ताइं अणसणाए पच्चक्खायन्ति।

३—उपवास से लाभ पृ० [illegible]।

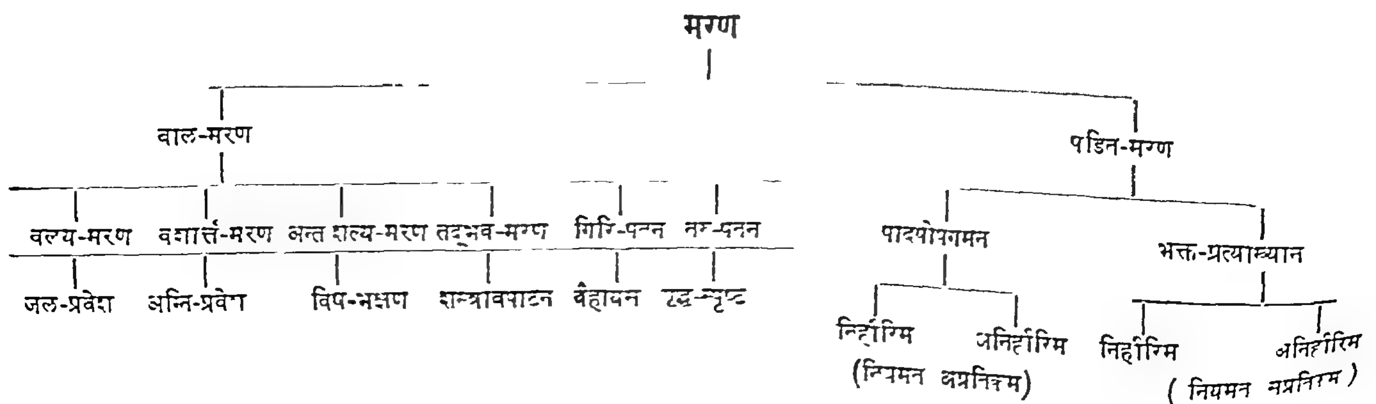
(२) औपपातिक, सूत्र १६—



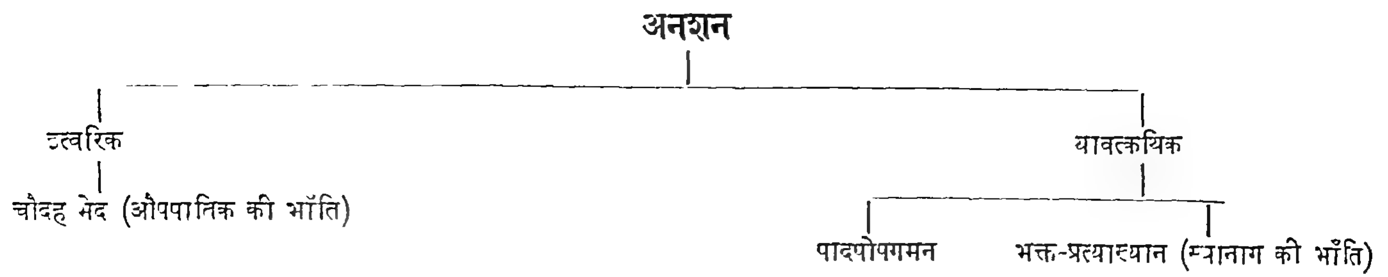
(३) स्थानांग, २।४।१०२—



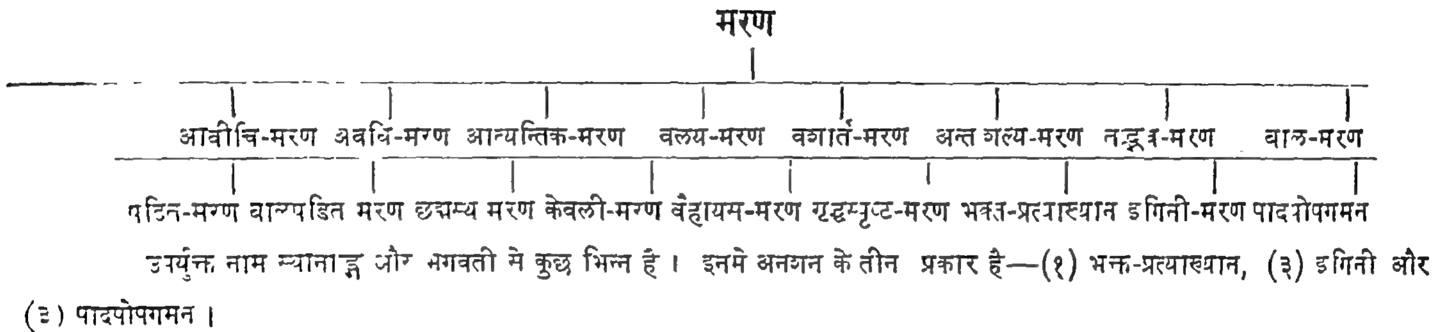
(४) भगवती, २।१—



(५) भगवती, २५।७—



(६) समवायाङ्ग, १७—



उपर्युक्त नाम स्थानाङ्ग और भगवती से कुछ भिन्न हैं। इनमें अनशन के तीन प्रकार हैं—(१) भक्त-प्रत्याख्यान, (२) इंगिनी और (३) पादपोपगमन।

मूलाराधना में अनशन के अधिकारी का वर्णन है। इसके अधिकारी वे होते हैं—

(१) जो दुश्चिकित्स्य व्याधि (संयम को छोड़े बिना जिसका प्रतिकार करना संभव न हो) से पीड़ित हो।

(२) जो श्रामण्य-योग की हानि करने वाली जरा से अभिभूत हो।

(३) जो देव, मनुष्य या तिर्यञ्च सम्बन्धी उपसर्गों से उपद्रुत हो।

(४) जिनके चारित्र-विनाश के लिए अनुकूल उपसर्ग किए जा रहे हों।

(५) दुष्काल में जिसे शुद्ध भिक्षा न मिले।

(६) जो गहन अटवी में दिग्मूढ हो जाए और मार्ग हाथ न लगे।

(७) जिसके चक्षु और श्रोत्र दुर्बल तथा जंघाबल क्षीण हो जाए और जो विहार करने में समर्थ न हो।

उक्त व इन जैसे अन्य कारण उपस्थित होने पर व्यक्ति अनशन का अधिकारी होता है।[1]

जिस मुनि का चारित्र निरतिचार पल रहा हो, संलेखना कराने वाले आचार्य (निर्यापक आचार्य) भविष्य में सुलभ हों, दुर्भिक्ष का भय न हो, उस स्थिति में वह अनशन का अनधिकारी है। विशिष्ट स्थिति उत्पन्न हुए बिना जो अनशन करे तो समझना चाहिए कि वह चारित्र से खिन्न है।[2]

संलेखना

आचारांग में बताया गया है कि जब मुनि को यह अनुभव हो कि इस शरीर को धारण करने में मैं ग्लान हो रहा हूँ, तब वह क्रम से आहार का संकोच करे, संलेखना करे—आहार संकोच के द्वारा शरीर को कृश करे।[3]

१–मूलाराधना, २।७१-७४।
२–वही, २।७५-७६।
३–आचारांग १।८।६, १।८।७।

सलेखना के काल—

सलेखना के तीन काल है—(१) जघन्य—छह मास का काल, (२) मध्यम—एक वर्ष का काल और (३) उत्कृष्ट—१२ वर्ष का काल।

उत्कृष्ट सलेखना के काल मे प्रथम चार वर्षों मे दूध, घी आदि विकृतियो का त्याग अथवा आचाम्ल किया जाता है। सूत्र मे प्रथम चार वर्षो मे विचित्र तप करने का उल्लेख नही है। किन्तु शान्त्याचार्य ने निशीथ चूर्णि के आधार पर इसका अर्थ यह किया गया है कि सलेखना करने वाला विचित्र तप के पारण मे विकृतियो का परित्याग करे।[1] प्रवचनसारोद्धार मे भी यही क्रम है। प्रथम चार वर्षों मे विचित्र तप किया जाता है और उसके पारण मे यथेष्ठ भोजन किया जाता है। दूसरे चार वर्षो मे विचित्र तप किया जाता है, किन्तु पारण मे विकृति का परित्याग किया जाता है।[2] आगे का क्रम समान है।

उत्तराध्ययन (३६।२५१-२५५) के अनुसार इस सलेखना का पूर्ण क्रम इस प्रकार है—

प्रथम चार वर्ष—	विकृति परित्याग अथवा आचाम्ल।
द्वितीय चार वर्ष—	विचित्र-तप—उपवास, बेला, तेला आदि और पारण मे यथेष्ठ भोजन।[3]
नौवे और दसवें वर्ष—	एकान्तर उपवास और पारण मे आचाम्ल।
ग्यारहवें वर्ष की प्रथम छमाही—	उपवास या बेला।
ग्यारहवें वर्ष की द्वितीय छमाही—	विकृष्ट तप—तेला चौला आदि तप।[4]
समूचे ग्यारहवें वर्ष मे पारण के दिन—	आचाम्ल। प्रथम छमाही मे आचाम्ल के दिन ऊनोदरी की जाती है[5] और दूसरी छमाही मे उस दिन पेट भर भोजन किया जाता है।[6]
बारहवें वर्ष में—	कोटि-सहित आचाम्ल अर्थात् निरन्तर आचाम्ल अथवा प्रथम दिन आचाम्ल, दूसरे दिन कोई दूसरा तप और तीसरे दिन फिर आचाम्ल।[7]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ७०६।

२–प्रवचनसारोद्धार, गाथा ८७५-८७७।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ७०६

द्वितीये वर्षचतुष्के 'विचित्र तु' इति विचित्रमेव चतुर्थषष्ठाष्टमादितपश्चरेत्, अत्र च पारणके सम्प्रदाय—"उग्गमविसुद्धं सव्वं कप्पणिज्जं पारेति।'

४–प्रवचनसारोद्धर, वृत्ति पत्र २५४

विकृष्ट—अष्टमदशमद्वादशादिक तप कर्म भवति।

५–वही, वृत्ति पत्र २५४

पारणके तु परिमित—किंचिदूनोदरतासम्पन्नमाचाम्लं करोति।

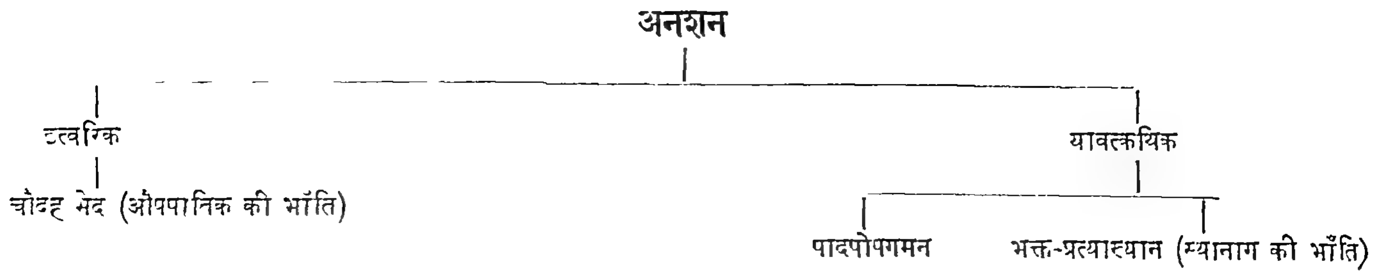
६–वही, वृत्ति पत्र २५४

पारणके तु मा शीघ्रमेव मरण यासिषमितिकृत्वा परिपूर्णत्राणमा आचाम्ल करोति, न पुनरूनोदरमयेति।

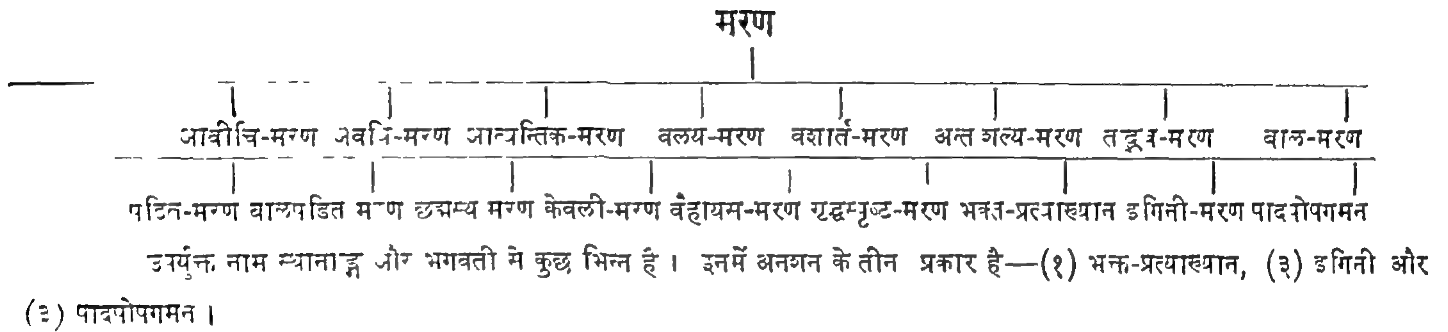
७–बृहद् वृत्ति, पत्र ७०६

कोट्यौ—अग्रे प्रत्याख्यानाद्यन्तकोणरूपे सहिते—मिलिते यस्मिस्तत्कोटीसहित, किमुक्त भवति?—[illegible] प्रत्याख्याय तच्चाहोरात्र प्रतिपाल्य पुनर्द्वितीयेऽह्नि आचाम्लमेव प्रत्याचष्टे, ततो द्वितीयस्यारम्भ [illegible] अपि मिलिते भवत इति तत्कोटीसहितमुच्यते, अन्ये त्वाहु—आचाम्लमेकस्मिन् दिने कृत्वा [illegible] पुनस्तृतीयदिने आचाम्लमेव कुर्वत कोटीसहितमुच्यते।

(५) भगवती, २५।७—



(६) समवायाङ्ग, १७—



उपर्युक्त नाम स्थानाङ्ग और भगवती से कुछ भिन्न हैं। इनमें अनशन के तीन प्रकार हैं—(१) भक्त-प्रत्याख्यान, (२) इंगिनी और (३) पादपोपगमन।

मूलाराधना में अनशन के अधिकारी का वर्णन है। इसके अधिकारी वे होते हैं—

(१) जो दुश्चिकित्स्य व्याधि (संयम को छोड़े बिना जिसका प्रतिकार करना संभव न हो) से पीड़ित हो।

(२) जो श्रामण्य-योग की हानि करने वाली जरा से अभिभूत हो।

(३) जो देव, मनुष्य या तिर्यञ्च सम्बन्धी उपसर्गों से उपद्रुत हो।

(४) जिसके चारित्र-विनाश के लिए अनुकूल उपसर्ग किए जा रहे हों।

(५) दुष्काल में जिसे शुद्ध भिक्षा न मिले।

(६) जो गहन अटवी में दिग्मूढ़ हो जाए और मार्ग हाथ न लगे।

(७) जिसके चक्षु और श्रोत्र दुर्बल तथा जंघाबल क्षीण हो जाए और जो विहार करने में समर्थ न हो।

उक्त व उक्त जैसे अन्य कारण उपस्थित होने पर व्यक्ति अनशन का अधिकारी होता है।[1]

जिस मुनि का चारित्र निरतिचार पल रहा हो, संलेखना कराने वाले आचार्य (निर्यापक आचार्य) भविष्य में सुलभ हों, दुर्भिक्ष का भय न हो, उसी स्थिति में वह अनशन का अनधिकारी है। विशिष्ट स्थिति उत्पन्न हुए बिना जो अनशन करे तो समझना चाहिए कि वह चारित्र से विरक्त है।[2]

संलेखना

आचारांग में बताया गया है कि जब मुनि को यह अनुभव हो कि इस शरीर को धारण करने में मैं ग्लान हो रहा हूँ, तब वह क्रम से आहार का संकोच करे, संलेखना करे—आहार संकोच के द्वारा शरीर को कृश करे।[3]

१—मूलाराधना, २।७१-७४।

२—वही, २।७५-७६।

३—आचारांग ७।८।६; १।८।८।

सलेखना के काल—

सलेखना के तीन काल हैं—(१) जघन्य—छह मास का काल, (२) मध्यम—एक वर्ष का काल और (३) उत्कृष्ट—१२ वर्ष का काल।

उत्कृष्ट सलेखना के काल में प्रथम चार वर्षों में दूध, घी आदि विकृतियों का त्याग अथवा आचाम्ल किया जाता है। सूत्र में प्रथम चार वर्षों में विचित्र तप करने का उल्लेख नहीं है। किन्तु शान्त्याचार्य ने निशीथ चूर्णि के आधार पर इसका अर्थ यह किया गया है कि सलेखना करने वाला विचित्र तप के पारण में विकृतियों का परित्याग करे।[1] प्रवचनसारोद्धार में भी यही क्रम है। प्रथम चार वर्षों में विचित्र तप किया जाता है और उसके पारण में यथेष्ठ भोजन किया जाता है। दूसरे चार वर्षों में विचित्र तप किया जाता है, किन्तु पारण में विकृति का परित्याग किया जाता है।[2] आगे का क्रम समान है।

उत्तराध्ययन (३६।२५१-२५५) के अनुसार इस सलेखना का पूर्ण क्रम इस प्रकार है—

प्रथम चार वर्ष—	विकृति परित्याग अथवा आचाम्ल।
द्वितीय चार वर्ष—	विचित्र-तप—उपवास, वेला, तेला आदि और पारण में यथेष्ठ भोजन।[3]
नौवें और दसवें वर्ष—	एकान्तर उपवास और पारण में आचाम्ल।
ग्यारहवें वर्ष की प्रथम छमाही—	उपवास या वेला।
ग्यारहवें वर्ष की द्वितीय छमाही—	विकृष्ट[4] तप—तेला, चौला आदि तप।
समूचे ग्यारहवें वर्ष मे पारण के दिन—	आचाम्ल। प्रथम छमाही में आचाम्ल के दिन ऊनोदरी की जाती है[5] और दूसरी छमाही में उस दिन पेट भर भोजन किया जाता है।[6]
बारहवें वर्ष में—	कोटि-सहित आचाम्ल अर्थात् निरन्तर आचाम्ल अथवा प्रथम दिन आचाम्ल, दूसरे दिन कोई दूसरा तप और तीसरे दिन फिर आचाम्ल।[7]

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ७०६।

२—प्रवचनसारोद्धार, गाथा ८७५-८७७।

३—बृहद् वृत्ति, पत्र ७०६
द्वितीये वर्षचतुष्के 'विचित्रं तु' इति विचित्रमेव चतुर्थषष्ठाष्टमादिरूपं तपश्चरेत्, अत्र च पारणके सम्प्रदाय —"उग्गमविसुद्धं सव्वं कप्पणिज्जं पारेति।"

४—प्रवचनसारोद्धर, वृत्ति पत्र २५४
विकृष्टं—अष्टमदशमद्वादशादिकं तपः कर्म भवति।

५—वही, वृत्ति पत्र २५४
पारणके तु परिमितं—किंचिदूनोदरतासम्पन्नमाचाम्लं करोति।

६—वही, वृत्ति पत्र २५४
पारणके तु मा शीघ्रमेव मरणं यासिषमितिकृत्वा परिपूर्णप्राणया आचाम्लं करोति, न पुनरूनोदरतयेति।

७—बृहद् वृत्ति, पत्र ७०६
कोट्यौ—अग्रे प्रत्याख्यानाद्यन्तकोणरूपे सहिते—मिलिते यस्मिंस्तत्कोटीसहितं, किमुक्तं भवति ?—विवक्षितदिने प्रातराचाम्लं प्रत्याख्याय तच्चाहोरात्रं प्रतिपाल्य, पुनर्द्वितीयेऽह्नि आचाम्लमेव प्रत्याचष्टे, ततो द्वितीयस्यारम्भकोटिराद्यस्य तु पर्यन्तकोटिरुभे अपि मिलिते भवत इति तत्कोटीसहितमुच्यते, अन्ये त्वाहुः—आचाम्लमेकस्मिन् दिने कृत्वा द्वितीयदिने च तपोऽन्तरमनुष्ठाय पुनस्तृतीयदिने आचाम्लमेव कुर्वतः कोटीसहितमुच्यते।

बारह वर्ष के अन्त में—	अर्द्ध-मासिक या मासिक अनशन, भक्त-परिज्ञा आदि।[1] निशीथ चूर्णि के अनुसार बारहवें वर्ष में क्रमश आहार की इस प्रकार कमी की जाती है जिससे आहार और आयु एक साथ ही समाप्त हो। उस वर्ष के अन्तिम चार महीनों में मुँह में तैल भर कर रखा जाता है। मुखयंत्र विसंवादी न हो—नमस्कार मंत्र आदि का उच्चारण करने में असमर्थ न हो, यह उसका प्रयोजन है।[2]

संलेखना का अर्थ है छीलना—कृश करना। शरीर को कृश करना—यह द्रव्य (बाह्य) संलेखना है। कषाय को कृश करना—यह भाव (आन्तरिक) संलेखना है।[3]

आचार्य शिवकोटि ने छह प्रकार के बाह्य-तप को बाह्य-संलेखना का साधन माना है।[4] संलेखना का दूसरा क्रम एक दिन उपवास और दूसरे दिन वृत्ति-परिसंख्यान तप है।[5] बारह भिक्षु-प्रतिमाओं को भी संलेखना का साधन माना है।[6] शरीर-संलेखना के इन अनेक विकल्पों में आचाम्ल तप उत्कृष्ट साधन है। संलेखना करने वाला बेला, तेला, चौला, पचौला आदि तप करके पारणे में मित और हल्का आहार (बहुधा आचाम्ल अर्थात् काँजी का आहार—'आयबिल—काजिकाहार' मूलाराधना ३।२५१, मूलाराधना दर्पण) करता है।[7]

भक्त-परिज्ञा का उत्कृष्ट काल १२ वर्ष का है।[8] उसका क्रम इस प्रकार है—

(१) प्रथम चार वर्षों में विचित्र अर्थात् अनियत काय-क्लेशों के द्वारा शरीर कृश किया जाता है।

(२) दूसरे चार वर्षों में विकृतियों का परित्याग कर शरीर को सुखाया जाता है।[9]

(३) नौवें और दसवें वर्ष में आचाम्ल और विकृति-वर्जन किया जाता है।

(४) ग्यारहवें वर्ष में केवल आचाम्ल किया जाता है।

(५) बारहवें वर्ष की प्रथम छमाही में अविकृष्ट तप—उपवास, बेला आदि किया जाता है।[10]

(६) बारहवें वर्ष की दूसरी छमाही में विकृष्ट तप—तेला, चौला आदि किया जाता है।

दोनों परम्पराओं में संलेखना के विषय में थोड़ा क्रम-भेद है, किन्तु यह विचारणीय नहीं है। आचार्य शिवकोटि के शब्दों में संलेखना

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ७०६-७०७

'संवत्सरे' वर्षे प्रक्रमाद् द्वादशे 'मुनि' साधु 'मास' इति सूत्रत्वान्मास भूतो मासिकस्तेनैवमार्द्धमासिकेन 'आहारेण'ति उपलक्षणत्वादाहारत्यागेन, पाठान्तरतश्च क्षपणेन 'तप' इति प्रस्तावाद्भक्तपरिज्ञानादिकमनशन 'चरेत्'।

२—सभाष्य निशीथ चूर्णि भाग ३, पृ० २९४।

३—(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ७०६

सल्लेखन—द्रव्यत शरीरस्य भावत कषायाणा कृशताऽऽपादन सलेखा, सलेखनेति।

(ख) मूलाराधना, ३।२०६।

४—(क) मूलाराधना, ३।२०८।

(ख) मूलाराधना दर्पण, ३।२०८, पृ० ४३५।

(ग) मूलाराधना, ३।२०९।

५—वही, ३।२०७।

६—वही, ३।२४३।

७—वही, ३।२५०-२५१।

८—वही ३।२५२।

९—(क) मूलाराधना, ३।२५३।

(ख) मूलाराधना दर्पण, ३।२५४, पृ० ४७५

निर्विकृति रसदन्नादिवर्जितमथ्यन्निर्कीर्णमोदनादि भोजनम्।

१०—वही, ३।२५४।

के लिए वही तप या उसका क्रम अगीकार करना चाहिए जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और शरीर-धातु के अनुकूल हो।[1] सलेखना का जो क्रम बतलाया गया है, वही क्रम है ऐसा नियम नही है। जिस प्रकार शरीर का क्रमश सलेखन (तनूकरण) हो, वही प्रकार अगीकरणीय है।

रत्नकरण्डक श्रावकाचार में उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढापा और असाध्य रोग उत्पन्न होने पर धर्म की आराधना के लिए शरीर त्यागने को 'सलेखना' कहा गया है।[2]

श्लोक १४

५—अवमौदर्य (ऊनोदरिका) (ओमोयरियं क) :

यह बाह्य-तप का दूसरा प्रकार है। इसका अर्थ है 'जिस व्यक्ति की जितनी आहार-मात्रा है, उससे कम खाना'। यहाँ इसके पाँच प्रकार किए गए है—(१) द्रव्य की दृष्टि से अवमौदर्य, (२) क्षेत्र की दृष्टि से अवमौदर्य, (३) काल की दृष्टि से अवमौदर्य, (४) भाव की दृष्टि से अवमौदर्य और (५) पर्यव की दृष्टि से अवमौदर्य।

औपपातिक में इसका विभाजन भिन्न प्रकार से है—(१) द्रव्यत अवमौदर्य और (२) भावत अवमौदर्य। द्रव्यत अवमौदर्य के दो प्रकार हैं—(१) उपकरण अवमौदर्य और (२) भक्त-पान अवमौदर्य। भक्त-पान अवमौदर्य के अनेक प्रकार है—(१) आठ ग्रास खाने वाला अल्पाहारी होता है, (२) बारह ग्रास खाने वाला अपार्द्ध अवमौदर्य होता है, (३) सोलह ग्रास खाने वाला अर्द्ध अवमौदर्य होता है, (४) चौबीस ग्रास खाने वाला पौन अवमौदर्य होता है और (५) इकतीस ग्रास खाने वाला किंचित् अवमौदर्य होता है।[3]

यह कल्पना भोजन की पूर्ण मात्रा के आधार पर की गई है। पुरुष के आहार की पूर्ण मात्रा बत्तीस ग्रास और स्त्री के पूर्ण आहार की मात्रा अट्ठाईस ग्रास है।[4] ग्रास का परिमाण मुर्गी के अण्डे[5] अथवा हजार चावल जितना[6] बतलाया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि जितनी भूख हो, उससे एक कवल तक कम खाना भी अवमौदर्य है। क्रोध, मान, माया, लोभ, कलह आदि को कम करना भावत अवमौदर्य है।[7] निद्रा-विजय, समाधि, स्वाध्याय, परम-सयम और इन्द्रिय-विजय—ये अवमौदर्य के फल है।[8]

श्लोक १६

६—श्लोक १६ :

गामे—जो गुणो को ग्रसित करे अथवा जहाँ १८ प्रकार के कर लगते हो, वह 'ग्राम' कहलाता है।[9] ग्राम का अर्थ 'समूह' है। जहाँ जहाँ जन-समूह रहता था, उसका नाम ग्राम हो गया।

१—मूलाराधना, ३।२५५।
२—रत्नकरण्डक श्रावकाचार, १२२
उपसर्गे दुर्भिक्षे, जरसि रुजाया च नि प्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहु सल्लेखनामार्या ॥
३—औपपातिक, सूत्र १९।
४—मूलाराधना, ३।२११।
५—औपपातिक, सूत्र १९।
६—मूलाराधना दर्पण, पृ० ४२७
ग्रासो श्रावि सहस्रतदुलमित ।
७—औपपातिक, सूत्र १९।
८—मूलाराधना, ३।२११, अमितगति, पृ० ४२८।
९—बृहद् वृत्ति, पत्र ६०५
ग्रसति गुणान् गम्यो वाऽष्टादशाना कराणामिति ग्राम ।

नगरे—जहाँ किसी प्रकार का कर न लगता हो, उसे 'नगर' कहा जाता है।[1] अर्थ-शास्त्र में राजधानी के लिए 'नगर' या 'दुर्ग' और साधारण कस्बों के लिए 'ग्राम' शब्द प्रयुक्त हुआ है। किन्तु प्रस्तुत श्लोक में राजधानी का प्रयोग भी हुआ है, इससे जान पड़ता है कि नगर बड़ी बस्तियों का नाम है, भले फिर वे राजधानी हो या न हो।

निगमे—व्यापारियों का गाँव, वह बस्ती जहाँ बहुत व्यापारी रहते हैं।[2]

आगरे—खान का समीपवर्ती गाँव।[3]

पल्ली—बीहड़ स्थान में होने वाली बस्ती, चोरों का गाँव।[4]

श्लोक २५

७—भिक्षाचर्या (भिक्खायरिय [घ])

यह बाह्य-तप का तीसरा प्रकार है। इसका दूसरा नाम 'वृत्ति-संक्षेप'[5] या 'वृत्ति-परिसंख्यान' है।[6] आठ प्रकार के गोचराग्रों, सात एषणाओं तथा अन्य विविध प्रकार के अभिग्रहों के द्वारा भिक्षा-वृत्ति को संक्षिप्त किया जाता है। गोचराग्र के आठ प्रकार हैं—

(१) पेटा—पेटा की भाँति चतुष्कोण घूमते हुए (बीच के घरों को छोड़ चारों दिशाओं में समश्रेणि स्थित घरों में जाते हुए), 'मुझे भिक्षा मिले तो लूँ अन्यथा नहीं'—इस संकल्प से भिक्षा करने का नाम पेटा है।[7]

(२) अर्द्ध-पेटा—अर्द्ध-पेटा की भाँति द्विकोण घूमते हुए (दो दिशाओं में स्थित गृह-श्रेणि में जाते हुए), 'मुझे भिक्षा मिले तो लूँ अन्यथा नहीं'—इस संकल्प से भिक्षा करने का नाम अर्द्ध-पेटा है।[8]

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ६०५
नात्र करोऽस्तीति नकरम्।

२—वही, पत्र ६०५
निगमयन्ति तस्मिन्ननेकविधभाण्डानीति निगमः—प्रभूततरवणिजां निवासः।

३—वही, पत्र ६०५
आकुर्वन्ति तस्मिन्नित्याकरो—हिरण्याद्युत्पत्तिस्थानम्।

४—वही, पत्र ६०५
पल्लि' त्ति मुख्यप्रयाणं पाल्यन्तेऽनया दुष्कृतविधायिनो जना इति पल्ली, नेहको विधि, वृक्षगहनाद्याश्रितः प्रान्तजननिवासः।

५—समवायांग, समवाय ६।

६—मूलाराधना ३।२२०।

७—(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ६०५
पेडा' पेटिका इव चउक्कोणा।
(ख) प्रवचनसारोद्धार, गाथा ७४८
चउदिसि सेणीभमणे मज्झे मुक्कम्मि भण्णए पेडा।

८—(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ६०५
अद्धपेडा' इमीए चेव अद्धसंठिया घरपरिवाडी।
(ख) प्रवचनसारोद्धार, गाथा ७४८
दिसिदुगसंबद्धसेणिभिक्खणे अद्धपेडत्ति।

(३) गो-मूत्रिका—गो-मूत्रिका की तरह बलखाते हुए (बाएँ पार्श्व के घर से दाएँ पार्श्व के घर में और दाएँ पार्श्व से बाएँ पार्श्व के घर मे जाते हुए), 'मुझे भिक्षा मिले तो लूँ अन्यथा नही'—इस सकल्प से भिक्षा करने का नाम गो-मूत्रिका है ।[१]

(४) पतग-वीथिका—पतिंगा जैसे अनियत क्रम से उडता है, वैसे अनियत क्रम से (एक घर से भिक्षा ले फिर कई घर छोड फिर किसी घर में) मुझे भिक्षा मिले तो लूँ नही तो नही—इस प्रकार सकल्प से भिक्षा करने का नाम पतग-वीथिका है ।[२]

(५) शबूकावर्ता—शख के आवर्त्तो की तरह भिक्षाटन करने को शबूकावर्ता कहा जाता है। इसके दो प्रकार हैं—(१) आभ्यन्तर शबूकावर्ता और (२) बाह्य शबूकावर्ता ।

(क) शख के नाभि-क्षेत्र से प्रारम्भ हो बाहर आने वाले आवर्त्त की भाँति गाँव के भीतरी भाग मे भिक्षाटन करते हुए बाहरी भाग में आने को 'आभ्यन्तर शबूकावर्ता' कहा जाता है ।

(ख) बाहर से भीतर जाने वाले शख के आवर्त्त की भाँति गाँव के बाहरी भाग मे भिक्षाटन करते हुए भीतरी भाग मे आने को 'बाह्य शबूकावर्ता' कहा जाता है ।[३]

स्थानाग वृत्ति के अनुसार (क) बाह्य शबूकावर्ता की व्याख्या है और (ख) आभ्यन्तर शबूकावर्ता की व्याख्या है ।[४]

किन्तु इन दोनो व्याख्याओ की अपेक्षा पचाशकवृत्ति की व्याख्या अधिक हृदय-स्पर्शी है। उसके अनुसार दक्षिणावर्त शख की भाँति दाँई ओर आवत्त करते हुए भिक्षा मिले तो लूँ नही तो नही—इस सकल्प से भिक्षा करने का नाम आभ्यन्तर शबूकावर्ता है। इसी प्रकार वामावर्त शख की भाँति बाँई ओर आवृत्त करते हुए भिक्षा मिले तो लूँ नहो तो नही—इस सकल्प से भिक्षा करने का नाम बाह्य शबूकावर्ता है ।[५]

(६) आयत-गत्वा-प्रत्यागता—सीधी सरल गली के अन्तिम घर तक जाकर वापिस आते हुए भिक्षा लेने का नाम आयत-गत्वा-प्रत्यागता है ।[६]

१–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ६०५
'गोमुत्तिया' वकावलिया ।
(ख) प्रवचनसारोद्धार, गाथा ७४७
वामाओ दाहिणगिहे भिक्खिज्जइ दाहिणाओ वामम्मि ।
जोए सा गोमुत्ती • ॥

२–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ६०५
'पयगविही' अणियया पयगुड्डाणसरिसा ।
(ख) प्रवचनसारोद्धार, गाथा ७४७
अट्ठवियट्ठा पयगविही ।

३–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ६०५
'सबुक्कावट्ट' ति शम्बूक —शङ्खस्तस्यावर्त्त शम्बूकावर्त्तस्तद्वदावर्त्तो यस्या सा शम्बूकावर्त्ता, सा च द्विविधा—यत सम्प्रदायः—"अब्भितरसबुक्का बाहिरसबुक्का य, तत्थ अब्भतरसबुक्काए सखनाभिखेत्तोवमाए आगिइए अतो आढवति बाहिरओ सणियट्टइ, इयरीए विवज्जओ ।"
(ख) प्रवचनसारोद्धार, गाथा ७४६ ।

४–स्थानाग, ६।५१४ वृत्ति, पत्र ३४७
यस्या क्षेत्रबहिर्भागाच्छङ्खवृत्तत्वगत्याऽटन् क्षेत्रमध्यभागमायाति साऽभ्यन्तरसबुक्का, यस्या तु मध्यभागाद् बहिर्याति सा बहि सम्बुक्केति ।

५–प्रवचनसारोद्धार, गाथा ७४६ वृत्ति, पत्र २१७ :
पञ्चाशकवृत्तौ तु शम्बूकावृत्ता—"शङ्खवद्वृत्ततागमन, सा च द्विविधा—प्रदक्षिणतोऽप्रदक्षिणतश्चे" त्युक्तम् ।

६–बृहद् वृत्ति, पत्र ६०५
अत्रायत—दीर्घं प्राञ्जलमित्यर्थ , तथा च सम्प्रदाय —"तत्थ उज्जुय गतूण नियट्टइ" ।

उन्नीसवीं गाथा में ये छह प्रकार निर्दिष्ट हैं और प्रस्तुत श्लोक में गोचराग्र के आठ प्रकारों का उल्लेख है। वे आयत-गत्वा-प्रत्यागता में पृथक् मानने पर तथा शम्बूकावर्ता के उक्त दोनों प्रकारों को पृथक्-पृथक् मानने पर बनते हैं।[1]

मूलाराधना में गोचराग्र के छह प्रकार हैं—(१) गत्वा प्रत्यागता, (२) ऋजु-वीथि, (३) गो-मूत्रिका, (४) पेलविया, (५) शम्बूकावर्त्ता और (६) पतंगवीथि।[2]

जिस मार्ग से भिक्षा लेने जाए उसी मार्ग से लौटते समय भिक्षा मिले तो वह ले सकता है अन्यथा नहीं—यह गत्वा (गत) प्रत्यागता का अर्थ है।[3]

प्रवचनसारोद्धार के अनुसार गली की एक पंक्ति में भिक्षा करता हुआ जाता है और लौटते समय दूसरी पंक्ति से भिक्षा करता है।[4]

सरल मार्ग से जाते समय यदि भिक्षा मिले तो वह ले सकता है अन्यथा नहीं—यह ऋजु-वीथि का अर्थ है।

प्रवचनसारोद्धार के अनुसार ऋजु मार्ग से भिक्षाटन करते हुए जाता है, वापस आते समय भिक्षा नहीं करता।[6]

इन गोचराग्र की प्रतिमाओं में ऊनोदरी होती है, इसलिए इन्हें 'क्षेत्रतः अवमौदर्य' भी कहा गया है।[7]

सात एषणाएँ—

(१) संसृष्टा— खाद्य वस्तु से लिप्त हाथ या पात्र से देने पर भिक्षा लेना।

(२) असंसृष्टा— भोजन-जात से अलिप्त हाथ या पात्र से देने पर भिक्षा लेना।

(३) उद्धृता— अपने प्रयोजन के लिए रांधने के पात्र से दूसरे पात्र में निकाला हुआ आहार लेना।

(४) अल्पलेपा— अल्पलेप वाली अर्थात् चना, चिउड़ा आदि रूखी वस्तु लेना।

(५) अवगृहीता— खाने के लिए थाली में परोसा हुआ आहार लेना।

(६) प्रगृहीता— परसने के लिए कड़छी या चम्मच से निकाला हुआ आहार लेना।

(७) उज्झितधर्मा— जो भोजन अमनोज्ञ होने के कारण परित्याग करने योग्य हो, उसे लेना।[8]

मूलाराधना में वृत्ति संक्षेप के प्रकार भिन्न रूप में प्राप्त होते हैं—

(१) संसृष्ट—शाक, कुल्माष आदि धान्यों से संसृष्ट आहार।

(२) फलिहा—मध्य में ओदन और उसके चारों ओर शाक रखा हो, ऐसा आहार।

(३) परिखा—मध्य में अन्न और उसके चारों ओर व्यंजन रखा हो, वैसा आहार।

(४) पुष्पोपहित—व्यंजनों के मध्य में पुष्पों के समान अन्न की रचना किया हुआ आहार।

१–प्रवचनसारोद्धार, गाथा ७४५।

२–मूलाराधना, ३।२१८।

३–वही ३।२१८, विजयोदया

गत्वापच्चागदं। यया वीथ्यागतः पूर्वं तयैव प्रत्यागमनं कुर्वन्यदि लभते भिक्षां गृह्णाति नान्यथा।

४–प्रवचनसारोद्धार गाथा ७४६।

५–मूलाराधना, ३।२१८, विजयोदया

उज्जुवीहि ऋज्व्या वीथ्या गतो यदि लभते गृह्णाति नेतरथा।

६–प्रवचनसारोद्धार, गाथा ८४६।

७–बृहद् वृत्ति पत्र ६०५-६०६

ननु च गोचरस्याभिग्रहत्वादभिक्षाचर्यात्वमेवास्या तत्कथमिह क्षेत्रावमौदार्यरूपतोक्ता ?, उच्यते, अवमौदार्यं ममास्त्वित्यभिसन्धिना विधीयमानत्वादवमौदार्यव्यपदेशोऽप्यदुष्ट एव दृश्यते हि निमित्तभेदादेकस्यापि देवदत्तादौ पितृपुत्राद्यनेकव्यपदेश, एवं पूर्वत्र ग्रामादिविषयत्वेनास्य क्षेत्रादिविषयस्य च नयत्याभिग्रहत्वेन भिक्षाचर्यात्वप्रसङ्गे तदेवमेवोत्तर वाच्यम।

८–(क) प्रवचनसारोद्धार, गाथा ७३९-७४३।

(ख) स्थानांग ७।५४५, वृत्ति पत्र ३८६।

(५) शुद्धगोपहित— निष्पाव आदि धान्य से अमिश्रित शाक, व्यञ्जन आदि।

(६) लेपकृत— हाथ के चिपकने वाला आहार।

(७) अलेपकृत— हाथ के न चिपकने वाला आहार।

(८) पानक— द्राक्षा आदि से शोधित पानक—चाहे वह सिक्थ-सहित हो या सिक्थ-रहित।[1]

अमुक द्रव्य अमुक क्षेत्र मे, अमुक काल मे व अमुक अवस्था में मिले तो लूँ अन्यथा नही—इस प्रकार अनेक अभिग्रहो के द्वारा वृत्ति का संक्षेप किया जाता है।[2]

औपपातिक मे वृत्ति-सक्षेप के तीस प्रकार बतलाए गए है—

(१) द्रव्याभिग्रहचरक
(२) क्षेत्राभिग्रहचरक
(३) कालाभिग्रहचरक
(४) भावाभिग्रहचरक
(५) उक्षिप्तचरक
(६) निक्षिप्तचरक
(७) उत्क्षिप्त-निक्षिप्तचरक
(८) निक्षिप्त-उत्क्षिप्तचरक
(९) परिवेष्यमाणचरक
(१०) सह्रियमाणचरक
(११) उपनीतचरक
(१२) अपनीतचरक
(१३) उपनीत-अपनीतचरक
(१४) अपनीत-उपनीतचरक
(१५) ससृष्टचरक
(१६) असंसृष्टचरक
(१७) तज्जातसंसृष्टचरक
(१८) अज्ञातचरक
(१९) मौनचरक
(२०) दृष्टलाभिक
(२१) अदृष्टलाभिक
(२२) पृष्टलाभिक
(२३) अपृष्टलाभिक
(२४) भिक्षालाभिक
(२५) अभिक्षालाभिक
(२६) अन्नग्लायक
(२७) औपनिधिक
(२८) परिमितपिण्डपातक
(२९) शुद्धएषणिक और
(३०) सख्यादत्तिक।[3]

मूलाराधना में पाटक, निवसन, भिक्षा-परिमाण और दातृ-परिमाण भी वृत्ति-सक्षेप के प्रकार बतलाए गए है।[4]

१–मूलाराधना, ३।२२०, विजयोदया

ससिठ—शाककुलमाषादिसंसृष्टमेव। फलिहा—समतादवस्थितशाक मध्यावस्थितौदन। परिखा—व्यजनमध्यावस्थितान्न। पुप्फोवहिद—च व्यजनमध्ये पुष्पबलिरिव अवस्थितसिक्थ। सुद्धगोवहिद—शुद्धेन निष्पावादिभिरमिश्रेणान्नेन उवहिद संसृष्ट शाक-व्यजनादिक। लेवडं—हस्तलेपकारि। अलेवड—यच्च हस्ते न सज्जति। पाणग—पान च कीदृक्? णिसित्थगमसित्थ सिक्थरहित पान तत्सहित च।

२–(क) वृहद् वृत्ति, पत्र ६०७।
(ख) मूलाराधना, ३।२२१।

३–औपपातिक, सूत्र १९।

४–मूलाराधना, ३।२१९।

श्लोक २६

८—रस-विवर्जन तप (रसविवज्जणं [घ]) :

रस-विवर्जन या रस-परित्याग बाह्य-तप का चतुर्थ प्रकार है। मूलाराधना में वृत्ति-परिसंख्या चतुर्थ और रस-परित्याग तृतीय प्रकार है।[१] उत्तराध्ययन में रस-विवर्जन का अर्थ है—(१) दूध, दही, घी आदि का त्याग और (२) प्रणीत (स्निग्ध) पान-भोजन का त्याग।

औपपातिक में इसका विस्तार मिलता है। वहाँ इसके निम्नलिखित प्रकार उपलब्ध हैं—

(१) निर्विकृति— विकृति का त्याग।

(२) प्रणीत रस-परित्याग— स्निग्ध व गरिष्ठ आहार का त्याग।

(३) आचामाम्ल— अम्ल-रस मिश्रित भात आदि का आहार।

(४) आयाम-सिक्थ-भोजन— ओसामण से मिश्रित अन्न का आहार।

(५) अरस आहार— हींग आदि से असंस्कृत आहार।

(६) विरस आहार— पुराने धान्य का आहार।

(७) अन्त्य आहार— वल्ल आदि तुच्छ धान्य का आहार।

(८) प्रान्त्य आहार— ठण्डा आहार।

(९) रूक्ष आहार— रूखा आहार।[२]

इस तप का प्रयोजन है 'स्वाद-विजय'। इसीलिए रस-परित्याग करने वाला विकृति, सरस व स्वादु भोजन नहीं खाता।

विकृतियाँ नौ है—(१) दूध, (२) दही, (३) नवनीत, (४) घृत, (५) तैल, (६) गुड, (७) मधु, (८) मद्य और (९) मास।[३] इनमें मधु, मद्य, मास और नवनीत—ये चार महाविकृतियाँ है।[४]

जिन वस्तुओ से जीभ और मन विकृत होते है—स्वाद-लोलुप या विषय-लोलुप बनते है, उन्हें 'विकृति' कहा जाता है। पंडित आशाधरजी ने इसके चार प्रकार बतलाए है—

(१) गोरस विकृति— दूध, दही, घृत, मक्खन आदि।

(२) इक्षु-रस विकृति— गुड, चीनी आदि।

(३) फल-रस विकृति— अगूर, आम आदि फलो के रस।

(४) धान्य-रस विकृति— तैल, माँड आदि।[५]

स्वादिष्ट भोजन को भी विकृति कहा जाता है।[६] इसलिए रस-परित्याग करने वाला शाक, व्यञ्जन, नमक आदि का भी वर्जन करता है। मूलाराधना के अनुसार दूध, दही, घृत, तैल और गुड—इनमें से किसी एक का अथवा इन सबका परित्याग करना 'रस-परित्याग' है तथा 'अवगाहिम विकृति' (मिठाई) पूडे, पत्र-शाक, दाल, नमक आदि का त्याग भी रस-परित्याग है।[७]

१—मूलाराधना, ३।२०८।
२—औपपातिक, सूत्र १९।
३—स्थानांग, ९।६७४।
४—(क) स्थानांग, ४।१।२७४।
(ख) मूलाराधना, ३।२१३।
५—सागारधर्मामृत, ५।३५, टीका।
६—वही, ५।३५, टीका।
७—मूलाराधना, ३।२१५।

रस-परित्याग करने वाले मुनि के लिए निम्न प्रकार के भोजन का विधान है—

(१) अरस आहार— स्वाद-रहित भोजन।
(२) अन्यवेलाकृत— ठडा भोजन।
(३) शुद्धौदन— शाक आदि से रहित कोरा भात।
(४) रूखा भोजन— घृत-रहित भोजन।
(५) आचामाम्ल— अम्ल-रस-सहित भोजन।
(६) आयामौदन— जिसमें थोडा जल और अधिक अन्न-भाग हो, ऐसा आहार अथवा ओसामण सहित भात।
(७) विकटौदन— बहुत पका हुआ भात अथवा गर्म-जल मिला हुआ भात।[1]

जो रस-परित्याग करता है, उसके तीन बातें फलित होती हैं—(१) सतोष की भावना, (२) ब्रह्मचर्य की आराधना और (३) वैराग्य।[2]

श्लोक २७

९–श्लोक २७ :

'काय-क्लेश' बाह्य-तप का पाँचवाँ प्रकार है। प्रस्तुत अध्ययन में काय-क्लेश का अर्थ 'वीरासन आदि कठोर आसन करना' किया गया है। स्थानाग में काय-क्लेश के ७ प्रकार निर्दिष्ट हैं—(१) स्थान—कायोत्सर्ग, (२) ऊकडू आसन, (३) प्रतिमा आसन, (४) वीरासन, (५) निषद्या, (६) दण्डायत आसन और (७) लगण्ड-शयनासन।[3] इनकी सूचना 'वीरासणाईया' इस वाक्याश में है।

औपपातिक में काय-क्लेश के दस प्रकार बतलाए गए है—(१) स्थान—कायोत्सर्ग, (२) ऊकडू आसन, (३) प्रतिमा आसन, (४) वीरासन, (५) निषद्या, (६) आतापना, (७) वस्त्र-त्याग, (८) अकण्डूयन—खाज न करना, (९) अनिष्ठीवन—थूकने का त्याग और (१०) सर्व गात्र परिकर्म विभूषा का वर्जन—देह परिकर्म की उपेक्षा।[4]

आचार्य वसुनन्दि के अनुसार आचाम्ल, निर्विकृति, एकस्थान, उपवास, बेला आदि के द्वारा शरीर को कृश करना 'काय-क्लेश' है।[5]

यह व्याख्या उक्त व्याख्याओ से भिन्न है। वैसे तो उपवास आदि करने में काया को क्लेश होता है, किन्तु भोजन से सम्बन्धित—अनशन, ऊनोदरी, वृत्ति-सक्षेप और रस-परित्याग—चारो बाह्य-तपो से काय-क्लेश का लक्षण भिन्न होना चाहिए। इस दृष्टि से काय-क्लेश की व्याख्या उपवास-प्रधान न होकर अनासक्ति-प्रधान होनी चाहिए। शरीर के प्रति निर्ममत्व-भाव रखना तथा उसे प्राप्त करने के लिए आसन आदि साधना, उसको सवारने से उदासीन रहना—यह काय-क्लेश का मूल-स्पर्शी अर्थ होना चाहिए।

द्वितीय अध्ययन में जो परीषह बतलाए गए हैं, उनसे यह भिन्न है। काय-क्लेश स्वय इच्छानुसार किया जाता है और परीषह समागत कष्ट होता है।[6]

१–मूलाराधना, ३।२१६।
२–मूलाराधना, ३।२१७, अमितगति
सतोषो भावितः सम्यग्, ब्रह्मचर्य प्रपालितम्।
दर्शित स्वस्य वैराग्य, कुर्वाणेन रसोज्झनम्॥
३–स्थानाग, ७।५५४।
४–औपपातिक, सूत्र १९।
५–वसुनन्दि श्रावकाचार, श्लोक ३५१
आयबिल णिव्वियडी, एयट्ठाण छट्ठमाइखवणेहि।
ज कीरइ तणुताव, कायकिलेसो मुणेयव्वो॥
६–तत्त्वार्थ, ९।१९, श्रुतसागरीय वृत्ति
यदृच्छया समागत परीषहः, स्वयमेव कृत काय-क्लेश इति परीषहकायक्लेशयोर्विशेषः।

श्रुतसागर गणि के अनुसार ग्रीष्म ऋतु में धूप में, शीत ऋतु में खुले स्थान मे और वर्षा ऋतु में वृक्ष के नीचे सोना, नाना प्रकार की प्रतिमाएँ और आसन करना 'काय-क्लेश' है।[1]

मूलाराधना में काय-क्लेश के पाँच विभाग किए गए हैं—

(१) गमन योग

(क) अनुसूर्य गमन— कडी धूप मे पूर्व मे पश्चिम की ओर जाना।

(ख) प्रतिसूर्य गमन— पश्चिम से पूर्व की ओर जाना।

(ग) ऊर्ध्वसूर्य गमन— मध्याह्न सूर्य मे गमन करना।

(घ) तिर्यक्सूर्य गमन— सूर्य तिरछा हो तब गमन करना।

(ङ) उद्भ्रमक गमन— अवस्थित ग्राम से भिक्षा के लिए दूसरे गाँव में जाना।

(च) प्रत्यागमन— दूसरे गाँव जाकर पुन अवस्थित गाँव मे लौट आना।[2]

(२) स्थान योग

श्वेताम्बर-साहित्य में 'ठाणाइय' पाठ मिलता है और कही-कही 'ठाणायत'। 'ठाणायत' की अपेक्षा 'ठाणाइय' अधिक अर्थ-सूचक है। बृहत्कल्प भाष्य की वृत्ति मे स्थान के साथ लगे आदि शब्द को निषीदन व शयन का ग्राहक बताया गया है।[3]

औपपातिक मे भी तप के प्रकरण में 'ठाणाइय' है। उसका भी स्पष्ट अर्थ लब्ध नहीं है। मूलाराधना को देखने मे सहज ही यह प्राप्त होता है कि आदि शब्द स्थान के प्रकारो का संग्राहक है। उसके अनुसार स्थान या ऊर्ध्वस्थान के सात प्रकार हैं—

(क) साधारण— स्तम्भ या भित्ति का सहारा लेकर खडे होना।

(ख) सविचार— पूर्वावस्थित स्थान से दूसरे स्थान में जाकर प्रहर, दिवस आदि तक खडे रहना।

(ग) सनिरुद्ध— स्व-स्थान में खडे रहना।

(घ) व्युत्सर्ग— कायोत्सर्ग करना।

(ङ) समपाद— पैरो को सटा कर खडे रहना।

(च) एक पाद— एक पैर से खडे रहना।

(छ) गृद्धोड्डीन— आकाश में उडते समय गीध जैसे अपने पंख फैलाता है, वैसे अपनी बाहो को फैला कर खडे रहना।[4]

(३) आसन योग

(क) पर्यंक— दोनों जघाओ के अधोभाग को दोनो पैरो पर टिका कर बैठना।

(ख) निषद्या— विशेष प्रकार से बैठना।

(ग) समपद— जघा और कटि भाग को समान कर बैठना।

(घ) गोदोहिका— गाय को दुहते समय जिस आसन मे बैठते हैं, उस आसन मे बैठना।

(ङ) उत्कुटिका— ऊकडू बैठना—एडी और पुतो को ऊँचा रख कर बैठना।

१—तत्त्वार्थ, ९।१९, श्रुतसागरीय वृत्ति।

२—मूलाराधना, ३।२२२।

३—वही, ३।२२३।

४—बृहत्कल्प भाष्य, गाथा ५९५३, वृत्ति
स्थानायत नाम ऊर्ध्व स्थानरूपमायत स्थान तद् यस्यामस्ति सा स्थानायतिका। केचित्तु 'ठाणाइयाए' इति पठन्ति, तत्रायमर्थ — सर्वेषा निषीदनादीना स्थानाना आदिभूतमूर्ध्वस्थानम्, अतः स्थानानामादौ गच्छतीति व्युत्पत्त्या स्थानादिग तद् उच्यते।

(च) मकरमुख— मगर के मुँह के समान पावों को [illegible]

(छ) हस्तिशुण्डि— हाथी की सूँड की भाँति एक पैर को [illegible]

(ज) गो-निषद्या— दोनों जघाओं को सिकोड कर गाय [illegible]

(झ) अर्धपर्यंक— एक जघा के अधोभाग को एक पैर पर [illegible]

(ञ) वीरासन— दोनों जघाओं को अन्तर से फैला कर बैठना।

(ट) दण्डायत— दण्ड की तरह पैरों को फैला कर बैठना।[1]

(४) शयन योग—

(क) ऊर्ध्व शयन— ऊँचा होकर सोना।

(ख) लगड शयन— वक्र काठ की भाँति एडियों और सिर को भूमि [illegible] कर सोना अथवा पीठ को भूमि से सटा कर [illegible]

(ग) उत्तान शयन— सीधा लेटना।

(घ) अवमस्तक शयन— औंधा लेटना।

(ङ) एकपार्श्व शयन— दाई या बाई करवट लेना।

(च) मृतक शयन— शवासन।

(५) अपरिकर्म योग—

(क) अभ्रावकाश शयन— खुले आकाश में सोना।

(ख) अनिष्ठीवन— नही थूकना।

(ग) अकण्डूयन— नही खुजलाना।

(घ) तृण-फलक-शिला-भूमि-शय्या— घास, काठ के फलक, शिला और भूमि पर [illegible]

(ङ) केश लोच— बालो को हाथ से नोंचना।

(च) अभ्युत्थान— रात में जागना।

(छ) अस्नान— स्नान नहीं करना।

(ज) अदन्तधावन— दतौन नही करना।

(झ) शीत-उष्ण, आतापना, गर्मी और धूप सहन करना।[2]

स्थान (आसन)-तालिका

उत्तराध्ययन, स्थानांग और औपपातिक के स्थान शब्द का विवरण मूलाराधना [illegible] औपपातिक में ८, बृहत्कल्प में १२ और दशाश्रुत-स्कन्ध में १० आसनों का उल्लेख मिलता है। [illegible] शास्त्र में नौ, प्रवचनसारोद्धार में दस तथा अमितगति श्रावकाचार में पाँच आसनों का उल्लेख है।

स्थानाङ्ग (७।५५४)

कायोत्सर्ग, उत्कटुकासन, प्रतिमासन, वीरासन, निषद्या, दण्डायतासन और [illegible]

१—मूलाराधना, ३।२२४-२५।

२—वही, ३।२२६-२२७।

औपपातिक, (१९)

कायोत्सर्ग, उत्कटुकासन, प्रतिमासन, वीरासन, निषद्या, दण्डायत, लगण्डशयन और आतापनासन।

बृहत्कल्प, (५१९-३०)

समपादिका, कायोत्सर्ग, प्रतिमासन, निषद्या, उत्कटुकासन, वीरासन, दण्डासन, लगण्डशयन, अधोमुखासन, उत्तानशयन, आम्रकुब्जिका और एकपार्श्वशयन।

दशाश्रुतस्कन्ध, (७)

उत्तानशयन, पार्श्वशयन, निषद्या, दण्डायतासन, लगण्डशयन, उत्कटुकासन, कायोत्सर्ग, गो-दोहिकासन, वीरासन और आम्रकुब्जासन।

मूलाराधना

व्युत्सर्ग, समपाद, एकपाद, गृद्धोड्डीन, पर्यङ्क, निषद्या, समपाद, गो-दोहिका, उत्कुटिका, मकरमुख, हस्तिशुंडि, गो-निषद्या, अर्धपर्यङ्क, वीरासन, दण्डायतशयन, ऊर्ध्वशयन, लगण्डशयन, उत्तानशयन, अवमस्तकशयन, एकपार्श्वशयन और मृतक-शयन—शवासन।

ज्ञानार्णव, (२८।१०)

पर्यङ्कासन, अर्द्धपर्यङ्कासन, वज्रासन, वीरासन, सुखासन, पद्मासन और कायोत्सर्ग।

योगशास्त्र, (४।१२४)

पर्यङ्कासन, वीरासन, वज्रासन, पद्मासन, भद्रासन, दण्डासन, उत्कटुकासन, गो-दोहिकासन और कायोत्सर्ग।

प्रवचनसारोद्धार, (५८३-५८५)

उत्तानशयन, पार्श्वशयन, निषद्या, कायोत्सर्ग, उत्कटुक, लगण्डशयन, दण्डायतासन, गो-दोहिकासन, वीरासन और आम्रकुब्ज।

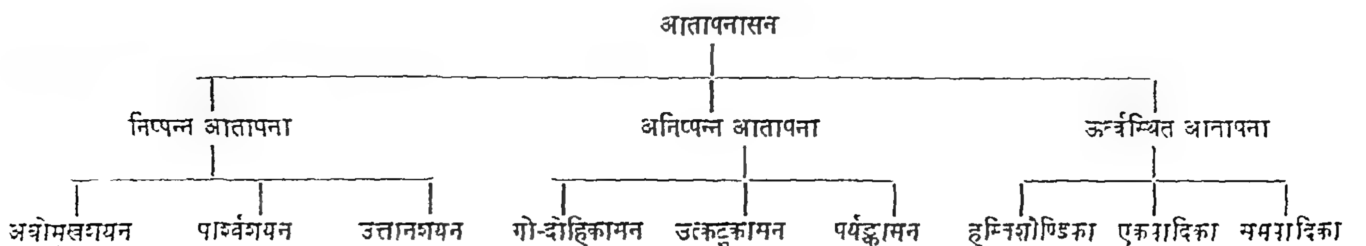
अमितगति श्रावकाचार, (८।४५-४८)

पद्मासन, पर्यङ्कासन, वीरासन, उत्कटुकासन और गवासन।

निषद्या के भेद निम्न प्रकार उपलब्ध है

स्थानाङ्ग (५।४००)	बृहत्कल्प भाष्य (५९५३)
उत्कटुका	समपादपुता
गो दोहिका	गो-निषधिका
समपादपुता	हस्तिशुण्डिका
पर्यङ्का	पर्यङ्का
अर्धपर्यङ्का	अर्धपर्यङ्का

औपपातिक (१९) मे आतापनासन के भेदोपभेद इस प्रकार मिलते है :



श्लोक २८

१०–श्लोक २८ :

इस श्लोक में छठे बाह्य-तप की परिभाषा की गई है। आठवें श्लोक में बाह्य-तप का छठा प्रकार 'संलीनता' बतलाया गया है और इस श्लोक में उसका नाम 'विविक्त-शयनासन' है। भगवती (२५।७।८०२) में छठा प्रकार 'प्रतिसंलीनता' है। तत्त्वार्थ सूत्र (९।१९) में विविक्त-शयनासन बाह्य तप का पाँचवाँ प्रकार है। मूलाराधना (३।२०८) में विविक्त शय्या बाह्य तप का छठा प्रकार है। इस प्रकार कुछ ग्रन्थों में संलीनता या प्रतिसंलीनता और कुछ ग्रन्थों में विविक्त-शयनासन या विविक्त शय्या का प्रयोग मिलता है। किन्तु औपपातिक के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मूल शब्द 'प्रतिसंलीनता' है। विविक्त-शयनासन उसी का एक अवान्तर भेद है।

प्रतिसंलीनता चार प्रकार की होती है—(१) इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता, (२) कषाय-प्रतिसंलीनता, (३) योग प्रतिसंलीनता और (४) विविक्त-शयनासन-सेवन।[1]

प्रस्तुत अध्ययन में संलीनता की परिभाषा केवल विविक्त-शयनासन के रूप में की गई, यह आश्चर्य का विषय है। हो सकता है सूत्रकार इसी को महत्त्व देना चाहते हों।

तत्त्वार्थ सूत्र आदि उत्तरवर्ती-ग्रन्थों में इसी का अनुसरण हुआ है। विविक्त शयनासन का अर्थ स्वयं में स्पष्ट है।[2]

मूलाराधना के अनुसार शब्द, रस, गन्ध और स्पर्श के द्वारा चित्त-विक्षेप नहीं होता, स्वाध्याय और ध्यान में व्याघात नहीं होता, वह 'विविक्त-शय्या' है। जहाँ स्त्री-पुरुष और नपुंसक न हों, वह विविक्त-शय्या है। भले फिर उसके द्वार खुले हों या बन्द, उसका आँगन सम हो या विषम, वह गाँव के बाह्य-भाग में हो या मध्य भाग में, शीत हो या उष्ण।

विविक्त-शय्या के कुछ प्रकार ये हैं—शून्य-गृह, गिरि-गुफा, वृक्ष-मूल, आगन्तुक-आगार (विश्राम-गृह), देव कुल, अकृत्रिम-शिला-गृह, और कूट-गृह।

विविक्त-शय्या में रहने से इतने दोषों से सहज ही बचाव हो जाता है—(१) कलह, (२) बोल (शब्द बहुलता), (३) झंझा (संक्लेश), (४) व्यामोह, (५) सांकर्य (असंयमियों के साथ मिश्रण), (६) ममत्व और (७) ध्यान तथा स्वाध्याय का व्याघात।[3]

श्लोक ३१

११–श्लोक ३१ :

प्रायश्चित्त आभ्यन्तर-तप का पहला प्रकार है। उसके दस प्रकार हैं—

(१) आलोचना-योग्य— गुरु के समक्ष अपने दोषों का निवेदन करना।

(२) प्रतिक्रमण-योग्य— किए हुए पापों से निवृत्त होने के लिए 'मिथ्या मे दुष्कृतम्' 'मेरे सब पाप निष्फल हों'—ऐसा कहना, कायोत्सर्ग आदि करना तथा भविष्य में पाप-कार्यों से दूर रहने के लिए सावधान रहना।

१–औपपातिक, सूत्र १९

से किं त पडिसलीणया ? २—चउविहा पण्णत्ता, तजहा—इदिअपडिसलीणया कसायपडिसलीणया जोगपडिसलीणया विवित्त-सयणासणसेवणया।

२–तत्त्वार्थ, सूत्र ९।१९

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्य तप ।

३–मूलाराधना, ३।२२८-२९,३१,३२।

(३) तदुभय-योग्य—	पाप से निवृत्त होने के लिए आलोचना और प्रतिक्रमण—दोनो करना।
(४) विवेक-योग्य—	आए हुए अशुद्ध-आहार आदि का उत्सर्ग करना।
(५) व्युत्सर्ग-योग्य—	चौबीस तीर्थङ्करों की स्तुति के साथ कायोत्सर्ग करना।
(६) तप-योग्य—	उपवास, वेला आदि करना।
(७) छेद-योग्य—	पाप-निवृत्ति के लिए सयम-काल को छेद कर कम कर देना।
(८) मूल-योग्य —	पुन व्रतो में आरोपित करना—नई दीक्षा देना।
(९) अनवस्थापना-योग्य —	तपस्या पूर्वक नई दीक्षा देना।
(१०) पाराचिक-योग्य—	भर्त्सना एव अवहेलना पूर्वक नई दीक्षा देना।[1]

तत्त्वार्थ सूत्र (९।२२) में प्रायश्चित्त के प्रकार ९ ही वतलाए गए है। पारान्चिक का उल्लेख नही है।

श्लोक ३२

१२–श्लोक ३२ :

विनय आभ्यन्तर-तप का दूसरा प्रकार है। प्रस्तुत श्लोक में उसके प्रकारों का निर्देश नहीं है। स्थानाग (७।५८५), भगवती (२५।७।८०२) और औपपातिक (सूत्र २०) में विनय के ७ भेद वतलाए गए हैं—

(१) ज्ञान-विनय—	ज्ञान के प्रति भक्ति, वहुमान आदि करना।
(२) दर्शन-विनय—	गुरु की शुश्रूषा करना, आशातना न करना।
(३) चारित्र-विनय—	चारित्र का यर्थाथ प्ररूपण और अनुष्ठान करना।
(४) मनो-विनय—	अकुशल-मन का निरोध और कुशल की प्रवृत्ति।
(५) वचन-विनय—	अकुशल-वचन का निरोध और कुशल की प्रवृत्ति
(६) काय-विनय—	अकुशल-काय का निरोध और कुशल की प्रवृत्ति।
(७) लोकोपचार-विनय—	लोक-व्यवहार के अनुसार विनय करना।

तत्त्वार्थ सूत्र (९।२३) में विनय के प्रकार चार ही बतलाए गए हैं—(१) ज्ञान-विनय, (२) दशन-विनय, (३) चारित्र-विनय और (४) उपचार-विनय।

श्लोक ३३

१३–श्लोक ३३ :

वैयावृत्त्य आभ्यन्तर-तप का तीसरा प्रकार है। स्थानाग (१०।७१) के आधार पर उसके दस प्रकार है—(१) आचार्य का वैयावृत्त्य, (२) उपाध्याय का वैयावृत्त्य, (३) स्थविर का वैयावृत्त्य, (४) तपस्त्री का वैयावृत्त्य, (५) ग्लान का वैयावृत्त्य, (६) शैक्ष (नव-दीक्षित) का वैयावृत्त्य, (७) कुल का वैयावृत्त्य, (८) गण का वैयावृत्त्य, (९) सघ का वैयावृत्त्य और (१०) सार्धमिक का वैयावृत्त्य।[2]

१–(क) स्थानांग, १०।७३३।
(ख) भगवती, २५।७।८०१।
(ग) औपपातिक, सूत्र २०।

२–औपपातिक सूत्र २० की वृत्ति मे निम्न परिभाषाएँ हैं
कुल—गच्छो का समुदाय (कुल गच्छसमुदाय)।
गण—कुलो का समुदाय (गण कुलानां समुदाय)।
संघ—गणो का समुदाय (सघो गणसमुदाय)।
साधर्मिक—समान धर्मा—समान धर्म वाले साधु-साध्वी (साधर्मिक साधु साध्वी वा)।

भगवती (२५।७।८०२) और औपपातिक (सूत्र २०) के वर्गीकरण का क्रम उपर्युक्त क्रम से कुछ भिन्न है। वह इस प्रकार है आचार्य का वैयावृत्त्य, (२) उपाध्याय का वैयावृत्त्य, (३) शैक्ष का वैयावृत्त्य, (४) ग्लान का वैयावृत्त्य, (५) तपस्वी का वैयावृत्त्य, स्थविर का वैयावृत्त्य, (७) साधर्मिक का वैयावृत्त्य, (८) कुल का वैयावृत्त्य, (९) गण का वैयावृत्त्य और (१०) संघ का वैयावृत्त्य।

तत्त्वार्थ सूत्र (९।२४) में ये कुछ परिवर्तन के साथ मिलते है—(१) आचार्य का वैयावृत्त्य, (२) उपाध्याय का वैयावृत्त्य, (३) ी का वैयावृत्त्य, (४) शैक्ष का वैयावृत्त्य, (५) ग्लान का वैयावृत्त्य, (६) गण का वैयावृत्त्य (गण—श्रुत-स्थविरो की परम्परा का ान)[1], (७) कुल का वैयावृत्त्य (एक आचार्य का साधु-समुदाय 'गच्छ' कहलाता है। एक जातीय अनेक गच्छो को 'कुल' कहा जाता)[2], (८) संघ का वैयावृत्त्य (संघ अर्थात् साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका)[3], (९) साधु का वैयावृत्त्य और (१०) समनोज्ञ का वृत्त्य। (समान सामाचारी वाले तथा एक मण्डली मे भोजन करने वाले साधु 'समनोज्ञ' कहलाते हैं)।[4]

इस वर्गीकरण में स्थविर और साधर्मिक—ये दो प्रकार नहीं हैं, उनके स्थान पर साधु और समनोज्ञ—ये दो प्रकार है। गण और कुल भाँति संघ का अर्थ भी साधु-परक ही होना चाहिए। ये दसो प्रकार केवल साधु-समूह के विविध पदो या रूपो से सम्बद्ध है।

श्लोक ३४

—श्लोक ३४ :

स्वाध्याय आभ्यन्तर-तप का चौथा प्रकार है। उसके पाँच भेद हैं—(१) वाचना, (२) प्रच्छना, (३) परिवर्तना, (४) अनुप्रेक्षा और धर्मकथा।

देखिए—२९।१८ का टिप्पण।

तत्त्वार्थ सूत्र (९।२५) में इनका क्रम और एक नाम भी भिन्न है—(१) वाचना, (२) प्रच्छना, (३) अनुप्रेक्षा, (४) आम्नाय और धर्मोपदेश।

इनमें परिवर्तना के स्थान में 'आम्नाय' है। आम्नाय का अर्थ है 'शुद्ध उच्चारण पूर्वक बार-बार पाठ करना'।[5]

परिवर्तना या आम्नाय को अनुप्रेक्षा से पहले रखना अधिक उचित लगता है। स्वाध्याय के प्रकारो में एक क्रम है—आचार्य शिष्यो पढाते हैं, यह वाचना है। पढते समय या पढने के बाद शिष्य के मन मे जो जिज्ञासाएँ उत्पन्न होती है, उन्हें वह आचार्य के सामने ुत करता है, यह प्रच्छना है। आचार्य से प्राप्त श्रुत को याद रखने के लिए वह बार-बार उसका पाठ करता है, यह परिवर्तना है।

१–तत्त्वार्थाधिगम सूत्र, ९।२४, भाष्यानुसारीटीका
गण —स्थविरसन्ततिसंस्थिति। स्थविरग्रहणेन श्रुतस्थविरपरिग्रहः, न वयसा पर्यायेण वा, तेषा सन्तति —परम्परा तस्या संस्थान—वर्तन अद्यापि भवन संस्थिति।

२–वही, ९।२४
कुलमाचार्यसन्ततिसंस्थिति एकाचार्यप्रणेयसाधुसमूहो गच्छ।
वहूना गच्छाना एकजातीयाना समूह कुलम्।

३–वही, ९।२४
सङ्घ श्चतुर्विध —साधु साध्वी-श्रावक-श्राविका।

४–वही, ९।२४
द्वादशविधसम्भोगभाज समनोज्ञानदर्शनचारित्राणि मनोज्ञानि सह मनोज्ञै समनोज्ञा।

५–वही, ९।२५, श्रुतसागरीय वृत्ति
अष्टस्थानोच्चारविशेषेण यच्छुद्ध घोषण पुन पुन. परिवर्तन स आम्नाय कथ्यते।

परिचित श्रुत का मर्म समझने के लिए वह उसका पर्यालोचन करता है, यह अनुप्रेक्षा है। पठित, परिचित और पर्यालोचित श्रुत का वह उपदेश करता है, यह धर्मकथा है। इस क्रम में परिवर्तना का स्थान अनुप्रेक्षा से पहले प्राप्त होता है।

सिद्धसेन गणि के अनुसार अनुप्रेक्षा का अर्थ है 'ग्रन्थ और अर्थ का मानसिक अभ्यास करना'। इसमें वर्णों का उच्चारण नहीं होता और आम्नाय में वर्णों का उच्चारण होता है, यही इन दोनो का अन्तर है।[१] अनुप्रेक्षा के उक्त अर्थ के अनुसार उसे आम्नाय मे पूर्व रखना भी अनुचित नहीं है।

आम्नाय, घोषविशुद्ध, परिवर्तन, गुणन और रूपादान—ये आम्नाय या परिवर्तना के पर्यायवाची शब्द हैं।[२]

अर्थोपदेश, व्याख्यान, अनुयोग-वर्णन, धर्मोपदेश—ये धर्मोपदेश या धर्मकथा के पर्यायवाची शब्द है।[३]

श्लोक ३५

१५–श्लोक ३५ :

ध्यान आभ्यन्तर-तप का पाँचवाँ प्रकार है। तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार व्युत्सर्ग पाँचवाँ और ध्यान छठा प्रकार है।[४] ध्यान से पूर्व व्युत्सर्ग किया जाता है, इस दृष्टि से यह क्रम उचित है और व्युत्सर्ग ध्यान के बिना भी किया जाता है।[५] उसका स्वतंत्र महत्त्व भी है, इसलिए उसे ध्यान के बाद भी रखा जा सकता है।

ध्यान की परिभाषा

चेतना की दो अवस्थाएँ होती हैं—(१) चल और (२) स्थिर। चल चेतना को 'चित्त' कहा जाता है। उसके तीन प्रकार हैं—

(१) भावना— भाव्य विषय पर चित्त को बार-बार लगाना।

(२) अनुप्रेक्षा— ध्यान से विरत होने पर भी उससे प्रभावित मानसिक चेष्टा।

(३) चिन्ता— सामान्य मानसिक चिन्ता।

स्थिर चेतना को 'ध्यान' कहा जाता है।[६] जैसे अपरिस्पदमान अग्नि-ज्वाला 'शिखा' कहलाती है, वैसे ही अपरिस्पन्दमान ज्ञान 'ध्यान' कहलाता है।[७]

१–तत्त्वार्थाधिगम सूत्र, ९।२५, भाष्यानुसारी टीका
सन्देहे सति ग्रन्थार्थयोर्मनसाऽभ्यासोऽनुप्रेक्षा। न तु बहिर्वर्णोच्चारणमनुश्रावणीयम्। आम्नायोऽपि परिवर्तनं उदात्तादिपरिशुद्धमनुश्रावणीयमभ्यासविशेषः।

२–तत्त्वार्थ सूत्र, ९।२५, भाष्य
आम्नायो घोषविशुद्धं परिवर्तनं गुणनं रूपादानमित्यर्थः।

३–वही, ९।२५
अर्थोपदेशो व्याख्यानं अनुयोगवर्णनं धर्मोपदेश इत्यनर्थान्तरम्।

४–वही, ९।२०।

५–वही, ९।२२।

६–ध्यानशतक, श्लोक २
जं थिरमज्झवसाणं, तं झाणं जं चलं तयं चित्तं।
तं हुज्ज भावणा वा, अणुपेहा वा अहव चिंता॥

७–तत्त्वार्थ सूत्र, ९।२७, श्रुतसागरीय वृत्ति
अपरिस्पन्दमानं ज्ञानमेव ध्यानमुच्यते। किंवत्? अपरिस्पन्दमानाग्निज्वालावत्। यथा अपरिस्पन्दमानाग्निज्वाला शिखा इत्युच्यते तथा अपरिस्पन्देनावभासमानं ज्ञानमेव ध्यानमिति तात्पर्यार्थः।

एकाग्र-चिन्तन को भी ध्यान कहा जाता है। चित्त अनेक वस्तुओं या विषयों में प्रवृत्त होता रहता है, उसे अन्य वस्तुओं या विषयों से निवृत्त कर एक वस्तु या विषय में प्रवृत्त करना भी ध्यान है।[1]

मन, वचन और काया की स्थिरता को भी ध्यान कहा जाता है। इसी व्युत्पत्ति के आधार पर ध्यान के तीन प्रकार होते हैं—

(१) मानसिक-ध्यान— मन की निश्चलता—मनो-गुप्ति।
(२) वाचिक-ध्यान— मौन—वचन-गुप्ति।
(३) कायिक-ध्यान— काया की स्थिरता—काय-गुप्ति।[2]

छद्मस्थ व्यक्ति के एकाग्र-चिन्तनात्मक-ध्यान होता है और प्रवृत्ति-निरोधात्मक-ध्यान केवली के होता है। छद्मस्थ के प्रवृत्ति-निरोधात्मक-ध्यान केवली जितना विशिष्ट भले ही न हो, किन्तु अंशत होता ही है।

ध्यान के प्रकार

एकाग्र-चिन्तन को 'ध्यान' कहा जाता है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर उसके चार प्रकार होते हैं—(१) आर्त्त, (२) रौद्र, (३) धर्म्य और (४) शुक्ल।

(१) आर्त्त-ध्यान

चेतना की अरति या वेदनामय एकाग्र-परिणति को 'आर्त्त-ध्यान' कहा जाता है। उसके चार प्रकार हैं—

(क) कोई पुरुष अमनोज्ञ सयोग से सयुक्त होने पर उस (अमनोज्ञ विषय) के वियोग का चिन्तन करता है—यह पहला प्रकार है।
(ख) कोई पुरुष मनोज्ञ सयोग से सयुक्त है, वह उस (मनोज्ञ विषय) के वियोग न होने का चिन्तन करता है—यह दूसरा प्रकार है।
(ग) कोई पुरुष आतक (=सद्योघाती रोग) के सयोग से सयुक्त होने पर उस (आतक) के वियोग का चिन्तन करता है—यह तीसरा प्रकार है।
(घ) कोई पुरुष प्रीतिकर काम-भोग के सयोग से सयुक्त है, वह उस (काम-भोग) के वियोग न होने का चिन्तन करता है—यह चौथा प्रकार है।

आर्त्त-ध्यान के चार लक्षण हैं—

(क) आक्रन्द करना।
(ख) शोक करना।
(ग) आँसू बहाना।
(घ) विलाप करना।

(२) रौद्र-ध्यान

चेतना की क्रूरतामय एकाग्र-परिणति को 'रौद्र-ध्यान' कहा जाता है। उसके चार प्रकार है—

(क) हिंसानुबन्धी— जिसमें हिंसा का अनुबन्ध—हिंसा में सतत प्रवर्तन हो।
(ख) मृषानुबन्धी— जिसमें मृषा का अनुबन्ध—मृषा में सतत प्रवर्तन हो।
(ग) स्तेनानुबन्धी— जिसमें चोरी का अनुबन्ध—चोरी में सतत प्रवर्तन हो।
(घ) सरक्षणानुबन्धी— जिसमें विषय के साधनों के सरक्षण का अनुबन्ध—विषय के साधनों के सरक्षण में सतत प्रवर्तन हो।

१—ध्यानशतक, श्लोक ३
अतोमुहुत्तमित्त, चित्तावत्थाणमेगवत्थुम्मि।
छउमत्थाण झाण, जोगनिरोहो जिणाण तु॥

२—लोकप्रकाश, ३०।४२१-४२२
यथा मानसिक ध्यानमेकाग्र निश्चल मन।
यथा च कायिक ध्यान, स्थिर कायो निरेजनः॥
तथा यतनया भाषा भाषमाणस्य शोभनाम्।
दुष्टा वर्जयतो ध्यान वाचिक कथित जिनै॥

रौद्र-ध्यान के चार लक्षण है—

(क) अनुपरत दोष— प्राय हिंसा आदि से उपरत न होना।

(ख) बहु दोष— हिंसा आदि की विविध प्रवृत्तियो में सलग्न रहना।

(ग) अज्ञान दोष— अज्ञानवश हिंसा आदि में प्रवृत्त होना।

(घ) आमरणान्त दोष— मरणान्त तक हिंसा आदि करने का अनुताप न होना।

ये दोनो ध्यान पापाश्रव के हेतु है, इसलिए इन्हें 'अप्रशस्त-ध्यान' कहा जाता है। इन दोनो को एकाग्रता की दृष्टि से ध्यान की कोटि में रखा गया है, किन्तु भावना की दृष्टि से आर्त्त और रौद्र परिणतिमय एकाग्रता विघ्न ही है।

मोक्ष के हेतुभूत ध्यान दो ही है—(१) धर्म्य और (२) शुक्ल।[1] इनसे आश्रव का निरोध होता है, इसलिए इन्हे 'प्रशस्त-ध्यान' कहा जाता है।

(३) *धर्म्य-ध्यान*

वस्तु-धर्म या सत्य की गवेषणा मे परिणत चेतना की एकाग्रता को 'धर्म्य-ध्यान' कहा जाता है। इसके चार प्रकार है—

(क) आज्ञा-विचय— प्रवचन के निर्णय में सलग्न चित्त।

(ख) अपाय-विचय— दोषो के निर्णय मे सलग्न चित्त।

(ग) विपाक-विचय— कर्म-फलो के निर्णय में सलग्न चित्त।

(घ) सस्थान-विचय— विविध पदार्थो के आकृति-निर्णय में सलग्न चित्त।

धर्म्य-ध्यान के चार लक्षण है—

(क) आज्ञा-रुचि— प्रवचन में श्रद्धा होना।

(ख) निसर्ग-रुचि— सहज ही सत्य मे श्रद्धा होना।

(ग) सूत्र-रुचि— सूत्र-पठन के द्वारा श्रद्धा उत्पन्न होना।

(घ) अवगाढ-रुचि— विस्तार से सत्य की उपलब्धि होना।

धर्म्य-ध्यान के चार आलम्बन है—

(क) वाचना— पढाना।

(ख) प्रतिप्रच्छना— शंका-निवारण के लिए प्रश्न करना।

(ग) परिवर्तना— पुनरावर्तन करना।

(घ) अनुप्रेक्षा— अर्थ का चिन्तन करना।

धर्म्य-ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ हैं—

(क) एकत्व-अनुप्रेक्षा— अकेलेपन का चिन्तन करना।

(ख) अनित्य-अनुप्रेक्षा— पदार्थो की अनित्यता का चिन्तन करना।

(ग) अशरण-अनुप्रेक्षा— अशरण-दशा का चिन्तन करना।

(घ) ससार-अनुप्रेक्षा— ससार-परिभ्रमण का चिन्तन करना।

१–तत्त्वार्थ सूत्र, ९।२९।

(४) शुक्ल-ध्यान

चेतना की सहज (उपधि-रहित) परिणति की 'शुक्ल-ध्यान' कहा जाता है । उसके चार प्रकार हैं—

(क) पृथक्त्व-वितर्क-सविचारी,

(ख) एकत्व-वितर्क-अविचारी,

(ग) सूक्ष्म-क्रिय-अनिवृत्ति और

(घ) समुच्छिन्न-क्रिय-अप्रतिपाति ।

ध्यान के विषय द्रव्य और उसके पर्याय हैं । ध्यान दो प्रकार का होता है—(१) सालम्बन और (२) निरालम्बन । ध्यान में सामग्री का परिवर्तन भी होता है और नही भी होता । वह दो दृष्टियों से होता है—भेद-दृष्टि से और अभेद-दृष्टि से ।

जब एक द्रव्य के अनेक पर्यायों का अनेक दृष्टियो—नयों से चिन्तन किया जाता है और पूर्व-श्रुत का आलम्बन लिया जाता है तथा शब्द से अर्थ में और अर्थ से शब्द मे एव मन, वचन और काया मे से एक दूसरे में सक्रमण किया जाता है, शुक्ल-ध्यान की उस स्थिति को 'पृथक्त्व-वितर्क-सविचारी' कहा जाता है ।

जब एक द्रव्य या किसी एक पर्याय का अभेद-दृष्टि से चिन्तन किया जाता है और पूर्व-श्रुत का आलम्बन लिया जाता है तथा जहाँ शब्द, अर्थ एव मन, वचन और काया मे से एक दूसरे मे सक्रमण किया जाता है, शुक्ल-ध्यान की उस स्थिति को 'एकत्व-वितर्क-अविचारी' कहा जाता है ।

जब मन और वाणी के योग का पूर्ण निरोध हो जाता है और काया के योग का पूर्ण निरोध नही होता—श्वासोच्छ्‌वास जैसी सूक्ष्म-क्रिया शेष रहती है, उस अवस्था को 'सूक्ष्म-क्रिय' कहा जाता है । इसका निवर्तन (ह्रास) नही होता, इसलिए यह अनिवृत्ति है ।

जब सूक्ष्म क्रिया का भी निरोध हो जाता है, उस अवस्था को 'समुच्छिन्न-क्रिय' कहा जाता है । इसका पतन नही होता, इसलिए यह अप्रतिपाति है ।

शुक्ल-ध्यान के चार लक्षण—

(क) अव्यथ— क्षोभ का अभाव ।

(ख) असम्मोह— सूक्ष्म-पदार्थ-विषयक मूढता का अभाव ।

(ग) विवेक— शरीर और आत्मा के भेद का ज्ञान ।

(घ) व्युत्सर्ग— शरीर और उपधि में अनासक्त-भाव ।

शुक्ल-ध्यान के चार आलम्बन—

(क) क्षान्ति—क्षमा, (ख) मुक्ति—निर्लोभता, (ग) मार्दव—मृदुता और (घ) आर्जव—सरलता ।

शुक्ल-ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ—

(क) अनन्तवृत्तिता-अनुप्रेक्षा— ससार-परम्परा का चिन्तन करना ।

(ख) विपरिणाम-अनुप्रेक्षा— वस्तुओ के विविध परिणामों का चिन्तन करना ।

(ग) अशुभ-अनुप्रेक्षा— पदार्थों की अशुभता का चिन्तन करना ।

(घ) अपाय-अनुप्रेक्षा— दोषों का चिन्तन करना ।

श्लोक ३६

१६–श्लोक ३६ :

व्युत्सर्ग आभ्यन्तर-तप का छठा प्रकार है । भगवती (२५।७।८०२) और औपपातिक (सू० २०) के अनुसार व्युत्सर्ग दो प्रकार का होता है—

(१) द्रव्य-व्युत्सर्ग और

(२) भाव-व्युत्सर्ग ।

द्रव्य-व्युत्सर्ग के चार प्रकार—

(क) शरीर-व्युत्सर्ग—	शारीरिक चचलता का विसर्जन ।
(ख) गण-व्युत्सर्ग —	विशिष्ट साधना के लिए गण का विसर्जन ।
(ग) उपधि-व्युत्सर्ग—	वस्त्र आदि उपकरणो का विसर्जन ।
(घ) भक्त-पान-व्युत्सर्ग—	भोजन और जल का विसर्जन ।

भाव-व्युत्सर्ग के तीन प्रकार—

(क) कषाय-व्युत्सर्ग—	क्रोध आदि का विसर्जन ।
(ख) ससार-व्युत्सर्ग—	परिभ्रमण का विसर्जन ।
(ग) कर्म-व्युत्सर्ग—	कर्म-पुद्गलो का विसर्जन ।

प्रस्तुत श्लोक मे केवल काय-व्युत्सर्ग की परिभाषा की गई है । इसका दूसरा नाम 'कायोत्सर्ग' है । कायोत्सर्ग का अर्थ है 'काया का उत्सर्ग— त्याग' ।

प्रश्न होता है कि आयु पूर्ण होने से पहले काया का उत्सर्ग कैसे हो सकता है ? यह सही है जब तक आयु शेष रहती है, तब तक काया का उत्सर्ग—त्याग नही किया जा सकता । किन्तु यह काया अशुचि है, अनित्य है, दोषपूर्ण है, असार है, दु ख-हेतु है, इसमें ममत्व रखना दु ख का मूल है—इस बोध से भेद-ज्ञान प्राप्त होता है । जिसे भेद-ज्ञान प्राप्त होता है, वह सोचता है कि यह शरीर मेरा नही है, मैं इसका नही हूं । म भिन्न हूं, शरीर भिन्न है । इस प्रकार का सकल्प करने से शरीर के प्रति आदर घट जाता है । इस स्थिति का नाम है 'कायोत्सर्ग' । एक घर में रहने पर भी पति द्वारा अनादृत पत्नी 'परित्यक्ता' कहलाती है । जिस वस्तु के प्रति जिस व्यक्ति के हृदय मे अनादर-भाव होता है, वह उसके लिए परित्यक्त होती है । जब काया मे ममत्व नही रहता, आदर-भाव नही रहता तब काया परित्यक्त हो जाती है ।

कायोत्सर्ग-विधि

जो कायोत्सर्ग करना चाहे, वह काया से निस्पृह होकर खभे की भाँति सीधा खडा हो जाए । दोनो बाहों को घुटनों की ओर फैला दे, प्रशस्त-ध्यान में निमग्न हो जाए । काया को न अकडा कर खडा हो और न झुका कर भी । परीषह और उपसर्गों को सहन करे । जीव-जन्तु-रहित एकान्त स्थान मे खडा रहे और कायोत्सर्ग मुक्ति के लिए करे ।[1]

कायोत्सर्ग का मुख्य उद्देश्य है आत्मा का काया से वियोजन । काया के साथ आत्मा का जो सयोग है, उसका मूल है प्रवृत्ति । जो इसका वियोग चाहता है अर्थात् आत्मा के सान्निध्य में रहना चाहता है, वह स्थान, मौन और ध्यान के द्वारा "स्व" का व्युत्सर्ग करता है ।

स्थान —	काया की प्रवृत्ति का स्थिरीकरण—काय-गुप्ति ।
मौन—	वाणी की प्रवृत्ति का स्थिरीकरण—वाक्-गुप्ति ।
ध्यान—	मन की प्रवृत्ति का एकाग्रीकरण —मनो-गुप्ति ।

कायोत्सर्ग में श्वासोच्छ्वास जैसी सूक्ष्म प्रवृत्ति होती है, शेष प्रवृत्ति का निरोध किया जाता है ।[2]

१—मूलाराधना, २।११६, विजयोदया, पृ० २७८
काय शरीर तस्य उत्सर्गस्त्याग । तत्र शरीरनि स्पृह , स्थाणुरिवोर्द्ध्वकाय प्रलम्बितभुज , प्रशस्तध्यानपरिणतोऽनुन्नमितानत-काय , परीषहानुपसर्गांश्च सहमान तिष्ठन्निर्जन्तुके कर्मापायाभिलाषी विविक्ते देशे ।

२—योगशास्त्र, प्रकाश ३, पत्र २५०
कायस्य शरीरस्य स्थानमौनध्यानक्रियाव्यतिरेकेण अन्यत्र उच्छ्वसितादिभ्य क्रियान्तराध्यासमधिकृत्य य उत्सर्गस्त्यागो 'नमो अरहनाण' इति वचनात प्राक् स कायोत्सर्ग ।

कायोत्सर्ग के प्रकार

कायोत्सर्ग चार प्रकार का होता है—

(१) उत्थित-उत्थित—जो खडा-खडा कायोत्सर्ग करता है और धर्म्य या शुक्ल ध्यान में लीन होता है, वह काया से भी उन्नत होता है और ध्यान से भी उन्नत होता है, इसलिए उसके कायोत्सर्ग को 'उत्थित-उत्थित' कहा जाता है।

(२) उत्थित-उपविष्ट—जो खडा-खडा कायोत्सर्ग करता है, किन्तु आर्त्त या रौद्र ध्यान से अवनत होता है, इसलिए उसके ध्यान को 'उत्थित-उपविष्ट' कहा जाता है।

(३) उपविष्ट-उत्थित—जो बैठ कर कायोत्सग करता है और धर्म्य या शुक्ल ध्यान में लीन होता है, वह काया से बैठा हुआ होता है और ध्यान से खडा होता है, इसलिए उसके कायोत्सर्ग को 'उपविष्ट-उत्थित' कहा जाता है।

(४) उपविष्ट-उपविष्ट—जो बैठ कर कायोत्सर्ग करता है और आर्त्त या रौद्र ध्यान में लीन होता है, वह काया और ध्यान—दोनों से बैठा हुआ होता है, इसलिए उसके कायोत्सर्ग को 'उपविष्ट-उपविष्ट' कहा जाता है।[1]

इनमे प्रथम और तृतीय अगीकरणीय है और शेप दो त्याज्य है।

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार कायोत्सर्ग खडे, बैठे और सोते—इन तीनो अवस्थाओं में किया जा सकता है।[2] इस भाषा में 'कायोत्सर्ग' और 'स्थान' दोनो एक बन जाते है। प्रयोजन की दृष्टि से कायोत्सर्ग के दो प्रकार है—

(१) चेष्टा-कायोत्सर्ग— अतिचार शुद्धि के लिए जो किया जाता है।
(२) अभिनव-कायोत्सर्ग— विशेष विशुद्धि या प्राप्त कष्ट को सहने के लिए जो किया जाता है।[3]

१–(क) अमितगति-श्रावकाचार, ८।५७-६१

त्यागो देहममत्वस्य, तनूत्सृतिरुदाहृता। उपविष्टोपविष्टादि-विभेदेन चतुर्विधा ॥
आर्त्तरौद्रद्वय यस्यामुपविष्टेन चिंत्यते। उपविष्टोपविष्टाख्या, कथ्यते सा तनूत्सृति ॥
धर्मशुक्लद्वय यस्यामुपविष्टेन चिंत्यते। उपविष्टोत्थिता सतस्ता वदति तनूत्सृतिम् ॥
आर्त्तरौद्रद्वय यस्यामुत्थितेन विधीयते। तामुत्थितोपविष्टाह्वा निगदति महाधिय ॥
धर्मशुक्लद्वय यस्यामुत्थितेन विधीयते। उत्थितोत्थितनामान, त भाषते विपश्चित ॥

(ख) आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १४५९-१४६०

उसिउस्सिओ अ तह, उस्सिओ अ उस्सियनिसन्नओ चेव।
निसनुस्सिओ निसन्नो, निस्सन्नगनिसन्नओ चेव।
निवणुस्सिओ निवन्नो, निवन्ननिवन्नगो अनायव्वो।

(ग) मूलाराधना, २।११६, विजयोदया, पृ० २७८।

२–योगशास्त्र, प्रकाश ३, पत्र २५०

स च कायोत्सर्ग उच्छ्रितनिषण्णशयितभेदेन त्रेधा।

३–(क) आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १४५२

सो उस्सग्गो दुविहो चिट्ठाए अभिभवे य नायव्वो।
भिक्खायरियाइ पढमो उवसग्गभिजुजणे बिइओ ॥

(ख) वृहत्कल्प भाष्य, गाथा ५९५८

इह द्विधा कायोत्सर्ग —चेष्टायामभिभवे च।

(ग) योगशास्त्र, प्रकाश ३, पत्र २५०

तत्र चेष्टा कायोत्सर्गोऽष्ट—पचविशति—सप्तविशति—त्रिशती—पचशती अष्टोत्तरसहस्रोच्छ्वासान् यावद्भवति। अभिभवकायोत्सर्गस्तु मुहूर्त्तादारभ्य सवत्सर यावद् बाहुबलेरिव भवति।

(घ) मूलाराधना, २।११६, विजयोदया, पृ० २७८

अन्तर्मुहूर्त्त कायोत्सर्गस्य जघन्य काल, वर्षमुत्कृष्ट। अतिचारनिवृत्तये कायोत्सर्गा बहुप्रकारा भवति। रात्रिदिन-पक्ष-मासचतुष्टय-सवत्सरादिकालगोचरातिचारभेदापेक्षया। सायाह्ने उच्छ्वासशतक, प्रत्यूषसि पचाशत्, पक्षे त्रिशतानि, चतुर्षु मासेषु चतु शतानि, पच शतानि सवत्सरे उच्छ्वासाना। प्रत्यूषसिप्राणिवधादिषु पचस्वतिचारेषु अष्टशतोच्छ्वासमात्र काल' कायोत्सर्ग।

चेष्टा-कायोत्सर्ग का काल उच्छ्वास पर आधृत है। विभिन्न प्रयोजनों में वह आठ, पच्चीस, सत्ताईस, तीन सौ, पाँच सौ और एक हजार आठ उच्छ्वास तक किया जाता है।

अभिनव-कायोत्सर्ग का काल जघन्यत अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टत एक वर्ष का है। बाहुबलि ने एक वर्ष का कायोत्सर्ग किया था।

अतिचार-शुद्धि के लिए किए जाने वाले कायोत्सर्ग के अनेक विकल्प होते हैं—

(१) दैवसिक-कायोत्सर्ग।

(२) रात्रिक-कायोत्सर्ग।

(३) पाक्षिक-कायोत्सर्ग।

(४) चातुर्मासिक-कायोत्सर्ग।

(५) साम्वत्सरिक-कायोत्सर्ग।

कायोत्सर्ग आवश्यक का पाँचवाँ अंग है। ये उक्त कायोत्सर्ग प्रतिक्रमण के साथ किए जाते हैं। इन (कायोत्सर्ग) में चतुर्विंशस्तव का ध्यान किया जाता है। उसके सात श्लोक और अट्ठाईस चरण हैं। एक उच्छ्वास में एक चरण का ध्यान किया जाता है। कायोत्सर्ग-काल में सातवें श्लोक के प्रथम चरण 'चन्देसु निम्मलयरा' तक ध्यान किया जाता है।[1] इस प्रकार एक 'चतुर्विंशस्तव' का ध्यान पच्चीस उच्छ्वासों में सम्पन्न होता है। प्रवचनसारोद्धार और विजयोदया के अनुसार इनके ध्येय-परिमाण और काल-मान इस प्रकार है—

	प्रवचनसारोद्धार[2]				विजयोदया[3]			
	चतुर्विंशस्तव	श्लोक	चरण	उच्छ्वास	चतुर्विंशस्तव	श्लोक	चरण	उच्छ्वास
(१) दैवसिक	४	२५	१००	१००	४	२५	१००	१००
(२) रात्रिक	२	१२½	५०	५०	२	१२½	५०	५०
(३) पाक्षिक	१२	७५	३००	३००	१२	७५	३००	३००
(४) चातुर्मासिक	२०	१२५	५००	५००	१६	१००	४००	४००
(५) साम्वत्सरिक	४०	२५२	१००८	१००८	२०	१२५	५००	५००

अमितगति-श्रावकाचार के अनुसार दैवसिक-कायोत्सर्ग में १०८ तथा रात्रिक-कायोत्सर्ग में ५४ उच्छ्वास तक ध्यान किया जाता है और अन्य कायोत्सर्ग में २७ उच्छ्वास तक। २७ उच्छ्वासों में नमस्कार-मंत्र की नौ आवृत्तियाँ की जाती हैं अर्थात् तीन उच्छ्वासों में एक नमस्कार-मंत्र पर ध्यान किया जाता है—सम्भव है प्रथम दो-दो वाक्य एक-एक उच्छ्वास में और पाँचवाँ वाक्य एक उच्छ्वास में। अथवा 'णमो

१—योगशास्त्र, प्रकाश ३, पत्र २१५
पञ्चविंशत्युच्छ्वासाश्च चतुर्विंशतिस्तवेन चन्देसु निम्मलयरा इत्यन्तेन चिन्तितेन पूर्यन्ते, पायसमा ऊसासा इति वचनात्।

२—प्रवचनसारोद्धार, गाथा १८३-१८५

चत्तारि दो दुवालस वीस चत्ता य हुंति उज्जोया।
देसिय राइय पक्खिय चाउम्मासे य वरिसे य॥
पणवीस अद्धतेरस सलोग पन्नत्तरी य बोद्धव्वा।
सयमेगं पणवीसं बे बावन्ना य वरिसम्मि॥
साय सयं गोसद्धं तिन्नेव सया हवंति पक्खम्मि।
पंच य चाउम्मासे वरिसे अट्ठोत्तरसहस्सा॥

३—मूलाराधना २।११६ विजयोदया, पृ० २७८।

पच णमोक्कारो' सहित नौ पदो की तीन आवृत्तियाँ भी हो सकती हैं—प्रत्येक पद की एक-एक उच्छ्वास मे आवृत्ति होने से सत्ताईस उच्छ्वास होते है ।[1] अमितगति ने एक दिन-रात के कायोत्सर्गों की सारी सख्या अट्ठाईस मानी है ।[2] वह इस प्रकार है—

(१) स्वाध्याय-काल मे—	१२
(२) वन्दना-काल में—	६
(३) प्रतिक्रमण-काल में—	८
(४) योग-भक्ति-काल में—	२
	२८

पाँच महाव्रतो के अतिक्रमणो के लिए १०८ उच्छ्वास का कायोत्सर्ग करना चाहिए ।[3]

कायोत्सर्ग करते समय यदि उच्छ्वासो की सख्या विस्मृत हो जाए अथवा मन विचलित हो जाए तो आठ उच्छ्वास का अतिरिक्त कायोत्सर्ग करना चाहिए ।[4]

कायोत्सर्ग के दोष प्रवचनसारोद्धार मे १९[5], योगशास्त्र में २१[6] और विजयोदया में १६[7] बतलाए गए है ।

१–अमितगति श्रावकाचार, ८।६८ ६९

अष्टोत्तरशतोच्छ्वास, कायोत्सर्ग प्रतिक्रमे ।
सान्ध्ये प्राभातिके वार्द्धमन्यस्तत्र सप्तविंशति ॥
सप्तविंशतिरुच्छ्वासा, ससारोन्मूलनक्षमे ।
सति पचनमस्कारे, नवधा चिन्तिते सति ॥

२–वही, ८।६६-६७

अष्टविंशतिसख्याना:, कायोत्सर्गा मता जिनै ।
अहोरात्रगता सर्वे, षडावश्यककारिणाम् ॥
स्वाध्याये द्वादश प्राज्ञैर्वन्दनाया षडीरिता ।
अष्टौ प्रतिक्रमे योगभक्तौ तौ द्वावुदाहृतौ ॥

३–मूलाराधना, २।११६, विजयोदया, पृ० २७८ ।

४–वही, २।११६, विजयोदया, पृ० २७८

कायोत्सर्गे कृते यदि शक्यत उच्छ्वासस्य स्खलन वा परिणामस्य उच्छ्वासाष्टकमधिक स्थातव्यम् ।

५–प्रवचनसारोद्धार, गाथा २४७-२६२ ।

६–योगशास्त्र, प्रकाश ३, पत्र २५०-२५१ ।

७–मूलाराधना, २।११६, विजयोदया, पृ० २७९ ।

३—शल्यों का (सल्लाणं ख) :

जैसे काँटा चुभने पर मनुष्य सर्वाङ्ग वेदना का अनुभव करता है और उसके निकल जाने पर वह सुख की साँस लेता है, वैसे ही दोष रूपी काँटा चुभ जाता है, तब साधक की आत्मा दुःखित हो जाती है और उसके निकलने पर उसे आनन्द का अनुभव होता है।[1] शल्य का अर्थ है 'अन्तर में घुसा हुआ दोष' अथवा 'जिससे विकास बाधित होता है, उसे शल्य कहते हैं'।[2] वे तीन हैं—

(१) माया-शल्य — माया-पूर्ण आचरण।

(२) निदान-शल्य— ऐहिक या पारलौकिक उपलब्धि के लिए धर्म का विनिमय।

(३) मिथ्या-दर्शन-शल्य— आत्मा का मिथ्यात्वमय दृष्टिकोण।

जो निःशल्य होता है, वही व्यक्ति व्रती या महाव्रती बन सकता है।[3]

श्लोक ५

४—श्लोक ५ :

इस श्लोक में तीन प्रकार के उपसर्गों (कष्टों) का कथन है

(१) दिव्य—देवताओं द्वारा दिए जाने वाले कष्ट। देवता हास्यवश, प्रद्वेषवश या परीक्षा के निमित्त दूसरों को कष्ट देते हैं।

(२) तैरश्च—पशुओं द्वारा दिए जाने वाले कष्ट। पशु भय, प्रद्वेष या आहार के लिए तथा अपनी सन्तान या स्थान के संरक्षण के लिए दूसरों को कष्ट देते हैं।

(३) मानुष—मनुष्यों द्वारा दिए जाने वाले कष्ट। मनुष्य हास्य, प्रद्वेष, विमर्श या कुशील का सेवन करने के लिए दूसरों को कष्ट देते हैं।

श्लोक ६

५—विकथाओं (विगहा क) :

यहाँ कथा का अर्थ 'चर्चा' या 'आलोचना' है। वर्जनीय कथा को 'विकथा' कहा जाता है। वह चार प्रकार की है—

(१) स्त्री-कथा— स्त्री सम्बन्धी कथा करना।

(२) भक्त-कथा भोजन सम्बन्धी कथा करना।

(३) देश-कथा— देश सम्बन्धी कथा करना।

(४) राज-कथा— राज्य सम्बन्धी कथा करना।

१—मूलाराधना, ४।५३६-५३७

जह कंटएण विद्धो, सव्वंगे वेदणुद्दुदो होदि।
तम्हि दु समुद्धिदेसो, णिस्सल्लो णिव्वुदो होदि॥
एवमणुद्धददोसो, माइल्लो तेण दुक्खिदो होइ।
सो चेव वददोसो, सुविसुद्धो णिव्वुदो होइ॥

२—बृहद् वृत्ति, पत्र ६१२

शल्यते—अनेकार्थत्वाद्बाध्यते जन्तुरेभिरिति शल्यानि।

३—(क) तत्त्वार्थ, सूत्र ७।१३

निःशल्यो व्रती।

(ख) मूलाराधना, ६।१२१०

णिस्सल्लस्सेव पुणो, महव्वदाइं हवंति सव्वाइं।
वदमुवहम्मदि तीहिं, दु णिदाणमिच्छत्तमायाहिं॥

मूलाराधना मे कथा के कुछ और अधिक प्रकार बतलाए गए हैं—(१) भक्त-कथा, (२) स्त्री-कथा, (३) राज-कथा, (४) जनपद-कथा, (५) काम-कथा, (६) अर्थ-कथा, (७) नाट्य-कथा और (८) नृत्य-कथा ।[1]

६—संज्ञाओ (सन्नाणं क) :

सज्ञा का अर्थ है 'आसक्ति' या 'मूर्च्छना' । वह चार प्रकार की है—

(१) आहार-सज्ञा,

(२) भय-सज्ञा,

(३) मैथुन-सज्ञा और

(४) परिग्रह-सज्ञा ।

विशेप विवरण के लिए देखिए—स्थानाग, ४।४।३५६ ।

७—आर्त्त और रौद्र—इन दो ध्यानो का (झाणाण च दुय ख) :

ध्यान चार है—(१) आर्त्त, (२) रौद्र, (३) धर्म्य और (४) शुक्ल ।

चार की सख्या का प्रकरण है, इसलिए यहाँ इनका उल्लेख है । किन्तु इनमें वर्जनीय ध्यान दो ही हैं, इसलिए 'झाणाण च दुय' कहा गया है ।[2]

विशेप विवरण के लिए देखिए—३०।३५ का टिप्पण । मिलाइए—३४।३१ ।

श्लोक ७

८—व्रतों के (वएसु क) :

यहाँ व्रत का प्रयोग 'महाव्रत' के अर्थ में हुआ है । वे पाँच है—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) ब्रह्मचर्य और (५) अपरिग्रह । देखिए—२१।१२ ।

९—क्रियाओ के (किरियासु ख) :

स्थानाग (२।१।६०) में अनेक प्रकार की क्रियाओ का उल्लेख है । यहाँ उनमे से पाँच क्रियाओ का ग्रहण किया गया है । वे इस प्रकार हैं—(१) कायिकी, (२) आधिकरणिकी, (३) प्राद्वेपिकी, (४) पारितापनिकी और (५) प्राणातिपातिकी ।[3]

श्लोक ८

१०—छह लेश्याओ में (लेसासु क) :

देखिए—अध्ययन ३४ ।

१-मूलाराधना, ४।६५१
भत्तित्थिराजजणवद-कदप्पत्थणउणट्टियकहाओ ।
वज्जित्ता विकहाओ, अज्झप्पविराधणकरीओ ॥

२-वृहद् वृत्ति, पत्र ६१३
'झाणाण च' त्ति प्राकृतत्वाद् ध्यानयोश्च द्विकमार्त्तरौद्ररूप तथा यो भिक्षु 'वर्जयति' परिहरति, चतुर्विधत्वाच्च ध्यानस्यात्र प्रस्तावेऽभिधानम् ।

३- वही, पत्र ६१३
क्रियासु—कायिक्याधिकरणिकीप्राद्वेषिकीपारितापनिकीप्राणातिपातरूपासु ।

११–आहार के (विधि-निषेध के) छह कारणों में (छक्के आहारकारणे ख) :

साधु को छह कारणों से आहार करना चाहिए और छह कारणों से नहीं करना चाहिए। देखिए—२६।३२,३४।

श्लोक ९

१२–(पिण्डोग्गहपडिमासु क) :

विशेष प्रतिमाधर मुनि आहार और अवग्रह (स्थान) सम्बन्धी सात प्रकार के अभिग्रह धारण करते थे। जैसे—

आहार-ग्रहण सम्बन्धी अभिग्रह—सात एषणाएँ। देखिए—३०।२५ का टिप्पण।

अवग्रह (स्थान) सम्बन्धी अभिग्रह। अवग्रह-प्रतिमा का अर्थ है 'स्थान के लिए प्रतिज्ञा या संकल्प'। वे सात हैं—

(१) मैं अमुक प्रकार के स्थान में रहूँगा, दूसरे में नहीं।

(२) मैं दूसरे साधुओं के लिए स्थान की याचना करूँगा। दूसरों के द्वारा याचित-स्थान में मैं रहूँगा। यह गच्छान्तर्गत साधुओं के होती है।

(३) मैं दूसरों के लिए स्थान की याचना करूँगा, किन्तु दूसरों के द्वारा याचित-स्थान में नहीं रहूँगा। यह यथालन्दिक साधुओं के होती है।

(४) मैं दूसरों के लिए स्थान की याचना नहीं करूँगा, परन्तु दूसरों के द्वारा याचित-स्थान में रहूँगा। यह जिनकल्पदशा का अभ्यास करने वाले साधुओं के होती है।

(५) मैं अपने लिए स्थान की याचना करूँगा, दूसरों के लिए नहीं। यह जिनकल्पिक साधुओं के होती है।

(६) जिसका मैं स्थान ग्रहण करूँगा, उसी के यहाँ पलाल आदि का संस्तारक प्राप्त हो तो लूँगा अन्यथा ऊकडू या नैषधिक आसन में बैठे-बैठे रात बिताऊँगा। यह जिनकल्पिक या अभिग्रहधारी साधुओं के होती है।

(७) जिसका मैं स्थान ग्रहण करूँगा, उसी के यहाँ ही सहज बिछे हुए शिलापट्ट या काष्ठपट्ट प्राप्त हो तो लूँगा अन्यथा ऊकडू या नैषधिक आसन में बैठे-बैठे रात बिताऊँगा। यह जिनकल्पिक या अभिग्रहधारी साधुओं के होती है।[१]

श्लोक १०

१४–आठ मद-स्थानों में (मयेसु क) :

आठ मद-स्थान इस प्रकार हैं—

(१) जाति-मद,
(२) कुल-मद,
(३) बल-मद,
(४) रूप-मद,
(५) तपो-मद,
(६) श्रुत-मद,
(७) लाभ मद और
(८) ऐश्वर्य-मद ।

देखिए—स्थानांग, ८।६०६ , समवायांग, समवाय ८ ।

१५–ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों में (बम्भगुत्तीसु क) :

ब्रह्मचर्य की रक्षा के साधन को 'गुप्ति' कहते हैं । वे नौ हैं । देखिए—सोलहवाँ अध्ययन , स्थानांग, ६।६६३ , समवायांग, समवाय ६ ।

१६–दस प्रकार के भिक्षु-धर्म में (भिक्खु धम्मंमि दसविहे ख) :

देखिए—२।२६ का टिप्पण ।

श्लोक ११

१७–उपासकों की ग्यारह प्रतिमाओं में (उवासगाण पडिमासु क) :

उपासक—श्रावक की प्रतिमाएँ ग्यारह हैं—

(१) दर्शन-श्रावक,
(२) कृत-व्रत श्रावक,
(३) कृत-सामायिक,
(४) पौषधोपवास निरत,
(५) दिन में ब्रह्मचारी और रात्रि में परिमाण करने वाला,
(६) दिन और रात में ब्रह्मचारी, स्नान न करने वाला, दिन में भोजन करने वाला और कच्छ न बाँधने वाला,
(७) सचित्त-परित्यागी,
(८) आरम्भ-परित्यागी,
(९) प्रेष्य-परित्यागी,
(१०) उद्दिष्ट-भक्त-परित्यागी और
(११) श्रमण-भूत ।

देखिए—समवायांग, समवाय ११ ।

१८–भिक्षुओं की बारह प्रतिमाओं में (भिक्खूण पडिमासु ख) :

भिक्षु की प्रतिमाएँ बारह हैं—

(१) एक मासिकी भिक्षु-प्रतिमा,
(२) दो मासिकी भिक्षु-प्रतिमा,
(३) तीन मासिकी भिक्षु-प्रतिमा,
(४) चार मासिकी भिक्षु-प्रतिमा,
(५) पाँच मासिकी भिक्षु-प्रतिमा,
(६) छह मासिकी भिक्षु-प्रतिमा,
(७) सात मासिकी भिक्षु-प्रतिमा,
(८) तत्पश्चात् प्रथम सात दिन-रात की भिक्षु-प्रतिमा,
(९) दूसरी सात दिन-रात की भिक्षु प्रतिमा,
(१०) तीसरी सात दिन-रात की भिक्षु-प्रतिमा,
(११) एक अहोरात्र की भिक्षु-प्रतिमा और
(१२) एक रात्रि की भिक्षु-प्रतिमा ।

देखिए—समवायांग, समवाय १२ ।

श्लोक १२

१९–तेरह क्रियाओं में (किरियासु[क]) :

कर्म-बन्ध की हेतुभूत चेष्टा को 'क्रिया' कहा जाता है। वे तेरह हैं—

(१) अर्थ-दण्ड— शरीर, स्वजन, धर्म आदि प्रयोजन से की जाने वाली हिंसा।
(२) अनर्थ-दण्ड— बिना प्रयोजन मौज—शौक के लिए की जाने वाली हिंसा।
(३) हिंसा-दण्ड— इसने मुझे मारा था, मारता है, मारेगा—इस प्रणिधान से हिंसा करना।
(४) अकस्मात्-दण्ड— एक के वध की प्रवृत्ति करते हुए अकस्मात् दूसरे की हिंसा कर डालना।
(५) दृष्टि-विपर्यास-दण्ड— मति-भ्रम से होने वाली हिंसा अथवा मित्र आदि को अमित्र बुद्धि से मारना।
(६) मृषावाद-प्रत्यय— स्व, पर या उभय के लिए मृषावाद से होने वाली हिंसा।
(७) अदत्तादान-प्रत्यय— स्व, पर या उभय के लिए अदत्तादान से होने वाली हिंसा।
(८) आध्यात्मिक— बाह्य निमित्त के बिना, मन में स्वतः उत्पन्न होने वाली हिंसा।
(९) मान-प्रत्यय— जाति आदि के भेद से होने वाली हिंसा।
(१०) मित्र-द्वेष-प्रत्यय— माता-पिता या दास-दासी के अल्प अपराध में भी बड़ा दण्ड देना।
(११) माया-प्रत्यय— माया से होने वाली हिंसा।
(१२) लोभ-प्रत्यय— लोभ से होने वाली हिंसा।
(१३) ईर्या-पथिक— केवल योग (मन, वचन और काया की प्रवृत्ति) से होने वाला कर्म बन्धन।

विस्तृत विवरण के लिए देखिए—सूत्रकृतांग, २।२, समवायांग, समवाय १३।

श्लोक १३

२२–गाथा-षोडशक (सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के सोलह अध्ययनों) में (गाहासोलसएहिं क) :

सूत्रकृतांग के दो श्रुतस्कन्ध है। पहले श्रुतस्कन्ध मे १६ अध्ययन है। सोलहवें अध्ययन का नाम 'गाथा' है। जिसका सोलहवाँ अध्ययन गाथा है उसे 'गाथा-षोडशक' कहा जाता है।[1] यह प्रथम श्रुतस्कन्ध का वाचक है।

देखिए—३१।१६ का प्रथम टिप्पण, समवायांग, समवाय १६।

२३–सतरह प्रकार के संयम में (अस्संजमम्मि ख) :

असंयम १७ प्रकार का है—

(१) पृथ्वीकाय-असंयम
(२) अप्काय-असंयम
(३) तेजस्काय-असंयम
(४) वायुकाय-असंयम
(५) वनस्पतिकाय-असंयम
(६) द्वीन्द्रिय-असंयम
(७) त्रीन्द्रिय-असंयम
(८) चतुरिन्द्रिय-असंयम
(९) पंचेन्द्रिय-असंयम
(१०) अजीवकाय-असंयम
(११) प्रेक्षा-असंयम— अप्रतिलेखन या अविधि प्रतिलेखन मे होने वाला असंयम।
(१२) उपेक्षा-असंयम— संयम की उपेक्षा और असंयम मे व्यापार।
(१३) अपहृत्य-असंयम— उच्चार आदि का अविधि से परिष्ठापन करने मे होने वाला असंयम।
(१४) अप्रमार्जन-असंयम— पात्र आदि का अप्रमार्जन या अविधि मे प्रमार्जन करने से होने वाला असंयम।
(१५) मन-असंयम— अकुशल मन की उदीरणा।
(१६) वचन-असंयम— अकुशल वचन की उदीरणा।
(१७) काय-असंयम— अकुशल काया की उदीरणा।

देखिए—समवायांग, समवाय १७।

श्लोक १४

२४–अठारह प्रकार के ब्रह्मचर्य में (बम्भम्मि क) :

ब्रह्मचर्य के अठारह प्रकार ये हैं—

औदारिक (मनुष्य, तिर्यञ्च सम्बन्धी) काम-भोगो का (१) मन से सेवन न करे, (२) मन से सेवन न कराए और (३) सेवन करने वाले का मन से अनुमोदन भी न करे।

औदारिक काम-भोगो का (४) वचन से सेवन न करे, (५) वचन से सेवन न कराए और (६) सेवन करने वाले का वचन से अनुमोदन भी न करे।

औदारिक काम-भोगों का (७) काया से सेवन न करे, (८) काया से सेवन न कराए और (९) सेवन करने वाले का काया से अनुमोदन भी न करे।

दिव्य (देव-सम्बन्धी) काम-भोगो का (१०) मन से सेवन न करे, (११) मन से सेवन न कराए और (१२) सेवन करने वाले का मन से अनुमोदन भी न करे।

दिव्य-काम-भोगो का (१३) वचन से सेवन न करे, (१४) वचन से सेवन न कराए और (१५) सेवन करने वाले का वचन से अनुमोदन भी न करे।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ६१४
गाथाध्ययन षोडश येषु तानि गाथाषोडशकानि।

दिव्य-काम-भोगों का (१६) काया से सेवन न करे, (१७) काया से सेवन न कराए और (१८) सेवन करने वाले का काया से अनुमोदन भी न करे।

देखिए—समवायांग, समवाय १८।

२५—उन्नीस ज्ञाता अध्ययनों में (नायज्झयणेसु क) :

ज्ञाता के १९ अध्ययन ये हैं—

(१) उत्क्षिप्त-ज्ञात,
(२) संघाट,
(३) अण्ड,
(४) कूर्म,
(५) शैलक,
(६) तुम्ब,
(७) रोहिणी,
(८) मल्ली,
(९) माकन्दी,
(१०) चन्द्रिका,
(११) दावद्रव,
(१२) उदक-ज्ञात,
(१३) मण्डूक,
(१४) तेतली,
(१५) नन्दी फल,
(१६) अवरकंका,
(१७) आकीर्ण,
(१८) सुसमा और
(१९) पुण्डरीक-ज्ञात।

देखिए—समवायांग, समवाय १९।

२६—बीस असमाधि-स्थानों में (ठाणेसु यऽसमाहिए ख) :

यहाँ जिन बीस असमाधि-स्थानों का वर्णन है, वे निम्न प्रकार हैं—

(१) धम धम करते चलना।
(२) प्रमार्जन किए बिना चलना।
(३) अविधि से प्रमार्जन कर चलना।
(४) प्रमाण से अधिक शय्या, आसन आदि रखना।
(५) रात्निक साधुओं का पराभव—तिरस्कार करना, उनके सामने मर्यादा-रहित बोलना।
(६) स्थविरों का उपघात करना।
(७) प्राणियों का उपघात करना।
(८) प्रतिक्षण क्रोध करना।
(९) अत्यन्त क्रोध करना।
(१०) परोक्ष में अवर्णवाद बोलना।
(११) बार-बार निश्चयकारी भाषा बोलना।
(१२) अनुत्पन्न नए-नए कलहों को उत्पन्न करना।
(१३) उपशमित और क्षपित पुराने कलहों की उदीरणा करना।
(१४) सरजस्क हाथ-पैरों का व्यापार करना।
(१५) अकाल में स्वाध्याय करना।
(१६) कलह करना।
(१७) रात्रि में जोर से बोलना।
(१८) झंझा (खटपट) करना।
(१९) सूर्योदय से सूर्यास्त तक बार-बार भोजन करना।
(२०) एषणा-समिति रहित होना।

देखिए—समवायांग, समवाय २०, दशाश्रुतस्कन्ध, दशा १।

श्लोक १५

२७- इक्कीस प्रकार के शबल दोषों में (एगवीसाए सबले क) :

शबल (चारित्र को धब्बों से युक्त करने वाले) दोष इक्कीस है—

(१) हस्त-कर्म करना ।

(२) मैथुन का प्रतिसेवन करना ।

(३) रात्रि-भोजन करना ।

(४) आधा-कर्म आहार करना ।

(५) सागारिक (शय्यातर) पिंड खाना ।

(६) औद्देशिक, क्रीत या सामने लाकर दिया जाने वाला भोजन करना ।

(७) बार बार प्रत्याख्यान कर खाना ।

(८) एक महीने के अन्दर एक गच्छ से दूसरे गच्छ में जाना ।

(९) एक महीने के अन्दर तीन उदक-लेप लगाना ।

(१०) एक महीने मे तीन बार माया का सेवन करना ।

(११) राज-पिण्ड का भोजन करना ।

(१२) जान-बूझ कर प्राणातिपात करना ।

(१३) जान-बूझ कर मृषावाद बोलना ।

(१४) जान-बूझ कर अदत्तादान लेना ।

(१५) जान-बूझ कर अन्तर-रहित (सचित्त) पृथ्वी पर स्थान या निषद्या करना ।

(१६) जान-बूझ कर सचित्त पृथ्वी पर तथा सचित्त शिला पर, घुण वाले काष्ठ पर, शय्या अथवा निषद्या करना ।

(१७) जीव सहित, प्राण सहित, बीज सहित, हरित सहित, उत्तिंग सहित, लीलन-फूलन, कीचड तथा मकडी के जाल वाली तथा इसी प्रकार की अन्य पृथ्वी पर बैठना, सोना और स्वाध्याय करना ।
त्वक् का भोजन, प्रवाल का भोजन, पुष्प का भोजन, फूल का भोजन करना ।

(१८) जान-बूझ कर मूल का भोजन, कन्द का भोजन, हरित का भोजन करना ।

(१९) एक-वर्ष में दस उदक-लेप लगाना ।

(२०) एक वर्ष में दस बार माया-स्थान का सेवन करना ।

(२१) सचित्त जल से लिप्त हाथों से बार-बार अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य को लेना तथा उन्हें खाना ।

देखिए— समवायांग, समवाय २१ , दशाश्रुतस्कन्ध, दशा २ ।

२८—बाईस परीषहों में (बावीसाए परीसहे ख) :

देखिए—अध्ययन २ ।

श्लोक १६

२९–सूत्रकृतांग के तेईस अध्ययनों में (तेवीसइ सूयगडे क) :

सूत्रकृतांग के दो विभाग है—(१) प्रथम श्रुत स्कन्ध मे १६ अध्ययन हैं और (२) दूसरे श्रुतस्कन्ध में ७ अध्ययन हैं। तेईस अध्ययनों के नाम इस प्रकार है—

(१) समय,
(२) वैतालिक,
(३) उपसर्ग-परिज्ञा,
(४) स्त्री-परिज्ञा,
(५) नरक-विभक्ति,
(६) महावीर-स्तुति,
(७) कुशील-परिभाषित,
(८) वीर्य,
(९) धर्म,
(१०) समाधि,
(११) मार्ग,
(१२) समवसरण,
(१३) यथातथ्य,
(१४) ग्रन्थ,
(१५) यमक,
(१६) गाथा,
(१७) पुण्डरीक,
(१८) क्रिया-स्थान,
(१९) आहार-परिज्ञा,
(२०) अप्रत्याख्यान-परिज्ञा,
(२१) अनगार-श्रुत,
(२२) आर्द्रकुमारीय और
(२३) नालंदीय।

देखिए—समवायांग, समवाय २३।

३०–चौवीस प्रकार के देवों में (रूवाहिएसु सुरेसु ख) :

यहाँ रूप का अर्थ 'एक' है। रूपाधिक अर्थात् पूर्वोक्त संख्या से एक अधिक। पूर्व कथन में सूत्रकृतांग सूत्र के २३ अध्ययन ग्रहण किए गए है। अत यहाँ २४की संख्या प्राप्त है। वृत्तिकार ने इसकी व्याख्या दो प्रकार से की है।[1] प्रथम व्याख्या के अनुसार २४ प्रकार के देव ये हैं—

१० प्रकार के भवनपति देव।
८ प्रकार के व्यन्तर देव।
५ प्रकार के ज्योतिष देव।
१ वैमानिक देव। (समस्त वैमानिक देवो को एक ही प्रकार मे गिना है, भिन्नता की विवक्षा नहीं की है)

दूसरी व्याख्या के अनुसार यहाँ ऋषभदेव आदि २४ तीर्थङ्करो का ग्रहण किया गया है।[2] समवायांग मे द्वितीय व्याख्या मान्य रही है—

(१) ऋषभ,
(२) अजित,
(३) शम्भव,
(४) अभिनन्दन,
(५) सुमति,
(६) पद्मप्रभ,
(७) सुपार्श्व,
(८) चन्द्रप्रभ,
(९) सुविधि,
(१०) शीतल,
(११) श्रेयांस,
(१२) वासुपूज्य,
(१३) विमल,
(१४) अनन्त,
(१५) धर्म,
(१६) शान्ति,
(१७) कुन्थु,
(१८) अर,
(१९) मल्लि,
(२०) मुनि सुव्रत,
(२१) नमि,
(२२) नेमि,
(२३) पार्श्व और
(२४) वर्द्धमान।

देखिए—समवायांग, समवाय २४।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ६१६
भवणवणजोइवेमाणिया य दस अट्ठ पच एगविहा।
इति चउवीस देवा केई पुण बेंति अरहंता॥

२–वही, पत्र ६१६
ऋषभादितीर्थंकरेषु।

श्लोक १७

३१—पच्चीस भावनाओं में (पणवीसभावणाहिं क) :

भावना का अर्थ है—'वह क्रिया जिससे आत्मा को सस्कारित, वासित या भावित किया जाता है'। वे २५ है। आचाराग, समवायाग तथा प्रश्नव्याकरण में उनका वर्णन है, किन्तु उनके क्रम तथा नामो मे भेद है। जैसे—

आचाराग (२।१५) के अनुसार	समवायाग (समवाय २५) के अनुसार	प्रश्नव्याकरण (सवरद्वार) के अनुसार
	(१) अहिंसा महाव्रत की भावना	
(१) ईर्या-समिति	ईर्या-समिति	ईर्या-समिति
(२) मन-परिज्ञा	मनो-गुप्ति	अपाप-मन (मन-समिति)
(३) वचन-परिज्ञा	वचन-गुप्ति	अपाप-वचन (वचन-समिति)
(४) आदान-निक्षेप-समिति	आलोक-भाजन-भोजन	एषणा-समिति
(५) आलोकित-पान भोजन	आदान-भाडामत्र-निक्षेपणा-समिति	आदान-निक्षेप-समिति
	(२) सत्य महाव्रत की भावनाएँ	
(६) अनुवीचि-भाषण	अनुवीचि-भाषणता—विचार पूर्वक बोलना	अनुवीचि-भाषण
(७) क्रोध-प्रत्याख्यान	क्रोध-विवेक—क्रोध का प्रत्याख्यान	क्रोध-प्रत्याख्यान
(८) लोभ-प्रत्याख्यान	लोभ-विवेक—लोभ का त्याग	लोभ-प्रत्याख्यान
(९) अभय (भय-प्रत्याख्यान)	भय-विवेक—भय का त्याग	अभय-(भय-प्रत्याख्यान)
(१०) हास्य-प्रत्याख्यान	हास्य-विवेक—हास्य का त्याग	हास्य-प्रत्याख्यान
	३—अचौर्य महाव्रत की भावनाएँ	
(११) अनुवीचि-मितावग्रह-याचन	अवग्रहानुज्ञापना	विविक्त-वास-वसति
(१२) अनुज्ञापित-पान-भोजन	अवग्रहसीमा परिज्ञान	अभीक्ष्ण-अवग्रह-याचन
(१३) अवग्रह का अवधारण	स्वय ही अवग्रह की अनुग्रहणता	शय्या-समिति
(१४) अभीक्ष्ण-अवग्रह-याचन	सार्धमिकों के अवग्रह की याचना तथा परिभोग	साधारण-पिण्ड-पात्र लाभ
(१५) सार्धमिक के पास से अवग्रह-याचन	साधारण भोजन का आचार्य आदि को बता कर परिभोग करना	विनय-प्रयोग
	४—ब्रह्मचर्य महाव्रत की भावनाएँ	
(१६) स्त्रियो में कथा का वर्जन	स्त्री, पशु और नपुसक से ससक्त शयन और आसन का वर्जन करना	असंसक्त-वास-वसति
(१७) स्त्रियों के अग-प्रत्यगो के अवलोकन का वर्जन	स्त्री-कथा का विवर्जन करना	स्त्री-जन में कथा-वर्जन
(१८) पूर्व-भुक्त-भोग की स्मृति का वर्जन	स्त्रियो के इन्द्रियो के अवलोकन का वर्जन करना	स्त्रियो के अग-प्रत्यग और चेष्टाओ के अवलोकन का वर्जन
(१९) अतिमात्र और प्रणीत पान-भोजन का वर्जन	पूर्व-भुक्त तथा पूर्व-क्रीडित काम-भोगो का स्मरण नही करना	पूर्व-भुक्त भोग की स्मृति का वर्जन
(२०) स्त्री आदि से ससक्त शयनासन का वर्जन	प्रणीत-आहार का विवर्जन करना	प्रणीत-रस-भोजन का वर्जन

५—अपरिग्रह महाव्रत की भावनाएँ

(२१) मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द में समभाव	श्रोत्रेन्द्रिय रागोपरति	मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द मे समभाव
(२२) मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूप मे समभाव	चक्षुरिन्द्रिय रागोपरति	मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूप में समभाव
(२३) मनोज्ञ और अमनोज्ञ गन्ध में समभाव	घ्राणेन्द्रिय रागोपरति	मनोज्ञ और अमनोज्ञ गन्ध मे समभाव
(२४) मनोज्ञ और अमनोज्ञ रस मे समभाव	रसनेन्द्रिय रागोपरति	मनोज्ञ और अमनोज्ञ रस मे समभाव
(२५) मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्श मे समभाव	स्पर्शनेन्द्रिय रागोपरति	मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्श मे समभाव

३२–(उद्देसेसु दसाइण ख) :

यहाँ दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प और व्यवहार—इन तीनो सूत्रो के २६ उद्देशो का उल्लेख किया गया है। यहाँ 'उद्देश' शब्द के द्वारा उद्देशन-काल का ग्रहण किया गया है।[1] एक दिन में जितने श्रुत की वाचना (अध्यापन) दी जाती है, उसे 'एक उद्देशन-काल' कहा जाता है। इन तीन सूत्रो के २६ उद्देशन-काल हैं—

दशाश्रुतस्कन्ध के १० उद्देशन-काल।

कल्प (बृहत्कल्प) के ६ उद्देशन-काल।

व्यवहार-सूत्र के १० उद्देशन-काल।

श्लोक १८

३३–साधु के सत्ताईस गुणों में (अणगारगुणेहिं क) :

साधु के २७ गुण है। जैसे—

(१) प्राणातिपात से विरमण,
(२) मृषावाद से विरमण,
(३) अदत्तादान से विरमण,
(४) मैथुन से विरमण,
(५) परिग्रह से विरमण,
(६) श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह,
(७) चक्षु-इन्द्रिय-निग्रह,
(८) घ्राणेन्द्रिय-निग्रह,
(९) रसनेन्द्रिय-निग्रह,
(१०) स्पर्शनेन्द्रिय-निग्रह,
(११) क्रोध-विवेक,
(१२) मान-विवेक,
(१३) माया-विवेक,
(१४) लोभ-विवेक,
(१५) भाव-सत्य,
(१६) करण-सत्य,
(१७) योग-सत्य,
(१८) क्षमा,
(१९) विरागता,
(२०) मन-समाधारणता,
(२१) वचन-समाधारणता,
(२२) काय-समाधारणता,
(२३) ज्ञान-सम्पन्नता,
(२४) दर्शन-सम्पन्नता,
(२५) चारित्र-सम्पन्नता,
(२६) वेदना-अधिसहन और
(२७) मारणान्तिक-अधिसहन।

देखिए—समवायाग, समवाय २७।

१-बृहद् वृत्ति, पत्र ६१६ :
'उद्देशेष्वि' त्युपलक्षणत्वादुद्देशनकालेषु दशादीना—दशाश्रुतस्कन्धकल्पव्यवहाराणा षड्विंशतिसङ्ख्येष्विति शेष', उक्त हि—
"दस उद्देसणकाला दसाण कप्पस्स होति छच्चेव।
दस चेव य ववहारस्स हुति सव्वेऽवि छव्वीस॥"

वृत्तिकार ने २७ गुण भिन्न प्रकार से माने है—

(१) अहिंसा,
(२) सत्य,
(३) अचौर्य,
(४) ब्रह्मचर्य,
(५) अपरिग्रह,
(६) रात्रि-भोजन-विरति,
(७) श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह,
(८) चक्षु-इन्द्रिय-निग्रह,
(९) घ्राणेन्द्रिय-निग्रह,
(१०) रसनेन्द्रिय-निग्रह,
(११) स्पर्शनेन्द्रिय-निग्रह,
(१२) भाव-सत्य,
(१३) करण-सत्य,
(१४) क्षमा,
(१५) विरागता,
(१६) मनो-निरोध,
(१७) वचन-निरोध,
(१८) काय-निरोध,
(१९) पृथ्वीकाय-सयम,
(२०) अप्काय-सयम,
(२१) तेजस्काय-सयम,
(२२) वायुकाय-सयम,
(२३) वनस्पतिकाय-सयम,
(२४) त्रसकाय-सयम,
(२५) योग-युक्तता,
(२६) वेदना-अधिसहन और
(२७) मारणान्तिक-अधिसहन ।[1]

३४–अठाईस आचार-प्रकल्पों में (पकप्पम्मि) :

प्रकल्प का अर्थ है 'वह शास्त्र जिसमें मुनि के कल्प-व्यवहार का निरूपण हो' । आचाराग का दूसरा नाम 'प्रकल्प' है ।[2]

निशीथ सूत्र सहित आचाराग को 'आचार-प्रकल्प' कहा जाता है । मूल आचाराग के शस्त्र-परिज्ञा आदि नौ अध्ययन है और दूसरा श्रुतस्कन्ध उसकी चूडा (शिखा) है । उसके १६ अध्ययन है । निशीथ के तीन अध्ययन है और वह भी आचाराग की ही चूडा है ।

आचाराग प्रथम श्रुतस्कन्ध के नौ अध्ययन है—

(१) शस्त्र-परिज्ञा,
(२) लोक-विजय,
(३) शीतोष्णीय,
(४) सम्यक्त्व,
(५) आवती,
(६) धुत,
(७) विमोह,
(८) उपधान-श्रुत और
(९) महापरिज्ञा ।

आचाराग द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सोलह अध्ययन है—

(१) पिंडैपणा,
(२) शय्या,
(३) ईर्या,
(४) भापा,
(५) वस्त्रैपणा,
(६) पात्रैषणा,
(७) अवग्रह-प्रतिमा,
(१४) सप्तसप्तिका,
(१५) भावना और
(१६) विमुक्ति ।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ६१६ :
"वयछक्कमिंदियाण च, निग्गहो भाव करणसच्च च ।
खमया विरागयावि य, मणमाईण णिरोहो य ॥
कायाणछक्कजोगम्मि, जुत्तया वेयणाहियासणया ।
तह मारणतिय हियासणया एएऽणगारगुणा ॥"

२–वही, पत्र ६१६
प्रकृष्ट कल्पो—यतिव्यवहारो यस्मिन्नसौ प्रकल्प स चेहाचाराङ्गमेव शस्त्रपरिज्ञाद्यष्टाविंशत्यध्ययनात्मकम् ।

निशीथ के तीन अध्ययन है—

(१) उद्‌घात, (२) अनुद्‌घात और (३) आरोपण।

समवायाग में आचार-प्रकल्प के अठाईस-प्रकार इस प्रकार है—

(१) एक महीने की आरोपणा
(२) एक महीने और पाँच दिन की आरोपणा
(३) एक महीने और दस दिन की आरोपणा
(४) एक महीने और पन्द्रह दिन की आरोपणा
(५) एक महीने और वीस दिन की आरोपणा
(६) एक महीने और पच्चीस दिन की आरोपणा
(७) दो महीने की आरोपणा
(८) दो महीने और पाँच दिन की आरोपणा
(९) दो महीने और दस दिन की आरोपणा
(१०) दो महीने और पन्द्रह दिन की आरोपणा
(११) दो महीने और वीस दिन की आरोपणा
(१२) दो महीने और पच्चीस दिन की आरोपणा
(१३) तीन महीने की आरोपणा
(१४) तीन महीने और पाँच दिन की आरोपणा
(१५) तीन महीने और दस दिन की आरोपणा
(१६) तीन महीने और पन्द्रह दिन की आरोपणा
(१७) तीन महीने और वीस दिन की आरोपणा
(१८) तीन महीने और पच्चीस दिन की आरोपणा
(१९) चार महीने की आरोपणा
(२०) चार महीने और पाँच दिन की आरोपणा
(२१) चार महीने और दस दिन की आरोपणा
(२२) चार महीने और पन्द्रह दिन की आरोपणा
(२३) चार महीने और वीस दिन की आरोपणा
(२४) चार महीने और पच्चीस दिन की आरोपणा
(२५) उपघातिकी आरोपणा
(२६) अनुपघातिकी आरोपणा
(२७) कृत्स्ना आरोपणा और
(२८) अकृत्स्ना आरोपणा[1]

१–समवायाग, समवाय २८।

श्लोक १६

३५–उनतीस पाप-श्रुत प्रसंगों में (पावसुयपसंगेसु [क]) :

पाप के उपादानकारणभूत जो शास्त्र हैं, उन्हें 'पाप-श्रुत' कहते है। उन शास्त्रों का प्रसंग अर्थात् अभ्यास—पाप-श्रुत प्रसंग है। वे २६ हैं—

(१) भौम— भूकम्प आदि के फल को बताने वाला निमित्त-शास्त्र।
(२) उत्पात— स्वाभाविक उत्पातों का फल बताने वाला निमित्त-शास्त्र।
(३) स्वप्न— स्वप्न के शुभाशुभ फल को बताने वाला निमित्त शास्त्र।
(४) अंतरिक्ष— आकाश में उत्पन्न होने वाले नक्षत्रों के युद्ध का फलाफल बताने वाला निमित्त-शास्त्र।
(५) अंग— अंग-स्फुरण का फल बताने वाला निमित्त-शास्त्र।
(६) स्वर— स्वर के शुभाशुभ फल का निरूपण करने वाला निमित्त-शास्त्र।
(७) व्यञ्जन— तिल, मसा आदि के फल को बताने वाला निमित्त-शास्त्र।
(८) लक्षण— अनेक प्रकार के लक्षणों का फल बताने वाला निमित्त-शास्त्र।

इन आठों के तीन-तीन प्रकार होते हैं—(१) सूत्र, (२) वृत्ति और (३) वार्त्तिक। इस तरह २४ पाप-श्रुत प्रसंग हुए। अवशेष निम्न प्रकार है।

(२५) विकथानुयोग— अर्थ और काम के उपायों के प्रतिपादक ग्रन्थ। जैसे—कामन्दक, वात्स्यायन, भारत आदि।
(२६) विद्यानुयोग— रोहिणी आदि विद्या की सिद्धि बताने वाला शास्त्र।
(२७) मन्त्रानुयोग— मंत्र शास्त्र।
(२८) योगानुयोग— वशीकरण-शास्त्र, हर-मेखलादि शास्त्र।
(२६) अन्यतीर्थिक प्रवृत्तानुयोग— अन्यतीर्थिकों द्वारा प्रवर्तित शास्त्र।

देखिए–समवायांग, समवाय २६।

वृहद् वृत्ति (पत्र ६१७) में ये कुछ भिन्न प्रकार से मिलते है।

३६–तीस मोह के स्थानों में (मोहट्ठाणेसु [ख]) :

मोह-कर्म के परमाणु व्यक्ति को मूढ बनाते हैं। उनका संग्रह व्यक्ति अपनी ही दुष्प्रवृत्तियों से करता है। यहाँ महामोह उत्पन्न करने वाली तीस प्रवृत्तियों का उल्लेख है। वे इस प्रकार है—

(१) त्रस-प्राणी को पानी में डुबो कर मारना।
(२) सिर पर चर्म आदि बाँध कर मारना।
(३) हाथ से मुख बन्द कर सिसकते हुए प्राणी को मारना।
(४) मण्डप आदि में मनुष्यों को घेर, वहाँ अग्नि जला, धुंए की घुटन से उन्हें मारना।
(५) संक्लिष्ट चित्त से सिर पर प्रहार करना, उसे फोड डालना।
(६) विश्वासघात कर मारना।
(७) अनाचार को छिपाना, माया को माया से पराजित करना, की हुई प्रतिज्ञाओं को अस्वीकार करना।
(८) अपने द्वारा कृत हत्या आदि महादोष का दूसरे पर आरोप लगाना।

(९) यथार्थ को जानते हुए भी सभा के समक्ष मिश्र-भाषा बोलना—सत्यांश की ओट में बड़े झूठ को छिपाने का यत्न करना और कलह करते ही रहना।

(१०) अपने अधिकारी की स्त्रियों या अर्थ-व्यवस्था को अपने अधीन बना उसे अधिकार और भोग-सामग्री से वंचित कर डालना, रूखे शब्दों में उसकी भर्त्सना करना।

(११) बाल-ब्रह्मचारी न होने पर भी अपने आपको बाल-ब्रह्मचारी कहना।

(१२) अब्रह्मचारी होते हुए भी अपने आपको ब्रह्मचारी कहना।

(१३) जिसके सहारे जीविका चलाए, उसी के धन को हड़पना।

(१४) जिस ऐश्वर्यशाली व्यक्ति या जन-समूह के द्वारा ऐश्वर्य प्राप्त किया, उसी के भोगों का विच्छेद करना।

(१५) सर्पिणी का अपने अण्डों को निगलना, पोषण देने वाले व्यक्ति, सेनापति और प्रशास्ता को मार डालना।

(१६) राष्ट्र-नायक, निगम-नेता (व्यापारी-प्रमुख) सुप्रसिद्ध सेठ को मार डालना।

(१७) जो जनता के लिए द्वीप और त्राण हो, वैसे जन-नेता को मार डालना।

(१८) संयम के लिए तत्पर मुमुक्षु और संयमी साधु को संयम से विमुख करना।

(१९) अनन्त ज्ञानी का अवर्णवाद बोलना—सर्वज्ञता के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करना।

(२०) मोक्ष-मार्ग की निन्दा कर जनता को उससे विमुख करना।

(२१) जिन आचार्य और उपाध्याय से शिक्षा प्राप्त की हो उन्हीं की निन्दा करना।

(२२) आचार्य और उपाध्याय की सेवा और पूजा न करना।

(२३) अबहुश्रुत होते हुए भी अपने आपको बहुश्रुत कहना।

(२४) अतपस्वी होते हुए भी अपने आपको तपस्वी कहना।

(२५) ग्लान साधर्मिक की 'उसने मेरी सेवा नहीं की थी' इस कलुषित भावना से सेवा न करना।

(२६) ज्ञान, दर्शन और चारित्र का विनाश करने वाली कथाओं का बार-बार प्रयोग करना।

(२७) अपने मित्र आदि के लिए बार-बार निमित्त, वशीकरण आदि का प्रयोग करना।

(२८) माननीय या पारलौकिक भोगों की लोगों के सामने निंदा करना और छिपे-छिपे उनका सेवन करते जाना।

(२९) देवताओं की ऋद्धि, द्युति, यश, बल और वीर्य का मखौल करना।

(३०) देव-दर्शन न होने पर भी मुझे देव-दर्शन हो रहा है—ऐसा कहना।

उक्त विवरण समवायांग (समवाय ३०) के आधार पर है। दशाश्रुतस्कन्ध (दशा ९) में प्रथम पाँच स्थान कुछ परिवर्तन के साथ मिलते हैं—

समवाय	दशाश्रुतस्कन्ध
१	१
२	५
३	२
४	३
५	४

श्लोक २०

३७–सिद्धों के इकतीस आदि (अतिशायी) गुणों में (सिद्धाइगुण क) :

सिद्धो के ३१ आदि-गुण इस प्रकार है—

(१) आभिनिवोधिक ज्ञानावरण का क्षय,
(२) श्रुत ज्ञानावरण का क्षय,
(३) अवधि ज्ञानावरण का क्षय,
(४) मन पर्यव ज्ञानावरण का क्षय,
(५) केवल ज्ञानावरण का क्षय,
(६) चक्षु दर्शनावरण का क्षय,
(७) अचक्षु दर्शनावरण का क्षय,
(८) अवधि दर्शनावरण का क्षय,
(९) केवल दर्शनावरण का क्षय,
(१०) निद्रा का क्षय,
(११) निद्रा-निद्रा का क्षय,
(१२) प्रचला का क्षय,
(१३) प्रचला-प्रचला का क्षय,
(१४) स्त्यानर्द्धि का क्षय,
(१५) सातावेदनीय का क्षय,
(१६) असातावेदनीय का क्षय।
(१७) दर्शन-मोहनीय का क्षय,
(१८) चारित्र-मोहनीय का क्षय,
(१९) नैरयिक आयुष्य का क्षय,
(२०) तिर्यञ्च आयुष्य का क्षय,
(२१) मनुष्य आयुष्य का क्षय,
(२२) देव आयुष्य का क्षय,
(२३) उच्च गोत्र का क्षय,
(२४) नीच गोत्र का क्षय,
(२५) शुभ नाम का क्षय,
(२६) अशुभ नाम का क्षय,
(२७) दानान्तराय का क्षय,
(२८) लाभान्तराय का क्षय,
(२९) भोगान्तराय का क्षय,
(३०) उपभोगान्तराय का क्षय और
(३१) वीर्यान्तराय का क्षय।

देखिए—समवायाग, समवाय ३१।

आचाराग में सिद्धो के गुण इस प्रकार बतलाए गए है[1]

पाँच सस्थान से रहित। सस्थान ये है— (१) दीर्घ-ह्रस्व, (२) वृत्त, (३) त्र्यस्र, (४) चतुरस्र और (५) परिमण्डल।
पाँच वर्ण से रहित। वर्ण ये है— (६) कृष्ण, (७) नील, (८) लोहित, (९) हारिद्र और (१०) शुक्ल।
दो गध से रहित। गध ये है— (११) सुरभि गध और (१२) दुरभि गध।
पाँच रस से रहित। रस ये हैं— (१३) तिक्त, (१४) कटुक, (१५) कषाय, (१६) आम्ल और (१७) मधुर।
आठ स्पर्श से रहित। स्पर्श ये है— (१८) कर्कश, (१९) मृदु, (२०) लघु, (२१) गुरु, (२२) शीत, (२३) ऊष्ण, (२४) स्निग्ध, (२५) रुक्ष, (२६) अकाय, (२७) अरूह और (२८) असङ्ग।
तीन वेद से रहित। वेद ये है— (२९) स्त्री वेद, (३०) पुरुष वेद और (३१) नपुसक वेद।

शान्त्याचार्य ने दोनो प्रकार मान्य किए है।[2]

१–आचाराग, १।५।६।१२६-१३४

से ण दीहे, ण हस्से, वट्टे ण।
ण तसे, ण चउरसे, ण परिमडले।
ण किण्हे, ण णीले, ण लोहिए, ण हालिद्दे, ण सुकिल्ले।
ण सुब्भिगधे, ण दुरभिगधे।
ण तित्ते, ण कडुए, ण कसाए, ण अबिले, ण महुरे।
ण कक्खडे, ण मउए, ण गरुए।
ण लहुए, ण सीए, ण उण्हे, ण णिद्धे, ण लुक्खे।
ण काऊ। ण रुहे। ण सगे।
ण इत्थी, ण पुरिसे, ण अन्नहा।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ६११।

३८—बत्तीस योग-संग्रहों···में (जोगेसु क) :

मन, वचन और काया के व्यापार को 'योग' कहते हैं। यहाँ प्रशस्त योगो का ही ग्रहण किया गया है। योग-सग्रह का अर्थ है 'प्रशस्त योगो का एकत्रीकरण'। वे बत्तीस हैं—

(१) आलोचना—शिष्य द्वारा गुरु के पास अपने दोषो को निवेदन करना।
(२) शिष्य द्वारा आलोचित दोषो को प्रकट न करना।
(३) आपत्ति में दृढ-धर्मता।
(४) अनिश्रितोपधान—दूसरो की सहायता के विना ही तप-कर्म करना।
(५) शिक्षा—शास्त्रो का पठन-पाठन।
(६) निष्प्रतिकर्मता—शरीर की सार सभाल नही करना।
(७) अज्ञातता—अपनी तपस्या आदि को गुप्त रखना।
(८) अलोभता।
(९) तितिक्षा—परीसह आदि पर विजय।
(१०) आर्जव—ऋजुभाव।
(११) शुचि—सत्य और सयम।
(१२) सम्यग्-दृष्टि—सम्यग्-दर्शन की शुद्धि।
(१३) समाधि—चित्त-स्वास्थ्य।
(१४) आचारोपगत—माया-रहित होना।
(१५) विनयोपगत—मान-रहित होना।
(१६) धृतिमति—अदीनता।
(१७) सवेग—मोक्ष की अभिलाषा।
(१८) प्रणिधि—माया-शल्य से रहित होना।
(१९) सुविधि—सद्-अनुष्ठान।
(२०) सवर—आश्रव-निरोध।
(२१) आत्मदोषोपसहार—अपने दोषो का निरोध।
(२२) सर्वकाम-विरक्तता—समस्त विषयो से विमुखता।
(२३) प्रत्याख्यान—मूल गुण विषयक।
(२४) प्रत्याख्यान—उत्तर गुण विषयक।
(२५) व्युत्सर्ग—कायोत्सर्ग।
(२६) अप्रमाद।
(२७) लवालव—क्षण-क्षण सामाचारी का पालन करना।
(२८) ध्यान-सवर-योग।
(२९) मारणान्तिक उदय—मरण के समय अक्षुब्ध रहना।
(३०) सग का त्याग—ज्ञ-परिज्ञा और प्रत्याख्यान-परिज्ञा से त्याग करना।
(३१) प्रायश्चित्त करना और
(३२) मारणान्तिक आराधना—शरीर और कषाय को क्षीण करने के लिए तपस्या करना।

देखिए—समवायाग, समवाय ३२।

३९–तेतीस आशातनाओं में (तेत्तीसासायणासु ख) :

आशातना का अर्थ है—अविनय, अशिष्टता या अभद्र व्यवहार। दैनिक व्यवहारों के आधार पर उसके तेंतीस विभाग किए गए हैं—

(१) छोटे साधु का बड़े साधु के आगे चलना।
(२) छोटे साधु का बड़े साधु के समश्रेणि में (बराबर) चलना।
(३) छोटे साधु का बड़े साधु से सट कर चलना।
(४) छोटे साधु का बड़े साधु के आगे खड़ा रहना।
(५) छोटे साधु का बड़े साधु के समश्रेणि में खड़ा रहना।
(६) छोटे साधु का बड़े साधु से सट कर खड़ा रहना।
(७) छोटे साधु का बड़े साधु के आगे बैठना।
(८) छोटे साधु का बड़े साधु के समश्रेणि में बैठना।
(९) छोटे साधु का बड़े साधु से सट कर बैठना।
(१०) छोटे साधु का बड़े साधु से पहले (एक जल-पात्र हो, उस स्थिति में) आचमन करना—शुचि लेना।
(११) छोटे साधु द्वारा स्थान में आकर बड़े साधु से पहले गमनागमन की आलोचना करना।
(१२) जिस व्यक्ति के साथ बड़े साधु को वार्तालाप करना है, उसके साथ छोटे साधु का पहले ही वार्तालाप करना।
(१३) बड़े साधु द्वारा यह पूछने पर कि कौन जागता है, कौन सो रहा है ? छोटे साधु का जागते हुए भी उत्तर नहीं देना।
(१४) गृहस्थ के घर से भिक्षा ला पहले छोटे साधु के पास आलोचना करना—कहाँ से क्या, कैसे प्राप्त हुआ—यह बतलाना। फिर बड़े साधु के पास आलोचना करना।
(१५) गृहस्थ के घर से भिक्षा ला पहले छोटे साधु को दिखाना फिर बड़े साधु को।
(१६) गृहस्थ के घर से भिक्षा ला पहले छोटे साधु को निमन्त्रित करना फिर बड़े साधु को।
(१७) गृहस्थ के घर से भिक्षा ला बड़े साधु को पूछे बिना अपने प्रिय-प्रिय साधुओं को प्रचुर-प्रचुर दे देना।
(१८) गृहस्थ के घर से भिक्षा ला बड़े साधु के साथ भोजन करते हुए सरस आहार खाने की उतावल करना।
(१९) बड़े साधु द्वारा आमन्त्रित होने पर सुना अनसुना करना।
(२०) बड़े साधु द्वारा आमन्त्रित होने पर अपने स्थान पर बैठे हुए उत्तर देना।
(२१) बड़े साधु को अनादर-भाव से 'क्या कह रहे हो'—इस प्रकार कहना।
(२२) बड़े साधु को तू कहना।
(२३) बड़े साधु को या उसके समक्ष अन्य किसी को रूखे शब्द से आमन्त्रित करना या जोर-जोर से बोलना।
(२४) बड़े साधु की—उसी का कोई शब्द पकड़—अवज्ञा करना।
(२५) बड़ा साधु व्याख्यान कर रहा हो, उस समय 'यह ऐसे नहीं किन्तु ऐसे है'—इस प्रकार कहना।
(२६) बड़ा साधु व्याख्यान कर रहा हो, उस समय 'आप भूल रहे हैं'—इस प्रकार कहना।
(२७) बड़ा साधु व्याख्यान कर रहा हो, उस समय अन्यमनस्क होना।
(२८) बड़ा साधु व्याख्यान कर रहा हो, उस समय बीच में ही परिषद् को भंग करना।
(२९) बड़ा साधु व्याख्यान कर रहा हो, उस समय बीच में ही कथा का विच्छेद करना—विघ्न उपस्थित करना।
(३०) बड़ा साधु व्याख्यान कर रहा हो, उस समय उसी विषय में अपनी व्याख्या देने का बार-बार प्रयत्न करना।
(३१) बड़े साधु के उपकरणों के पैर लग जाने पर विनम्रता पूर्वक क्षमा-याचना न करना।
(३२) बड़े साधु के बिछौने पर खड़े रहना, बैठना या सोना।
(३३) बड़े साधु से ऊँचे या बराबर के आसन पर खड़े रहना, बैठना या सोना।

आशातनाओ का यह विवरण दशाश्रुतस्कन्ध (दशा ३) के आधार पर दिया गया है। समवायाग (समवाय ३३) मे ये कुछ क्रम-भेद से प्राप्त है। आवश्यक (चतुर्थ आवश्यक) में ३३ आशातनाएँ भिन्न प्रकार से प्राप्त हैं—

(१) अर्हन्तो की आशातना।
(२) सिद्धो की आशातना।
(३) आचार्यो की आशातना।
(४) उपाध्यायो की आशातना।
(५) साधुओ की आशातना।
(६) साध्वियों की आशातना।
(७) श्रावको की आशातना।
(८) श्राविकाओ की आशातना।
(९) देवो की आशातना।
(१०) देवियो की आशातना।
(११) इहलोक की आशातना।
(१२) परलोक की आशातना।
(१३) केवलीप्रज्ञप्त धर्म की आशातना।
(१४) देव, मनुष्य और असुर सहित लोक की आशातना।
(१५) सर्व प्राण, भूत, जीव और सत्वो की आशातना।
(१६) काल की आशातना।
(१७) श्रुत की आशातना।
(१८) श्रुत-देवता की आशातना।
(१९) वाचनाचार्य की आशातना।
(२०) व्याविद्ध—वर्ण-विन्यास मे विपर्यास करना—कही के अक्षरों को नहीं बोलना।[1]
(२१) व्यत्याम्रेडित—उच्चार्यमाण पाठ में दूसरे पाठो का मिश्रण करना।[2]
(२२) हीनाक्षर—हीन अक्षरो का उच्चारण करना।
(२३) अत्यक्षर—अधिक अक्षरो का उच्चारण करना।
(२४) पदहीन—हीन पदो का उच्चारण करना।
(२५) विनयहीन—विराम-रहित उच्चारण करना।
(२६) घोषहीन—उदात्त आदि घोष-रहित उच्चारण करना।
(२७) योगहीन—सम्बन्ध-रहित उच्चारण करना।
(२८) सुष्ठुदत्त—योग्यता से अधिक ज्ञान देना।
(२९) दुष्ठु-प्रतीच्छित—ज्ञान को सम्यग्भाव से ग्रहण करना।
(३०) अकाल में स्वाध्याय करना।
(३१) काल मे स्वाध्यायन करना।
(३२) अस्वाध्याय की स्थिति में स्वाध्याय करना।
(३३) स्वाध्याय की स्थिति में स्वाध्याय न करना।

१–विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ८५६ :
वाइद्धक्खरमेय, वच्चासियवण्णविण्णास।

२–वही, गाथा ८५८
विविहसत्थपल्लवविमिस्स।

अध्ययन ३२

पमायट्ठाणं

श्लोक १

१–(अच्चन्तकालस्स समूलगस्स क) :

'अच्चन्तकालस्स'—अनादि-कालीन। अन्त का अर्थ है 'छोर'। वस्तु के दो छोर होते हैं—आरम्भ और समाप्ति। यहाँ आरम्भ क्षण का ग्रहण किया गया है। इसका शब्दार्थ है—जिसका आरम्भ न हो वैसा काल अर्थात् अनादि-काल।[1]

'समूलगस्स'—मूल-सहित। दुःख का मूल कषाय और अविरति है। इसीलिए उसे 'समूलक' अर्थात् कषाय अविरति मूलक कहा गया है।[2]

श्लोक ३

२–गुरु और वृद्धों की (गुरुविद्ध क) :

गुरु का अर्थ है 'शास्त्र को यथावत् बताने वाला'। वृद्ध तीन प्रकार के होते हैं (१) श्रुत-वृद्ध, (२) पर्याय-वृद्ध और (३) वयो-वृद्ध।[3]

श्लोक ५

३–श्लोक ५ :

मिलाइए—दशवैकालिक चूलिका, २।१०।

श्लोक १०

४–श्लोक १० :

इस श्लोक में बताया गया है कि ब्रह्मचारी को घी, दूध, दही आदि रसों का अतिमात्रा में सेवन नहीं करना चाहिए। यहाँ रस-सेवन का आत्यन्तिक निषेध नहीं है, किन्तु अतिमात्रा में उनके सेवन का निषेध है।

जैन-आगम भोजन के सम्बन्ध में ब्रह्मचारी को जो निर्देश देते हैं, उनमें दो ये है—

(१) वह रसों को अतिमात्रा में न खाए और

(२) वह रसों को बार-बार या प्रतिदिन न खाए।

इसका फलित यह है कि वह वायु आदि के क्षोभ का निवारण करने के लिए रसों का सेवन कर सकता है। अकारण उनका सेवन नहीं कर सकता।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ६२१

अन्तमतिक्रान्तोऽत्यन्तो, अनादि कालो यस्य सोऽयमत्यन्तकालस्तस्य।

२–वही, पत्र ६२१

सह मूलेन—कषायाविरतिरूपेण वर्त्तत इति समूलक (क) प्राग्वत्तस्य, उक्तंहि— "मूलं संसारस्स उ हुंति कसाया अविरती य"।

३–वही, पत्र ६२२

गुरवो—यथावच्छास्त्राभिधायका वृद्धाश्च श्रुतपर्यायादिवृद्धा।

एक मुनि ने अपने प्रश्नकर्त्ता को यही बताया था—"मैं अति आहार नही करता हूं, अतिस्निग्ध आहार मे विषय उद्दीप्त होते हैं, इसलिए उनका भी सेवन नही करता हूँ। संयमी जीवन की यात्रा चलाने के लिए खाता हूं, वह भी अतिमात्रा में नही खाता।"[1]

दूध आदि का सर्वथा सेवन न करने से शरीर शुष्क हो जाता है, बल घटता है और ज्ञान, ध्यान या स्वाध्याय की यथेष्ट प्रवृत्ति नही हो सकती। उनका प्रतिदिन व अतिमात्रा में सेवन करने से विषय की वृद्धि होती है, इसलिए आचार्य को चाहिए कि वह अपने शिष्यों को कभी स्निग्ध और कभी रूखा आहार दे।

श्लोक ३७

५–(मिगे ग) :

'मृग' शब्द के अनेक अर्थ है—पशु, मृगशीर्ष नक्षत्र, हाथी की एक जाति, कुरग आदि। यहाँ मृग का अर्थ 'पशु' है।[2]

श्लोक ५०

६–औषधियों (ओसहि ग) :

वृत्तिकार ने औषधि को 'नागदमनी' आदि औषधियो का सूचक माना है।[3]

श्लोक १०७

७–अपने रागद्वेषात्मक संकल्प करता है (ससंकप्पविकप्पणासु क) :

'संकल्प'—में कल्प शब्द का अर्थ 'अध्यवसाय' है और 'विकल्प' मे कल्प शब्द का अर्थ 'छेदन' है। कल्प शब्द के अनेक अर्थ हैं—सामर्थ्य, वर्णन, छेदन, करण, औपम्य और अधिवास।[4]

८–समता (समयं ख) :

समता का अर्थ है—'मध्यस्थ भाव' अथवा 'ऐसी अवस्था जिसमें अध्यवसायो की तुल्यता रहती हो'। साथ-साथ इसके दो अर्थ और हैं—'समक'—एक साथ, 'समय'—सिद्धान्त।[5]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ६२५

'रसा' क्षीरादिविकृतय 'प्रकामम्' अत्यर्थ 'न निषेवितव्या' नोपभोक्तव्या, प्रकामग्रहण तु वातादिक्षोभनिवारणाय रसा अपि निषेवितव्या एव, निष्कारणनिषेवणस्य तु निषेध इति ख्यापनार्थम्, उक्त च—

"अच्चाहारो न सहे, अतिनिद्धेण विसया उदिज्जति।
जायामायाहारो, तपि पगाम ण भुजामि॥"

२–वही, पत्र ६३४

मृग सर्वोऽपि पशुरुच्यते, यदुक्तम्—"मृगशीर्षे हस्तिजातौ, मृग पशुकुरङ्गयो।"

३–वही, पत्र ६३४

तयौषधयो—नागदमन्यादिका।

४–वही, पत्र ६३८

स्वसङ्कल्पानाम्—आत्मसम्बन्धिना रागाद्यध्यवसायाना विकल्पना—विशेषेण छेदन स्वसङ्कल्पविकल्पना, दृश्यते हि छेदवाच्यपि कल्पशब्द, यथोक्तम्—

"सामर्थ्ये वर्णनायां च, छेदने करणे तथा।
औपम्ये चाधिवासे च, कल्पशब्द विदुर्बुधा॥"

५–वही, पत्र ६३७-६३८।

अध्ययन ३३

कम्मपयडी

श्लोक ११

१–श्लोक ११ :

चारित्र-मोहनीय कर्म के दो रूप है—(१) कषाय-मोहनीय और (२) नो-कषाय-मोहनीय। कषाय-मोहनीय कर्म के १६ प्रकार हैं—

अनन्तानुबन्धी— (१) क्रोध, (२) मान, (३) माया और (४) लोभ।
अप्रत्याख्यानी— (५) क्रोध, (६) मान, (७) माया और (८) लोभ।
प्रत्याख्यानी— (९) क्रोध, (१०) मान, (११) माया और (१२) लोभ।
सज्वलन— (१३) क्रोध, (१४) मान, (१५) माया और (१६) लोभ।

जो साधन मूलभूत कषायो को उत्तेजित करते हैं, वे 'नो-कषाय' कहलाते हैं। उनकी गणना दो प्रकार से हुई है। एक गणना के अनुसार वे नौ है—(१) हास्य, (२) रति, (३) अरति, (४) भय, (५) शोक, (६) जुगुप्सा, (७) पुरुष-वेद, (८) स्त्री-वेद और (९) नपुसक-वेद। दूसरी गणना के अनुसार वे सात हैं—(१) हास्य, (२) रति, (३) अरति, (४) भय, (५) शोक, (६) जुगुप्सा और (७) वेद।[1]

श्लोक १४

२–श्लोक १४ :

गोत्र का अर्थ है 'कुलक्रमागत आचरण'। उच्च आचरण को 'उच्चगोत्र कर्म' और नीच आचरण को 'नीचगोत्र कर्म' कहा जाता है।[2] वे आठ प्रकार के हैं। ये प्रकार उसके बधनों के आधार पर माने गए हैं।

उच्च गोत्र कर्म बध के आठ कारण हैं—

(१) जाति का अमद, (२) कुल का अमद, (३) बल का अमद, (४) तपस्या का अमद,
(५) ऐश्वर्य का अमद, (६) श्रुत का अमद, (७) लाभ का अमद और (८) रूप का अमद।

नीच गोत्र कर्म वन्ध के आठ कारण है—

(१) जाति का मद, (२) कुल का मद, (३) वल का मद, (४) तपस्या का मद,
(५) ऐश्वर्य का मद, (६) श्रुत का मद, (७) लाभ का मद और (८) रूप का मद।

१–वृहद् वृत्ति, पत्र ६४३।

२–गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, १३

सताणकमेणागयजीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा।
उच्चं णीच चरण उच्च णीच हवे गोद॥

श्लोक १५

३—भोगान्तराय, उपभोगान्तराय (भोगे य [क], उवभोगे [ख]) :

जो पदार्थ एक बार काम में आते है, वे 'भोग' कहलाते है । जैसे—पुष्प, आहार आदि ।

जो बार-बार काम में आते है, वे 'उपभोग' कहलाते है । जैसे—भवन, स्त्री आदि ।[1]

श्लोक १७

४—श्लोक १७ :

इस श्लोक में एक समय मे बधने वाले कर्म-स्कन्धों का प्रदेशाग्र (परमाणु-परिमाण) बतलाया गया है । आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर अनन्त-अनन्त कर्म-वर्गणाऐं चिपकी रहती हैं । किन्तु जो कर्म-वर्गणाऐं एक क्षण में आत्म-प्रदेशों से अश्लिष्ट होती है, उनका परिमाण यहाँ विवक्षित है ।

ग्रन्थिक-सत्त्व का अर्थ है 'अभव्य जीव' । इनकी राग-द्वेषात्मक ग्रन्थि अभेद्य होती है, इसलिए इन्हें 'ग्रन्थिक' कहा जाता है । सिद्ध अर्थात् मुक्त जीव । ग्रन्थिक जीव जघन्य-युक्तानन्त (अनन्त का चौथा प्रकार) होते हैं और सिद्ध अनन्तानन्त होते हैं । एक समय में बधने वाले कर्म-परमाणु ग्रन्थिक जीवों से अनन्त गुण अधिक और सिद्धो के अनन्तवें भाग जितने होते हैं । गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) में इसकी सवादी गाथा जो है, वह इस प्रकार है—

> सिद्धाणतियभाग, अभव्वसिद्धादणतगुणमेव ।
> समयपबद्ध बधदि, जोगवसादो दु विसरित्थ ॥४॥

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ६४४-६४५
भुज्यते—सकृदुपयुज्यत इति भोग —सकृद्भोग्य पुष्पाहारादिविषयस्तत्र च, तथा उपेति—अभ्यधिक पुन पुनरुपभुज्यमानतया भुज्यत इत्युपभोग —पुन पुनरुपभोग्यभवनाङ्गनादिविषय', उक्तं हि—
"सति भुज्जइत्ति भोगो, सो पुण आहारपुप्फमाईओ ।
उवभोगो उ पुणो पुण, उवभुज्जइ व भवणवणियाई ॥"

अध्ययन ३४

लेसज्झयणं

श्लोक ४५-४६

१–श्लोक ४५-४६ :

४५वें श्लोक में शुक्ल-लेश्या का वर्जन और ४६वें श्लोक में शुक्ल-लेश्या का प्रतिपादन—दोनो केवली की अपेक्षा से हैं।

श्लोक ५२

२–श्लोक ५२ :

यहाँ मूलपाठ मे श्लोक-व्यत्यय है। ५२वें के स्थान पर ५३वाँ और ५३वें के स्थान पर ५२वाँ श्लोक होना चाहिए। क्योकि ५१वें श्लोक में आगमकार भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवो की तेजोलेश्या के कथन की प्रतिज्ञा करते हैं, किन्तु ५२वें श्लोक में निरूपित तेजोलेश्या केवल वैमानिक देवों की अपेक्षा से है, जबकि ५३वें श्लोक में प्रतिपादित लेश्या का कथन चारो प्रकार के देवो की अपेक्षा से है।

अध्ययन ३५

अणगारमग्गगई

श्लोक ४

१—(सकवाडं ग) :

महात्मा बुद्ध ने किवाड वाले कोठो मे न रहने को अपनी पूजा का कारण मानने से इन्कार किया है। उन्होने कहा है—"उदायी ! '० जैसे तैसे शयनासन से सन्तुष्ट, ० सन्तुष्टता-प्रशसक ०' इससे यदि मुझे श्रावक ० पूजते ० , तो उदायी ! मेरे श्रावक वृक्ष-मूलिक (=वृक्ष के नीचे सदा रहने वाले), अब्भोकासिक (=अभ्यवकाशिक=सदा चौडे मे रहने वाले) भी हैं, वह आठ मास (वर्षा के चार मास छोड) छत के नीचे नही आते। मैं तो उदायी ! कभी-कभी लिपे-पोते वायु-रहित, किवाड खिडकी-बन्द कोठो (=कूटागारो) मे भी विहरता हूँ।०"[१]

श्लोक ६

२—श्लोक ६ :

बौद्ध-भिक्षुओ के लिए तेरह धुताङ्गो का विधान है। उनमे नौवाँ धुताङ्ग वृक्ष-मूलिकाग और ग्यारहवाँ धुताङ्ग श्मशानिकाग है। विशुद्धि मार्ग में कहा है—

वृक्ष-मूलिकाग भी— 'छाये हुए को त्यागता हू, वृक्ष के नीचे रहने को ग्रहण करता हूँ" इनमे से किसी एक वाक्य से ग्रहण किया होता है। उस वृक्षमूलिक को (सघ—) सीमा के वृक्ष, (देवी-देवताओ के) चैत्य पर के वृक्ष, गोद के पेड, फले हुए पेड, चमगीदडो वाला पेड, खोखड वाला पेट, विहार के बीच खडे पेड—इन पेडो को छोड कर विहार से दूर वाले पेड को ग्रहण करना चाहिए। यह इसका विधान है।

प्रभेद से यह भी तीन प्रकार का होता है। उनमे उत्कृष्ट रुचि के अनुसार पेड ग्रहण करके साफ-सुथरा नही करा सकता। गिरे हुए पत्तो को पैरो से हटा कर उसे रहना चाहिए। मध्यम उस स्थान को आए हुए आदमियो से साफ-सुथरा करा सकता है। मृदु को मठ के श्रामणेरो को बुला कर साफ करवा, बराबर करके बालू छिटवा, चहारदीवारी से घेरा बनवा कर, दरवाजा लगवा रहना चाहिए। पूजा के दिन वृक्षमूलिक को वहाँ न बैठ कर दूसरी जगह आड मे बैठना चाहिए। इन तीनो का धुताग छाये हुए (स्थान) मे वास करने के क्षण टूट जाता है। "जान कर छाये हुए (स्थान) मे अरुणोदय उगाने पर" अगुत्तर-भाणक कहते है। यह भेद (=विनाश) है।

यह गुण है—"वृक्ष मूल वाले शयनासन के सहारे प्रव्रज्या है।" इस वाक्य से निश्चय के अनुसार प्रतिपत्ति का होना। "वे थोडे किन्तु सुलभ और निर्दोष है।" भगवान् द्वारा प्रशसित होने का प्रत्यय, हर समय पेड की पत्तियो के विकारो को देखने से अनित्य का ख्याल पैदा होना, शयनासन की कजूसी और (नाना) काम मे जुटे रहने का अभाव, देवताओ के साथ रहना, अल्पेच्छता आदि के अनुसार वृत्ति।

वण्णितो बुद्धसेट्ठेन निस्सयोति च भासितो।
निवासो पविवित्तस्स रुक्खमूल समो कुतो॥

[श्रेष्ठ भगवान् बुद्ध द्वारा प्रशसित और निश्रय कहे गए एकान्त निवास के लिए वृक्षमूल के समान दूसरा क्या है ?]

आवासमच्छेर हरे देवता परिपालिते।
पविवित्ते वसन्तो हि रुक्खमूलम्हि सुब्बतो॥
अभिरत्तानि नीलानि पण्डूनि पतितानि च।
पस्सन्तो तरुपण्णानि निच्चसञ्ञं पनूदति॥

[मठ 'सम्बन्धी) कजूसी दूर हो जाती है। देवताओं द्वारा प्रतिपालित एकान्त मे वृक्ष के नीचे रहता हुआ, शीलवान् (भिक्षु) लाल, नीले और पीले गिरे हुए, पेड के पत्तों को देखते, नित्य (होने) के ख्याल को छोड देता है।]

१—मज्झिमनिकाय, २।३।७, पृ० ३०७।

तस्मा हि बुद्धदायज्ज भावनाभिरतालय।
विवित्त नातिमञ्जेय्य रुक्खमूल विचक्खणो ॥

[इसलिए बुद्ध-दायाद, भावना मे लगे रहने के आलय और एकात वृक्षमूल की बुद्धिमान (भिक्षु) अवहेलना न करे]।[1]

निदान कथा (जातकट्ठ कथा, पृष्ठ १३, १४) मे वृक्ष-मूल मे रहने के दस गुण बतलाए हैं।

श्मशानिकाग भी—"श्मशान को नही त्यागूँगा, श्मशानिकाग को ग्रहण करता हूँ", इनमे से किसी एक वाक्य से ग्रहण किया होता है। उस श्मशानिक को, जो कि आदमी गाँव बसाते हुए "यह श्मशान है" मानते हैं, वहाँ नही रहना चाहिए। क्योकि बिना मुर्दा जलाया हुआ (स्थान) श्मशान नही होता। जलाने के समय से लेकर यदि बारह वर्ष भी छोडा गया रहता है, तो (वह) श्मशान ही है।

उसमे रहनेवाले को चक्रमण, मण्डप आदि बनवा, चारपाई-चौकी बिछा कर, पीने के लिए पानी रख धर्म बांचते हुए नही रहना चाहिए। यह धुताग बहुत कठिन है। इसलिए उत्पन्न उपद्रव को मिटाने के लिए सघ-स्थविर (=सघ के बूढे भिक्षु) या राजकर्मचारी को जना कर अप्रमाद के साथ रहना चाहिए। चक्रमण करते समय, आधी आँख से मुर्दा-घाटी (=मुर्दा जलाने के स्थान) को देखते हुए चक्रमण करना चाहिए। श्मशान मे जाते हुए भी महामार्ग से उतरकर, बे-राह जाना चाहिए। दिन मे ही आलम्बन को भलीभाँति देखकर (मन मे) बैठा लेना चाहिए। इस प्रकार (करने से) उसके लिए वह रात्रि भयानक न होगी। अमनुष्यो के शोर करके घूमते हुए भी किसी चीज से मारना नही चाहिए। श्मशान नित्य जाना चाहिए। (रात्री के) बिचले प्रहर को श्मशान मे बिता कर पिछले पहर मे लौटना चाहिए।" ऐसा अगुत्तर भाणक कहते हैं। अमनुष्यो के प्रिय तिल की पिट्ठी (=तिल का कसार), उर्द से मिलाकर बनाया भात (=खिचडी), मछली, मांस, दूध, तेल, गुड आदि खाद्य भोज्य को नही खाना चाहिए। (लोगों के) घरो मे नही जाना चाहिए। यह इसका विधान है।

प्रभेद से यह भी तीन प्रकार का होता है उत्कृष्ट को जहाँ हमेशा मुर्दे जलाए जाते है, हमेशा मुर्दे पडे रहते है, हमेशा रोना-पीटना (लगा) रहता है, वही बसना चाहिए। मध्यम के लिए तीनो में से एक के भी होने पर ठीक है। मृदु के लिए उक्त प्रकार से श्मशान को पाने मात्र पर। इन तीनों का भी धुताग अ-श्मशान (=जो श्मशान न हो) में वास करने से टूट जाता है। 'श्मशान को नहीं जाने के दिन' (ऐसा) अगुत्तर-भाणक कहते हैं। यह भेद (=विनाश) है।

यह गुण है—मरने का ख्याल बने रहना, अप्रमाद के साथ विहरना, अशुभ निमित्त का लाभ, कामराग का दूरीकरण, हमेशा शरीर के स्वभाव को देखना, सवेग की अधिकता, आरोग्यता, आदि घमण्डो का त्याग, भय और भयानकता की सहनशीलता, अमनुष्यो का गौरवनीय होना, अल्पेच्छ आदि के अनुसार वृत्ति का होना।

सोसानिक हि मरणानुसतिप्पभावा।
निद्दागतम्पि न फुसन्ति पमाददोसा॥
सम्पस्सतो च कुणपानि बहूनि तस्स।
कामानुराग वसगम्पि न होति चित्त॥

[श्मशानिक को मरणानुस्मृति के प्रभाव से सोते हुए भी प्रमाद से प्राप्त होने वाले दोष नही छू पाते और बहुत से मुर्दों को देखते हुए, उसका चित्त कामराग के भी वशीभूत नही होता।]

सवेगमेति विपुल न मद उपेति।
सम्मा अयो घटति निब्बुतिमेसमानो॥
सोसानिकङ्गमिति नेकगुणावहत्ता।
निब्बाननिन्न हदयेन निसेवितब्ब॥

[बहुत संवेग उत्पन्न होता है। घमण्ड नही आता। वह शान्ति (=निर्वाण) को खोजते हुए भलीभाँति उद्योग करता है, इसलिए अनेक गुणों को लाने वाले श्मशानिकाग का निर्वाण की ओर झुके हुए हृदय से सेवा करना चाहिए]।[2]

१—विशुद्धि मार्ग, भाग १, पृ० ७३-७४।
२-वही, भाग १, पृ० ७५-७६।

अध्ययन ३६

जीवाजीवविभत्ती

श्लोक २

१–यह लोक जीव और अजीवमय है (जीवा चेव अजीवा य क, एस लोए वियाहिए ख) :

जैन-आगमों में 'लोक' की परिभाषा कई प्रकार से मिलती है। धर्मास्तिकाय लोक है। लोक पञ्चास्तिकायमय है। जो आकाश षड्-द्रव्यात्मक है, वह लोक है। यहाँ जीव और अजीव को लोक कहा गया है। इन सब में कोई विरोध नहीं है। केवल अपेक्षा-भेद से इनका प्रतिपादन हुआ है। धर्म द्रव्य लोक-परिमित है इसलिए उसे लोक कहा गया है। काल समूचे लोक में व्याप्त नहीं अथवा वह वास्तविक द्रव्य नहीं, इसलिए लोक को पञ्चास्तिकायमय बताया गया है।

सब द्रव्य छह है। उनमें आकाश सब का आधार है। इसलिए उसके आश्रय पर ही दो विभाग किए गए है—(१) लोकाकाश और (२) अलोकाकाश। अलोकाकाश में आकाश के सिवाय कुछ भी नहीं। लोकाकाश में सभी द्रव्य हैं। व्यवहारिक काल सिर्फ मनुष्य लोक में है किन्तु वह है लोक में ही, इसलिए 'अशस्यापि क्वचित् पूर्णत्वेन व्यपदेश' के अनुसार लोक को षड्द्रव्यात्मक मानना ही युक्ति-सिद्ध है। कहा भी है—'द्रव्याणि षट् प्रतीतानि, द्रव्य-लोक स उच्यते।' सक्षिप्त दृष्टि के अनुसार जहाँ पदार्थ को चेतन और अचेतन उभयरूप माना गया है वहाँ लोक का भी चेतनाचेतनात्मक स्वरूप बताया गया है।

२–जहाँ अजीव का एक देश—आकाश ही है, उसे अलोक कहा गया है। (अजीवदेसमागासे ग, अलोए से वियाहिए घ) :

अजीव के चार भेद हैं—(१) धर्मास्तिकाय, (२) अधर्मास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय और (४) पुद्गलास्तिकाय। अलोक में जीव तो होते ही नहीं, अजीव में भी केवल आकाश होता है। इसलिए अलोक को आकाशमय कहा गया है। इसी आशय से बृहद् वृत्ति (पत्र ६७१) में कहा है—

> धर्मादीना वृत्तिर्द्रव्याणा भवति यत्र तत् क्षेत्रम्।
> तैर्द्रव्यै सह लोकस्तद् विपरीत ह्यलोकाख्यम्॥

जहाँ धर्मास्तिकाय आदि छहों द्रव्य होते हैं वह लोक है। जो इससे विपरीत केवल आकाशमय है, वह अलोक है।

श्लोक ३

३–श्लोक ३ :

भगवान् महावीर का दर्शन अनेकान्त-दर्शन है। अनेकात का अर्थ है 'वस्तु में अनन्त स्वभावो का होना'। सारे स्वभाव अपनी-अपनी दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न है। जितने स्वभाव है उतने ही कथन-प्रकार हैं। अत उनका एक साथ कथन असभव है। भगवान् ने प्रमुख रूप से पदार्थ-ज्ञान की चार दृष्टियाँ दीं—(१) द्रव्य, (२) क्षेत्र, (३) काल और (४) भाव।

(१) द्रव्य-दृष्टि— इससे द्रव्य की व्यक्तियों का परिमाण जाना जाता है।

(२) क्षेत्र-दृष्टि— इससे वस्तु कहाँ पाई जाती है, यह जाना जाता है।

(३) काल-दृष्टि— इससे द्रव्य की काल मर्यादा जानी जाती है।

(४) भाव-दृष्टि— इससे द्रव्य के पर्याय—रूपपरिवर्तन—जाने जाते हैं।

चार दृष्टियो से द्रव्य विचार—

द्रव्य	द्रव्य-दृष्टि	क्षेत्र-दृष्टि	काल-दृष्टि	भाव-दृष्टि
धर्म—	एक	लोक-व्यापी	अनादि-अनन्त	अरूपी
अधर्म—	एक	लोक-व्यापी	अनादि-अनन्त	अरूपी
आकाश—	एक	लोक-अलोक-व्यापी	अनादि-अनन्त	अरूपी
काल—	अनन्त	समय-क्षेत्र-व्यापी	अनादि-अनन्त	अरूपी
पुद्गल—	अनन्त	लोक-व्यापी	अनादि-अनन्त	रूपी
जीव—	अनन्त	लोक-व्यापी	अनादि-अन्त	अरूपी

श्लोक ५

४–श्लोक ५ :

पदार्थ दो रूप से ग्राह्य होता है—खंड-रूप से और अखंड-रूप से। वस्तु के सबसे छोटे भाग को, जिसके फिर दो टुकडे न हो सकें, परमाणु कहते है। परमाणु सूक्ष्म और किसी एक रस, गंध, वर्ण तथा दो स्पर्शो सहित होता है। वे परमाणु जब एकत्रित हो जाते है तब उन्हें स्कन्ध कहा जाता है। दो परमाणुओं से बनने वाले स्कंध को द्वि-प्रदेशी स्कंध कहते है। इसी प्रकार स्कंध के त्रि-प्रदेशी, दश-प्रदेशी, संख्येय-प्रदेशी, असंख्येय-प्रदेशी, अनन्त-प्रदेशी आदि अनंत भेद होते हैं। स्कंध के बुद्धि-कल्पित अंश को देश कहते है। वह जब तक स्कन्ध से संलग्न रहता है तब तक देश कहलाता है। अलग हो जाने के बाद वह स्वयं स्कंध बन जाता है। स्कंध के उस छोटे से छोटे भाव को प्रदेश कहते हैं, जिसके फिर दो भाग न हो सकें। प्रदेश भी तब तक ही प्रदेश कहलाता है जब तक वह स्कंध के साथ जुड़ा हुआ रहता है। अलग हो जाने के बाद वह परमाणु कहलाता है।

धर्मास्तिकाय आदि चार अस्तिकायो के स्कंध देश, तथा प्रदेश—ये तीन ही भेद होते है। केवल पुद्गलास्तिकाय के ही स्कंध, देश, प्रदेश तथा परमाणु —ये चार भेद होते है। ये रूपी है। धर्मास्तिकाय आदि की स्वरूप-चर्चा उत्तराध्ययन के अठाईसवें अध्ययन के आठवें और नौवें श्लोक की टिप्पणियो में की गई है।

श्लोक ६

५–(अद्धासमए ग) :

स्थानांग में काल चार प्रकार का बताया गया है। वहाँ एक नाम 'अद्धा-काल' भी आया है। वृत्तिकार ने बताया है कि काल शब्द, रंग, प्रमाण, काल आदि कई अर्थो में प्रयुक्त होता है। समय-वाची काल शब्द को रंग और प्रमाण-वाची काल शब्द से पृथक् करने के लिए उसके पीछे 'अद्धा' विशेषण जोडा गया है।[1] यहाँ उसी अर्थ में अद्धा समय है।

यह सूर्य की गति से सम्बद्ध रहता है। दिन-रात आदि का काल-मान केवल मनुष्य-क्षेत्र में ही होता है। उससे बाहर ये भेद नहीं होते। अत अद्धा-काल केवल मनुष्य-क्षेत्र (अढाई द्वीप) में ही होता है।[2]

१–स्थानांग, ४।१।२६४ वृत्ति पत्र १९०।

कालशब्दो हि वर्णप्रमाणकालादिष्वपि वर्त्तते, ततोऽद्धाशब्देन विशिष्यत इति, अयं च सूर्यक्रियाविशिष्टो मनुष्यक्षेत्रान्तर्वर्ती समयादिरूपोऽवसेय।

२–वही, ४।१।२६४ वृत्ति पत्र १९०।

श्लोक ७

६–समय-क्षेत्र (मनुष्य लोक) में (समयखेत्तिए घ) :

समय-क्षेत्र वह क्षेत्र है, जहाँ समय, आवलिका, पक्ष, मास, ऋतु, अयन आदि का काल-विभाग परिज्ञात होता है। समय-क्षेत्र से बाहर उपर्युक्त काल-विभाग नही होता। समय क्षेत्र का दूसरा नाम मनुष्य-क्षेत्र भी है। क्योकि जन्मत मनुष्य केवल समय-क्षेत्र मे ही पाए जाते हैं। क्षेत्र-फल की दृष्टि से इसकी व्याख्या यह है—जम्बू-द्वीप, धातकी-खड तथा अर्ध पुस्कर—इन अढाई द्वीपो की सज्ञा मनुष्य क्षेत्र या समय क्षेत्र है।

सूर्य और चन्द्रमा मेरु-पर्वत की प्रदक्षिणा करते हुए घूमते है अत उनकी गति समय-क्षेत्र तक ही सीमित रह जाती है। उससे आगे यद्यपि असख्य सूर्य और चन्द्रमा है पर वे अपने स्थान पर अवस्थित है अत उनसे काल का विभाग नही होता।

श्लोक १३-१४

सख्या आठ प्रकार की बतलाई है। उसमें एक भेद है गणना। गणना के मुख्य तीन भेद हैं—सख्य, असख्य और अनन्त। इनके अवान्तर भेद बीस होते हैं। यथा—

सख्य के तीन भेद है—(१) जघन्य, (२) मध्यम और (३) उत्कृष्ट।

असख्य के नौ भेद हैं—(१) जघन्य परीत असख्येय, (२) मध्यम परीत असख्येय, (३) उत्कृष्ट परीत असख्येय, (४) जघन्य युक्त असख्येय, (५) मध्यम युक्त असख्येय, (६) उत्कृष्ट युक्त असख्येय, (७) जघन्य असख्येय-असख्येय, (८) मध्यम असख्येय-असख्येय एव (९) उत्कृष्ट असख्येय-असख्येय।

अनन्त के आठ भेद हैं—(१) जघन्य परीत अनन्त, (२) मध्यम परीत अनन्त, (३) उत्कृष्ट परीत अनन्त, (४) जघन्य युक्त अनन्त, (५) मध्यम युक्त अनन्त, (६) उत्कृष्ट युक्त अनन्त, (७) जघन्य अनन्त-अनन्त तथा मध्यम अनन्त-अनन्त एव (८) उत्कृष्ट अनन्त-अनन्त। असद्भाव होने से यह भेद गणना में नही लिया गया है।

जघन्य सख्येय सख्या दो है। एक सख्या गणना पख्या मे नही आती। क्योंकि लेनदेन के व्यवहार मे अल्पतम होने के कारण एक की गणना नही होती। 'सख्यायते इति सख्या' अर्थात् जो विभक्त हो सके, वह सख्या है। इस दृष्टि से जघन्य सख्या दो से प्रारम्भ होती है।

जघन्य सख्या दो है और अतिम सख्या अनन्त है। सख्या के सारे विकल्पो को कल्पना के माध्यम से इस प्रकार समझ सकते हैं—

चार प्याले है—अनवस्थित, शलाका, प्रतिशलाका और महाशलाका। चारो प्याले एक लाख योजन लम्बे, एक लाख योजन चौड़े, एक हजार योजन गहरे, गोलाकार और जम्बूद्वीप की जगति प्रमाण ऊँचे है। पहले अनवस्थित प्याले को सरसो के दाने मे इतना भरें कि एक दाना उसमें और डालें तो वह न ठहर सके। उस प्याले का पहला दाना जम्बूद्वीप में, दूसरा लवणसमुद्र में, तीसरा धातकीखण्ड में—इस प्रकार द्वीप और समुद्र में क्रमश दाने गिराते चले जाएँ। (जम्बूद्वीप एक लाख योजन लम्बा-चौडा है, लवणसमुद्र उससे दूना और धातकीखण्ड उससे दूना है, इस प्रकार द्वीप के बाद समुद्र और समुद्र के बाद द्वीप एक-दूसरे से दूना है)। असख्य द्वीप और असख्य समुद्र हैं। अतिम दाना जिस समुद्र या द्वीप में गिराएं, उस प्रमाण का दूसरी बार अनवस्थित प्याला बनाएं। फिर उसमे आगे उसी प्रकार अनवस्थित प्याले का एक-एक दाना गिराते जाएँ। (एक बार अनवस्थित प्याला खाली हो जाए तो एक दाना शलाका प्याले में डालें)। इस क्रम से एक-एक दाना डाल कर शलाका प्याले को भरें। शलाका प्याला इतना भर जाए कि उसमें एक दाना भी और डालें तो वह उसमे न टिक सके। एक बार शलाका प्याला भरने पर प्रतिशलाका में एक दाना डालें। जब इस क्रम से प्रतिशलाका प्याला भर जाए तो एक दाना महाशलाका प्याले में डालें। इस क्रम मे महाशलाका प्याला भरने के बाद प्रतिशलाका भरें, फिर शलाका प्याला भरें, फिर अनवस्थित प्याला भरें। दूसरे रूप मे इसे सरलता से इस प्रकार समझ सकते हैं—

अनवस्थित प्याला—	एक दाना शलाका
शलाका प्याला—	एक दाना प्रतिशलाका
प्रतिशलाका प्याला—	एक दाना महाशलाका

चारो प्यालों के भर जाने के बाद सब दानो का एक ढेर करें। उस राशि में से दो दाने हाथ में लें। शेष ढेर मध्यम सख्यात है। हाथ का एक दाना मिलाने से उत्कृष्ट सख्यात होता है। हाथ का दूसरा दाना मिलाने से जघन्य परीत असख्यात होता है।

जघन्य परीत असख्येय की राशि को जघन्य परीत असख्येय की राशि से जघन्य परीत असख्येय बार गुणा करें। जो राशि आए, उसमे से दो निकाल लें। शेष राशि मध्यम परीत असख्येय होता है। एक और मिलाने से उत्कृष्ट परीत असख्येय होता है। एक और मिलाने से जघन्य युक्त असख्येय होता है। जघन्य युक्त असख्येय की राशि को, जघन्य युक्त असख्येय की राशि से जघन्य युक्त असख्येय बार से गुणा करें। जो राशि प्राप्त हो, उसमें से दो निकालने पर शेष राशि मध्यम परीत असख्येय होती है। एक मिलाने से उत्कृष्ट परीत असख्येय होता है।

जघन्य असख्येय असख्येय राशि को इसी राशि से उतनी ही बार गुणा करें। जो राशि प्राप्त हो, उसमें से दो निकाल लें। शेष राशि मध्यम असख्येय होती है। एक मिलाने से उत्कृष्ट असख्येय होती है। एक और मिलाने से जघन्य असख्येय असख्येय होता है।

जघन्य असख्येय असख्येय राशि को इसी राशि से उतनी ही बार गुणा करें। जो राशि प्राप्त हो, उसमे से दो निकाल लें। शेष राशि मध्यम असख्येय असख्येय होती है। एक मिलाने से उत्कृष्ट असख्येय असख्येय होती है। एक और मिलाने से जघन्य परीत अनन्त होता है।

जघन्य परीत अनन्त की राशि को इसी राशि से उतनी ही बार गुणा करें। जो राशि प्राप्त हो, उसमें से दो निकाल लें। शेष राशि मध्यम परीत अनन्त होती है। एक मिलाने से उत्कृष्ट परीत अनन्त होती है। एक और मिलाने से जघन्य युक्त अनन्त होती है।

जघन्य युक्त अनन्त की राशि को इसी राशि से उतनी ही बार गुणा करें। जो राशि प्राप्त हो, उसमें से दो निकाल लें। शेष राशि मध्यम परीत अनन्त होती है। एक मिलाने से उत्कृष्ट परीत अनन्त होती है। एक और मिलाने से जघन्य अनन्त अनन्त होती है। जघन्य अनन्त अनन्त से आगे की सख्या सब मध्यम अनन्त अनन्त होती है। क्योंकि उत्कृष्ट अनन्त अनन्त नही होता।

श्लोक १५

७–संस्थान की अपेक्षा से (संठाणओ ग) :

पुद्गल के जो असाधारण धर्म हैं, उनमें से संस्थान भी एक है। उसके दो भेद हैं—(१) इत्थंस्थ और (२) अनित्थस्थ। जिसका त्रिकोण, चतुष्कोण आदि आकार नियत हो, उसे 'इत्थस्थ' कहा जाता है तथा जिसका कोई निर्णीत आकार न हो, उसे 'अनित्थस्थ' कहते हैं।

इत्थंस्थ के पाँच प्रकार हैं—(१) परिमण्डल—चूड़ी की तरह गोल, (२) वृत्त—गेंद की तरह वर्तुलाकार, (३) त्र्यस्र—त्रिकोण, (४) चतुरस्र—चौकोन और (५) आयत—रस्सी की तरह लम्बा।

श्लोक ४८-५०

८–श्लोक ४८-५० :

सिद्ध होने के बाद सब जीव समान स्थिति को प्राप्त हो जाते है, उनमें कोई उपाधि-जनित भेद नहीं रहता। फिर भी पूर्व-अवस्था की दृष्टि से उनके भेद किए गए हैं—

(१) स्त्री सिद्ध
(२) पुरुष सिद्ध
(३) नपुंसक सिद्ध
(४) स्व-लिङ्ग सिद्ध
(५) अन्य-लिङ्ग सिद्ध
(६) गृहि-लिङ्ग सिद्ध
(७) उत्कृष्ट अवगाहना वाले सिद्ध
(८) जघन्य अवगाहना वाले सिद्ध
(९) मध्यम अवगाहना वाले सिद्ध
(१०) ऊँची दिशा में होने वाले सिद्ध
(११) नीची दिशा में होने वाले सिद्ध
(१२) तिरछी दिशा में होने वाले सिद्ध
(१३) समुद्र में होने वाले सिद्ध
(१४) नदी आदि में होने वाले सिद्ध

ये चौदह प्रकार हैं। इनमें पहले तीन प्रकार लिङ्ग की अपेक्षा से हैं। इसका तात्पर्य यह है कि स्त्री, पुरुष और नपुंसक (कृत नपुंसक) ये तीनों सिद्ध हो सकते हैं।

अगले तीन प्रकार वेश की अपेक्षा से हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जैन-साधुओं के वेश मे, अन्य साधुओं के वेश में और गृहस्थ के वेश में भी जीव सिद्ध हो सकते हैं।

तीसरे त्रिक के तीन प्रकार शरीर की लम्बाई की अपेक्षा से है। इसका तात्पर्य यह है कि निर्दिष्ट अवगाहना वाले जीव ही सिद्ध होते हैं।

'ओगाहणा'—शरीर की ऊँचाई को 'अवगाहना' कहते है। सिद्ध होने वाले जीवों की अधिक से अधिक ऊँचाई ५०० योजन की होती है। कम से कम ऊँचाई २ हाथ की होती है। दो हाथ से अधिक और ५०० योजन से कम ऊँचाई को 'मध्यम अवगाहना' कहते है। सिद्धों की अवगाहना जघन्य, उत्कृष्ट तथा मध्यम—तीनो ही प्रकार की होती है।

अंतिम पाँच प्रकार क्षेत्र की अपेक्षा से हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जीव कदाचित् विशेष संयोगो में ऊँचे लोक (नौ सौ योजन से ऊपर), नीचे लोक (नौ सौ योजन से नीचे) और जलाशय आदि में भी सिद्ध हो सकते हैं।

'उड्ढ'—जैन-साहित्य में लोक को तीन भागों में विभक्त किया गया है—ऊर्ध्व-लोक, अधो-लोक और तिर्यक्-लोक। यद्यपि मूल पाठ मे 'ऊर्ध्व' शब्द का ही प्रयोग किया गया है, पर प्रकरण से उसका अर्थ 'ऊर्ध्व-लोक' होता है। ऊँचाई की दृष्टि से सारा लोक १४ रज्जू-प्रमाण है। ऊर्ध्व-लोक की ऊँचाई ७ रज्जू से कुछ कम है। साधारणतया जीव तिर्यक्-लोक में सिद्ध होते हैं, पर यदा कदा मेरुपर्वत की चूलिका पर से भी जीव सिद्ध हो जाते है। मेरुपर्वत की ऊँचाई एक लाख योजन परिमाण है अत वह ऊर्ध्व-लोक की सीमा में आ जाता है। इसीलिए वहाँ पर से मुक्त होने वाले जीवों का 'सिद्धि-क्षेत्र' ऊर्ध्व-लोक ही होता है।[1]

'अहे'—अधो-लोक के क्षेत्र की लम्बाई सात रज्जू से कुछ अधिक है। साधारणतया वहाँ मुक्ति नही होती, पर महाविदेह की दो विजय मेरु के रुचक प्रदेशो से हजार योजन नीचे तक चली जाती है। तिर्यक्-लोक की सीमा नौ सौ योजन है। उससे आगे अधो लोक की सीमा आ जाती है। उस सौ योजन की भूमि में जीव कर्म-मुक्त होते हैं।[2]

'तिरिय'—तिर्यक्-लोक 'मनुष्य-क्षेत्र' को ही कहते हैं। अढाई द्वीप प्रमाण तिरछे और अठारह सौ योजन प्रमाण लम्बे इस भू-भाग मे कही से भी जीव सिद्ध हो सकते है।

नंदी (सूत्र २१) में सिद्धो के पन्द्रह प्रकार निर्दिष्ट है—

(१) तीर्थ सिद्ध— अरिहन्त के द्वारा तीर्थ की स्थापना होने के बाद जो मोक्ष पाते है।
(२) अतीर्थ सिद्ध— तीर्थ-स्थापना से पहले मुक्त होने वाले।
(३) तीर्थङ्कर सिद्ध— तीर्थङ्कर-अवस्था मे मुक्त होने वाले।
(४) अतीर्थङ्कर सिद्ध— तीर्थङ्कर के अतिरिक्त मुक्त होने वाले।
(५) स्वयंबुद्ध सिद्ध— अपने आप—किसी बाहरी निमित्त की प्रेरणा के बिना—दीक्षित होकर मुक्त होने वाले।
(६) प्रत्येकबुद्ध सिद्ध— किसी एक निमित्त से दीक्षित होकर मुक्त होने वाले।
(७) बुद्धबोधित सिद्ध— उपदेश से प्रतिबोध पाकर दीक्षित हो मुक्त होने वाले।
(८) स्त्रीलिङ्ग सिद्ध— स्त्रीलिङ्ग मे मुक्त होने वाले।
(९) पुरुषलिङ्ग सिद्ध— पुरुषलिङ्ग में मुक्त होने वाले।

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ६८३ :
'ऊर्ध्व मित्यूर्द्धलोके मेरुचूलिकादौ सिद्धा।
२—वही पत्र ६८३
'अपरच' अधो लोकेऽर्यादधोलौकिकग्रामस्वपेऽपि सिद्धा।

(१०) नपुसकलिङ्ग सिद्ध— जो जन्म से नपुसक नही, किन्तु किसी कारण वश नपु सक बने हो, उस स्थिति मे मुक्त होने वाले।
(११) स्वलिङ्ग सिद्ध— जैन-साधुओ के वेश मे मुक्त होने वाले।
(१२) अन्यलिङ्ग सिद्ध— अन्य-साधुओ के वेश मे मुक्त होने वाले।
(१३) गृहलिङ्ग सिद्ध— गृहस्थ के वेश में मुक्त होने वाले।
(१४) एक सिद्ध— एक समय में एक जीव सिद्ध होता है, वह।
(१५) अनेक सिद्ध— एक समय मे अनेक जीव सिद्ध होते हैं (उत्कृष्टत १०८ हो सकते हैं), वे।

वर्तमान अवस्था में आत्म-विकास की दृष्टि से सिद्ध जीव सर्वथा समान होते हैं, केवल उनकी अवगाहना में भेद होता है। सिद्ध जीव समूचे लोक मे व्याप्त नही होते, किन्तु उनकी आत्मा एक परिमित क्षेत्र में अवस्थित होती है। पूर्वावस्था में उत्कृष्ट अवगाहना (पाँच सौ धनुष्य की अवगाहना) वाले जीवों की आत्मा, तीन सौ तैंतीस धनुष्य और एक हाथ आठ अँगुल परिमित क्षेत्र में अवस्थित होती है।[1] पूर्वावस्था में मध्यम अवगाहना[2] (दो हाथ से अधिक और पाँच सौ धनुष्य से कम अवगाहना) वाले जीवो की आत्मा अपने अन्तिम शरीर की अवगाहना से त्रिभागहीन क्षेत्र में अवस्थित होती है।

पूर्वावस्था में जघन्य अवगाहना (दो हाथ की अवगाहना) वाले जीवों की आत्मा एक हाथ आठ अँगुल परिमित क्षेत्र में अवस्थित होती है।[3]

सिद्धों के विषय में विशेष जानकारी के लिए देखिए—औपपातिक, सूत्र ४३, गाथा १-२२ तथा आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ९५८-९८८।

श्लोक ५७

९—ईषत्-प्राग्भारा (ईसीपब्भार ग) :

औपपातिक (सूत्र ४३) में सिद्धशिला के बारह नाम बतलाए गए है। उनमें यह दूसरा नाम है।

श्लोक ७१-७७

१०—श्लोक ७१-७७ :

इन श्लोकों व गाथाओं में मृदु पृथ्वी के सात और कठिन पृथ्वी के ३६ प्रकार बतलाए गए हैं। उनमें से कुछ एक विशेष शब्दों के अर्थ और कुछ विशेष ज्ञातव्य बातें यहाँ प्रस्तुत की जा रही है—

१—औपपातिक, सूत्र ४३, गाथा ५ :
तिण्णि सया तेत्तीसा, धणूत्तिभागो य होइ बोद्धव्वा।
एसा खलु सिद्धाण, उक्कोसोगाहणा भणिया॥
२—आवश्यक निर्युक्ति, मलयगिरीय वृत्ति, पत्र ५४५
हस्तद्वयादूर्ध्वं पञ्चधनु शतेभ्योऽर्वाक् सर्वत्रापि मध्यमावगाहनाभावात्।
३—औपपातिक, सूत्र ४३, गाथा ७
एक्का य होइ रयणी, साहीया अगुलाइ अट्ठ भवे।
एसा खलु सिद्धाण, जहण्णओगाहणा भणिया॥

'पणगमट्टिया'—अत्यन्त सूक्ष्म रजोमयी मृत्तिका।[1] कुछ आचार्य इसका मरुपर्पटिका (पपडी) करते है।[2] लोक प्रकाश के अनुसार नदी आदि के प्रवाह के चले जाने पर पीछे जो कीचड के रूप में कोमल और चिकनी मिट्टी रहती है, वह 'पनक-मृत्तिका' है।[3]

'उवले'—वृत्त पाषाण, गोल पत्थर।

'वहरे'—वज्रमणि, हीरा। उत्पत्ति स्थान के आधार पर इसके अनेक भेद होते हैं। जैसे—

(१) सभा राष्ट्रक— विदर्भ—बरार देश में उत्पन्न होने वाला।
(२) मध्यम राष्ट्रक— कौशल देश में उत्पन्न होने वाला।
(३) काश्मीर राष्ट्रक— काश्मीर में उत्पन्न होने वाला।
(४) मणिमन्तक— उत्तर की ओर के मणिमन्तक नामक पर्वत पर उत्पन्न होने वाला।
(५) श्रीकटनक— श्रीकटन नामक पर्वत पर उत्पन्न होने वाला।
(६) इन्द्रवानक— कलिंग देश में उत्पन्न होने वाला।[4]

इन उपर्युक्त स्थानो के अतिरिक्त और भी अनेक स्थान हैं, जहाँ पर हीरा उत्पन्न होता है, जैसे—खान, विशेष जल-प्रवाह और हाथी दान्त की जड आदि।[5]

हीरा अनेक रगो का होता है, जैसे—

(१) मार्जाराक्षक— मार्जार की आँख के समान।
(२) शिरीप पुष्पक— शिरीप के फूल के समान।
(३) गोमूत्रक— गोमूत्र के समान।
(४) गोमेदक— गोरोचना के समान।
(५) शुद्ध स्फटिक— अत्यन्त श्वेत वर्ण स्फटिक के समान।
(६) मुलाटीपुष्पक वर्ण— मुलाटी के फूल के समान।[6]

उत्तम हीरा निम्नोक्त गुणो वाला होता है—मोटा, चिकना, भारी चोट को सहने वाला, बराबर कोनों वाला, पानी से भरे हुए पीतल आदि के वर्तन में हीरा डाल कर उस वर्तन के हिलाए जाने पर वर्तन में लकीर डालने वाला, तकवे की तरह घूमने वाला और चमकदार हीरा प्रशस्त माना जाता है।[7]

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ६८९।
२—वही, पत्र ६८९।
३—लोकप्रकाश, सर्ग ७।५
नद्यादिपूरागमे देशे, तत्रातिपिच्छिले।
मृदुश्लक्ष्णा पङ्करूपा, सप्तमी पनका त्रिधा॥
४—कौटलीय अर्थशास्त्र, २।११।२९
सभाराष्ट्रकं मध्यमराष्ट्रकं कश्मीरराष्ट्रक श्रीकटनक मणिमन्तक मिन्द्रवानक च वज्रम्।
५—वही, २।११।२९
खनि स्रोत प्रकीर्णक च योनय।
६—वही, २।११।२९
मार्जाराक्षक च शिरीषपुष्पक गोमूत्रक गोमेदक शुद्धस्फटिक मूलाटीपुष्पकवर्ण मणिवर्णानामन्यतमवर्णमितिवज्रवर्णा।
७—वही, २।११।२९ :
स्थूल स्निग्ध गुरु प्रहारसह समकोटिक भाजनलेखित कुभ्रामि भ्राजिष्णु च प्रशस्तम्।

'नष्टकोण'—अर्थात् शिखर-रहित (कोनों से रहित), अश्रि-रहित (तीक्ष्ण कोने से रहित) तथा एक ओर अधिक निकले हुए कोनों वाला हीरा अप्रशस्त माना जाता है।[1]

'सासग'— हरित वर्ण वाला धातु।[2]

'पवाले'—प्रवाल, विद्रुम, मूँगा। इसे नौ रत्नों में एक रत्न माना है, पर जन्तु विशेषज्ञों के अन्वेषण के आधार पर 'प्रवाल' (मूँगा) एक समुद्री वनस्पति-जीव है, जिसके कंकाल के टुकड़े करके आभूषण बनाए जाते हैं।[3] मूँगों की अनेक जातियाँ हैं, जिनकी शक्ल सूरत में काफी भेद रहता है। उनके शरीर की भीतरी बनावट एक जैसी ही होती है और सबके ऊपरी हिस्से पर इनका खुला हुआ मुख-छिद्र रहता है। मुख-छिद्र के चारों ओर अँगुलियों की शक्ल के पतले-पतले अङ्कुर रहते हैं, जो इनके स्पर्श-इन्द्रियाँ, हाथ तथा आत्मरक्षा के लिए डंक हैं। ये अपने शरीर के चारों ओर कड़ी खोल की रचना करते हैं, जिसके भीतर इनका नरम शरीर सुरक्षित रहता है। इनमें कुछ नली के आकार के होते हैं तो कुछ पेड़-पौधों की तरह अपनी टेढ़ी शाखाएँ फैलाए रहते हैं। कुछ की बनावट मनुष्य के भेजे जैसी होती है तो कुछ कुकुरमुत्ते की शक्ल के होते हैं। कुछ देखने में पंखों से लगते हैं तो कुछ अँगुलियों से और इन्हीं में कुछ ऐसे भी हैं, जिन्होंने लाखों अरबों वर्षों के निरन्तर संगठन से बड़ी-बड़ी चट्टानों तथा मीलों लम्बे प्रवाल-द्वीपों का रूप ग्रहण कर लिया है। संभव है इन द्वीपों से खुदाई के द्वारा प्राप्त होने के कारण इसे पृथ्वीकाय के भेदों में सम्मिलित किया गया हो।

आचार्य हेमचन्द्र ने प्रवाल के पर्यायवाची नाम 'रक्त-कंद' और 'हेम-कंदल' दिए हैं।[4] उत्पत्ति स्थान के आधार पर इसके दो भेद किए जाते हैं—(१) आलकंदक—आलकंद नाम का म्लेच्छ देशों में समुद्र के किनारे एक स्थान है, वहाँ पर उत्पन्न होने वाला और (२) वैवर्णिक—यूनान देश के समीप विवर्ण नामक समुद्र का एक भाग है, वहाँ पर उत्पन्न होने वाला।[5] मूँगा (प्रवाल) लाल तथा पद्म के समान रंग वाला होता है।

'अंजण'—समीरक।

'गोमेज्जए'—गोमेदक माणक की उपजातियों में गिना जाता है। माणक केवल लाल रंग का होता है, पर इसमें लाल के साथ पीत रंग का भी आभास होता है।[6] किन्तु कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुसार यह 'वैडूर्य' का एक प्रकार है।[7] मूलाचार में 'गोमज्झग' (सं० गोमध्यक) शब्द है। इसका अर्थ कर्केतन मणि किया गया है।[8] किन्तु 'गोमध्यक' शब्द मूल से कुछ दूर हो गया, ऐसा प्रतीत होता है।

१—कौटलीय अर्थशास्त्र, २।११।२९

नष्टकोणं निरश्रि पार्श्वापवृत्तं चाप्रशस्तम्॥

२—मूलाचार, ५।१०, वृत्ति

सस्यकं हरितरूपम्।

३—समुद्र के जीव-जन्तु, पृ० १४।

४—अभिधान चिन्तामणि, ४।१३२ :

रक्ताङ्कोरक्तकन्दश्च, प्रवालं हेमकंदलं।

५—कौटलीय अर्थशास्त्र, २।११।२९ :

प्रवालकमालकन्दकं वैवर्णिकं च रक्तं पद्मरागं च।

६—सिरि रयणपरिक्खा, पयरण ५३

सिरिनाय कुलपरे वम देसे तह जम्मल नईं मज्झे।

गोमय इंदगोवं, सुमणेह पडुर पीयं॥

७—कौटलीय अर्थशास्त्र, २।११।२९।

८—मूलाचार, ५।११, वृत्ति।

'रुयगे'—रुचक—राजवर्तक।

'फलिहे'—स्फटिक मणि। रयणपरिक्खा के अनुसार स्फटिक मणि नेपाल, कश्मीर, चीन, कावेरी और यमुना तट पर तथा विन्ध्य पर्वत में उत्पन्न होता है।[1] कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुसार वह चार प्रकार का होता है—

(१) शुद्धस्फटिक— अत्यन्त शुक्ल वर्ण वाला,
(२) मूलाटवर्ण— मक्खन निकाले हुए दही (तक्र) के समान रंग वाला,
(३) शीतवृष्टि— चन्द्रकान्त—चन्द्रमा की किरणों के स्पर्श से पिघल जाने वाला और
(४) सूर्यकान्त— सूर्य की किरणों का स्पर्श होने पर आग उगलने वाला।[2]

'लोहियक्खे'—किनारों की ओर लाल रंग वाला और बीच में काला। इसका एक नाम 'लोहितक' भी मिलता है।[3] मूलाचार में इसका नाम 'लोहिताक' मिलता है।[4]

'मरगय'—मरकत।[5]

'ससारगल्ले'—मसृण पाषाण मणि (चिकनी धातु)। इसका वर्ण विद्रुम जैसा होता है।

'भुयमोयग'—मूलाचार में केवल 'मोय' शब्द है। वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'कदली वर्णाकार नील मणि' किया है।[6] सरपेन्टियर ने इसका अर्थ 'सर्प के विष से रक्षा करने वाला मणि विशेष' किया है।[7]

१—सिरि रयणपरिक्खा, पयरण ५४
नयवालेक समीरे, चीणे कावेरी जउण नइकूले।
विंझनगे उप्पज्जइ, फलिह अइनिम्मल सेय॥

२—कौटलीय अर्थशास्त्र, २।११।२९
शुद्धस्फटिक मूलाटवर्ण शीतवृष्टि सूर्यकान्त श्वेति मणयः।

३—वही, २।११।२९।

४—मूलाचार, ५।११।

५—सिरि रयणपरिक्खा, पयरण ३८-४२
अवणिंद-मलय-पव्वय-वव्वरदेसेसु उयहितीरे य।
गरुडस्सय कंठ उरे हवंति मरगय-महामणिणो॥
गरुडोदगार पढमा, कीरउठी बीय तइअ मुगउनी।
वासउई अ चउत्थी, धूलि मरीई य पणजाई॥
गरुडोदगार रम्मा, नीला अइकोमला य विसहरणा।
कीडउठि सुह सुहमच्छा, मुनइड कीडस्स पक्खसमा॥
मुगउनी सु सणेहा नील हरिय कीरकंठ सारिच्छा।
कढिणा अमला हरिया, वासवई होइ विसहरणा॥
धूलि मराइ गरुया, रुक्खा घणनीलकच्च सारिच्छा।
मुल्ले वीरविसोवा दुद्दुह वह पंच दुन्निकमे॥

६—मूलाचार, ५।१२, वृत्ति।

७—The Uttarādhyayan Sūtra, p. 402

'इन्दनीले'—इन्द्रनील (नीलम)। इसका वर्ण नीला (हरा) होता है। कहीं-कहीं इसकी उत्पत्ति सिंहल द्वीप में बताई गई है।[१] यह आठ[२] प्रकार का होता है—

(१) नीलावलीय— रंग सफेद होने पर भी जिसमें नीले रंग की धाराएँ हो।
(२) इन्द्रनील— मोर के पंख की तरह नीले रंग वाला।
(३) कलायपुष्पक— मटर के फूल सदृश रंग वाला।
(४) महानील— भौंरे के समान गहरे काले रंग वाला।
(५) जाम्ब्रवाभ— जामुन के समान रंग वाला।
(६) जीमूतप्रभ— मेघ के समान रंग वाला।
(७) नदक— भीतर से सफेद और बाहर से नीला।
(८) स्रवन्मध्य— जिसमें से जल-प्रवाह के समान किरणें बहती हो।[३]

'चन्दन'—चन्दन जैसी गंध वाला मणि।[४]

'गेरुय'—इसका अर्थ 'रुधिराक्ष' है। इसका वर्ण गेरु जैसा होता है।[५]

'हंसगब्भ'—मूलाचार में 'वक' नामक मणि का उल्लेख है। वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'वक के रंग का पुष्पराग' किया है।[६] कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुसार 'पुष्पराग' वैडूर्य का एक प्रकार है।[७] 'वक' बगुले का रंग भी हंस जैसा होता है, इसलिए हंसगर्भ का यही अर्थ संभव है। सरपेन्टियर ने 'हंस' का अर्थ सूर्य कर इसको 'सूर्यगर्भ' नाम का मणि माना है।[८]

'पुलए'—पुलक। यह बीच में काला होता है। कौटलीय अर्थशास्त्र (२।११।२९) में मणियों की अठारह अवान्तर जातियाँ बताई गई है—

(१) विमलक— सफेद और हरे रंग से मिश्रित।
(२) सस्यक— नीला।
(३) अञ्जनमूलक— नीला और काला मिश्रित।
(४) गोपित्तक— गाय के पित्त के समान रंग वाला।
(५) सुलमक— सफेद।
(६) लोहिताक्ष— किनारों की ओर लाल रंग वाला और बीच में काला।
(७) मृगाश्मक— सफेद और काला मिला हुआ।

१–सिरि रयणपरिक्खा, पयरण ४९
नीलघण मोरकण्ठ अलसीगिरिकन्नि कुसुम सकासा।
ऐतेया सुसणेहा सिंघलदीवम्मि नीलमणी॥
२–कौटलीय अर्थशास्त्र, २।११।२९
नीलावलीय इन्द्रनील कलायपुष्पको महानीलो जाम्ब्यवाभो जीमूतप्रभो नन्दक स्रवन्मध्य।
३–मूलाचार, ५।१२, वृत्ति।
४–वही, ५।१२, वृत्ति।
५–वही, ५।१२, वृत्ति।
६–वही, ५।१२, वृत्ति।
७–कौटलीय अर्थशास्त्र, २।११।२९।
८–The Uttarādhyayana Sūtra, p 403

(८) ज्योतिरसक— सफेद और लाल मिला हुआ।
(९) मैन्येयक— शिंगरफ के समान रंग वाला।
(१०) अहिच्छत्रक— फीके रंग वाला।
(११) कूर्म— खुरदरा—जिसके ऊपर छोटी-छोटी बूँद-सी उठी हुई हो।
(१२) प्रतिकूर्प— दागी—जिस पर धब्बे लगे हुए हों।
(१३) मुगन्विकूर्प— मूँग के समान रंग वाला।
(१४) क्षीरपक— दूध के समान वर्ण वाला।
(१५) शुक्तिचूर्णक— चित्रित—मिले हुए कई रंगों वाला।
(१६) शिला-प्रवालक— प्रवालक—अर्थात् मूंगे के समान रंग वाला।
(१७) पुलक— जो बीच में काला हो।
(१८) शुक्रपुलक— जो बीच में सफेद हो।

'सोगन्धिए' (स० सौगन्धिक)—माणिक्य। कौटलीय अर्थशास्त्र में माणिक्य की पाँच जातियाँ बतलाई गई हैं। उनमें यह प्रथम जाति का है। सौगन्धिक नामक कमल के समान कुछ नीलेपन को लिए हुए लाल रंग का होने के कारण इसे 'सौगन्धिक' कहा जाता है।[1]

'वेरुलिए'—वैडूर्य। यह आठ प्रकार का होता है—

(१) उत्पलवर्ण— लाल कमल के समान रंग वाला,
(२) शिरीषपुष्पक— सिरस के फूल के समान रंग वाला,
(३) उदकवर्ण— जल के समान स्वच्छ रंग वाला,
(४) वंशराग— बाँस के पत्ते के समान रंग वाला,
(५) शुकपत्रवर्ण— तोते के पत्तों की तरह हरे रंग वाला,
(६) पुष्यराग— हल्दी के समान पीले रंग वाला,
(७) गोमूत्रक— गोमूत्र के समान रंग वाला और
(८) गोमेदक— गोरोचन के समान रंग वाला।[2]

रयणपरिक्खा में भी इसकी उत्पत्ति की चर्चा की गई है।[3] पाणिनि भाष्य के अनुसार यह बालवाय पर्वत में होता था। विदूर-नगर के मणिकार उसे तराशते थे, इसलिए वह 'वैदूर्य' नाम से प्रसिद्ध हुआ।[4]

'जलकन्ते'—जलकान्त। इसका अर्थ 'उदक वर्ण' है।[5] कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुसार यह वैडूर्य का एक प्रकार है।[6]

१—कौटलीय अर्थशास्त्र, २।११।२९
सौगन्धिकः पद्मरागोऽनवद्यरागः पारिजातपुष्पको बालसूर्यकः।
२—वही, २।११।२९
वैडूर्यमुत्पलवर्णः शिरीषपुष्पक उदकवर्णो वंशरागः शुकपत्रवर्णः पुष्यरागो गोमूत्रको गोमेदकः॥
३—सिरि रयणपरिक्खा, पयरण ५१
रयणायरस्स मज्झे, कुविदगयनामजत्थ पव्वतयं।
घम्मुरनगे जायइ, वइडुज्ज वसपत्तामं॥
४—पाणिनि भाष्य, ४।३।८४।
५—मूलाचार, ५।११।
६—कौटलीय अर्थशास्त्र, २।११।२९।

'सूरकन्ते'—सूर्यकान्त। सूर्य की किरणों का स्पर्श होने पर आग उगलने वाला मणि। कौटलीय अर्थशास्त्र में इसे स्फटिक का ही एक भेद माना गया है।[1]

प्रज्ञापना मे कठिन पृथ्वी को चालीस श्रेणियो में विभक्त किया गया है।[2] उत्तराध्ययन मे उसकी छत्तीस श्रेणियाँ बतलाई गई हैं। शान्त्याचार्य के अनुसार लोहिताक्ष और मसारगल्ल, क्रमश स्फटिक और मरकत तथा गेरुक और हंसगर्भ चन्दन के उपभेद हैं।[3] वृत्तिकार ने शुद्ध पृथ्वी से लेकर वज्र तक के चौदह प्रकार तथा हरिताल से लेकर आभ्रवालुका तक के आठ प्रकार स्पष्ट माने हैं। गोमेदक से लेकर शेष सब चौदह प्रकार होने चाहिए, किन्तु अठारह होते हैं। इनमें से चार वस्तुओ का दूसरों मे अन्तर्भाव होता है। वृत्तिकार इस विषय में पूर्णरूपेण असदिग्ध नही है कि किसमें किसका अन्तर्भाव होना चाहिए।[4]

श्लोक ८५

११–श्लोक ८५ :

इस श्लोक में अप्काय के पाँच प्रकार बतलाए गए हैं तथा प्रज्ञापना (पद १) में इसके अधिक प्रकार प्राप्त हैं—

उत्तराध्ययन

(१) शुद्धोदक
(२) अवश्याय
(३) हरतनु— भूमि को भेद कर निकला हुआ जल-बिन्दु
(४) महिका— कुहासा
(५) हिम

प्रज्ञापना

(१) अवश्याय
(२) हिम
(३) महिका
(४) करक—ओला
(५) हरतनु
(६) शुद्धोदक
(७) शीतोदक
(८) ऊष्णोदक
(९) क्षारोदक
(१०) खट्टोदक
(११) अम्लोदक
(१२) लवणोदक
(१३) वारुणोदक
(१४) क्षीरोदक
(१५) घृतोदक
(१६) क्षोदोदक
(१७) रसोदक

१–कौटलीय अर्थशास्त्र, २।११।२९।
२–प्रज्ञापना, पद १।
३–बृहद् वृत्ति, पत्र ६८९।
४–वही, पत्र ६८९.
इह च पृयिव्यादयश्चतुर्दश हरितालादयोऽष्टौ गोमेज्जकादयश्च क्वचित्कस्यचिदन्तर्भावाच्चतुर्दशैवमीमीलिता षट्त्रिंशद् भवति।

श्लोक ९३-९९

१२–श्लोक ९३-९९ :

वनस्पति के मुख्य वर्ग दो हैं—

(१) साधारण-शरीर— जिसके एक शरीर में अनन्त जीव होते हैं, उसे 'साधारण-शरीर' कहा जाता है।

(२) प्रत्येक-शरीर— जिसके एक-एक शरीर में एक-एक जीव होता है, उसे 'प्रत्येक-शरीर' कहा जाता है।

सूत्रकार ने साधारण-शरीर से पूर्व प्रत्येक-शरीर वनस्पति के बारह प्रकार बतलाए हैं—

(१) वृक्ष— एक बीज वाले नीम आदि, अनेक बीज वाले बेल आदि।

(२) गुच्छ— जिसमें केवल पत्तियाँ या पतली टहनियाँ फैली हों, वह पौधा। जैसे—बैंगन, तुलसी आदि।

(३) गुल्म— जो एक जड से कई तनो के रूप में निकले, वह पौधा। जैसे—कटसरैया, कनेर आदि।

(४) लता— पृथ्वी पर या किसी बडे पेड पर लिपट कर ऊपर फैलने वाला पौधा। जैसे—माधवी, अतिमुक्तक आदि।

(५) वल्ली— ककडी आदि की बेल।

(६) तृण— घास।

(७) लता-वलय— नारियल, खजूर, केला आदि। इनके दूसरी शाखा नही होती। इसलिए इन्हें 'लता' और इनकी छाल वलयाकार होती है, इसलिए इन्हे 'वलय' (सयुक्त रूप में लता-वलय) कहा गया है।

(८) पर्वज— ईख आदि।

(९) कुहुण— भूमि को फोड कर निकलने वाला पौधा। जैसे—सर्पच्छत्र, कुकुरमुत्ता आदि।

(१०) जलरुह— जलज वनस्पति—कमल आदि।

(११) औषधि तृण— एक फसला पौधा—गेहूँ आदि।

(१२) हरितकाय— पालक, बथुवा आदि।

जहाँ पर एक शरीर में अनन्त जीव निवास करते हो, उसे 'साधारण वनस्पतिकाय' कहते हैं। सर्व प्रकार के कन्द, मूल तथा अनन्त-कायिक साधारण वनस्पति जीव है। आलू, मूली, अदरक आदि सब इस श्रेणी के अन्तर्गत हैं।

'कदली' (९७।४) लता विशेष। यह वर्षा ऋतु में होती है। इसका कद स्निग्ध, फूल लाल और पत्ते हरे होते हैं। इसे 'भूकदली' और 'द्रोणपर्णी' भी कहा जाता है।[1]

'कन्द' (९८।३) बिना रेसे वाली गुद्देदार जड। भूमि मे रहने वाला वृक्ष का अवयव।[2]

'हलिद्दा' (९९।२) (स० हरिद्रा) हल्दी पीत और सोने के रग की होती है।[3] इसका नाम है—'वरवर्णिनी' अर्थात् अच्छा वर्ण करने वाली। प्राचीन समय में हल्दी का तेल बहुतायत से लगाया जाता था। मद्रास की तरफ अब भी अपना वर्ण सुधारने के लिए स्त्रियाँ इसका प्रयोग करती हैं। यह वात-रोग, हृदय-रोग, प्रमेह आदि रोगों के लिए अति उत्तम मानी जाती है। सुश्रुत (चि०, अ० ६) में तो कहा है कि इससे कुष्ट रोग भी नष्ट हो जाता है। वस्तुत यह रक्त शुद्ध करने वाली है, इसी दृष्टि से पीठी तथा आहार में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है।[4]

१–शब्दार्णव

द्रोणपर्णी स्निग्धकन्दा कन्दली भूकदल्यपि।

२–प्रवचनसारोद्धार, पृ० ५७।

३–अभिधान चिन्तामणि कोश, ३

हरिद्रा काञ्चनी पीता निशाख्या वरवर्णिनी।

४–संस्कृत साहित्य मा वनस्पति पृ० ८५१।

श्लोक १०९-११०

१३—श्लोक १०९-११० :

उत्तराध्ययन की अपेक्षा प्रज्ञापना (पद १) मे अग्नि के प्रकार अधिक प्राप्त हैं—

उत्तराध्ययन	*प्रज्ञापना*
(१) अगार— जलता हुआ कोयला	(१) अगार
(२) मुर्मुर— भस्म मिश्रित अग्नि-कण	(२) ज्वाला
(३) अग्नि— लोहपिंड में प्रविष्ट तेजस्	(३) मुर्मुर
(४) अर्चि— प्रदीप्त अग्नि से विच्छिन्न अग्नि-शिखा	(४) अर्चि
(५) ज्वाला— प्रदीप्त अग्नि से प्रतिबद्ध अग्निशिखा	(५) आलात —जलता हुआ ठूँठ
(६) उल्का	(६) शुद्धाग्नि
(७) विद्युत्	(७) उल्का
	(८) अशनि—वज्रपात की अग्नि
	(९) निर्घात
	(१०) सघर्ष समुत्थित
	(११) सूर्यकान्त मणि निस्सृत

श्लोक ११८-११९

१४—श्लोक ११८-११९ :

यहां वायु के पाँच प्रकारो का निर्देश तथा अन्य प्रकारो का सकेत किया गया है। प्रज्ञापना (पद १) में इनके उन्नीस प्रकार प्राप्त है—

उत्तराध्ययन		*प्रज्ञापना*	
(१) उत्कलिकावात—	मिश्रित पवन	(१) प्राचीनवात—	पूर्वी पवन
(२) मण्डलिकावात—	ववडर	(२) प्रतीचीनवात—	पश्चिमी पवन
(३) घनवात—	ठोस पवन	(३) दक्षिणवात—	दक्षिणी पवन
(४) गुंजावात—	गुंजने वाला पवन	(४) उदीचीनवात—	उत्तरी पवन
(५) शुद्धवात—	मन्द पवन	(५) ऊर्ध्ववात—	ऊर्ध्वमुखी पवन
(६) संवर्तकवात—	प्रलयकारी पवन	(६) अधोवात—	अधोमुखी पवन
		(७) तिर्यग्वात—	क्षैतिज पवन
		(८) विदिग्वात—	चौवाई
		(९) वातोद्भ्रम—	अनियमित पवन
		(१०) वातोत्कलिका—	समुद्री पवन
		(११) वातमण्डली—	अनिर्धार्य पवन
		(१२) उत्कलिकावात	
		(१३) मण्डलिकावात	
		(१४) गुंजावात	
		(१५) झंझावात—	वर्षायुक्त पवन
		(१६) सवर्तकवात	
		(१७) घनवात	
		(१८) तनुवात—	विरल पवन
		(१९) शुद्धवात	

श्लोक २५६

१५–श्लोक २५६ :

इस श्लोक में पाँच संक्लिष्ट भावनाओं का उल्लेख है। उनके लक्षण और प्रकार २६३ से २६७ तक के श्लोकों में बतलाए गए हैं। उत्तरवर्ती साहित्य में भी इनका निरूपण होता रहा है। यहाँ हम उत्तराध्ययन के साथ-साथ मूलाराधना और प्रवचनसारोद्धार में चर्चित इन भावनाओं का अध्ययन करेंगे। वे उत्तराध्ययन से पूर्णतः प्रभावित हैं।

उत्तराध्ययन	*मूलाराधना*	*प्रवचनसारोद्धार*
भावना नाम—		
(१) कान्दर्पी,	(१) कान्दर्पी,	(१) कान्दर्पी,
(२) आभियोगी,	(२) किल्विषिकी,	(२) किल्विषिकी,
(३) किल्विषिकी,	(३) आभियोगी,	(३) आभियोगी,
(४) आसुरी और	(४) आसुरी और	(४) आसुरी और
(५) सम्मोहा।	(५) सम्मोहा।[1]	(५) सम्मोहा।[2]

१–कान्दर्पी भावना के प्रकार—

उत्तराध्ययन	*मूलाराधना*	*प्रवचनसारोद्धार*
(१) कन्दर्प,	(१) कन्दर्प,	(१) कन्दर्प,
(२) कौत्कुच्य और	(२) कौत्कुच्य,	(२) कौत्कुच्य,
(३) तथा-प्रकार के शील स्वभाव, हास्य और विकथाओं से दूसरों को विस्मित करना।	(३) चल-शीलता,	(३) दुःशीलता,
	(४) हास्य-कथा और	(४) हास्य-करण और
	(५) दूसरों को विस्मित करना।[3]	(५) दूसरों को विस्मित करना।[4]

कन्दर्प—वाणी का असभ्य प्रयोग।[5] उत्तराध्ययन और प्रवचनसारोद्धार की वृत्ति के अनुसार इसके पाँच अर्थ होते हैं—(१) ठहाका मार कर हँसना, (२) गुरु आदि के साथ व्यंग में बोलना, (३) काम-कथा करना, (४) काम का उपदेश देना और (५) काम की प्रशंसा करना।[6]

१–मूलाराधना, ३।१७९
कंदप्पदेवखिब्बिस, अभिओगा आसुरी य सम्मोहा।
एदा हु संकिलिट्ठा, पंचविहा भावणा भणिद॥

२–प्रवचनसारोद्धार, गाथा ६४१
कंदप्पदेव किब्बिस, अभिओगा आसुरी य सम्मोहा।
एसा हु अप्पसत्था, पंचविहा भावणा तत्थ॥

३–मूलाराधना, ३।१८०
कंदप्पकुक्कुआइय, चलसीला णिच्चहासणकहो य।
विसावितो य परं, कंदप्पं भावणं कुणइ॥

४–प्रवचनसारोद्धार, गाथा ६४२
कंदप्पे कुक्कुइए दोसीलत्ते य हासकरणे य।
परविम्हियजणणो, ऽवि य कंदप्पोऽणेगहा तह य॥

५–मूलाराधना विजयोदया, पृ० ३९८
रागोद्रेकात्प्रहासमिश्रोऽशिष्टवाक्प्रयोग कन्दर्प।

६–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ७०९
कन्दर्प—अट्टट्टहासहसनम् अनिभृतालापाश्च गुर्वादिनाऽपि सह निष्ठुरवक्रोक्त्यादिरूपा कामकथोपदेशप्रशंसाश्च कन्दर्प।
(ख) प्रवचनसारोद्धार वृत्ति, पत्र १८०।

कौत्कुच्य—काया का असभ्य प्रयोग।[1] उत्तराध्ययन और प्रवचनसारोद्धार की वृत्ति के अनुसार इसके दो प्रकार है—(१) काय-कौत्कुच्य—भौ, आँख, मुँह आदि अवयवो का इस प्रकार बनाव करना जिससे दूसरे लोग हँस पडे। (२) वाक्-कौत्कुच्य—विविध जीव-जन्तुओ की, ऐसी बोली बोलना, सिट्टी बजाना, जिससे दूसरे लोग हँस पडे।[2] उत्तराध्ययन मे तथाप्रकार के शील स्वभाव, हास्य तथा विकथा से दूसरो को विस्मित करना यह एक ही प्रकार है।[3]

मूलाराधना और प्रवचनसारोद्धार मे इसके स्थान पर तीन-तीन प्रकार है—

(१) चलशीलता—कन्दर्प और कौत्कुच्य का बार-बार प्रयोग करना।[4]

(२) द्रुतशीलता—बिना विचारे तत्काल बोलना, शरत्-काल में दर्प मे उद्धत बैल की तरह शीघ्र चलना, बिना सोचे समझे काम करना।[5]

(३) हास्य-कथा या हास्य-करण—वेश परिवर्तन आदि के द्वारा दूसरो को हँसाना।

दूसरों को विस्मित करना—इन्द्रजाल, मन्त्र, प्रहेलिका आदि कुतूहलो के द्वारा विस्मय उत्पन्न करना।[6]

२—आभियोगी भावना के प्रकार—

उत्तराध्ययन	*मूलाराधना*	*प्रवचनसारोद्धार*
(१) मन्त्रायोग और	(१) मन्त्राभियोग,	(१) कौतुक,
(२) भूति-कर्म।	(२) कौतुक और	(२) भूति-कर्म,
	(३) भूति-कर्म।[7]	(३) प्रश्न,
		(४) प्रश्नाप्रश्न और
		(५) निमित्त।[8]

१–मूलाराधना, विजयोदया, पृ० ३९८

अशिष्टकायप्रोग कौत्कुच्यम्।

२–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ७०९

कौत्कुच्य द्विधा—कायकौत्कुच्य वाक्कौत्कुच्य च, तत्र कायकौत्कुच्य यत्स्वयमहसन्नेव भ्रूनयनवदनादि तथा करोति यथाऽन्यो हसति तज्जल्पति येनान्यो हसति तथा नानाविधजीवविरुतानि मुखातोद्यवादिता च विधते तद्वाक्कौत्कुच्यम्।

(ख) प्रवचनसारोद्धार वृत्ति, पत्र १८०।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ७०९

तथा यच्छील च—फलनिरपेक्षा वृत्ति स्वभावश्च-परविस्मयोत्पादनाभिसन्धिनैव तत्तन्मुखविकारादिक हसन च—अट्टट्टहासादि विकथाश्च-परिशिस्मापकविविधोल्लापरूपा शीलस्वभावहसनविकथास्ताभि 'विस्मापयन्' सविस्मय कुर्वन्।

४–मूलाराधना, विजयोदया, पृ० ३९८

भवतो मातर करोमीति कदर्पकौत्कुच्याभ्या चलशील ।

५–प्रवचनसारोद्धार वृत्ति, पत्र १८०।

६–(क) मूलाराधना दर्पण, पृ० ३९८

विभावितो मत्रेंद्रजालादिकुहकप्रदर्शनेन विस्मय नयन।

(ख) प्रवचनसारोद्धार वृत्ति, पत्र १८०

इन्द्रजालप्रभृतिभि कुतूहलै प्रहेलिकाकुहेटिकादिभिश्च तथाविधग्राम्यलोकप्रसिद्धैर्यास्स्वयमविस्मयमानो बालिशप्रायस्य जनस्य मनो विभ्रममुत्पादयति तत्परविस्मयजननम्।

७–मूलाराधना, ३।१८२

मताभिओगकोदुगभूदीयम्म पउजदे जो हु।

इड्ढिरससादहेदु, अभिओग भावण कुणइ॥

८–प्रवचनसारोद्धार, गाथा ६४४

कोउय भूईकम्मे, पसिणेहिं तह य पसिणपसिणेहि।

तहय निमित्तेण, चिय पचवियप्पा भवे सा य॥

मन्त्रायोग—मन्त्र का प्रयोग करना ।[1]

मन्त्राभियोग—कुमारी आदि पात्रों में भूत का आवेश उत्पन्न करना ।[2]

भूति-कर्म—राख, मिट्टी अथवा धागे के द्वारा मकान, शरीर आदि का परिवेष्टन करना ।[3] बच्चों की रक्षा के लिए भूति का प्रयोग करना अथवा भूतों की क्रीडा दिखाना भी भूति-कर्म कहलाता है ।[4]

कौतुक—अकाल-वृष्टि आदि आश्चर्यकारी करतब दिखलाना अथवा वशीकरण आदि का प्रयोग करना ।[5] बच्चों तथा अन्य किसी की रक्षा के लिए स्नान, हाथ फेरना आदि क्रियाएँ करना ।[6]

प्रश्न—दूसरों के पास लाभ-अलाभ आदि के विषय में प्रश्न करना अथवा स्वयं अंगुष्ठ, दर्पन आदि में भूत या भविष्य को जानने का यत्न करना ।[7]

प्रश्नाप्रश्न—स्वप्न में विद्या द्वारा कथित शुभाशुभ दूसरों को बतलाना ।[8]

निमित्त—निमित्त का प्रयोग करना ।

३—किल्विषिकी भावना के प्रकार—

उत्तराध्ययन	*मूलाराधना*	*प्रवचनसारोद्धार*
(१) ज्ञान का अवर्णवाद,	(१) ज्ञान की वञ्चना और अवर्णवाद,	(१) ज्ञान का अवर्णवाद,
(२) केवली का अवर्णवाद,	(२) केवली की वञ्चना और अवर्णवाद,	(२) केवली का अवर्णवाद,
(३) धर्माचार्य का अवर्णवाद,	(३) धर्माचार्य की वञ्चना और अवर्णवाद और	(३) धर्माचार्य का अवर्णवाद,
(४) संघ का अवर्णवाद और	(४) सवसाधुओं की वञ्चना और अवर्णवाद ।[9]	(४) संघ का अवर्णवाद और
(५) माया ।		(५) माया ।[10]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ७१०

मन्त्रा —प्रागुक्तरूपास्तेषामायोगो—व्याकरण मन्त्रायोगस्त 'कृत्वा' ।

२–मूलाराधना दर्पण, पृ० ४००

मत्राभियोग कुमार्यादिपात्रे भूतावेशकरणम् ।

३–(क), बृहद् वृत्ति, पत्र ७१०

'भूत्या' भस्मनोपलक्षणत्वान्मृदा सूत्रेण वा कम—रक्षार्थं वसत्यादे परिवेष्टन भूतिकर्म ।

(ख) प्रवचनसारोद्धार वृत्ति, पत्र १८१ ।

४–मूलाराधना दर्पण, पृ० ४००

भूदीकम्म बालादीना रक्षार्थं भूतिकर्म भूतिक्रीडनक वा ।

५–मूलाराधना दर्पण, पृ० ४००

कोदुग-अकालवृष्ट्यादिकौतूहलोपदर्शन, वशीकरणादिक वा ।

६–प्रवचनसारोद्धार वृत्ति, पत्र १८१

तत्र बालादीना रक्षादिकरणनिमित्त स्नपनकरभ्रमणाभिमन्त्रणथुक्करणधूपदानादि यत्क्रियते तत्कौतुकम् ।

७–वही, पत्र १८१

यतपरस्य पार्श्वे लाभालाभादि पृच्छ्यते स्वय वा अगुष्ठदर्पणखड्गतोयादिषु दृश्यते स प्रश्न ।

८–वही, पत्र १८१,१८२

स्वप्ने स्वय विद्यया कथित घण्टिकाद्यवतीर्णदेवतया वा कथितं सत् यदन्यस्मै शुभाशुभजीवितमरणादि परिकथयति स प्रश्नाप्रश्न ।

९–मूलाराधना, ३।१८१

णाणस्स केवलीण, धम्मस्साइरिय सव्वसाहूण ।

माइय अवण्णवादी, खिब्भिसिय भावण कुणइ ॥

१०–प्रवचनसारोद्धार, गाथा ६४३ :

सुयनाण केवलीण, धम्मायरियाण सघ साहूणं ।

माई अवण्णवाई, किब्बिसिय भावणं कुणइ ॥

विजयोदया में 'माथी' का अवर्णवादी की तरह ज्ञान, केवली, धर्माचार्य और सर्व साधु इन सबके सपथ सम्बन्ध जोडा गया है।[1]

४—आसुरी भावना के प्रकार—

उत्तराध्ययन	मूलाराधना	प्रवचनसारोद्धार
(१) अनुबद्ध रोष प्रसर और	(१) अनुबध रोष विग्रह ससक्त तप,	(१) सदा विग्रहशीलता,
(२) निमित्त प्रतिसेवना।	(२) निमित्त प्रतिसेवना,	(२) ससक्त तप,
	(३) निष्कृपता और	(३) निमित्त कथन,
	(४) निरनुताप।[2]	(४) निष्कृपता और
		(५) निरनुकम्पता।[3]

अनुबद्ध रोष प्रसर—सदा विग्रह करते रहना, प्रमाद हो जाने पर भी अनुताप न करना, क्षमा-याचना कर लेने पर भी प्रसन्न न होना।[4]

निमित्त प्रतिसेवना—निमित्त का प्रयोग करना।

अनुबद्ध रोष विग्रह ससक्त तप—अव्यवच्छिन्न क्रोध और कलह से सयुक्त तप करना।[5]

ससक्त तप—आहार आदि मे प्रतिबद्ध होकर उनकी प्राप्ति के लिए तप करना।[6]

५—सम्मोहा भावना के प्रकार—

उत्तराध्ययन	मूलाराधना	प्रवचनसारोद्धार
(१) शस्त्र-ग्रहण,	(१) उन्मार्ग-देशना,	(१) उन्मार्ग-देशना,
(२) विष-भक्षण,	(२) मार्ग और दूषण	(२) मार्ग-दूषण,
(३) स्वर्ग को अग्नि से जलाना,	(३) मार्ग-विप्रतिपत्ति।[7]	(३) मार्ग-विप्रतिपत्ति,
(४) जल में डूब मरना और		(४) मोह और
(५) मर्यादा से अतिरिक्त उपकरण रखना।		(५) मोह-जनन।[8]

१–मूलाराधना, विजयोदया पृ० ३९९
माई अव्वणवादी इत्येताभ्या प्रत्येक सवन्धनीयम्।

२–वही, ३।१८३
अणुबधरोसविग्गहससत्ततवो णिमित्तडिसेवी।
णिक्किवणिराणुतावी, आसुरिअ भावण कुणदि॥

३–प्रवचनसारोद्धार, गाथा ६४५
सइविग्गहसीलत्त, ससत्ततवो निमित्तकहण च।
निक्किवयावि य अवरा, पचमग निरणुकपत्त॥

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ७११
अनुबन्ध —सन्तत, कोऽर्थ ?—अव्यवच्छिन्नो रोषस्य-क्रोधस्य प्रसरो—विस्तारोऽस्येति अनुबद्धरोषप्रसर, सदा विरोधशीलतया पश्चादननुतापितया क्षमणाक्षवपि प्रसत्त्यप्राप्त्या चेत्यभिप्राय।

५–मूलाराधना, वियोदया पृ० ४०१
रोषश्च विग्रहश्च रोषविग्रहौ अनुबन्धेन रोषविग्रहौ अनुबधरोषविग्रहौ अनुबधरोषविग्रहाभ्या ससक्त सबद्ध अनुबधरोषविग्रहससक्त तपो यस्य स तथोक्त।

६–प्रवनसारोद्धार वृत्ति, पत्र १८२
ससक्तस्य—आहारोपधिशय्यादिषु सदा प्रतिबद्धभावस्य आहाराद्यर्थमेव च तप—अनशनादितपश्चरण ससक्ततप।

७–मूलाराधना ३।१८४
उम्मग्गदेसणो, मग्गदूसणो मग्गविप्पडिवणी य।
मोहेण य मोहिंतो, समोह भावण कुणइ॥

८–प्रवचनसारोद्धार, गाथा ६४६
उम्मग्गदेसणा, मग्गदूसण मग्गविपडिवित्ती य।
मोहो य मोहजणण, एव सा हवइ पचविहा॥

शस्त्र-ग्रहण—शस्त्र-ग्रहण आदि कार्यों से उन्मार्ग की प्राप्ति और मार्ग की हानि होती है। यह सम्मोहा भावना है।[1]

उन्मार्ग-देशना—मिथ्या दर्शन व अव्रत का उपदेश।

मार्ग-दूषण—मार्ग में दोष दिखलाना, जैसे—ज्ञान से ही मोक्ष होता है, दर्शन और चारित्र से क्या? चारित्र से ही मोक्ष होता है, ज्ञान से क्या?[2]

मार्ग-विप्रतिपत्ति—ज्ञान, दर्शन और चारित्र मोक्ष के मार्ग नहीं—ऐसा मानना या उन तीनों के प्रतिकूल आचरण करना।[3]

मोह—गूढ़तम तत्त्वों में मूढ़ हो जाना अथवा चारित्र-शून्य तीर्थिकों का ऐश्वर्य देखकर ललचा जाना।[4]

मोह-जनन—स्वभाव की विचित्रता या कपटवश दूसरे व्यक्तियों में मोह उत्पन्न करना।[5]

उत्तराध्ययन में इन पाँच भावनाओं के प्रकार कुछ कम हैं, मूलाराधना में उनसे अधिक हैं और प्रवचनसारोद्धार में पूरे पच्चीस हैं अर्थात् प्रत्येक भावना के पाँच-पाँच प्रकार हैं।

पाद-टिप्पण में उद्धृत मूलाराधना की गाथाओं से यह बहुत स्पष्ट होता है कि प्रारम्भ-काल में श्वेताम्बर और दिगम्बर साहित्य में अत्यधिक सामीप्य रहा है।

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ७११
सक्लेशजनकत्वेन शस्त्रग्रहणादीनामनन्तभवहेतुत्वात्, अनेन चोन्मार्गप्रतिपत्त्या मार्गविप्रतिपत्तिराक्षिप्ता, तथा चार्थतो मोही भावनोक्ता।

२—मूलाराधना, विजयोदया, पृ० ४०२
मार्गस्य दूषण नाम ज्ञानादेव मोक्ष किं दर्शनचारित्राभ्या? चारित्रमेवोपाय किं ज्ञानेनेति कथयन्मार्गस्य दूषको भवति।

३—वही, पृ० ४०२
मार्गे रत्नत्रयात्मके विप्रतिपन्न एष न मुक्तेर्मार्ग इति यस्तद्विरुद्धाचरण।

४—प्रवचनसारोद्धार वृत्ति, पत्र १८३
निकाममुपहतमतिः सन्नतिगहनेषु ज्ञानादिविचारेषु यन्मुह्यति यच्च परतीर्थिकसम्बन्धिनी नानाविधा समृद्धिमालोक्य मुह्यति स संमोह।

५—वही, पत्र १८३
तया स्वभावेन कपटेन वा दर्शनान्तरेषु परस्य मोहमुत्पादयति तन्मोहजननम्।

परिशिष्ट-२

शब्द-विमर्श

अध्ययन १

श्लोक ४

१–(सव्वसो ख, मुहरी घ) :

'सव्वसो'—सभी स्थानों मे से[1], सभी प्रकार से[2], सभी अवस्थाओं में[3]।

'मुहरी'—यह 'मुखर' शब्द का प्राकृत रूप है। शान्त्याचार्य ने इसे सौत्रिक (आर्ष) प्रयोग बतलाया है।[4] उन्होंने इसके 'मुखारि' और 'मुघारि'—ये दो रूप और दिए हैं, किन्तु उनमें 'मुखर' की सी सहजता नहीं है।[5]

श्लोक ५

२–(दुस्सीले, मिए घ)

'दुस्सीले'—चूर्णि में इसका अर्थ 'दुःशील का भाव' किया गया है।[6]

'मिए' मृग—का अर्थ—पशु या हिरण हो सकता है। यहाँ समास प्रक्रिया के अनुसार इसका अर्थ है 'वह पुरुष जो पशु या हिरण की भाँति अज्ञानी हो'।[7]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४५
'सव्वसो' त्ति सर्वत सर्वेभ्यो गोपुरगृहाङ्गणादिभ्य ।

२–वही, पत्र ४५
(क) सर्वान् वा हतहतेत्यादिविहक्षवदनलताल्कुटलेष्टुघाताविकान् प्रकारानाश्रित्य 'छन्दोवत सूत्राणि भवन्ती'ति छान्दसत्वाच्च सूत्रे शस्प्रत्यय ।
(ख) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २७
'सव्वसोत्ति' सव्वपागार ।

३–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २७
सव्वसोत्ति सर्वावस्थासु वा।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ४५ .
सूत्रत्वाद्वा 'मुहरि' त्ति मुखरो—वाचाटो ।

५–वही, पत्र ४५
मुखेनारिमावहति मुखमेव वेहपरलोकापकारितयाऽरिरस्य मुदैव वा कार्यं विनैवारयो यस्यासौ मुखारिर्मुघारिर्वा— बहुविधास-म्बद्धभाषी।

६–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २७ ·
दुःशीलभावो दौ शील्य तस्मिन् दौस्सील्ये ।

७–बृहद् वृत्ति, पत्र ४५
मृग इव मृग' अज्ञत्वादविनीत इति प्रक्रम ।

श्लोक ६

३–दुःशील मनुष्य के (नरस्स ख) :

यहाँ 'नर' शब्द उपमेय है, 'साण' और 'सूयर'—ये उपमान है। शान्त्याचार्य ने उपमावाची 'इव' शब्द को गम्यमान कहा है।[1]

श्लोक १०

४–(कालेण ग) :

चूर्णि मे 'कालेण' को सप्तमी तथा दोनो वृत्तियों में तृतीया विभक्ति मान कर इसकी व्याख्या की गई है।[2]

श्लोक ११

५–(आहच्च क) :

वृहद् वृत्ति में 'आहच्च' का सस्कृत रूप 'आहत्य' और उसका अर्थ 'कदाचित्' किया गया है।[3] चूर्णि में 'कदाचित्' और 'सहसा'—ये दो अर्थ प्राप्त है।[4]

पिशेल ने इसको अर्धमागधी का शब्द मान कर इसका सस्कृत रूप 'आहत्य' किया है।[5] देशीनाममाला में इसका अर्थ 'अत्यर्थ' किया गया है।[6] शौरसेनी में यह शब्द 'आहणिअ' के रूप में मिलता है। प्रस्तुत प्रकरण में 'सहसा' अर्थ अधिक उपयुक्त लगता है।

श्लोक २०

६–(वाहिन्तो क) :

'वाहिन्तो'—चूर्णि और दोनो वृत्तियो में 'वाहिन्तो' पाठ है। उसका सस्कृत रूप 'व्याहृत' है।[7] उत्तरवर्ती प्रतियो में यह पाठ 'वाहित्तो' के रूप मे प्राप्त है। इसी आधार पर पिशेल ने इसका सस्कृत रूप 'व्याक्षिप्त' किया है।[8] पर 'व्याक्षिप्त' का प्राकृत रूप 'वक्खित्त' होता है। अत शब्द और अर्थ दोनो दृष्टियों से यह उचित नही।

१–वृहद् वृत्ति, पत्र ४६

'साणस्स' त्ति प्राकृतत्वादिवेत्यस्य गम्यमानत्वात् शून्या इव 'सूकरस्य' उक्तन्यायेन शूकरोपमस्य नरस्य।

२–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २९

योहि यस्य अध्ययनस्य काल कालिकस्येतरस्य वा तस्मिन् काले।

(ख) वृहद् वृत्ति, पत्र ४७

काल अध्ययनाद्यवसर प्रथमपौरुष्यादिस्तेन।

(ग) सुखबोधा, पत्र ३

'कालेन' प्रथमपौरुष्यादिलक्षणेन।

३–वृहद् वृत्ति, पत्र ४८

'आहत्य' कदाचित्।

४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २९

आहच्चेति कदाचित, यदिह नाम कदाचिन्निग्रह परस्यापि सत सहसा ।

५–पिशेल, प्राकृत भाषाओ का व्याकरण, पैरा ५९१, पृ० ८३६।

६–देशीनाममाला, १।६२

आहच्च अत्यर्थ।

७–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पत्र ३५

वाहिंतो णा सद्दितो।

(ख) वृहद् वृत्ति, पत्र ५५

'वाहिंतो' त्ति व्याहृत —शब्दित ।

(ग) सुखबोधा, पत्र ८।

८–पिशेल, प्राकृत भाषाओ का व्याकरण, पैरा २८६, पृ० ४०६।

श्लोक ३३

७–(अइक्कमे घ) :

इसका धातुगत अर्थ है 'अतिक्रमण करना, उल्लंघन करना'। परन्तु प्रकरण की दृष्टि से इसका अर्थ 'प्रवेश करना' ही संगत लगता है[1], कारण कि इससे पूर्व 'लंघिया' शब्द (जिसका अर्थ है—लाँघ कर) आ चुका है।

श्लोक ३८

८–(खड्डुया क) :

'खद' धातु का अर्थ है—तोड़ना, एकान्त, फाड़ना (धातुपाठ, ३२।१४)। खड्इ—मृद्नाति (हेमशब्दानुशासन, ४।१२६)।

श्लोक ४१

९–(पत्तिएण ख, पजलिउडो ग) :

'पत्तिएण'—शान्त्याचार्य के अनुसार इसके संस्कृत रूप दो होते हैं—(१) प्रातीतिकेन और (२) प्रीत्या। प्रातीतिक के दो अर्थ किए गए हैं—(१) शपथ और (२) प्रतीति उत्पादक वचन।[2] उन्होंने मुख्य अर्थ 'प्रातीतिक' किया है। नेमिचन्द्र ने इसका मुख्य अर्थ 'प्रीत्या'—प्रेम से किया है।[3]

'पजलिउडो'—शान्त्याचार्य के अनुसार इसके दो संस्कृत रूप बनते हैं—(१) प्रकृताञ्जलि और (२) प्राञ्जलिपुट।[4] नेमिचन्द्र ने दूसरे रूप को मान्य किया है।[5]

श्लोक ४२

१०–(धम्मज्जिय क) :

चूर्णि के अनुसार इसका संस्कृत रूप 'धर्मजीतम्' होता है। ईकार का ह्रस्व करने पर 'धम्मज्जिय' पाठ बन गया है।[6] बृहद् वृत्ति और सुखबोधा के अनुसार इसका संस्कृत रूप 'धर्मार्जितम्' होता है।[7]

इस श्लोक के तीसरे चरण में 'तत्' शब्द का प्रयोग है। यत् और तत् का नित्य सम्बन्ध होता है। इस आधार पर शान्त्याचार्य ने 'धम्मज्जिय', 'ववहार' और 'बुद्धेहायरिय'—इन तीन शब्दों की द्वितीया विभक्ति के स्थान में प्रथमा विभक्ति भी मानी है।[8]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ६०
'अतिक्रामेत्' प्रविशेत्।

२–वही, पत्र ६३
'पत्तिएण' ति आर्षत्वात् प्रतीतिः प्रयोजनमस्येति प्रातीतिक—शपथादि, सर्वमपि वा प्रतीत्युत्पादक वच प्रातीतिक तेन प्रसादयेत्, यद्वा 'पत्तिएण' ति प्रीत्या साम्नैव।

३–सुखबोधा, पत्र १४
पत्तिएण ति प्रीत्या साम्नैव।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ६३।

५–सुखबोधा, पत्र १४।

६–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ४३
धार्मिक जीत—धम्मज्जीत, इकदारस्य ह्रस्वत्व काउ।

७–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ६४
धर्मेण—क्षान्त्यादिरूपेणार्जितम्।
(ख) सुखबोधा, पत्र १४।

८–बृहद् वृत्ति, पत्र ६४
यद्वा—यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात् सुब्व्यत्ययाच्च धर्मार्जितो बुद्धराचरितश्च यो व्यवहारस्तमाचरन्।

अध्ययन २

श्लोक १

१–(मे घ) :

'मे'—इसका अर्थ है—आपका 'भवताम्' । पिशेल ने (पैरा ४२२) इसे 'तुब्भे' 'तुम्हे' का सक्षिप्त माना है । वेबर तथा ल्यूमेन ने इसे सस्कृत 'भो' नही मान कर 'भवताम्' के अर्थ में ही स्वीकार किया है ।[१]

श्लोक १०

२–(समरेव ख) :

चूर्णिकार ने 'समरे' का अर्थ 'युद्ध' किया है ।[२] शान्त्याचार्य के अनुसार मूल शब्द 'सम-एव' है । परन्तु प्राकृत व्याकरण की दृष्टि से 'ए' का 'रेफ' हो जाने पर 'समरेव' शब्द बना है ।[३] वे वैकल्पिक रूप में चूर्णिकार का अनुगमन कर 'समरे' को 'सगाम सीसे' का विशेषण मानते है ।[४]

श्लोक १५

३–(आय-रक्खिए ख) :

शान्त्याचार्य ने इसके दो सस्कृत रूप देकर दो भिन्न-भिन्न अर्थ किए हैं—

(१) आत्म-रक्षित —जिसने आत्मा की रक्षा की है ।

(२) *आय-रक्षित* —जिसने ज्ञानादि लाभ की रक्षा की है ।

'आहिताग्न्यादिषु के द्वारा 'रक्षित' का परनिपात हुआ है ।[५]

श्लोक २०

४–(अकुक्कुओ ग) :

शान्त्याचार्य ने इसके दो सस्कृत रूप दिए ह—(१) अकुक्कुच और (२) अकुत्कुच । इनके क्रमश अर्थ है—अशिष्ट चेष्टा-रहित और अस्पन्दमान ।[६]

१–पिशेल, प्राकृत भाषाओ का व्याकरण, पृ० ६२१-६२२ ।

२–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ५८ ।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ९१
'समरे व' त्ति 'एदोदुरलोपा विसर्ज्जनीयस्ये' ति रेफात, तत सम एव—तदगणनया स्पृष्टास्पृष्टावस्थयोस्तुल्य एव ।

४–वही, पत्र ९१
यद्वा समन्तादरय —शत्रवो यस्मिन्तत्समर तस्मिन्निति सग्रामशिरोविशेषणम् ।

५–वही, पत्र ९९
आत्मा रक्षित दुर्गतिहेतोरपध्यानादेरनेनेत्यात्मरक्षित, आहिताग्न्यादिषु दर्शनात क्तान्तस्य परनिपात, आयो वा—ज्ञानादिलाभो रक्षितोऽनेनेत्यायरक्षित ।

६–वही, पत्र १०९
अकुक्कुच अशिष्टचेष्टारहितो यद्वा 'अकुक्कुए' त्ति अकुत्कुच—कुन्थ्वादि विराधनाभयात्कर्मबन्धहेतुत्वेन कुत्सित हस्तपादादिनिरस्पन्दमान ।

श्लोक ३३

५–(संचिक्ख ख) :

संस्कृत में इसके दो रूप होते हैं—(१) संतिष्ठेन[1] और (२) समीक्ष्य।[2]

श्लोक ३६

६–(साय नो परिदेवए घ) :

यहाँ 'साय' में द्वितीया विभक्ति है। चूर्णिकार ने इसका अर्थ 'साता को न बुलाए' किया है।[3] इसका तात्पर्य है कि परीषह उत्पन्न होने पर मुनि सुख के लिए प्रलाप न करे।

टीकाकार ने इसका अर्थ 'सात का आश्रय लेकर' किया है।[4] अत इसमें चतुर्थी विभक्ति का अर्थ निहित है।

श्लोक ४०

७–(से क) :

'से' शब्द 'अथ' अर्थवाची मागधी शब्द है।[5] चूर्णिकार ने इसे 'पूरण' या 'आत्म-निर्देशवाची' माना है।[6]

श्लोक ४२

८–(सक्ख ग) :

'सक्ख'—इसका अर्थ है 'साक्षात्'।[7] यही शब्द इसी ग्रन्थ के १२।३७ में इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। चूर्णिकार ने 'समक्ख' पाठ मान कर उसका अर्थ 'साक्षात्' किया है।[8]

१–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ७७
सम्यक् तिष्ठने सचिक्खे।
(ख) सुखबोधा, पत्र ४६
'संचिक्षेत' समाधिना तिष्ठेत्, न कूजितकर्करायितादि कुर्यात्।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र १२०
'समीक्ष्य' स्वकर्मफलमेवैतत् भुज्यत इति पर्यालोच्य, यद्वा 'सचिक्ख'त्ति 'अचा सन्धि लोपौ बहुलम्' इत्येकारलोपे 'सचिक्खे' समाधिना तिष्ठेत, न कूजनकर्करायतादि कुर्यात।

३–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ८०
परिदेवन नाम सातमाह्वयति।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र १२३
'सात' सुखम्, आश्रित्येति शेष 'नो परिदेवेत्' न प्रलपेत्—कथ कदा वा ममैव मलदिग्धदेहस्य सुखानुभव स्यात्?

५–वही, पत्र १२६
से शब्दो मागधप्रसिद्ध्याऽथशब्दार्थ उपन्यासे।

६–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ८२
से इति पूरणे आत्मनिर्देशे वा।

७–बृहद् वृत्ति, पत्र १२८
'सक्ख' साक्षात्।

८–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ८४
'समक्ख' णाम सहसाक्षिम्या साक्षात समक्ष तो साक्षात्।

अध्ययन ३

श्लोक २

१–(विस्संभिया घ) :

प्राकृत व्याकरण के अनुसार 'अनुस्वार' को अलाक्षणिक मान कर इसका संस्कृत रूप 'विश्व-भृत्' किया गया है।[1] इसका संस्कृत रूप 'विश्रम्भित' भी हो सकता है।

जैन-दर्शन की यह मान्यता है कि समूचे विश्व में ऐसा कोई भी स्थान नहीं जहाँ जीव उत्पन्न न हुआ हो, न मरा हो। इसी आशय की पुष्टि करते हुए शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है—

णत्थि किर सो पएसो, लोए वालग्गकोडिमित्तोऽपि।
जम्मणमरणाबाहा जत्थ जिएहि न सपत्ता ॥[2]

श्लोक ६

२–(अमाणुसासु ग) :

चूर्णि और सुखबोधा के अनुसार इसका संस्कृत रूप 'अमानुषीषु'[3] और बृहद् वृत्ति के अनुसार 'अमानुष्यासु'[4] बनता है। व्याकरण की दृष्टि से दोनों शुद्ध हैं।

श्लोक १३

३–(पक्कमई ग) :

'पक्कमई'—इस श्लोक के प्रथम दो चरणों में मध्यम पुरुष की क्रिया है और अन्तिम चरण में प्रथम पुरुष की। इससे जान पड़ता है कि प्रथम दो चरणों में उपदेश है और अन्तिम दो चरणों में सामान्य निरूपण है।

शान्त्याचार्य के अनुसार 'ऐसा करने वाला पार्थिव शरीर को छोड़ कर ऊर्ध्व दिशा (स्वर्ग या मोक्ष) को प्राप्त होता है' इस अर्थ के आगे इतना और जोड़ देना चाहिए—'इसलिए तू भी ऐसा कर।'[5]

श्लोक १४

४–(विसालिसेहिं क) :

यहाँ 'र' के स्थान में 'ल' का प्रयोग है। उसे टीकाकारों ने मगधदेशीय भाषा का शब्द माना है।[6]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र १८१-१८२
'विस्संभिय' त्ति बिन्दोरलाक्षणिकत्वाद् विश्वं—जगद् बिभ्रति—पूरयन्ति कदाचित्कदाचिदुत्पत्त्या सर्वजगद्व्यापनेन विश्वभृतः।

२–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र १८२।
(ख) सुखबोधा, पत्र ६७।

३–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ९७
मानुषाणामिय मानुषी न मानुषी अमानुषी।
(ख) सुखबोधा, पत्र ६८
अमानुषीषु।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र १८३
मनुष्याणामिमा मानुष्या न तथाऽमानुष्या, तासु।

५–वही, पत्र १८६
यद्वा सोपस्कारत्वात् सूत्राणामेव नीयते—स एवं कुर्वन् मानवतनुरूर्ध्वं दिशं प्रक्रामति तस्मात्त्वमपीत्थं विधेहि इत्यभिसम्बध्य च कुर्वित्युपदिश्यते।

६–वही, पत्र १८७
'विसालिसेहिं' ति मागधदेशीयभाषया विसदृशैः—अन्यान्यचारित्रमोहनीयकर्मक्षयोपशमापेक्षया विभिन्नैः।

अध्ययन ४

श्लोक ४

१-(ते ग)

चूर्णिकार और टीकाकारो ने इसको 'तव' मान कर व्याख्या की है। परन्तु 'ते बाधवा'—ऐसे भी हो सकना है।[1]

अध्ययन ५

श्लोक १

१-(दुरुत्तरं ख) :

चूर्णिकार ने इसको क्रिया विशेषण माना है।[2] शान्त्याचार्य ने विभक्ति व्यत्यय के द्वारा इसे 'अर्णव' का विशेषण और विकल्प में क्रिया विशेषण भी माना है।[3] नेमिचन्द्र केवल 'अर्णव' का ही विशेषण मानते है।[4]

श्लोक ७

२-(होक्खामि क

'होक्खामि' शब्द का चूर्णिकार और नेमिचन्द्र ने सस्कृत रूप 'भविष्यामि' किया है।[5] शान्त्याचार्य ने 'भविष्यामि' और 'भोक्ष्यामि'— ये दो रूप किए हैं।[6]

इस प्रकरण में 'भोक्ष्यामि' रूप भी सगत हो सकता है, किन्तु 'भविष्यामि' अधिक उपयुक्त है। २।१२ में 'होक्खामि' और 'होक्ख' दोनो भविष्यामि के अर्थ में प्रयुक्त हैं।[7]

१-(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ११३।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र २०९।
(ग) सुखबोधा, पत्र ८२।

२-उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३० :
दुक्ख उत्तरिज्जतीति दुरुत्तर।

३-बृहद् वृत्ति, पत्र २४१
'दुरुत्तर' ति विभक्तिव्यत्ययाद्दुरुत्तरे—दु खेनोत्तरितु शक्ये, दुरुत्तरमिति क्रियाविशेषण वा।

४-सुखबोधा, पत्र १०१
'दुरुत्तर' ति विभक्तिव्यत्ययात्—'दुरत्तरे' दु खोत्तारे।

५-(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३२
'भविष्यामि'।
(ख) सुखबोधा, पत्र १०३
भविष्यामि।

६-बृहद् वृत्ति, पत्र २४४
जनो—लोकस्तेन 'सार्द्ध' सह भविष्यामि यद्वा 'होक्खामि' त्ति भोक्ष्यामि।

७-(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ६०।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ९२।
(ग) सुखबोधा, पत्र २२

अध्ययन ६

श्लोक २

१—(कप्पए घ) :

इसका संस्कृत रूप है—'कल्पयेत्'। 'कल्प' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। जैसे—

सामर्थ्ये वर्णनाया च, छेदने करणे तथा।
औपम्ये चाधिवासे च, कल्प शब्द विदुर्बुधा ॥

प्रस्तुत प्रसग में 'कल्प' शब्द 'करण' के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। 'कप्पए' अर्थात् करे।[1]

अध्ययन ७

श्लोक १७

१- (आवई ख वहमूलिया ख) :

'आवई'—चूर्णिकार और नेमिचन्द्र के अनुसार इसका संस्कृत रूप 'आपदा' या 'आपत्' प्राप्त होता है।[2] शान्त्याचार्य ने मूलत इसको क्रिया मान कर आगच्छति, आपपति—किया है और विकल्प मे 'आपत्' भी किया है।[3]

'वहमूलिया'—चूर्णि के अनुसार इसका संस्कृत रूप 'व्यधमूलिका' और वृहद् वृत्ति व सुखबोधा के अनुसार 'वधमूलिका' होता है। 'व्यध' का अर्थ प्रमारण या ताडन और 'वध' का अर्थ प्राणिघात, विनाश या ताडन किया गया है।[4]

१—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १४६-१५० ।

२—(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६४
शीतोष्णाद्या व्याधयश्च आवती
(ख) सुखबोधा, पत्र १२०
'आवइ' त्ति आपत्।

३—वृहद् वृत्ति, पत्र २८०
'आवइ' त्ति आगच्छत्यापतति 'आवइ' त्ति आपत्।

४—(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६४
व्यधस्तु प्रमारण ताडन वा मूलेतु वा आदौ व्यध इत्यर्थ ।
(ख) वृहद् वृत्ति, पत्र २८०
वध —प्राणिघात, उपलक्षणत्वान्महारम्भमहापरिग्रहानृतभाषणमायादयश्च मूल— कारण यस्या सा वधमूलिका, वधो विनाशस्ताडन वा मूलम्—आदिर्यस्या सा वधमूलिका।
(ग) सुखबोधा, पत्र १२०
वध —विनाशो वा ताडन मूल—आदिर्यस्या सा।

अध्ययन ६

श्लोक १

१–(सरई घ) :

'सरई' वर्तमान काल का रूप है। शान्त्याचार्य ने 'स्म' को 'शेष' माना है।[1] 'स्मरतिस्म' अर्थात् याद किया—स्मृति हुई। नेमिचन्द्र और कमलसयम ने उस समय की अपेक्षा से वर्तमान का रूप माना है।[2]

श्लोक २

२–(सहसंबुद्ध ख) :

'सहसबुद्ध'—स्वय-सबुद्ध। शान्त्याचार्य ने 'सह' का अर्थ 'स्वय' किया है।[3] इसका सस्कृत रूप 'स्वक' होता है।[4] स्वकेन सबुद्ध =सह-सबुद्ध अर्थात् अपने आप प्रतिबुद्ध। 'सह' का वैकल्पिक रूप 'सहसा' भी किया है। 'सहसा' के स्थान में 'सह' को आर्ष-प्रयोग माना है। 'सहसा सबुद्ध सहसबुद्ध' अर्थात् जाति-स्मृति के बाद तुरन्त प्रतिबुद्ध।[5]

श्लोक ३

३–(देवलोगसरिसे क) :

यहाँ 'भोग' शब्द लुप्त है। देवलोक-सदृश अर्थात् देवलोक के भोगो के सदृश।[6]

श्लोक ५

४–(भूयं क) :

इसके दो अर्थ किए गए है—(१) जात (हुआ) और (२) सदृश।[7] जहाँ 'भूत' का 'जात' अर्थ है, वहाँ 'भूत' शब्द का परनिपात प्राकृत के नियमानुसार हुआ है।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३०६
'स्मरति' चिन्तयति, स्मेति शेष, वर्तमाननिर्देशो वा प्राग्वत्।

२–(क) सुखबोधा, पत्र १४५
वर्त्तमाननिर्द्देश सर्वत्र तत्कालविवक्षया।

(ख) सर्वार्थसिद्धि, पृ० २०४ :
वर्तमानत्व तत्कालापेक्षया।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ३०६
सहत्ति—स्वयमात्मनैव सम्बुद्ध—सम्यगवगततत्त्व सहसम्बुद्धो, नान्येन प्रतिबोधित इत्यर्थ।

४–पाइअसद्दमहण्णवो, पृ० ११०९।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ३०६
अथवा 'सहस' त्ति आर्षत्वात् सहसा—जातिस्मृत्यनन्तर झगित्येव बुद्ध।

६–वही, पत्र ३०६
'देवलोगसरिसे' त्ति देवलोकभोगै सदृशा देवलोकसदृशा, मयूरव्यसकादित्वान्मध्यपदलोपी समास।

७–वही, पत्र ३०७।

श्लोक ६

५–(पव्वज्जाठाणमुत्तमं [ख]) :

यहाँ 'प्रति' शेष है। उत्तम स्थान के प्रति अथवा सप्तमी के स्थान में प्राकृत में द्वितीया है।[१]

श्लोक २८

६–(आमोसे [क]) :

इस श्लोक में आमोष आदि को द्वितीया का बहुवचन मान कर व्याख्या की है, वहाँ 'उत्पाद्य' का 'अध्याहार' किया है और वैकल्पिक रूप में सप्तमी का एकवचन मान कर भी व्याख्या की है। आमोष आदि का उत्पादन कर—निग्रह कर अथवा आमोष आदि के होते हुए नगर जो अशान्त है, उसे शान्त बना तुम मुनि बन जाना।[२]

श्लोक ३२

७–(नराहिवा ! [ख]) :

यह सम्बोधन है। प्राकृत में ह्रस्व के स्थान में दीर्घ भी हो जाता है, इसलिए 'नराहिव' का रूप 'नराहिवा' हुआ है।[३]

हेमचन्द्र के अनुसार ह्रस्व का दीर्घ और दीर्घ का ह्रस्व समास में ही होता है।[४]

श्लोक ३५

८–(एहए [घ]) :

'एध्' धातु अकर्मक है। इसका अर्थ है 'वृद्धि होना'। धातु अनेकार्थक होते हैं—इस न्याय से इसका अर्थ 'प्राप्त करना' भी होता है। 'सुहमेहए' अर्थात् सुख को प्राप्त करता है। सुख को बढ़ाता है—यह इसका वैकल्पिक अर्थ है।[५]

श्लोक ५१

९–(अब्भुदए [क]) :

इसका संस्कृत रूप 'अभ्युदये' होना चाहिए। शान्त्याचार्य ने वैकल्पिक रूप में ऐसा किया भी है।[६] पर मुख्यतया उन्होंने इसका संस्कृत रूप 'अद्भुतकान्' किया है।[७] व्याकरण की दृष्टि से 'अद्भुत' की अपेक्षा 'अभ्युदय' ही संगत है।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३०७

प्रव्रज्यास्थान, प्रतीति शेष, 'उत्तम' प्रधान, सुब्व्यत्ययेन सप्तम्यर्थे वा द्वितीया, तत प्रव्रज्यास्थान उत्तमे।

२–वही, पत्र ३१०-३११।

३–वही, पत्र ३१३

'नराहिवा' इत्यत्र आकारो 'ह्रस्वदीर्घौ मिथ' इतिलक्षणात्।

४–हैमशब्दानुशासन, ८।१।४

दीर्घ-ह्रस्वौ मिथोवृत्तौ।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ३१४

सुखम्' ऐकान्तिकात्यन्तिकमुक्तिसुखात्मकम् 'एधते' इत्यनेकार्थत्वाद्धातूना प्राप्नोति, अथवा 'सुहमेहए' त्ति सुख—पुण्यमेधते—अन्तर्भावितण्यर्थत्वात् वृद्धि नयति।

६–वही, पत्र ३१७

'अब्भुदए' त्ति अभ्युदये, ततश्च यदभ्युदयेऽपि भोगानपि जहासि तदाश्चर्यं वर्तते।

७–वही, पत्र ३१७

'अब्भुदए' त्ति अद्भुतकान् आश्चर्यरूपान्।

अध्ययन १०

श्लोक २०

१–(कामगुणेहि मुच्छिया ग) :

'कामगुणेहि' का अर्थ सप्तमी और तृतीया दोनो विभक्तियो के द्वारा किया जा सकता है—'कामगुणों में मूर्च्छित' अथवा 'कामगुणों के द्वारा मूर्च्छित'।[1]

श्लोक २१

२–(परिजूरइ क) :

इसका सस्कृत रूप 'परिजीर्यति' होता है और प्राकृत में 'निद्'[2] और 'खिद्'[3] धातु को 'जूर्' आदेश होता है, इसलिए 'परिजूरइ' का अनुवाद 'जीण हो रहा है' के अतिरिक्त 'अपने आपको कोस रहा है' या 'खिन्न हो रहा है' भी हो सकता है।

अध्ययन ११

श्लोक ७

१–(अभिक्खणं क) :

बृहद् वृत्ति के अनुसार इसके सस्कृत रूप 'अभीक्ष्ण' और 'अभिक्षण'—ये दो बनते है। 'अभीक्ष्ण' का अर्थ—'बार-बार' और 'अभिक्षण' का अर्थ 'निरन्तर' है।[4]

श्लोक ३१

२–(समुद्दगम्भीरसमा क) :

व्याकरण की दृष्टि से यह 'समुद्दसमगम्भीरा' होना चाहिए था, किन्तु छन्द-रचना की दृष्टि मे 'गम्भीर' का पूर्व निपात हुआ है। बृहद् वृत्ति के अनुसार 'गाम्भीर्य' के स्थान में 'गम्भीर' का आर्ष-प्रयोग हुआ है।[5]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३३७।

२–वही, पत्र ३३८

यद्वा 'परिजूरइ' त्ति 'निन्देर्जूर' इति प्राकृतलक्षणात् परिनिन्दतीवाऽऽत्मानमिति गम्यते, यथा—धिग्मा कीदृश जातमिति।

३–हेमशब्दानुशासन, ८।४।१३२

खिदेर्जूरविसूरौ।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ३४६

'अभीक्ष्ण' पुन पुन, यद्वा—क्षण क्षणमभि अभिक्षणम्—अनवरतम्।

५–वही, पत्र ३५३

'समुद्दगम्भीरसम' त्ति आर्षत्वाद्गाम्भीर्येण—अलब्धमध्यात्मकेन गुणेन समा गाम्भीर्यसमा समुद्रस्य गाम्भीर्यसमा समुद्र-गाम्भीर्यसमा।

अध्ययन १२

श्लोक २

१–(समिईसु ख) :

यह एकवचन के स्थान पर बहुवचन है। 'समिति' शब्द मध्य में स्थित है, इसलिए यह 'ईर्या' आदि सबके साथ जुड़ जाता है। पहले और दूसरे चरण का समास करने से यह बहुवचन भी हो सकता है। समास करने पर 'भासाए' का 'ए' अलाक्षणिक मानना चाहिए।[1]

श्लोक ७

२–(क्खलाहि घ) :

शान्त्याचार्य ने 'खल' धातु को देशी-पद माना है। इसका अर्थ है—'अपसरण करना', 'आँखों से परे हो जाना'[2], 'अवज्ञापूर्वक चले जाना।'[3]

श्लोक १५

३–(उच्चावयाइ ग) :

इसके संस्कृत रूप दो बन सकते हैं—(१) उच्चावचानि और (२) उच्चव्रतानि। 'उच्चावच' का अर्थ है—'ऊँच-नीच घर' या 'नाना प्रकार के तप'। 'उच्चव्रत' अर्थात् दूसरे व्रतों की अपेक्षा से महान् व्रत—महाव्रत।[4] मुनि ऊँच-नीच घरों में भिक्षा के लिए चरण करते हैं अथवा नाना प्रकार के तपों और महाव्रतों का आचरण करते हैं।

श्लोक १७

४–(अज्ज घ) :

इसके संस्कृत रूप दो बनते हैं—(१) अद्य (=आज) और (२) आर्य।[5]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३५७
'उच्चारसमिएसु' त्ति एकत्वेऽपि बहुवचनं सूत्रत्वात्, समितिशब्दश्च मध्यव्यवस्थितो डमरुकमणिरिवाद्यन्तयोरपि सम्बध्यते, ततश्च ईर्यासमितावेषणासमितौ भाषासमितावादाननिक्षेपसमिताविति योज्यं, यद्वा ईर्येषणाभाषोच्चारसमितिष्वित्येकमेव पदं, 'भासाए' इति च एकारोऽलाक्षणिकः।

२–वही, पत्र ३५९
'खलाहि' त्ति देशीपदमपसरेत्यस्यार्थे वर्त्तते।

३–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०४।

४–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०६
उच्चावय नाम नानाप्रकार, नानाविधानि तपांसि, अहवा उच्चावयानि शोभनशीलानि।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ३६२-६३
'उच्चावयाइं' ति उच्चावचानि—उत्तमाधमानि मुनयश्चरन्ति—भिक्षानिमित्तं पर्यटन्ति गृहाणि, यदिवोच्चावचानि—विकृष्टाविकृष्टतया नानाविधानि, तपांसीति गम्यते, उच्चव्रतानि वा शेषव्रतापेक्षया महाव्रतानि।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ३६३
'अज्ज' त्ति अद्य मे यज्ञास्यैवमिदानीमारब्धयज्ञाना यद्वा 'अज्ज' त्ति हे आर्या।

श्लोक १८

५–(खत्ता क) :

'खत्ता' के संस्कृत रूप दो हो सकते हैं—(१) क्षत्रा और (२) क्षत्ता । क्षत्र का अर्थ 'क्षत्रिय' और क्षत्ता का अर्थ 'वर्णसङ्कर' है ।[1]

श्लोक २४

६–(जक्खा घ) :

यक्ष के परिवार में अनेकों सदस्य थे, इसलिए यहाँ बहुवचन का प्रयोग हुआ है ।[2]

श्लोक २७

७–(महेसी क) :

इसके संस्कृत रूप दो बनते हैं—(१) महैषी और (२) महर्षि । महैषी का अर्थ है 'मोक्ष की खोज करने वाला' और महर्षि का अर्थ है 'महान् ऋषि' ।

बृहद् वृत्तिकार को दोनों अर्थ अभिमत हैं ।[3] चूर्णिकार को पहला अर्थ अभिमत है ।[4]

श्लोक ३२

८–(अत्थि ख) :

'अत्थि' (अस्ति) अर्थात् है । उसके उपलक्षण से 'था' और 'होगा' का भी ग्रहण कर लेना चाहिए ।[5]

श्लोक ३४

९–(ते क) :

बृहद् वृत्ति के अनुसार प्रथम और द्वितीय चरण में जो 'ते' है, वह 'षष्ठी' विभक्ति का एकवचन है और वैकल्पिक रूप से विभक्ति का व्यत्यय करने पर द्वितीया विभक्ति का एकवचन है ।[6]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३६३

'क्षत्रा' क्षत्रियजातयो वर्णसङ्करोत्पन्ना वा ।

२–वही, पत्र ३६५

यक्षा, यक्षपरिवारस्य बहुत्वात् बहुवचनम् ।

३–वही, पत्र ३६६

'महेसि' त्ति महान्—बृहन् शेषस्वर्गाद्यपेक्षया मोक्षस्तमिच्छति—अभिलषतीति महदेषी महर्षिर्वा ।

४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०८

महात एसतीति महेसी, निर्वाणमित्यर्थ ।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ३६८

अस्तीत्युपलक्षणत्वादासीद् भविष्यति च ।

६–वही, पत्र ३६८-६९ ।

श्लोक ३९

१०–(कुसं क) :

प्रथम चरण के कुश आदि जो कर्म है, उनके लिए 'परिगृह्णन्त' क्रिया शेष है।[1]

श्लोक ४५

११–(सन्तितित्थे क) :

चूर्णि और बृहद् वृत्तिकार ने 'सन्ति' का अर्थ—'शान्ति' या 'सन्ति' (अस् धातु का बहुवचन) किया है। इसका अर्थ शान्ति मानने पर 'तीर्थ' में एकवचन है। 'सन्ति' क्रिया मानने पर बहुवचन है।[2] बृहद् वृत्ति के अनुसार तीर्थ का अर्थ 'पुण्यक्षेत्र' या 'संसार-समुद्र को तैरने का उपायभूत घाट' है। चूर्णि के अनुसार तीर्थ के दो भेद हैं—(१) द्रव्यतीर्थ और (२) भावतीर्थ। प्रभास आदि 'द्रव्यतीर्थ' कहलाते हैं और ब्रह्मचर्य 'भावतीर्थ' या 'शान्तितीर्थ' कहलाता है।[3]

श्लोक ४६

१२–(बम्भे सन्तितित्थे क) :

शान्त्याचार्य के अनुसार इसका एक अर्थ यह होता है कि 'ब्रह्मचर्य शान्तितीर्थ' है। दूसरा अर्थ 'मतु' प्रत्यय का लोप तथा ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचारी का अभेद मान लेने पर यह होता है कि 'ब्रह्मचारी' तीर्थ है। इस अर्थ में 'बम्भे' में वचन-व्यत्यय माना जाएगा।[4]

१३–(अत्तपसन्नलेसे ख) :

इसका संस्कृत रूप 'आत्मप्रसन्नलेश्य' या 'आप्तप्रसन्नलेश्य' होता है। यहाँ लेश्या का अर्थ 'मानसिक परिणाम' है। लेश्या दो प्रकार की होती है—(१) प्रसन्न (धर्म) और (२) अप्रसन्न (अधर्म)। आत्मा की प्रसन्न—सर्वथा अकलुषित लेश्या जहाँ होती है, उसे 'प्रसन्न-लेश्य' कहा गया है। आप्त पुरुष के द्वारा प्रसन्न लेश्या का निरूपण हो अथवा जहाँ प्रसन्न लेश्या प्राप्त हो, उस धर्म या शान्तितीर्थ को 'आप्त-प्रसन्न-लेश्य' कहा गया है।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३७०
सर्वत्र परिगृह्णन्त इति।

२–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २१२
'सन्तितित्थे'त्ति शमनं शान्तिः, शान्तिरेव तीर्थं, अथवा सन्तीति विद्यन्ते, कतराणि सन्ति तित्थाणि ?

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ३७३
'संतितित्थे' त्ति किं च ते—तव शान्त्यै—पापोपशमननिमित्तं तीर्थं—पुण्यक्षेत्रं शान्तितीर्थं, अथवा 'कानि च' किंरूपाणि 'ते तव 'सन्ति' विद्यन्ते तीर्थानि' संसारोदधितरणोपायभूतानि।

३–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २१२
तित्थं दुविहं—दव्वतित्थं भावतित्थं च, प्रभासादीनि द्रव्यतीर्थानि, तीर्थानामुपरोधगामीनोभिहितात्मा न शान्तितीर्थानि भवन्ति, यस्तु आत्मनः परेषां च शान्तये तद्भावतीर्थं भवति ब्रह्म एव शान्तितीर्थम्।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ३७३
ब्रह्मेति—ब्रह्मचर्यं शान्तितीर्थं अथवा 'ब्रह्मे'ति ब्रह्मचर्यवन्तो मतुब्लोपादभेदोपचाराद्वा साधव उच्यन्ते, सुव्यत्ययाच्चैकवचनं, 'तानि' विद्यन्ते तीर्थानि ममेति गम्यते।

'आत्मप्रसन्न-लेश्य' यह धर्म और शान्तितीर्थ दोनों का विशेषण है।[1]

श्लोक ४७

१४–(जहिंसि ग) :

चूर्णि के अनुसार यह सप्तमी विभक्ति है।[2] बृहद् वृत्तिकार ने विभक्ति का व्यत्यय कर इसे तृतीया माना है।[3]

अध्ययन १३

श्लोक १२

१–(वयणप्पभूया क) :

इसका संस्कृत रूप 'वचनाऽप्रभूता' या 'वचनाल्पभूता' होता है और दोनो का अर्थ है 'अल्पाक्षर वाली'।[4]

२–(सीलगुण ग) :

शील और गुण—इन दो शब्दों का अर्थ 'अपृथक्' और 'पृथक्' दोनों रूप से किया जा सकता है।

शीलगुण—चारित्र रूप गुण। शील अर्थात् चारित्र, गुण अर्थात् श्रुत।[5]

३–(अज्जयन्ते घ) :

यह क्रिया है। बृहद् वृत्तिकार ने 'अज्जयते' (अर्जयन्ति) या जयने (यतन्ते)—इन दोनों की व्याख्या की है।

'अर्जयन्ति' अर्थात् पठन, श्रवण और अनुष्ठान द्वारा प्राप्त करते हैं।

'यतन्ते'—क्रिया मानने पर तीसरे चरण का अनुवाद होगा—जिसे सुन कर चारित्रगुणयुक्त भिक्षु जिन-प्रवचन में यत्न करते हैं।[6]

१–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २१२

आत्मन, प्रशान्तोपशान्तलेसो, पीतशुक्लाद्या लेश्या, आत्मन ग्रहण न शरीरस्य तीर्थ, शरीरलेश्यासु हि अशुद्धास्वपि आत्मलेश्या शुद्धा भवति, शुद्धा अपि शरीरलेश्या भजनीया, अथवा अत्त—इति या इष्टा, ताश्च पीताद्या', ताश्च शुद्धा', अनिष्टास्तु अणत्ताओ, उक्त हि—'अत्ता इट्ठा कता पिया मणुण्णा', अत्ता एव प्रसन्ना, अत्ताश्च प्रसन्नाश्च अत्तपसन्नलेसे।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ३७३

आत्मनो—जीवस्य प्रसन्ना—मनागप्यकलुषा पीताद्यतरा लेश्या यस्मिंस्तदात्मप्रसन्नलेश्य तस्मिन्, अथवा आप्ता-प्राणिनामिह परत्र च हिता प्राप्ता वा तैरेव प्रसन्नलेश्या—उक्तरूपा यस्मिंस्तदाप्तप्रसन्नलेश्य तस्मिन्नेवविधे धर्मह्रदे, ब्रह्माख्यशान्तितीर्थे च, यदा ब्रह्मशब्देन ब्रह्मचर्यवन्त उच्यन्ते तत्पक्षे वचनविपरिणामेन विशेषणद्वय व्याख्येयम्।

२–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २१३

जहिं सि ण्हाता अहिंसादिलक्षणे धम्मे हरते।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ३७४

'जहिंसि' त्ति सुब्व्यत्ययाद्येन।

४–वही, पत्र ३८५

'वयणप्पभूय' त्ति वचनेन अप्रभूता अल्पभूता वा—अन्यत्व प्राप्ता वचनाल्पभूता वचनाप्रभूता वा स्तोकाक्षरेतियावत्।

५–वही, पत्र ३८५

शील—चारित्र तदेव गुण, यद्वा गुण पृथगेव ज्ञानम्।

६–वही, पत्र ३८५

'अज्जयते' त्ति अर्जयन्ति पठनश्रवणतदर्थानुष्ठानादिभिरावर्जयन्ति। यद्वा 'जं भिक्खुणो' इत्यत्र श्रुत्वेति शेष, ततो या श्रुत्वा 'जयन' त्ति इह अस्मिन् जिनप्रवचने 'यतन्ते' यत्नवन्तो भवन्ति।

श्लोक १३

४–(य क) :

'मत्स्य' का नाम मूलपाठ में नहीं है। यह 'च' शब्द के द्वारा प्रतिपादित है।[1]

श्लोक २०

५–(दाणि मि क) :

बृहद् वृत्तिकार ने 'मि' को पद-पूर्ति के लिए माना है और वैकल्पिक रूप में 'दाणिमि' को देशी भाषा का शब्द माना है।[2]

श्लोक २२

६–(अंसहरा घ) :

इसके संस्कृत रूप दो बनते हैं—(१) अंशधर और (२) अंशहर। 'अंशधर' का अर्थ है 'अपने जीवन का अंश देकर मरते हुए को बचाने वाला'। 'अंशहर' का अर्थ है 'दुःख में भाग बँटाने वाला'।[3]

श्लोक २३

७–(मोह ग) :

मोह का अर्थ है 'स्नेह'।[4] इसका संस्कृत रूप 'मोह' भी हो सकता है।[5]

अध्ययन १४

श्लोक ४

१–(कामगुणे घ) :

'कामगुण' का संस्कृत रूप विभक्ति-व्यत्यय न किया जाए तो विषय के अर्थ में सप्तमी का एकवचन 'कामगुणे' भी हो सकता है।[6]

१–बृहद् वृत्ति पत्र ३८५
　चशब्दान्मत्स्यो ।

२–वही पत्र ३८८
　'इदानीम् अस्मिन् काले मि' त्ति पूरणे यद्वा 'दाणिमि' ति देशीयभाषयेदानीम्।

३–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि पृ० २१८
　　अंसो नाम दुःखस्य भागं हरन्ति, अहवा स्वजीवितांशेन ण त मरत धारयति।

　(ख) बृहद् वृत्ति पत्र ३८८,८९
　　अंश–प्रस्तावाज्जीवितस्यांशमात्रं धारयति—मृत्युना नीयमानं रक्षतीत्यंशधरा·· अथवाऽऽशो—दुःखभागस्तं हरन्ति—अपनयन्ति ये तेंऽशहरा भवन्तीति।

४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २१९
　मोहो स्नेहान्वितं च।

५–बृहद् वृत्ति पत्र ३८९
　'मोह' त्ति मोहं निश्चयं प्राप्य भवति एव, सूत्रत्वाद्वा मोहो—निरूपो मोहेन वा—पूर्वजन्मनि मम भ्राताऽऽसीदिति स्नेहरूपेण।

६–वही पत्र ३९०
　'कामगुणे' त्ति सूत्रत्वात् 'कामगुणेभ्यः' शब्दादिभ्यो विषयान्तरं वा।

श्लोक १२

२–(भुत्ता ख) :

णिजर्थ का अन्तर्भाव होने के कारण इसका रूप होगा 'भोजिता' अर्थात् भोजन कराए हुए।[1]

३–(तमं तमेणं ख) :

'तम' का अर्थ 'नरक' है। 'तमेण' का एक अर्थ 'अज्ञान' है और 'तमतमेण' को एक शब्द तथा सप्तमी के स्थान में तृतीया विभक्ति मानी जाए तो इसका अर्थ 'अतिरौद्ररौरवादि नरक में' होता है।[2]

श्लोक १४

४–(अन्नप्पमत्ते ग) :

'अन्न' के संस्कृत रूप दो होते हैं—(१) अन्य और (२) अन्न। अन्य-प्रमत्त—मित्र-स्वजन आदि के लिए प्रमाद में फँसा हुआ। अन्न-प्रमत्त—भोजन या जीविका के लिए प्रमाद में फँसा हुआ।[3]

श्लोक ३७

५–(तं ग) :

इसका अर्थ है 'जो कुछ पुरोहित ने छोड़ा, उसको लेते हुए (राजा) को'। यहाँ 'लेते हुए' ऊपर से अध्याहृत है।[4]

श्लोक ४०

६–(इहेह घ) :

'इह' शब्द का दुबारा होने वाला प्रयोग सम्भ्रम का सूचक है।[5]

अध्ययन १५

श्लोक २

१–(सव्वदंसी ग) :

शान्त्याचार्य ने इसके दो संस्कृत रूप दिए हैं—

(१) सर्वदर्शी—प्राणी मात्र को आत्मवत् देखने वाला अथवा सर्व वस्तुओं को समदृष्टि से देखने वाला और

(२) सर्वदशी—सर्व आहार को खाने वाला, लेप-मात्र भी नहीं छोड़ने वाला।[6]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४००
'भुज्ज' त्ति अन्तर्भावितण्यर्थत्वाद् भोजिता।

२–वही, पत्र ४००
तमोरूपत्वात्तमो—नरकस्तत्तमसा—अज्ञानेन यद्वा तमसोऽपि यत्तमस्तस्मिन्—अतिरौद्रे रौरवादिनरके।

३–वही, पत्र ४००-४०१
अन्ये—सुहृत्स्वजनादय, अथवाऽन्न—भोजन तदर्थं प्रमत्त —तत्कृत्यासक्तचेता अन्यप्रमत्तः अन्नप्रमत्तो वा।

४–वही, पत्र ४०८
'तवि' ति यत्पुरोहितेन त्यक्त गृह्णन्तमिति शेष ।

५–वही, पत्र ४०९
'इहेहे' ति वीप्साभिधान सम्भ्रमख्यापनार्थम्।

६–वही, पत्र ४१४-१५
'सर्वं' समस्त गम्यमानत्वात्प्राणिगण पश्यति—आत्मवत्प्रेक्षत इत्येवंशील, अथवाऽभिभूय रागद्वेषौ सव वस्तु समतया पश्यतीत्येवंशील सर्वदर्शी, यदिवा सर्वं दशति—भक्षयतीत्येवंशील सर्वदशी, उक्त हि—
"पडिग्गह सलिहित्ता ण, लेवमायाए सजए। दुगध वा सुगध वा, सव्व भुजे ण छड्डए॥"

श्लोक ५

२–(आयगवेसए घ) :

शान्त्याचार्य ने 'आय' शब्द के तीन संस्कृत रूपों की कल्पना की है—

(१) आत्म-गवेषक— आत्मा के शुद्ध स्वरूप की गवेषणा करने वाला।

(२) आय-गवेषक— सम्यग्-दर्शन आदि के आय (लाभ) की गवेषणा करने वाला।

(३) आयन-गवेषक— मोक्ष की गवेषणा करने वाला।[1]

अध्ययन १६

सूत्र १

१–(संजमबहुले) :

इसमें 'बहुल' शब्द उत्तर-पद में है। जबकि वह पूर्व-पद में होना चाहिए—'बहुलसंजमे'। इसी प्रकार 'संवरबहुल' और 'समाहिबहुल' भी है।

वृत्तिकार ने इसका समाधान 'प्राकृतत्वात्' कह कर दिया है।[2] सयम, संवर और समाधि का अर्थ चूर्णि और वृत्तियों में भिन्न है—

चूर्णि	*बृहद् वृत्ति*	*सुखबोधा*
(१) संयम— पृथ्वीकाय आदि का संयम।	(१) सयम— आश्रव-विरमण।	(१) सयम— सयम।
(२) संवर— पाँच महाव्रत।	(२) संवर— आश्रवद्वार-निरोध।	(२) संवर— इन्द्रिय-संवरण।
(३) समाधि—ज्ञान आदि।[3]	(३) समाधि—समाधि-चित्त की स्वस्थता।[4]	(३) समाधि—चित्त की स्वस्थता।[5]

अध्ययन १७

श्लोक १२

१–(अत्तपन्नहा ग) :

शान्त्याचार्य ने इसके तीन संस्कृत रूप दिये हैं—

(१) आत्मप्रश्नहा।

(२) आत्मप्रज्ञाहा।

(३) आप्तप्रज्ञाहा।

जो आत्मा सम्बन्धी प्रश्नों का वाचालता से हनन कर देता है, वह 'आत्मप्रश्नहा' कहलाता है। जो अपनी या दूसरों की बुद्धि का कुतर्कों से हनन करता है, वह 'आत्तप्रज्ञाहा' कहलाता है।[6]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४१६।

२–सुखबोधा, पत्र २१९।

३–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २४१।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ४२२-४२३।

५–सुखबोधा, पत्र २१९।

६–बृहद् वृत्ति, पत्र ४३४-३५।

श्लोक १६

२–(अभिक्खणं ख) :

अभीक्ष्ण का शब्दार्थ 'पुनः पुनः' होता है। चूर्णि और वृत्ति में इसका भावार्थ 'प्रतिदिन' किया गया है। पुनः पुनः आहार करता है अर्थात् प्रतिदिन आहार करता है।[1] इसका मूल अर्थ 'बार बार खाता है, सूर्योदय से सूर्यास्त तक खाता रहता है'—होना चाहिए। इसका सम्बन्ध 'एगभत्तं च भोयणं' (दशवैकालिक, ६।२२) से होना चाहिए।

अध्ययन १८

श्लोक १६

१–(हट्ठतुट्ठ घ) :

बाहर से पुलकित होने को 'हृष्ट' और मानसिक प्रीति का अनुभव करने को 'तुष्ट' कहा जाता है।[2]

श्लोक ३०

२–(सव्वत्था ग) :

इसके दो संस्कृत रूप किए गये हैं—

(१) सर्वार्था —हिंसा आदि अशेष विषय।

(२) सर्वत्र—आकार को अलाक्षणिक मानने पर 'सव्वत्था' का संस्कृत रूप 'सर्वत्र' भी हो सकता है।[3]

श्लोक ४०

३–(अरयं ग) :

शान्त्याचार्य ने इसके दो संस्कृत रूप दिए हैं—

(१) अरतम्।

(२) अरजस्।

नेमिचन्द्र ने केवल 'अरजस्' माना है।[4]

श्लोक ४६

४–(अणट्ठा ख) :

शान्त्याचार्य ने मूल में 'अणट्टा' शब्द मान कर उसे आर्ष-प्रयोग कहा है।[5]

१–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २४६

नित्यमाहारयति, यदि नाम कश्चिच्चोदयति किमिति भव आहारं नित्यमाहारयति न चतुर्थषष्ठादि कदाचिदपि करोति?

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ४३५ :

अभीक्ष्णं प्रातरारभ्य सन्ध्यां यावत्पुनः पुनर्भुङ्क्ते, यदिवा "अभीक्ष्णं' पुनः पुनः, दिने दिने इत्युक्तं भवति।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ४४१

हृष्टा'—बहिः पुलकादिमन्तः, तुष्टा —आन्तरप्रीतिभाजः।

३–वही, पत्र ४४६

'सर्वार्थाः'— अशेषहिंसादयो यद्वा 'सव्वत्थे' त्याकारस्यालाक्षणिकत्वात्सर्वत्र क्षेत्रादौ।

४–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ४४८ :

'अरयं' ति रतस्य रजसो वाऽभावरूपमरतमरजो वा।

(ख) सुखबोधा, पत्र २४६।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ४४८

'अणट्टा ' त्ति, आर्षत्वाद्।

श्लोक ५

२-(आयगवेसए घ) :

शान्त्याचार्य ने 'आय' शब्द के तीन संस्कृत रूपों की कल्पना की है—

(१) आत्म-गवेषक— आत्मा के शुद्ध स्वरूप की गवेषणा करने वाला।

(२) आय-गवेषक— सम्यग्-दर्शन आदि के आय (लाभ) की गवेषणा करने वाला।

(३) आयत-गवेषक— मोक्ष की गवेषणा करने वाला।[1]

अध्ययन १६

सूत्र १

१-(संजमबहुले) :

इसमे 'बहुल' शब्द उत्तर-पद में है। जबकि वह पूर्व-पद में होना चाहिए—'बहुलसंजमे'। इसी प्रकार 'संवरबहुल' और 'समाहिबहुल' भी हैं।

वृत्तिकार ने इसका समाधान 'प्राकृतत्वात्' कह कर दिया है।[2] संयम, संवर और समाधि का अर्थ चूर्णि और वृत्तियों में भिन्न है—

चूर्णि	*बृहद् वृत्ति*	*सुखबोधा*
(१) संयम— पृथ्वीकाय आदि का संयम।	(१) संयम— आश्रव-विरमण।	(१) संयम— संयम।
(२) संवर— पाँच महाव्रत।	(२) संवर— आश्रवद्वार-निरोध।	(२) संवर— इन्द्रिय-संवरण।
(३) समाधि—ज्ञान आदि।[3]	(३) समाधि—समाधि-चित्त की स्वस्थता।[4]	(३) समाधि—चित्त की स्वस्थता।[5]

अध्ययन १७

श्लोक १२

१-(अत्तपन्नहा ख) :

शान्त्याचार्य ने इसके तीन संस्कृत रूप दिये हैं—

(१) आत्मप्रश्नहा।

(२) आत्तप्रज्ञाहा।

(३) आप्तप्रज्ञाहा।

जो आत्मा सम्बन्धी प्रश्नों का वाचालता से हनन कर देता है, वह 'आत्मप्रश्नहा' कहलाता है। जो अपनी या दूसरों की बुद्धि का कुतर्कों के द्वारा हनन करता है, वह 'आत्तप्रज्ञाहा' कहलाता है।[6]

१-बृहद् वृत्ति, पत्र ४१६।
२-सुखबोधा, पत्र २१९।
३-उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २४१।
४-बृहद् वृत्ति, पत्र ४२२-४२३।
५-सुखबोधा, पत्र २१९।
६-बृहद् वृत्ति, पत्र ४३४-३५।

श्लोक १६

२–(अभिक्खण ख) :

अभीक्ष्ण का शब्दार्थ 'पुन पुन' होता है। चूर्णि और वृत्ति मे इसका भावार्थ 'प्रतिदिन' किया गया है। पुन पुन आहार करता है अर्थात् प्रतिदिन आहार करता है।[1] इसका मूल अर्थ 'बार बार खाता है, सूर्योदय से सूर्यास्त तक खाता रहता है'—होना चाहिए। इसका सम्बन्ध 'एगभत्त च भोयण' (दशवैकालिक, ६।२२) से होना चाहिए।

अध्ययन १८

श्लोक १६

१–(हट्ठतुट्ठ घ) :

बाहर से पुलकित होने को 'हृष्ट' और मानसिक प्रीति का अनुभव करने को 'तुष्ट' कहा जाता है।[2]

श्लोक ३०

२–(सव्वत्था ग) :

इसके दो सस्कृत रूप किए गये हैं—

(१) सर्वार्था —हिंसा आदि अशेष विषय।

(२) सर्वत्र—आकार को अलाक्षणिक मानने पर 'सव्वत्था' का सस्कृत रूप 'सर्वत्र' भी हो सकता है।[3]

श्लोक ४०

३–(अरय ग) :

शान्त्याचार्य ने इसके दो सस्कृत रूप दिए हैं—

(१) अरतम्।

(२) अरजस्।

नेमिचन्द्र ने केवल 'अरजस्' माना है।[4]

श्लोक ४६

४–(अणट्ठा ख) :

शान्त्याचार्य ने मूल मे 'अणट्टा' शब्द मान कर उसे आर्ष-प्रयोग कहा है।[5]

१–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २४६
नित्यमाहारयति, यदि नाम कश्चिच्चोदयति किमिति सर्वं आहार नित्यमाहारयति न चतुर्थषष्ठादि कदाचिदपि करोति ?

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ४३५
अभीक्ष्ण प्रातरारभ्य सन्ध्या यावदनु पुनर्भुङ्क्ते, यदि वा ''अभीक्ष्ण' पुन पुन, दिने दिने इत्युक्त भवति।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ४४१
हृष्टा —बहि पुलकादिमन्त, तुष्टा —आन्तरप्रीतिमाज।

३–वही, पत्र ४४६
'सर्वार्था'— अशेषहिंसादयो यद्वा 'सव्वत्थे' त्याकारस्यालाक्षणिकत्वात्सर्वत्र क्षेत्रादौ।

४–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ४४८
'अरय' त्ति रतस्य रजसो वाऽभावरूपमरतमरजो वा।

(ख) सुखबोधा, पत्र २४६।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ४४८
'अणट्टा' त्ति, आर्षत्वाद्।

अध्ययन १६

श्लोक ३६

१—(अग्गिसिहा दित्ता क) :

इस श्लोक के प्रथम चरण में 'अग्निशिखा' और 'दीप्ता' में द्वितीया के स्थान में प्रथमा विभक्ति है। दूसरे चरण में 'सुदुक्कर' मे लिङ्ग व्यत्यय मान सुदुष्करा किया जाए और 'करोति' धातु सर्व धात्वर्थवाची होता है, अतः उसे शक्ति के अर्थ में माना जाए तो अग्निशिखा को प्रथमा मान कर भी व्याख्या की जा सकती है।[1]

श्लोक ५७

२—(विव ख) :

यह 'इव' अर्थ में अव्यय है। पिव, मिव, विव और वा—ये चारों अव्यय 'इव' अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।[2]

श्लोक ८१

३—(मिगचारियं ग) :

'मिग (या मिय) चारिय' शब्द पाँच बार आया है—श्लोक ८१, ८२, ८४ और ८५ में।

शान्त्याचार्य ने 'मिगचारिया' के दो संस्कृत रूप दिए हैं—

(१) मृगचर्या— हिरणों की इधर उधर उत्प्लवन की चर्या।

(२) मितचारिता— परिमित-भक्षण रूप चर्या। हिरण स्वभाव से ही मिताहारी होते है।[3]

'चर्या' का प्राकृत रूप 'चरिया' बनता है, इसलिए 'चारिया' का संस्कृत रूप 'चारिका' या 'चारिता'—दोनो हो सकते हैं। अर्थ-संगति की दृष्टि से मितचारिता की अपेक्षा मृगचारिका अधिक उपयुक्त है।

श्लोक ८१ के चतुर्थ चरण मे मृगचारिका का प्रयोग जहाँ हिरण स्वतन्त्रता पूर्वक बैठें, उस भूमि के लिए किया गया है।[4] शेष चार स्थानो में मृगचारिका का अर्थ है 'मृग की तरह स्वतन्त्र विचरण करना'।

श्लोक ६२

४—(अणसणे घ) :

'नञ्' के दो अर्थ होते हैं—(१) अभाव और (२) कुत्सा। यहाँ 'अणसणे' का अर्थ है 'भोजन न मिलने' अथवा 'खराब भोजन मिलने पर'।[5]

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ४५७

'अग्निशिखा' अग्निज्वाला 'दीप्ते'त्युज्ज्वला ज्वालाकराला वा, द्वितीयार्थे चात्र प्रथमा, ततो यथाऽग्निशिखां दीप्तां पातुं सुदुष्कर, नृभिरिति गम्यते, यदिवा लिङ्गव्यत्ययात् सर्वधात्वर्थत्वाच्च करोते 'सुदुष्करा' सुदु शका यथाऽग्निशिखा दीप्ता पातुं भवतीति योग, एवमुत्तरत्रापि भावना।

२—वही, पत्र ४६०।

३—वही, पत्र ४६२

मृगाणा चर्या—इतश्चेतश्चोत्प्लवनात्मक चरण मृगचर्या ता, 'मितचारिता' वा परिमितभक्षणात्मिका 'चरित्वा' आसेव्य परिमिताहारा एव हि स्वरूपेणैव मृगा भवन्ति।

४—वही, पत्र ४६२-६३

मृगाणा चर्या—चेष्टा स्वातन्त्र्योपवेशनादिका यस्या सा मृगचर्या—मृगाश्रयभूस्ताम्।

५—वही, पत्र ४६५ :

नञाऽभावे कुत्साया वा, ततश्चाशनस्य—भोजनस्याभावे कुत्सिताशनभावे वा।

अध्ययन २०

श्लोक २३

१–(जहाहिय ख) :

इसके दो सस्कृत रूप बनते हैं—

(१) यथाहित और

(२) यथाऽधीत ।

पहले का अर्थ है 'जैसे मेरा हित हो वैसे' और दूसरे का अर्थ है 'अपने गुरु या परम्परा से ज्ञात विधि के अनुसार' ।[1]

श्लोक २८

२–(अणुव्वया ख) :

इस शब्द के दो सस्कृत रूप दिए गए हैं—

(१) अनुव्रता— पतिव्रता ।

(२) अनुवया— समान वय वाली ।[2]

अध्ययन २१

श्लोक ८

१–(वज्झगं घ) :

बृहद् वृत्ति के अनुसार इसके सस्कृत रूप दो होते हैं—

(१) बाह्यग ।

(२) वध्यग ।

'बाह्यग' का अर्थ है 'नगर से बाहर ले जाया जाता हुआ' ।

'वध्यग' का अर्थ है 'वध्य भूमि में ले जाया जाता हुआ' ।[3]

श्लोक ११

२–(कसिणं ख) :

सस्कृत में इसके दो रूप बनते हैं—(१) कृत्स्न और (२) कृष्ण । कृत्स्न का अर्थ है 'सम्पूर्ण' और कृष्ण का अर्थ है 'कृष्णलेश्या के परिणाम वाला' ।[4]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४७५ ।
'जहाहिय' त्ति 'यथाहित' हितानतिक्रमेण यथाऽधीत वा—गुरुसम्प्रदायागतवमनविरेचकादिरूपाम् ।

२–वही, पत्र ४७६
'अणुव्वय' त्ति अन्विति—कुलानुरूप व्रतम्— आचारोऽस्या अनुव्रता पतिव्रतेति यावत्, वयोऽनुरूपा वा।

३–वही, पत्र ४८३
बाह्य—नगरबहिर्वर्तिप्रदेश गच्छतीति बाह्यगस्त, कोऽर्थ ?—बहिर्निष्क्राम्यन्तं, यद्वा 'वध्यगम्' इह वध्यशब्देनोपचाराद्वध्यभूमिरुक्ता ।

४–वही, पत्र ४८५ ।
'कसिण' ति कृत्स्न कृष्ण वा कृष्णलेश्यापरिणामहेतुत्वेन ।

श्लोक १८

३–(अकुक्कुओ ग) :

उत्तराध्ययन १।३० में 'आकुक्कुए' शब्द प्रयुक्त है। १।३० की वृत्ति में शान्त्याचार्य ने 'कुक्कुए' का अर्थ 'कौत्कुच' अर्थात् चपल [illegible] किया है।[1] ३।२।३ में 'कुक्कुइए' का अर्थ 'कौकुच्य' किया है।[2] प्रस्तुत श्लोक में वृत्तिकार ने अकुक्कुओ का अर्थ उक्त दोनों अर्थों से भिन्न किया है। अकुक्कुओ (सं० अकुक्कुज) अर्थात् आक्रन्दन करने वाला।[3]

यहाँ भी 'कुक्कुए' शब्द 'कौत्कुच' के अर्थ में हो सकता है, फिर भी वृत्तिकार ने इसका अर्थ वह क्यों नहीं किया? यह विमर्शनीय है।

श्लोक २०

३–(संजए ग) :

'[illegible]' में अनुस्वार अलाक्षणिक है। शान्त्याचार्य ने पूजा और गर्हा के बाद 'प्रति' शब्द का [illegible] माना है और संजए का भूतकालीन अर्थ [illegible]' किया है।[4]

श्लोक २१

४–(छिन्नसोए घ) :

[illegible] 'छिन्नसोक' या 'छिन्नस्रोतस्' हो सकता है। जिसका शोक छिन्न हो गया हो, वह 'छिन्न-शोक' और जिस [illegible] के स्रोत—मिथ्यात्व आदि छिन्न हो गए हों, वह 'छिन्न-स्रोत' कहलाता है।[5]

श्लोक २३

६–(ओभासई घ) :

[illegible] ने यहाँ तक जो वस्तु बताई है, उसे [illegible] के अर्थ में स्वीकार किया है।[6]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ५८ ४९
[illegible] कौत्कुच—[illegible]कौत्कुच।

२–[illegible] पत्र ३०९
[illegible]—[illegible]कौकुच्य वा कौकुच्य च।

३–वही, पत्र [illegible]
'अकुक्कुओ' [illegible]—[illegible] कुक्कुओ न तथेत्यकुक्कुजः।

४ वही, पत्र ४८३
[illegible] वर्हां च प्रतीति [illegible] 'संजए' [illegible]।

५–वही, पत्र ४८३
'छिन्नसोए' त्ति छिन्नशोकः छिन्नानि वा स्रोतांसि [illegible]—मिथ्यादर्शनादीनि येनासौ छिन्नस्रोता।

६–वही, पत्र ४८५।

अध्ययन २२

श्लोक ५

१–(लक्खणस्सरमंजुओ ख) :

आर्ष प्राकृत के अनुसार-'सर' और 'लक्खण' का व्यत्यय है। 'सर लक्ख' के स्थान में 'लक्खण स्सर' पाठ है।[1]

श्लोक ७

२–(विज्जुसोयामणिप्पभा घ) :

शान्त्याचार्य ने 'विद्युत सौदामिनी' का अर्थ 'चमकती हुई बिजली' अथवा 'अग्नि व बिजली' किया है।

मतान्तर के अनुसार सौदामिनी का अर्थ 'प्रधान मणि होता है'।[2]

श्लोक १६

३–(एए ख) :

शान्त्याचार्य के अनुसार दूसरी बार सर्वनाम का प्रयोग यह बताने के लिए हुआ है कि वे अत्यन्त दयार्द्र-हृदय थे और उनके मन में उन प्राणियों का चिन्तन बार-बार उत्पन्न होता था।[3]

नेमिचन्द्र ने बताया है कि इसका प्रयोग घबडाहट बताने के लिए हुआ है।[4]

श्लोक १८

४–(साणुक्कोसे जिएहि उ घ) :

शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्राचार्य ने इसका अर्थ 'जीवों में दया सहित' किया है। 'उ' (तु) पाद-पूर्ति के लिए है।[5]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४८६,
'लक्खणसरसजुतो' त्ति प्राकृतत्वात्स्वरस्य यानि लक्षणानि—सौन्दर्यगाम्भीर्यादीनि तै सयुत स्वरलक्षणसंयुत ।

२–वही, पत्र ४९०
'विज्जुसोयामणिप्पह' त्ति विशेषेण द्योतते—दीप्यत इति विद्युत् सा चासौ सौदामनी च विद्युत्सौदामनी, अथवा विद्युदग्निः सौदामिनी च तडित्, अन्ये तु सौदामिनी प्रधानमणिरित्याहु ।

३–वही, पत्र ४९१ :
एते इति पुनरभिधानमतिसार्द्रहृदयतया पुन पुनस्त एव भगवतो हृदि विपरिवर्त्तन्त इति ख्यापनार्थम् ।

४–सुखबोधा, पत्र २८२
'एते' इति पुनरभिधान सम्भ्रमख्यापनार्थम् ।

५–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ४९१
'सानुक्रोश' सकरुण, केषु ?—'जिएहि उ' त्ति जीवेषु 'तु' पूरणे।

(ख) सुखबोधा, पत्र २८२ :
'सानुक्रोश' सकरुणो जीवेषु 'तु' पूरणे।

श्लोक १८

३–(अकुक्कुओ ग) :

उत्तराध्ययन १।३० में 'अकुक्कुए' शब्द प्रयुक्त है। १।३० की वृत्ति में शान्त्याचार्य ने 'कुक्कुए' का अर्थ 'कौत्कुच' अर्थात् चपल किया है।[1] ३६।२६३ में 'कोक्कुइय' का अर्थ 'कौत्कुच्य' किया है।[2] प्रस्तुत श्लोक में वृत्तिकार ने अकुक्कुओ का अर्थ उक्त दोनों अर्थों से भिन्न किया है। अकुक्कुओ (सं० अकुक्कुज) अर्थात् आक्रन्दन करने वाला।[3]

यहाँ भी 'कुक्कुय' शब्द 'कौत्कुच' के अर्थ में हो सकता है, फिर भी वृत्तिकार ने इसका अर्थ वह क्यों नहीं किया? यह विमर्शनीय है।

श्लोक २०

४–(संजए ग) :

'संजए' में अनुस्वार अलाक्षणिक है। शान्त्याचार्य ने पूजा और गर्हा के बाद 'प्रति' शब्द शेष माना है और सजए का भूतकालीन अर्थ 'असजत्' किया है।[4]

श्लोक २१

५–(छिन्नसोए घ) :

इसका संस्कृत रूप 'छिन्नशोक' या 'छिन्नस्रोतस्' हो सकता है। जिसका शोक छिन्न हो गया हो, वह 'छिन्न-शोक' और जिस कर्मों के स्रोत—मिथ्यात्व आदि छिन्न हो गए हों, वह 'छिन्न-स्रोत' कहलाता है।[5]

श्लोक २३

६–(ओभासई घ) :

शान्त्याचार्य ने ११ वें श्लोक से यहाँ तक जो धातु प्रयोग हैं, उन्हें अतीत काल के अर्थ में स्वीकृत किया है।[6]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४८५
'अकुक्कुए–त्ति, कुक्कुए' त्ति कौत्कुचः—करचरणभ्रूभ्रमणाद्यसच्चेष्टात्मकमस्येत्यकौत्कुचः।

२–वही, पत्र ७०९
कौत्कुच्य द्विधा—कायकौत्कुच्यं वाक्कौत्कुच्यं च।

३–वही, पत्र ४८६
'अकुक्कुए' त्ति आर्षत्वात् कुत्सितं कूजति—पीडितः सन्नाक्रन्दति कुकूजो न तथेत्यकुकूजः।

४–वही पत्र ४८७
'सजये' त्ति च चादि पूजां गर्हां च प्रतीति शेषः 'असजत्' सङ्गं विहितवान्।

५–वही पत्र ४८७ :
'छिन्नसोय' त्ति छिन्नशोकः छिन्नानि वा स्रोतांसीव स्रोतांसि—मिथ्यादर्शनादीनि येनासौ छिन्नस्रोताः।

६–वही, पत्र ४८५।

अध्ययन २२

श्लोक ५

१–(लक्खणस्सरमंजुओ ख) :

आर्ष प्राकृत के अनुसार-'सर' और 'लक्खण' का व्यत्यय है। 'सरलक्ख' के स्थान में 'लक्खणस्सर' पाठ है।[१]

श्लोक ७

२–(विज्जुसोयामणिप्पभा घ) :

शान्त्याचार्य ने 'विद्युत् सौदामिनी' का अर्थ 'चमकती हुई बिजली' अथवा 'अग्नि व बिजली' किया है।

मतान्तर के अनुसार सौदामिनी का अर्थ 'प्रधान मणि होता है'।[२]

श्लोक १६

३–(एए ख) :

शान्त्याचार्य के अनुसार दूसरी बार सर्वनाम का प्रयोग यह बताने के लिए हुआ है कि वे अत्यन्त दयार्द्र-हृदय थे और उनके मन में उन प्राणियों का चिन्तन बार-बार उत्पन्न होता था।[३]

नेमिचन्द्र ने बताया है कि इसका प्रयोग घबड़ाहट बताने के लिए हुआ है।[४]

श्लोक १८

४–(साणुक्कोसे जिएहि उ घ) :

शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्राचार्य ने इसका अर्थ 'जीवों में दया सहित' किया है। 'उ' (तु) पाद-पूर्ति के लिए है।[५]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४८६,
'लक्खणसरसजुतो' त्ति प्राकृतत्वात्स्वरस्य यानि लक्षणानि—सौन्दर्यगाम्भीर्यादीनि तैः संयुतः स्वरलक्षणसंयुतः।

२–वही, पत्र ४९०
'विज्जुसोयामणिप्पह' त्ति विशेषेण द्योतते—दीप्यत इति विद्युत् सा चासौ सौदामनी च विद्युत्सौदामनी, अथवा विद्युदग्निः सौदामिनी च तडित्, अन्ये तु सौदामिनी प्रधानमणिरित्याहुः।

३–वही, पत्र ४९१ :
एते इति पुनरभिधानमतिसार्द्रहृदयतया पुनः पुनस्त एव भगवतो हृदि विपरिवर्तन्त इति ख्यापनार्थम्।

४–सुखबोधा, पत्र २८२
'एते' इति पुनरभिधानं सम्भ्रमख्यापनार्थम्।

५–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ४९१
'सानुक्रोश' सकरुण, केषु ?—'जिएहि उ' त्ति जीवेषु 'तु' पूरणे।

(ख) सुखबोधा, पत्र २८२
'सानुक्रोशः सकरुणो जीवेषु'

स

श्लोक २८

२—(वज्जभीरू ख) :

'वज्ज' और 'अवज्ज'—ये दो शब्द है। 'वज्ज' का संस्कृत रूप 'वर्ज्य' और 'अवज्ज' का 'अवद्य' है। दोनों का अर्थ एक-सा है। टीकाकार ने 'वज्ज' को 'अवज्ज' मान उसके आकार का लोप माना है।[1] किन्तु उसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। 'वज्ज' (वर्ज्य) ही अपने अर्थ की अभिव्यक्ति में सक्षम है।

अध्ययन ३६

श्लोक ७७

१—(एगविहमणाणत्ता ग) :

यहाँ मकार अलाक्षणिक है और 'एकविह' में वहुवचन होना चाहिए था, उसके स्थान पर विभक्ति का लोप है।

श्लोक ४

३—(विन्धइ ख) :

इसका सस्कृत रूप है 'विध्यति' । सरपेन्टियर इस शब्द के स्थान पर 'छिंदइ, भिंदइ' मानने का मत प्रकट करते हैं ।[1] यह अनावश्यक लगता है । 'विंधइ' का अर्थ ही यहाँ ठीक बैठता है । क्योंकि जब बैल आपस में लडते हैं, तब एक दूसरे को सींगों से बींधते हैं ।

श्लोक ५

४—(उप्फिडई ग) :

हेमचन्द्राचार्य के अनुसार भ्रश धातु को 'फिड' आदेश होता है ।[2] शान्त्याचार्य ने इसका अर्थ 'मण्डूकवत्प्लवते'—मण्डूक की तरह फुदकना—किया है ।[3] स्खलित होना और फुदकना—ये दोनो अर्थ भिन्न अपेक्षाओ से यहाँ सगत हो सकते हैं ।

श्लोक १०

५—(अणुसासम्मी ग) :

कई प्रतियो में 'अणुससम्मि' पाठ मिलता है ।[4] जेकोबी ने इस पाठ का समर्थन किया है ।[5] डॉ० पिशेल ने जेकोबी के मत को भ्रामक कहा है ।[6] नेमिचन्द्र इस शब्द का कोई ऊहापोह प्रस्तुत नही करते । वे इसका सस्कृत रूप 'अनुशास्मि' देते हैं ।[7] शान्त्याचार्य ने इसके संस्कृत रूप दो माने हैं—(१) अनुशास्ति, और (२) अनुशास्मि ।[8] 'अनुशास्ति' रूप प्रकरण सगत लगता है ।

अध्ययन ३४

श्लोक ३

१—(पम्हा ख) :

इसका सस्कृत रूप 'पक्ष्म' होगा । यहाँ 'पउम' या 'पम्म' (स० पद्म) शब्द का प्रयोग होना चाहिए था ।

१—The Uttarādhyayana, p 373

२—हेमशब्दानुशासन, ८।४।१७७
भ्रशे फिड-फिट्ट-फुड-फुट्ट-चुक्क भुल्ला ।

३—बृहद् वृत्ति, पत्र ५५१
'उप्फिडइ' त्ति मण्डूकवत्प्लवते ।

४—उत्तराध्ययन, पृ० ३७४ ।

५—The Sacred Books of the East, Vol 45, Uttarādhyayana, p 151, Foot note 1

६—प्राकृत भाषाओ का व्याकरण, अनुवादक डॉ० हेमचन्द्र जोशी, पृ० ७३२ ।

७—सुखबोधा, पत्र ३१७
'अणुसासम्मि' त्ति अनुशास्मि ।

८—बृहद् वृत्ति, पत्र ५५२
'अणुसासमि' त्ति आर्षत्वादनुशास्ति गुरुरिति गम्यते, यदा त्वाचार्य आत्मन समाधिं प्रतिसधत्ते इति व्याख्या तदाऽनुशास्मीति व्याख्येयम् ।

श्लोक २८

२—(वज्जभीरू ख) :

'वज्ज' और 'अवज्ज'—ये दो शब्द हैं। 'वज्ज' का संस्कृत रूप 'वर्ज्य' और 'अवज्ज' का 'अवद्य' है। दोनों का अर्थ एक-सा है। टीकाकार ने 'वज्ज' को 'अवज्ज' मान उसके आकार का लोप माना है।[1] किन्तु इसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। 'वज्ज' (वर्ज्य) ही अपने अर्थ की अभिव्यक्ति में सक्षम है।

अध्ययन ३६

श्लोक ७७

१—(एगविहमणाणत्ता ग) :

यहाँ मकार अलाक्षणिक है और 'एकविह' में बहुवचन होना चाहिए था, उसके स्थान पर विभक्ति का लोप है।

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ६५६-६५७।

परिशिष्ट-२

पाठान्तर-विमर्श

अध्ययन १

श्लोक २०

१–(वाहिन्तो क ···पसायपेही ग) :

वाहिन्तो—चूर्णि और दोनो वृत्तियो में 'वाहिन्तो' पाठ है। उसका संस्कृत रूप 'व्याहृत' है।[1] उत्तरवर्ती प्रतियों में यह पाठ 'वाहित्तो' के रूप मे प्राप्त है। इसी आधार पर पिशेल ने इसका सस्कृत रूप 'व्याक्षिप्त' किया है।[2] पर 'व्याक्षिप्त' का प्राकृत रूप 'वक्खित्त' होता है। अत शब्द और अर्थ दोनों दृष्टियो से यह उचित नही है।

'पसायपेही'—शान्त्याचार्य ने इसके स्थान पर 'पसायट्ठी' (प्रसादार्थी) पाठान्तर माना है और उसका अर्थ 'गुरु की प्रसन्नता का अभिलाषी' किया है।[3]

अध्ययन २

श्लोक ४

१–(लज्जसंजए ख) :

चूर्णिकार और शान्त्याचार्य ने मूल पाठ 'लद्धसजमे' मान कर उसका अर्थ 'जिसने सयम प्राप्त कर लिया है' किया है।[4]

चूर्णिकार ने 'लज्जसजते' पाठान्तर माना है और उसका अर्थ 'लज्जा से सयम करने वाला' किया है।[5]

शान्त्याचार्य ने दो वैकल्पिक पाठ माने हैं—(१) 'लज्जसजमे' और (२) 'लज्जसजए'। क्रमश इनका अर्थ—लज्जा और संयम के द्वारा आत्मस्थ तथा लज्जा से सम्यग् यत्न करने वाला—किया है।[6]

१–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पत्र ३५ .
वाहिंतो णाम सद्दितो।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ५५
'वाहिंतो' त्ति व्याहृत —शब्दित।

(ग) सुखबोधा, पत्र ८।

२–पिशेल, प्राकृत भाषाओ का व्याकरण, पैरा २८९, पृ० ४०९।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ५५
'प्रसादार्थी' वा गुरुपरितोषाभिलाषी।

४–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ५४ ·
लद्धो सजमो जेण स भवति लद्धसजम

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ८६
लब्ध —अवाप्त सयम —पञ्चाश्रवादिविरमणात्मको येन।

५–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ५४
पठ्यते च 'लज्जसजते' लज्जा एव सजमो, लज्जाते वा असजम काउ, तया लज्जया सजमतीत्यर्थ।

६–बृहद् वृत्ति, पत्र ८६
पाठान्तर वा 'लज्जसजमेत्ति' लज्जा—प्रतोता सयम —उक्तरूप एताभ्या स्वभ्यस्ततया सात्मीभावसमुपगताभ्यामनन्य इति स एव लज्जासयम, पठ्यते च 'लज्जासजए'त्ति, तत्र लज्जया सम्यग्यतते—कृत्य प्रत्यादृतो भवतीति लज्जासयत।

श्लोक ३५

२–(तन्तुजं [घ]) :

चूर्णिकार और शान्त्याचार्य ने वैकल्पिक पाठ 'ततज' मान कर उसका अर्थ 'करघा, तकली आदि उपकरणो से होने वाला वस्त्र, कवल आदि' किया है।[१] तात्पर्यार्थ मे 'ततुज' और 'ततज' दोनो एक हैं।

श्लोक ३६

३–(रसेसु [ग]) :

चूर्णिकार ने मूल मे 'रसिएसु'[२] और शान्त्याचार्य ने 'सरसेसु'[३] पाठ माना है। दोनो का अर्थ 'रस वाले पदार्थ' होता है।

अध्ययन ३

श्लोक ६

१–(कम्मसंगेहिं [क]) :

चूर्णि ने मूल पाठ 'कामसगेहिं' मान कर व्याख्या की गई है।[४]

श्लोक १०

२–(नो एणं [घ])

शान्त्याचार्य ने 'णो य ण'—पाठ मान कर उसके दो अर्थ किए है। पहला 'नो'—नही, 'य'—च और 'ण' को वाक्यालंकार माना है। दूसरा 'नो'—नही, 'एतम्'—उसे, किया है।[५]

नेमिचन्द्र ने दूसरा अर्थ ही स्वीकार किया है।[६]

१–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ७९ :
तनोत्यसौ तन्यते वा तन्तु, तन्तुभ्यो जात 'ततुज', अथवा तन्यत इति तत्रं— वेमविलेखन्छनिकादि तत्र जात तत्रज, तनुवस्त्रं कबलो वा।
(ख) वृहद् वृत्ति, पत्र १२२
पठ्यते च—'ततय' ति तत्र तन्त्र —वेमविलेखन्याञ्छनिकादि तस्माज्जात तन्त्रजम्, उभयत्र वस्त्र कम्बलो वा।

२–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ८१
रससहिताणि रसियाणि तेसु रसिएसु।

३–वृहद् वृत्ति, पत्र १२५
सरसेसु —रसवत्स्वोदनादिषु, पाठान्तरतो—'रसेषु वा' मधुरादिषु।

४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ९७
सज्यते यत्र स सग, पकादयो द्रव्यसग, कामसगस्तु काममोगाभिलाष।

५–वृहद् वृत्ति, पत्र १८५
नो चेति च शब्दस्यैवकारार्थत्वान्नैव 'ण' मिति वाक्यालङ्कारे अथवा 'णो य ण' न्ति सूत्रत्वान्नो एतम्।

६–सुखबोधा, पत्र ७६।

अध्ययन ४

श्लोक २

१—(अमइ ख) :

चूर्णिकार और शान्त्याचार्य ने विकल्प में 'अमय' पाठ मान कर उसका अर्थ 'नास्तिक आदि मत' किया है।[1]

श्लोक ३

२—(पेच्च ग) :

चूर्णिकार और नेमिचन्द्र ने इसका अर्थ 'परलोक' किया है।[2] शान्त्याचार्य ने यहाँ 'पेच्छ' पाठ मान कर उसका अर्थ 'देखो' किया है।[3]

अध्ययन ५

श्लोक १८

१—(विप्पसण्णमणाघायं ग) :

चूर्णिकार ने 'सुप्पसन्नेहिं अक्खात' और शान्त्याचार्य ने 'सुप्पसण्णमणक्खाय' मूल पाठ माना है।

'सुप्पसन्नेहिं अक्खात'— इसका अर्थ है 'वीतराग के द्वारा आख्यात'।[4]

'सुप्पसण्णमणक्खाय'—इसका अर्थ है 'सुप्रसन्न मन वाले मुनियों के वह ख्यात है—स्वसंवेदन से प्रसिद्ध है'।[5]

स्वीकृत पाठ 'विप्पसण्णमणाघाय' है। चूर्णि और बृहद् वृत्ति में इसे पाठान्तर माना गया है। सुखबोधा में यह मूल पाठ के रूप मे व्याख्यात है। आदर्शों से भी प्राय यही पाठ मिलता है।

'विप्पसण्णमणाघाय'—इसका आशय यह है, पंडित मुनि मरण-काल में भी अनाकुलित-चित्त और मोह-रहित होते हैं। विविध भावनाओ से प्रसन्न होते हैं, इसलिए उनका मरण विप्रसन्न होता है।[6] पण्डित-मरण में अपने व दूसरे के प्राणो का आघात नहीं होता, इसलिए वह अनाघात होता है।[7]

१-(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ११०

पठ्यते च 'अमय गहाय' अशोभन मत अमत अवचनवत्।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र २०६

पठ्यते च—'अमय गहाये' ति अशोभन मतममत—नास्तिकादिदर्शनम्।

२-(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १११।

(ख) सुखबोधा, पत्र ८१

'प्रेत्य' परलोके।

३-बृहद् वृत्ति, पत्र २०८ :

'पेच्छ' त्ति प्रेक्षध्व, प्राकृतत्वाद्वचनव्यत्यय।

४-उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३६

सुष्ठु प्रसन्ना सुप्रसन्ना वीतरागा इत्यर्थ, अजातवकागमा द्वादश ह्रदा इव सुप्रसन्ना, ततोऽनतरागतमर्थ गणधराः सूत्रीकुर्वंत एवमाहु, सुप्पसन्नेहिं अक्खात।

५-बृहद् वृत्ति, पत्र २४८

सुष्ठु प्रसन्न मरणसमयेऽप्यकलुष कषायकालुष्यापगमान् मन—चेतो येषा ते सुप्रसन्नमनस महामुनयस्तेषा ख्यात—स्वसंवेदनत प्रसिद्ध सुप्रसन्नमन ख्यातम्।

६-सुखबोधा, पत्र १०५

विविधैर्भावनादिभि प्रकारै प्रसन्ना—मरणेऽपि अपगतमोहतया अनाकुलचेतसो विप्रसन्ना तत्सम्बन्धि मरणमपि विप्रसन्नम्

७-वही, पत्र १०५

न विद्यते आघातः तथाविधयतनयाऽन्यप्राणिनामात्मनश्च विधिवत्सलिखितशरीरतया यस्मिंस्तत् अनाघातम्।

अध्ययन ७

श्लोक ५

१–(कण्हुहरे घ) :

चूर्णि में पाठ है 'किन्नुहरे', वृहद् वृत्ति में 'कण्हुहरे' और सुखवोधा में 'कन्नुहरे'। तीनों का अर्थ एक है—'किसका धन हरण करूं ? या करूंगा ? इस प्रकार सोचने वाला'। 'किण्णु' अव्यय है। इसके अर्थ हैं—प्रश्न, वितर्क, विकल्प, स्थान-स्थत्र और सादृश्य। 'कण्हु' कोई शब्द नही है। संभव है यह 'कण्हुइ' (क्वचित्) का सक्षिप्त रूप हो।

उक्त तीनो शब्द कोई विशेष अर्थ नही देते हैं। उनका अर्थ—'तेणे' स्तेन में समा जाता है।[1] यह पाठ 'किण्हहरे' या 'कन्नहरे' हो तो एक विशेष अर्थ प्राप्त होना है। 'किण्ह' का अर्थ है—'सूक्ष्म' या 'बढिया वस्त्र'।[2] 'किण्हहर' अर्थात् वस्त्र-चोर, 'कन्नहर' अर्थात् कन्याओं को उडाने वाला।

राजगृह में एक परिव्राजक था। वह विद्या-शक्ति सम्पन्न था। वह जिस सुन्दरी को देखता था, उसका अपहरण कर लेता था।[3]

अध्ययन ८

श्लोक २

१–(दोसपओसेहिं) :

शान्त्याचार्य ने इसके स्थान पर 'दोसपएहिं' (सं० दोषपदै) पाठ माना है। दोप-पद का अर्थ है—'अपराध पद'।[4]

अध्ययन १२

श्लोक २३

१–(महाणभागो क) :

'भाग' का अर्थ है—'अचिन्त्य-शक्ति'। जिसे महान् अचिन्त्य-शक्ति प्राप्त हो, उसे 'महाभाग' (महाप्रभावशाली) कहा जाता है।[5]

चूर्णिकार के अनुसार यह पाठ 'महाणुभावो' है और इसका अर्थ है, 'अनुग्रह और निग्रह करने में समर्थ।[6]

१–सुखवोधा, पत्र ११७
'स्तेन' चौर्येणैवोपकल्पितवृत्ति

२–देशीनाममाला, २।५९ ·
कासिअकिण्हा सण्हे वत्थे तह सेअवण्णम्मि।

३–सूत्रकृताग, २।२।३९, वृत्ति।

४–वृहद् वृत्ति, पत्र २९०
'दोषपदै' अपराधस्थानै।

५–(क) विशेषआवश्यक भाष्य, १०६३ :
भागोऽचिंतासत्ती, स महाभागो महप्पभावोत्ति।
(ख) वृहद् वृत्ति, पत्र ३६५ ·
महानुभाग —अतिशयचिन्त्यशक्ति।

६–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०८ :
अणुनाव णाम शापानुग्रहसामर्थ्यम्।

श्लोक ३२

२–(पुव्विं च इण्हिं च अणागयं च क) :

बृहद् वृत्ति के अनुसार इसका पाठान्तर 'पुव्विं च पच्छा व तहेव मज्झे' है। इसका अर्थ है 'प्रताडन के पहले, पीछे या प्रताडन के समय'।[1]

श्लोक ३७

३–(सोवागपुत्ते हरिएससाहू ग) :

बृहद् वृत्ति के पाठान्तर में 'सोवागपुत्त हरिएससाहु' को कर्म मान कर 'पश्यत' क्रिया को शेष माना है।[2]

श्लोक ४६

४–(सुसीइभूओ घ) :

बृहद् वृत्ति के अनुसार इसका पाठान्तर 'सुसीलभूओ' है। राग आदि की उत्पत्ति रुक जाने से जो शीतल बन गया हो, वह 'सुशीतीभूत' कहलाता है और अच्छे चारित्र वाला 'सुशीलभूत' कहा जाता है।[3]

अध्ययन १३

श्लोक १३

१–(चित्त ग) :

सुखबोधा में 'चित्त' पाठ माना है। चूर्णि में 'वित्त' पाठ है।

बृहद् वृत्ति में मूल पाठ 'वित्त' है और 'चित्त' पाठान्तर।

चित्त का अर्थ—'आश्चर्य' या 'अनेक प्रकार' है।[4]

चूर्णि के अनुसार 'वित्त' का अर्थ है 'सब लोगों के उपभोग में आने योग्य नौ महानिधियों से लाया हुआ'।[5]

बृहद् वृत्ति में 'वित्त' का अर्थ है 'प्रतीत'। यहाँ प्रभूत शब्द का पूर्व निपात हुआ है।[6]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३६८
पठन्ति च 'पुव्विं च पच्छा व तहेव मज्झे' तत्र च पूर्वं वा पश्चाद्वेति विहेठनकालापेक्ष तथैव मध्ये विहेठनकाल एव, न च कुमारा-वहेठनादिदर्शनात्प्रत्यक्षविरुद्धता शङ्कनीया।

२–वही, पत्र ३७०
पठ्यते च—'सोवागपुत्त हरिएससाहु'न्ति, अत्र च पश्यतेति शेष।

३–वही, पत्र ३७३
'सुसीतीभूओ' त्ति सुशीतीभूतो रागाद्युत्पतिविरहत सुष्ठु शैत्य प्राप्त, पठ्यते च—'सुसीलभूओ' त्ति सुष्ठु—शोभनं शीलं—समाधान चारित्रं वा भूत—प्राप्त सुशीलभूत।

४–सुखबोधा, पत्र १९९
चित्रम्—अनेकप्रकारम्।

५–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २१६
वित्त तदेव सर्वलोकोपभोज्य नवभ्यो महानिधिभ्यो आनीतम्।

६–बृहद् वृत्ति, पत्र ३८६
वित्त—प्रतीत तच्च तद्धन च—हिरण्यादि तेनोपेत—युक्तं वित्तधनोपेत, पठन्ति च 'चित्तधणप्पभूय' ति, तत्र प्रभूत—बहु चित्रम्—आश्चर्यमनेकप्रकार वा धनमस्मिन्निति प्रभूतचित्रधन, सूत्रे तु प्रभूतशब्दस्य परनिपात।

श्लोक १४

२–(परिवारयन्तो ख) :

बृहद् वृत्ति में 'पवियारियन्तो' पाठान्तर का उल्लेख है और इसका अर्थ है 'सेवन करता हुआ'।[१]

३–(श्लोक १७) :

इस श्लोक की चूर्णिकार ने व्याख्या नही की है।

शान्त्याचार्य को यह श्लोक कुछ प्रतियों में उपलब्ध हुआ, इसलिए उन्होंने इसकी व्याख्या की है।[२]

श्लोक २०

४–(आयाणहेउं अभिणिक्खमाहि घ) :

चूर्णि के अनुसार 'आदानमेव अणुचिंतयाहि' मूल पाठ है और यह वैकल्पिक पाठ है।[३] 'आदानहेतु' का अर्थ है 'चारित्र के लिए'।

श्लोक २७

५–(अहं पि जाणामि जहेह साहू क) :

बृहद् वृत्ति के अनुसार इसका पाठान्तर 'अहपिजाणामि जो एत्थ सारो' है और इसका अनुवाद है—'मैं भी जानता हूँ कि मनुष्य-जीवन में चारित्र-धर्म ही सार है'।[४]

अध्ययन १४

श्लोक १०

१–(लोलुप्पमाण घ) :

शान्त्याचार्य ने यहाँ 'लोलुप्पमाण' पाठ और इसका संस्कृत रूप 'लोलुप्यमान' मान कर व्याख्या की है और चूर्णिकार ने इसका संस्कृत रूप 'लालप्यमान' दिया है—ऐसा उन्होंने उल्लेख किया है।[५] 'लोलुप्यमान' अर्थात् वियोग की शंका से छिन्न होता हुआ। 'लालप्यमान' अर्थात् बहुत बोलता हुआ।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३८६
'परिवारयन्' परिवारीकुर्वन्, पठ्यते च—'पवियारियंतो' त्ति प्रविचारयन् सेवमानो।

२–वही, ३८७
यालेत्यादिसूत्र चूर्णिकृता न व्याख्यात, क्वचित्तु दृश्यत इत्यस्माभिरुन्नीतम्।

३–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २१८
आदाणमेव अणुचिंतयाहि, अथवा आदाणहेउ अभिणिक्खमाहि, आदाण णाम चारित्त, तद्धेतुम्।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ३९०।

५–वही, पत्र ३९९-४००
लोलुप्यमान तद्वियोगशङ्कावशोत्पन्नदुःखपरशुभिरतिशयेन हृदि छिद्यमान, वृद्धास्तु व्याचक्षते—'लोलुप्पमाण' त्ति लालप्यमान—भरणपोषणकुलसताणेसु य तुब्भे 'भविस्सह' त्ति।

श्लोक ४३

२–(एवमेव क) :

शान्त्याचार्य ने 'एवमेव' पाठ स्वीकृत किया है और बिन्दु को अलाक्षणिक माना है।[1]

श्लोक ५१

३–(धम्मपरायणा ख) :

शान्त्याचार्य ने 'धम्मपरपरा'—इस पाठान्तर का उल्लेख किया है। इसका आशय यह है कि इन छहों व्यक्तियो को धर्म की प्राप्ति परम्परा से हुई थी। साधुओ को देख कर दोनो कुमारों को प्रतिबोध मिला, उनके सम्वादों से पुरोहित और उसकी पत्नी, फिर कमलावती और उसके पश्चात् इषुकार को प्रतिबोध मिला।[2]

अध्ययन १७

श्लोक ११

१–(पमुहरे क) :

प्रथम अध्ययन के चतुर्थ श्लोक मे 'मुहरी' तथा आठवें श्लोक मे 'अमुहरी' शब्द प्रयुक्त हुआ है। यहाँ कुछ प्रतियों में 'पमुहरी' शब्द मिलता है, किन्तु अधिकत 'पमुहरे' मिलता है। 'पमुहरे' मुहरी या पमुहरी की अपेक्षा सस्कृत के 'मुखर' या 'प्रमुखर' शब्द के अधिक निकट है। 'मुहरी' और 'पमुहरे' इन दोनो का अर्थ 'मुखर,—वाचाल' है।[3]

चूर्णिकार ने 'पमुहरे' का अर्थ 'ऐसा बोलने वाला, जिसकी वाणी सुनने मात्र से सभी शत्रु बन जाए' किया है।[4]

अध्ययन १८

श्लोक ४४

१–[नमी नमेइ अप्पाणं सक्खं सक्केण चोइओ। चइऊण गेहं वइदेही सामण्णे पज्जुवट्ठिओ ॥] :

यह श्लोक प्रक्षिप्त मालूम पडता है। इस निर्णय के अनेक कारण हैं—

(१) यह नौवें अध्ययन (९।६१) मे आ चुका है।
(२) शान्त्याचार्य ने अपनी टीका मे इसकी व्याख्या नही की है।
(३) इससे अग्रवर्ती श्लोक में नमीराज का उल्लेख आया है।
(४) शान्त्याचार्य ने 'सूत्राणि सप्तदश'—ऐसा उल्लेख किया है।

'एय पुण्णपय सोच्चा' (३४) से 'तहेवुग्ग तव किच्चा' (५०) तक १७ श्लोक होते है। उनमें 'नमि नमेइ अप्पाण' तथा 'करकडू

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४०९
'एवमेव' ति बिन्दोरलाक्षणिकत्वादेवमेव।

२–वही, पत्र ४११
पठ्यते च—'धम्मपरपर' त्ति परम्परया धर्मो येषा तानि परम्पराधर्माणि, प्राकृतत्वाच्च परम्पराशब्दस्य परनिपातः, तथा हि—साधुदर्शनात्कुमारयो कुमारवचनात्पित्रोस्तद्वचनात्कमलावत्यास्ततोऽपि च राज्ञ इति परम्परयैव धर्मप्राप्ति।

३–वही, पत्र ४३४
प्रकर्षेण मुखर प्रमुखर।

४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २४५
प्रकर्षेण मुखेन अरिमावहतीति मुखरी, तादृश भाषते येन सर्व एव अरिर्भवति।

कलिंगेसु' श्लोकों की व्याख्या वृहद् वृत्ति में नहो है। दोनों को प्रक्षित मानने से 'सूत्राणि सप्तदश' की बात नही बैठनी और 'करकडू कलिंगेसु' को प्रक्षित मानना भो युक्तियुक्त नहो लगता। क्योकि 'नमि नमेइ अप्पाण' इसकी तो पुनरावृत्ति हुई है और 'करकडू कलिंगेसु' यह श्लोक पहली वार आया है। अत 'नमी नमेइ अप्पाण' को ही प्रक्षित मानना चाहिए।[1]

श्लोक ५०

२–(अद्दाय सिरसा सिरं घ) :

शान्त्याचार्य ने यहाँ 'आदाय सिरसो सिरिं' इस पाठान्तर का उल्लेख किया है। इसका अर्थ होता है 'सिर की श्री' अर्थात् सर्वोत्तम केवल-लक्ष्मी (केवल ज्ञान) को प्राप्त कर। यहाँ परिनिर्वृ त को उन्होंने शेष माना है।[2] इसका अर्थ होगा—वे परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।

अध्ययन १९

श्लोक ८

१–श्लोक ८ :

कई आदर्शों में निम्न श्लोक भी है—

देवलोग चुओ सतो, माणुस भवमागओ।
सन्निणाणे समुप्पण्णे, जाइ सरइ पुराणय॥

परन्तु शान्त्याचार्य ने "जाई-सरणे समुप्पण्णे "—इस श्लोक को टीका की है। "देवलोग चुओ "यह श्लोक या तो प्रक्षिप्त है या दूसरी परम्परा का है। दोनो श्लोको का वाच्य एक-सा ही है। कहीं-कहीं पर शब्द साम्य भी है। जैसे—

जाइ सरइ पुराणय–– सरई पोराणिय जाइ।
सन्निनाणे समुप्पण्णे— जाई-सरणे समुप्पन्ने॥

अध्ययन २०

श्लोक ४४

१–(पीयं क) :

शान्त्याचार्य ने 'पिबन्ति' पाठ मान कर आर्ष प्राकृत के अनुसार उसका अर्थ 'पीतं'—पिया किया है।[3]

अध्ययन २१

श्लोक ६

१–(संविग्गो क) :

'सविग्गो' यह समुद्रपाल का विशेषण है। वृहद् वृत्ति में 'सवेग' पाठ है और वह चोर के लिए प्रयुक्त है।

'सवेग' का अथ है 'ससार के प्रति उदासीनता और मोक्ष की अभिलाषा' अर्थात्—वैराग्य। यहाँ वैराग्य के हेतुभूत वध्य पुरुष को सवेग माना है।[4]

१–वृहद् वृत्ति, पत्र ४४७-४४८।

२–वही, पत्र ४४९ :

पठ्यते च—'आदाय सिरसो सिरिं' ति, अत्र च 'आदाय' गृहीत्वा 'शिर श्रिय' सर्वोत्तमा केवललक्ष्मी परिनिर्वृत इति शेष।

३–वही, पत्र ४७८

विष पिवन्तीति आर्षत्वात् पीतम्।

४–वही, पत्र ४८३

संवेग —ससारवैमुख्यतो मुक्त्यभिलाषस्तद्धेतुत्वात्सोऽपि संवेगस्तम्।

श्लोक ११

२–(संगं क) :

शान्त्याचार्य ने मूल मे 'सगाय' शब्द मान कर प्राकृत के अनुसार बिन्दु का लोप माना है और विकल्प में 'सग' पाठ स्वीकार किया है।[1]

हमने विकल्प का पाठ मान्य किया है।

श्लोक १६

३–(इह क) :

शान्त्याचार्य ने यहाँ 'मिह' मान कर मकार को अलाक्षणिक माना है।[2]

अध्ययन २२

श्लोक ४५

१–(भण्डवालो क) :

बृहद् वृत्ति में इसका पाठान्तर 'दण्डपाल' है। उसका अर्थ है 'कोट्टपाल'।[3]

अध्ययन २३

श्लोक ४५

१–(विसभक्खीणि ग) :

टीकाकार ने यहाँ 'विसभक्खीण' पाठ माना है। आर्ष वचन के अनुसार उसका अर्थ 'विषभक्ष्य'—विषोपम दिया है।[4]

अध्ययन २५

श्लोक १८

१–(गूढा सज्झायतवसा ग) :

बृहद् वृत्तिकार ने 'मूढा सज्झायतवसा' पाठ माना है। उन्होंने 'सज्झायतवसा' को सप्तमी विभक्ति मान कर उसका अर्थ 'स्वाध्याय और तप में मूढ' किया है।[5] 'गूढा सज्झायतवसा'—यह उनके अनुसार पाठान्तर है।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४८५
सश्चासौ ग्रन्थश्च सद्ग्रन्थ, प्राकृतत्वाद्बिन्दुलोपस्त, पठन्ति च—'जहित्तु संग चत्ति जहाय सग च'।

२–वही, पत्र ४८६
'मिह' त्ति मकारोऽलाक्षणिक।

३–वही, पत्र ४९५
'भाण्डपालो वा' य परकीयानि भाण्डानि भाटकादिना पालयति, पठ्यते च—'दण्डपालो वा' नगररक्षको वा।

४–वही, पत्र ५०६
'विसभक्खण' ति सुब्व्यत्ययाद् विषभक्षणाद्—विषफलाभ्यवहारोपमात्।

५–वही, पत्र ५२६

श्लोक ३४

२–(समुदाय तयं तं तु ग) :

बृहद् वृत्तिकार ने इसके स्थान पर—'सजाणतो तओ त तु'—यह पाठान्तर माना है। इसका अर्थ है 'यह वही मेरा भाई है, ऐसे पहचानता हुआ'।[1]

अध्ययन २८

श्लोक ३५

१–(निगिण्हाइ ग) :

बृहद् वृत्तिकार ने यहाँ 'न गिण्हाइ' को पाठान्तर मान कर उसका अर्थ 'वह कर्मों को ग्रहण नही करता' किया है।[2]

अध्ययन २९

सूत्र २०

१–(अणासायणाए वट्टए) :

यहाँ वृहद् वृत्तिकार ने 'अणुसज्जणाए वट्टइ' को पाठान्तर मान कर उसका अर्थ—'(श्रुत का) 'अनुवर्तन करता है' अर्थात् उसका अव्यवच्छेद करता है—किया है।[3]

सूत्र २३

२–(असायावेयणिज्जं च ण कम्म नो भुज्जो भुज्जो उवचिणाइ) :

शान्त्याचार्य ने यहाँ—'साया वेयणिज्ज च ण कम्म भुज्जो भुज्जो उवचिणाइ' पाठान्तर माना है। इसका अर्थ है 'सात-वेदनीय का बार-बार उपचय करता है'। मूल पाठ निषेधात्मक और यह विध्यात्मक है।[4]

सूत्र ३४

३–(नो आसाएइ) :

वृहद् वृत्तिकार को यह पाठ नहीं मिला। उन्होने लिखा है—'जब इसी सूत्र में आगे 'अणासायमाणे' है तथा स्थानाङ्ग में दूसरी

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ५२९ .
केचिदनन्तरसूत्रे तृतीय पादमेव पठन्ति—'संजाणतो तओ त तु' अत्र च 'सजानन्' स एवायं मम सौदर्य इति प्रत्यभिजानन्।

२–वही, पत्र ५६९
पठ्यते च—'न गिण्हति' त्ति, तत्र 'न गृह्णाति' नादत्ते कर्मेति गम्यते।

३–वही, पत्र ५८४
पठन्ति च—'अणुसज्जणाए वट्टइ' तत्रानुषङ्ग (ञ)-नमनुवर्त्तन तत्र वर्त्तते।

४–वही, पत्र ५८५

अध्ययन ३२

श्लोक १०७

१–(अत्थे य संकप्पयओ ग) :

बृहद् वृत्तिकार ने 'अत्थे असंकप्पयतो' पाठान्तर माना है । इसका अर्थ होगा—'जो विषयों का संकल्प नहीं करता, उसके ।'[1] प्रकरण की दृष्टि से पाठान्तर मूल पाठ की अपेक्षा अधिक संगत है ।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ६२९ ।

प्रयुक्त ग्रन्थ-सूची

ग्रन्थ-नाम	*लेखक, सम्पादक, अनुवादक*	*संस्करण*	*प्रकाशक*
अगविज्जा	सं० मुनि श्री पुण्यविजयजी अंग्रेजी अनु० डॉ० मोतीचन्द्र	प्रथम	प्राकृत टेक्सट सोसाइटी, बनारस
अगुत्तरनिकाय (१-४)	स० भिक्खु जगदीस कस्सपो	सन् १९६०	पालि पकाशन मण्डल, बिहार राज्य
अगुत्तरनिकाय (भाग १-३)	अनु० भद्न्त आनन्द कौसल्यायन	सन् १९५७,६३,६६	महाबोधि सभा, कलकत्ता
अगस्त्य चूर्णि (दशवैकालिक)	मुनि अगस्त्यसिंह	अप्रकाशित	
अनगार धर्मामृत	प० आशाधर	स० १९७६	माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिनि, बम्बई
अनुयोगद्वार	आर्यरक्षितसूरि	स० १९८०	आगमोदय समिति, मेहसाणा
अनेकार्थ कोष	आचार्य हेमचन्द्र सूरि		
अन्तकृद्दशा (अतगडदसाओ)	स० एम सी मोदी एम ए एल एल-बी	सन् १९३२	गुर्जर ग्रन्थ रत्न कार्यालय, अहमदाबाद
अन्तकृद्दशा (अंतगडदसाओ) वृत्ति	"	सन् १९३२	" " "
अभिधान चिन्तामणि	हेमचन्द्राचार्य , विवेचनकार- आचार्य श्री विजयकस्तर सूरि	स० २०१३	जैन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद
अभिधानप्पदीपिका	स० मुनि जिनविजयजी	प्रथम	गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद
अमितगति श्रावकाचार	आचार्य अमितगति	सन् १९७९	मुनि श्री अनन्तकीर्ति दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, कालबादेवी रोड, बम्बई
अष्टागहृदय	वाग्भट , स० वैद्य लालचन्द	प्रथम	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
अहिर्बुध्न्यसहिता			
आचाराग		स० १९९१	सिद्धचक्र साहित्य समिति, बम्बई
आचाराग चूर्णि	जिनदासगणि	स० १९९८	ऋषभदेवजी केसरीमलजी श्वेताम्बर सस्था, रत्नपुर (मालवा)
आचाराग निर्युक्ति	भद्रबाहु	स० १९९१	सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई
आचाराग वृत्ति	शीलाकाचार्य	स० १९९१	सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई
आचार सार			
आवश्यक निर्युक्ति	भद्रबाहु	सन् १९२८	आगमोदय समिति, बम्बई
आवश्यक वृत्ति	मलयगिरि	सन् १९२८	आगमोदय समिति, बम्बई
इतिवुत्तक (खुद्दकनिकाय)	सं० भिक्खु जगदीस कस्सपो	सन् १९५९	पालि पकाशन मण्डल, बिहार-राज्य
इतिवुत्तक (अनुवाद)	अनु० भिक्षु धर्मरक्षित	सन् १९५६	महाबोधि सभा, सारनाथ
उत्तरपुराण	जिनसेनाचार्य स० पन्नालाल जैन	स० २००८	भारतीय ज्ञानपीठ काशी, वाराणसी
उत्तराध्ययन चूर्णि (उत्तराज्झयनानि)	श्री गोपालगणि महत्तर शिष्य	स० १९८९	ऋषभदेवजी केसरीमलजी श्वेताम्बर सस्था, रत्नपुर (मालवा)

ग्रन्थ-नाम	लेखक, सम्पादक, अनुवादक	संस्करण	प्रकाशक
उत्तराध्ययन जोड	आचार्य जीतमलजी	अप्रकाशित	
उत्तराध्ययन निर्युक्ति (भाग १-३)	भद्रबाहु	स० १९७२, ७३	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भाण्डागार संस्था, बम्बई
उपवास के लाभ	विट्ठलदास मोदी	सन् १९४७	नवयुग साहित्य सदन, इन्दौर
उपासकदशा (वृत्ति सहित)	स० प० भगवानदास	स० १९९२	जैन सोसाइटी, न० १५, अहमदावाद
ऋग्वेद (भाग १-५)	भा० सायण	सन् १९२६,४१,४६,५१	तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना
ऐतरेय आरण्यकम् (सभाष्य)	भा० सायण	सन् १९५९	आनन्दाश्रम, पूना
ऐतरेय ब्राह्मण			
ओघनिर्युक्ति	भद्रबाहु	स० १९७५	आगमोदय समिति, मेहसाणा
ओघनिर्युक्ति भाष्य	पूर्वाचार्य	स० १९७५	आगमोदय समिति, मेहसाणा
औपपातिक		स० ९९९४	प० भूरालाल कालीदास, सूरत
औपपातिक	स० ल्यूमेन	सन् १८८३	Leipzig
औपपातिक वृत्ति	अभयदेव सूरि (द्रोणाचार्य द्वारा शोधित)	स० १९९४	प० भूरालाल कालीदास, सूरत
ओववाइय सुत्त	स० एन जी सुरु एम ए	सन् १९३१	अर्हत् मत प्रभाकर कार्यालय, पूना
कल्पसूत्र	भद्रबाहु	स० २००८	साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद
कल्पसूत्र चूर्णि (कल्पसूत्र)	पूर्वाचार्य, स० श्री पुण्यविजयजी	स० २००८	साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद
कल्पसूत्र टिप्पणक (कल्पसूत्र)	श्री पृथ्वीचन्द्र सूरि स० श्री पुण्यविजयजी	स० २००८	,, ,,
कालीदास का भारत (भाग १-२)	श्री भगवतशरण उपाध्याय	प्रथम संस्करण	भारतीय ज्ञानपीठ काशी, बनारस
कौटिलीयम् अर्थशास्त्र (भाग १-३)	कौटिल्याचार्य स० आर पी कागले	सन् १९६०	बम्बई विश्वविद्यालय, बम्बई
गच्छाचारपयन्ना	पूर्वाचार्य	सन् १९४५	श्री भूपेन्द्र सूरि जैन साहित्य समिति, आहोर (मारवाड)
,, (वृत्ति)			
गीता	महर्षि वेदव्यास	स० २०१६	गीताप्रेस, गोरखपुर
गीता रहस्य (कर्मयोग शास्त्र)	लोकमान्य बाल गगाधर तिलक अनु० माधवराव जी सप्रे	सन् १९५५	लोकमान्य तिलक मन्दिर, गायकवाडवाडा, पूना-२
चन्द्रप्रज्ञप्ति		हस्तलिखित	
चरक संहिता (भाग १-२)	महर्षि अग्निवेश एव चरक	सन् १९५४	
चारित्र भक्ति	पूज्यपाद		
छान्दोग्योपनिषद्	भा० शङ्कर	स० २०१३	
जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति		स० १९७६	
जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वृत्ति	वृत्तिकार शान्तिचन्द्र	१९७६	
जयन्तन्यायमञ्जरी			

ग्रन्थ-नाम	लेखक, सम्पादक, अनुवादक	संस्करण	प्रकाशक
जातक	स० भिक्खु जगदीस कस्सपो	सन् १९५९	पालि पब्लिकेशन बोर्ड (बिहार गवनमेन्ट)
जातक (१-६)	अनु० भदन्त आनन्द कोसल्यायन	प्रथम संस्करण	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
जैन तर्क भाषा	महोपाध्याय श्री यशोविजयगणि स० प० सुखलालजी सघवी	स० १९९४	सिंघी जैन ग्रन्थमाला
ज्योतिषकरण्डकानि		सन् १९२८	श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर सस्था, रतलाम
तत्त्व-ज्ञान	डॉ० दीवानचन्द	सन् १९५६	प्रकाशन ब्यूरो, उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ
तत्त्व प्रदीपिका (चित्सुखी)			
तत्त्वसग्रह पञ्जिका			
तत्त्वत्र	लोकाचार्य, भाष्य० श्रीमद् वरवर मुनि		चौखम्बा सस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी
तत्त्वार्थ भाष्यानुसारी टीका	सिद्धसेन गणी स० हीरालाल रसिकलाल कापडिया	सन् १९२६	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई
तत्त्वार्थ राजवार्तिक (भाग १-२)	भट्ट अकलकदेव स० प० महेन्द्रकुमार जैन एम ए	स० २००९, स० २०१४	भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस-४
तत्त्वार्थवृत्ति (श्रुतसागरीय)	श्रुतसागर सूरि स० प्रो० महेन्द्रकुमार जैन	स० २००५	,, ,, ,,
तत्त्वार्थ सूत्र(सभाष्य तत्त्वार्थधिगमसूत्र)	उमास्वाति	स० १९८९	सेठ मणीलाल रेवाशकर जगजीवन जौहरी, बम्बई-२
दर्शन सग्रह	डॉ० दीवानचंद		
दशवैकालिक चूर्णि	अगस्त्यसिंह स्थविर	अप्रकाशित	
दशवैकालिक चूर्णि	जिनदास महत्तर	स० १९८४	श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी पेढी, रतलाम
दशवैकालिक टीका	हरिभद्र सूरि	स० १९१८	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भण्डागार सस्था,, बम्बई
दशवैकालिक निर्युक्ति	भद्रबाहु	सन् १९१८	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भण्डागार सस्था, बम्बई
दशवैकालिक सार्थ सटिप्पण	वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी सम्पा० मुनि नथमल	स० २०२०	श्री जैन श्वेताम्बर तेरापथी महासभा, कलकत्ता-१
दसवेआलियं तह उत्तरज्झयणाणि	वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी सम्पा० मुनि नथमल	स० २०२३	श्री जैन श्वेताम्बर तेरापथी महासभा, कलकत्ता-१
दशाश्रुतस्कध		स० २०११	श्री मणिविजय गणि ग्रथमाला, भावनगर
दीघनिकाय	स० भिक्खु जगदीस कस्सपो		पालि पकासन मण्डल, बिहार राज्य
दीघनिकाय	अनु० राहुल साकृत्यायन	सन् १९३६	महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस
देशीनाममाला	आचार्य हेमचन्द्र	सन् १९३८	बम्बई सस्कृत सिरीज
द्रव्यसग्रह	नेमिचन्द्र आचार्य	सन् १९२६	जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय
धनञ्जय नाममाला	महाकवि धनञ्जय भाष्यकार अमर कीर्ति	सन् १९५०	भारतीय ज्ञानपीठ काशी, बनारस

ग्रन्थ-नाम	लेखक, सम्पादक, अनुवादक	सस्करग	प्रकाशक
धम्मपद	अ० धर्मानंद कोसम्बी अ० रामनारायण वि० पाठक	सन् १९२४	गुजरात पुरातत्त्व मंदिर, अहमदावाद
धर्म सग्रहणी	हरिभद्र सूरि	सन् १९२८	श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम
ध्यान शतक (सस्कृत टीका सह)	जिनभद्र गणि		
नवतत्त्व-साहित्य सग्रह	सयोजक उदयविजय गणि	स० १९७८	माणकलाल मनसुखभाई, अहमदावाद
नन्दी सूत्र (चूर्णि, हारिभद्रीय वृत्तियुक्त)	देववाचक क्षमाश्रमण	स० १९८८	रूपचन्द्र नवलमल, इन्दौर
नन्दी सूत्र (मलियगिरी वृत्ति युक्त)	" "	स० १९८०	आगमोदय समिति
नय प्रदीप	गङ्गसहाय		
निदान-कथा (जातकअट्ठकथा)	सं० प्रो० एच० के० भागवत	सन् १९५३	बम्बई विश्वविद्यालय, बम्बई
निशीथ चूर्णि	जिनदास महत्तर	सन् १९५७	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
निशीथ भाष्य	जिनदास महत्तर	"	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
निश्चय द्वात्रिंशिका	सिद्धसेन दिवाकर		
नेमिनाथचरित	कीर्तिराज		
न्यायकारिका			
न्यायकुमुदचन्द्र (१-२)	स० महेन्द्रकुमार		
न्याय दर्शन भाष्य	वात्स्यायन		
न्यायसूत्र	गौतम		
न्यायालोक (तत्त्वप्रभावृति)	उपाध्याय यशोविजय		
पचाध्यायी	कविवर प० राजमल, टीकाकार देवकीनन्दन सिद्धान्तशास्त्री	वी० स०२४७६	श्री गणेश वर्णी जैन ग्रन्थमाला, काशी
पचाशक प्रकरण	हरिभद्राचार्य	स० १९२८	श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर सस्था, रतलाम
पंचास्तिकाय	आचार्य कुन्दकुन्द सं० पन्नालाल वाकलीवाल	स० १९७२	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई
पद्मपुराण भाग (१-५)	कृष्णद्वैपायन व्यास	सन् १९५७, ५९	मनसुखराय मोर, ५ क्लाइव रो, कलकत्ता-१
पदार्थ-सग्रह			
पाइयसद्द-महण्णवो	प० हरिगोविन्ददास त्रिकमचन्द सेठ द्वितीय सस्करण स० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल प० दलसुखभाई मालवाणिया	सन् १९६३	प्राकृत ग्रंथ परिषद, वाराणसी ५
पाणिनि अष्टाध्यायी	पाणिनी		निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
पाणिनिकालीन भारतवर्ष	वासुदेवशरण अग्रवाल	सं० २०१२	मोतीलाल बनारसीदास, बनारस
पाणिनि भाष्य			

ग्रन्थ-नाम	*लेखक, सम्पादक, अनुवादक*	*संस्करण*	*प्रकाशक*
पातञ्जल योगदशन	महर्षि पतञ्जलि, स० व्या० यशोविजयजी	सन् १९२२	श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल, आगरा
पातञ्जल योगदर्शन	पतञ्जलि	स० २०१७	गीता प्रेस, गोरखपुर
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	अमृतचन्द्र सूरि, स० अजितप्रसाद एम०, ए० एल० एल० बी०	सन् १९३३	सैन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ
पूर्वमीमासा	महामहोपाध्याय डॉ० गगानाथ झा	सन् १९६४	बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी, वाराणसी
प्रकरण पञ्जिका	शालिकनाथ, व्या० नारायण भट्ट		चौखम्बा सस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
प्रज्ञापना (१-४)	श्यामाचार्य	स० १९७४	आगमोदय समिति, मेसाणा
प्रज्ञापना वृत्ति (१-४)	मलयगिरि	सन् १९४४	आगमोदय समिति, मेसाणा
प्रमाणनयतत्त्वालोक	वादिदेव सूरि स० हिमाशुविजय	स० १९८९	विजयधर्म सूरि ग्रथमाला, उज्जैन
प्रवचनसारोद्धार	नेमिचन्द्र सूरि	स० १९७८	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार सस्था
प्रवचनसारोद्धार वृत्ति	नेमिचन्द्र सूरि	स० १९७८	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार सस्था
प्रशस्तपाद भाष्य व्यामती टीका			
प्राकृत भाषाओं का व्याकरण	रिचर्ड पिशल, अनु० डॉ० हेमचन्द्र जोशी डी० लिट्	स० २०१५	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
प्राचीन भारतीय अभिलेखों का सग्रह			
बुद्ध और बौद्ध साधक	भरतसिंह उपाध्याय	सन् १९५०	सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली
बुद्धचर्या	राहुल साकृत्यायन	सन् १९५२	महाबोधि सभा (सारनाथ), बनारस
बौद्ध धर्म दर्शन	आचार्य नरेन्द्रदेव		
बौद्धायन धर्मशास्त्रम्	सं० F E Hultzsch, Ph D	स० १९८४	Leipzig
भगवती सूत्र	अनु० बेचरदास दोशी	सन् १९२१	आगमोदय समिति, मेहसाणा
		स० १९८८	जैन साहित्य प्रकाशन ट्रष्ट, अहमदाबाद
भगवती वृत्ति	अभयदेव सूरि		आगमोदय समिति, मेहसाणा
भागवत (महापुराण) दो खण्ड		स० २०१८	गीता प्रेस गोरखपुर
भारतीय इतिहास की रूपरेखा	डॉ० बलराम श्रीवास्तव	स० १९४८	
	रत्तिभानु सिंह नाहर		हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई
भारतीय संस्कृति और अहिंसा	धर्मानन्द कोसम्बी अनु० विश्वनाथ दामोदर शोलापुरकर		
भास्कर भाष्य			
मज्झिमनिकाय	स० भिक्खु जगदीस कस्सपो	स० २०१५	बिहार राजकीयेन पालि पकासन मण्डल
मज्झिमनिकाय (अनुवाद)	अनु० राहुल साकृत्यायन	सन् १९३३	महाबोधि सभा 'सारनाथ', बनारस

ग्रन्थ नाम	लेखक, सम्पादक, अनुवादक	संस्करण	प्रकाशक
मत्स्य पुराण	कृष्णद्वैपायन व्यास	सन् १९५४	नन्दलाल मोर, ६ क्लाइव रो, कलकत्ता-१
माधव सिद्धान्तसार			
मनुस्मृति	अनु० सं० नारायणराम आचार्य काव्यतीर्थ	सन् १९४६	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई,
महाभारत (१-६ खण्ड)			गीताप्रेस, गोरखपुर
महावस्तु	सं० राधागोविन्द बसाक		
माण्डूक्यकारिका			
माध्यमिककारिका	नागार्जुन		चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
मानमेयोदय	नारायण		
मानव की कहानी			
मीमांसा श्लोकवार्तिक (न्यायरत्नाकराख्या टीका)	कुमारिल भट्ट, टीकाकार पार्थ सारथी मिश्र		चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
मूलाचार (सटीक)	वट्टकेराचार्य, टीकाकार वसुनन्दि	सं० १९७७	माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई
मूलाचार	कुन्दकुन्दाचार्य, हि० अनु०- जिनदास पार्श्वनाथ फडकले, शास्त्री, न्यायतीर्थ	वीर सं० २४८४	श्रुत भाण्डार व ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फलटन (उत्तर सितारा)
मूलाराधना	शिवार्य	सन् १९६५	शोलापुर
मूलाराधना	शिवार्य	सन् १९६५	शोलापुर
"	सं० अनु० अमितगति		
मूलाराधना-दर्पण	पं० आशाधर	सन् १९६५	शोलापुर
मूलाराधना (विजयोदया वृत्ति)	अपराजित सूरि		"
मेघदूत	टीकाकार मल्लिनाथ		
यतिपतिमतदीपिका	जनार्दन शास्त्री		मोतीलाल बनारसी दास
याज्ञवल्क्यस्मृति	महर्षि याज्ञवल्क्य	सन् १९४९	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
योगविंशिका	हरिभद्र सूरि, सं० प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलाल सिंघवी	सन् १९२२	श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मंडल, आगरा
रत्नकरण्ड श्रावकाचार (सटीक)	स्वामी समन्तभद्र टीकाकार प्रभाचन्द्राचार्य	सं० १९८२	माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रंथमाला समिति, बम्बई
रत्नाकरावतारिका			
राजनिघण्टु कोष			
राजप्रश्नीय वृत्ति	सं० एन० भी० वैद्य, एम० ए०	सन् १९३८	सादयत बुक डिपो, अहमदाबाद
राजवल्लभ कोष			
रामायणकालीन संस्कृति	डॉ०		
लोकप्रकाश भाग (१-२)	विनयविजय गणि, अनु० मोतीचन्द ओधवजी शाह	सन् १९२९	आगमोदय समिति, बम्बई

ग्रन्थ-नाम	लेखक, सम्पादक, अनुवादक	संस्करण	प्रकाशक
लोकप्रकाश (भाग १-२)	विनयविजय गणि	सन् १९३२	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था, बम्बई
वसुनन्दि श्रावकाचार	आचार्य वसुनन्दि, स० पं० हीरालाल जैन, सिद्धान्तशास्त्री	सं० २००९	भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस-४
वाक्यपदीय	भर्तृहरि, टीका० पुण्यराजा		चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी
वाल्मीकीय रामायण (१-२)	महर्षि वाल्मीकि	सं० २०१७	गीता प्रेस, गोरखपुर
वास्तुसार	ठक्कर फेरु, अनु० भगवानदास		
विधिविवेक न्यायकर्णिका			
विनयपिटक	अनु० राहुल सांकृत्यायन	सन् १९३५	महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस
विशुद्धिमग्ग दीपिका			
विशुद्धिमार्ग (भाग १-२)	आचार्य बुद्धघोष, अनु० त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित	सन् १९५६-५७	महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी
विशेषावश्यक भाष्य	जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण	वीर सं० २४८९	दिव्यदर्शन कार्यालय, अहमदाबाद
विष्णुपुराण	महर्षि वेदव्यास, अनु० गिरिजाशंकर मायाशंकर शास्त्री	सं० २०२०	सस्तु साहित्य वर्धक कार्यालय, अहमदाबाद
बृहत्कल्प भाष्य	भद्रबाहु, स० पुण्यविजयजी	सन् १९३३ से १९३८	श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर
बृहदारण्यकोपनिषद्		सं० २०१४	गीता प्रेस, गोरखपुर
बृहद् वृत्ति उत्तराध्ययन	वादिवेताल श्री शान्तिसूरि	सं० १९७२-७३	श्री देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भाण्डागार संस्था, बम्बई
वेदान्तपारिजात सौरभ			
वैदिक संस्कृत का विकास	पं० लक्ष्मण शास्त्री		
वैदिक साहित्य	पं० रामगोविन्द त्रिवेदी	सन् १९५०	भारतीय ज्ञानपीठ काशी, बनारस
वैराग्यशतक	भर्तृहरि, स० डॉ० रामधन शर्मा शास्त्री	सं० १९५९	पब्लिकेशन्स डिवीजन, दिल्ली
वैशेषिक दर्शन	महर्षि कणाद		चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी
वैशेषिक सूत्र	स० मुनि जम्बूविजय		
व्यवहार भाष्य	सं० मुनि माणेक	सं० १९९४	वकील केशवलाल प्रेमचन्द, भावनगर
व्यवहार सूत्र	भद्रबाहु द्वितीय	सं० १९८२	जैन श्वेताम्बर संघ, भावनगर
शतपथ ब्राह्मण	भा० सायण		चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी
शब्दार्णव चन्द्रिका	सोमदेव सूरि		भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशनी संस्था, काशी
शास्त्रदीपिका			
शेषनाममाला			
श्रावक धर्मविधि प्रकरण	हरिभद्र सूरि, वृत्तिकार श्रीमान् देव सूरि	सन् १९२४	श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर
संयुत्तनिकाय पालि (१-४)	भिक्खु जगदीस कस्सपो	सं० १९५९	पालि पकासन मण्डल, बिहार

ग्रन्थ नाम	लेखक, सम्पादक, अनुवादक	सस्करण	प्रकाशक
सयुत्तनिकाय अनुवाद (१-२)	भिक्षु जगदीश काश्यप	स० १९५४	महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस
सस्कृत इग्लिश डिक्शनरी	सर मोनियर विलियम्स एम ए के सी आ ई	सन् १९६३	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
सस्कृत साहित्य मा वनस्पति			गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद
समयसार	कुदकुदाचार्य, स० ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद	वीर स० २४४४	मूलचन्द किसनदास कापडिया, सूरत
समवायाग	अनु० शास्त्री जेठालाल हीराभाई	स० १९९५	श्री जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर
समवायाग वृत्ति	अभयदेव सूरि	सन् १९१८	आगमोदय समिति, मेहसाणा
सर्वदर्शन सग्रह	सायण माधवाचार्य, टीका० महामहोपाध्याय प्राच्यविद्या शास्त्री अभयकर	सन् १९२४	सशोधन मदिर, पूना
सर्वार्थसिद्धि	स० आचार्य पूज्यपाद, स० प० फूलचद्र सिद्धान्तशास्त्री	स० २०१२	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, दुर्गाकुण्ड, बनारस
समुद्र के जीव-जन्तु			
साख्यप्रवचन			
साख्यकारिका (माठर वृत्ति)	ईश्वरकृष्ण, टीका० माठराचार्य		चौखम्बा सस्कृत सिरीज, वाराणसी
सागार धर्मामृत	प० आशाधर , टीका० देवकीनन्दन सिद्धान्तशास्त्री	वीर स० २४६६	मूलचन्द किसनदास कापडिया, सूरत
सिरिरयणपरिक्खा प्रकरण			
सुखबोधा (उत्तराध्ययन की टीका)	नेमिचन्द्राचार्य, स० विजयोमंग सूरि	वीर स० २४६७	पुष्पचन्द्र खेमचन्द्र वलाद, वाया अहमदाबाद
सुखबोधिका			
सूत्रकृताग		स० १९७३	आगमोदय समिति, मेहसाणा
सूत्रकृताग चूर्णि	जिनदास गणि	स० १९९८	ऋषभदेवजी केसरीमलजी श्वेताम्बर सस्था, रतलाम (मालवा)
सूत्रकृताग वृत्ति		स० १९७३	आगमोदय समिति, मेहसाणा
स्थानाग		स० १९९४	शेठ मणिकलाल चूनीलाल, शेठ कान्तिलाल चूनीलाल, अहमदाबाद
स्थानाग वृत्ति		स० १९९४	शेठ मणिकलाल चूनीलाल, शेठ कान्तिलाल चूनीलाल, अहमदाबाद
स्याद्वादमञ्जरी	मल्लिषेण सूरि अनु० जगदीश चन्द्र एम ए	सं० १९३५	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई
षड्प्राभृत			
स्याद्वादरत्नाकर		वीर सं० २४५३	मोतीलाल लाधाजी, पूना
श्री गुह्य समाजतन्त्र			
हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता	डॉ० बेनीप्रसाद		
हिन्दू सभ्यता	डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी, अनु० वासुदेवशरण अग्रवाल		
हैमशब्दानुशासन	आचार्य हेमचन्द्र	सं० १९९२	शेठ मनसुखभाई पोरवाड, अहमदाबाद
ज्ञाता धर्मकथा	टीकाकार अभयदेव सूरि	स० १९१९	आगमोदय समिति, बम्बई

शुद्धि-पत्रम्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	१२	गा	या
६	४	चण्डालिय	चण्डालिय
६	१२	हो	ही
७	३	वाला—	वाला। गली—
७	१३	पट्	पट्ट
२४	६	शक्ति-योगज विभूति	शक्ति योगज-विभूति
२६	१२	देवों की	वैमानिक देवों की
४८	१४	समम	समय
५४	११	पञ्चेन्द्रिय,	पञ्चेन्द्रिय
५६	२	परिणामे	परिमाणे
६७	१२	वोच्चत्थे	वोच्चत्थे
६४	६	×	भाव-चपल करने वाला।[१]
६४	१२	भाव-चपल करने वाला[१]।	×
१४८	१७	अगणित	×
१६३	५	महाव्रत	महावत
१६५	२	कहा	कहा है
१६८	१०	प्रससा	पससा
१७०	६	गया	×
१७२	६	'कौक्केटिक'	'कौक्कुटिक'
१७८	१४	आवश्क	आवश्यक
१८०	१२	था[५]।	था।
१८०	१४	था।	था[५]।
१८१	१०	२ घड़ी	२ घड़ी—
१८२	१५	अर्थ	अर्थ है—
१८६	१३	$४\frac{१}{२}$	$४\frac{१}{२}$ मुहूर्त
१८८	१२	जाती है।[२]	जाती है[३]।
१८९	१४	पात तिथि १	पात तिथि २
१९६	१४	आकस्मिक हो	आकस्मिक रोग हो
१९९	१२	लालवृन्त	तालवृन्त
२०३	२	उपोह	अपोह

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२०४	३	कमजा	कर्मजा
२०४	३	परिणामकी	पारिणामिकी
२०८	१२	पर्याय लक्षण	पर्याय का लक्षण
२१०	७	अनन्त	सख्यात
२१०	१४ २३	×	ये पंक्तियाँ पृ० २११ पर सातवें टिप्पण के अन्त में जुड़ेंगी
२१२	६	लक्षण है	लक्षण
२१६	१२	अनुरूप	अणु रूप
२१८	२१	माया मृषा	मायामृषा
२२०	७	प्रायश्चित	प्रायश्चित्त
२२३	१३	अनन्त	आत्मा के अनन्त
२२३	१४	ज्ञानावर्ण	ज्ञानावरण
२२३	१५	दर्शनावण	दर्शनावरण
२२३	१५	प्रमाणुओ	परमाणुओ
२३२	१६	आवृत्त	आवृत
२२७	१५	काय-कारण	कार्य कारण
२४५	१८	करने	करण
२४५	१८	करने	करण
२४८	८	पुरुप-मेद	पुरुप-वेद
२५०	११	स्पर्श	अस्पर्श
२५४	१	आभ्यान्तर	आभ्यन्तर
२५८	६	चतुरमासिक	चातुर्मासिक
२५८	२६	१९	१६
२६०	१८	श्रणिनप	श्रेणितप
२६१	५	चतुरमासिक	चातुर्मासिक
२८१	८	उपधि	उपाधि
२८५	१३	सक्रमण किया	सक्रमण नहीं किया
२८८	१	व्युत्सग	व्युत्सग
२९२	३०	१९।४२-४३	१९।४३-४७
२९२	५	सयम	असयम
३०[illegible]	२७	समवाय	समवायाग
३[illegible]	१	तेतीसा	तेर्तीसा
३[illegible]	२	सविनय	अविनय

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३०६	२२	नही	कही
३०६	३१	ग्रहण करना	ग्रहण न करना
३१४	१७	ह्यलोकाख्येम्	ह्यलोकाख्यम्
३१६	१४	तथा	(८)
३१६	१४	अतन्त	अनन्त
३१६	१४	(८)	×
३१७	६	परीत	युक्त
३१७	६	परीत	असख्य
३१७	१४	परीत	युक्त
३१७	१४	परीत	युक्त
३१८	२६,२७,२८	दिशा	लोक
३२३		इन्दनोले	इन्दनीले
३२४	४	कूर्म	कूर्प
३२४	५	प्रतिकूर्य	प्रतिकूर्प
३२४	७	क्षोरपक	क्षीरपक
३२६	१९	तथा	×
३२६	२०	जीव	×
३३०	७	दर्पन	दर्पण
३३०	१४	वञ्चचना	वञ्चना
३३१	१	सपथ	साथ
३३१	१७	स्वग	स्त्रय
३३२	५	विप्रतियत्ति	विप्रतिपत्ति

पाद-टिप्पण

पृष्ठ	पाद-टिप्पण सख्या	अशुद्ध	शुद्ध
४	१	श्रावख	श्रावक
६	८	णडली	मडली
१२	५	भुक्ते	भुक्ते
३८	४	पत्र २४२	पत्र २४३
५७	१	अरय	अन्य
६०	२ (ख)	ताम	ताम्
६५	५	तेर्सि	तेसि
७१	२	विशृद्धिमाग	विशृद्धिमाग
१०७	१	पत्र ३६१	पत्र ३६०
११७	५	नुष्ठानरय	नुष्ठानम्य

पृष्ठ	पाद-टिप्पण संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
१४१	१	पत्र ४४७	पत्र ४४६
१४२	६	चेनत्	चैतत्
१५०	५	कदाचित्तश्येत्	कदाचित् पश्येत्
१६१	१	दनाराण	दसाराण
१७१	५	त्वेनकतया	त्वनेकतया
१८०	५	अच्छणे '' अवस्याने	×
१८२	३	गाया २६३	गाया २६४
१८५	५	सिद्धयति	सिद्धयति
१८५	[illegible]	पौरपी,	पौरुपी
१८८	३	प्रविप्ठा	प्रविष्टा
१९३	८	प्रामाण	प्रमाण
१९८	१	रयताणे	रयताणे
२००	४	तयाविधि	तयाविध
२१[illegible]	४	वेत्ति	वेति
२[illegible]४	५	एकान्तवाद्	एकान्तवाद
२२८	[illegible]	दशनाद्	दर्शनाद्
२[illegible][illegible]	१	मादवादि	मार्दवादि
[illegible]५०	६	सस्पशन	सस्पर्शन
२[illegible]५	२	ईप्मिति	ईप्सित
२[illegible]८	६	कुपदि	कुणदि
२[illegible]८	७	अवमोदार्य	अवमौदार्य
[illegible]८	[illegible]	नैयतग्याभि	नैयतस्याभि
२[illegible]८	[illegible]	तात्पर्याथि	तात्पर्यार्थि
२८[illegible]	१	सर्गादिच	सर्गाश्च
२८३	३ (घ)	वपमुत्कृष्ट	वर्पमुत्कृप्ट
२८३	३ (घ)	भवनि	भवन्ति
३[illegible]९	२	घतेभ्यो	शतेभ्यो
३[illegible]	५	प्रकाणक	प्रकीर्णक
३[illegible]०	[illegible]	भ्राजिप्णु	भ्राजिष्णु
३२[illegible]	८	रक्त कदश्च	रक्तकदश्च
३[illegible]२	२	श्चेनि	श्चेति
३[illegible]८	६	वन्दर्प	कन्दर्प
३[illegible]९	१	प्रोग	प्रयोग
३२९	२ (क)	वित्रते	वित्रत्ते
३२९	३	पत्र ७०६	पत्र ७०६, ७१०
३२९	३	परिगिम्मापक	परिविम्मापक
३[illegible]९	३	विचित्रो	विचित्रो
३२[illegible]	६	नयन	नयन्
३३०	१०	प्रवचनमारोद्धार	प्रवचनसारोद्धार
३३[illegible]	[illegible]	क्षमगाद्यवपि	क्षमणादावपि